महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित
श्रीभागवत विवृति

सुबोधिनी

हिन्दी भावानुवाद

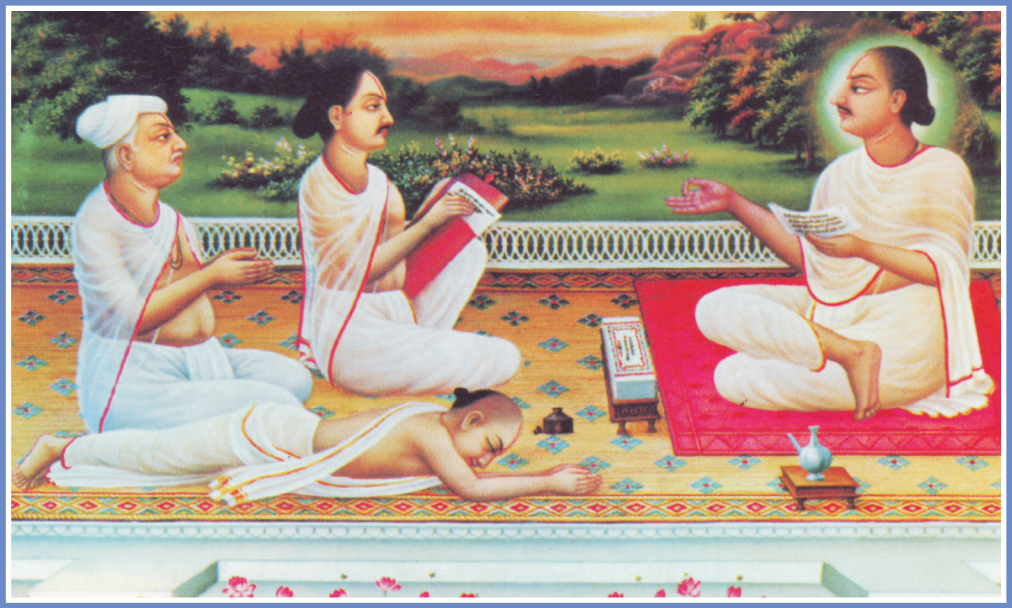

द्वितीय स्कन्ध

खंड ३

जय श्रीकृष्ण
श्रीवल्लभाधीशो जयति

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित

श्रीभागवत विवृति

'सुबोधिनी'

द्वितीय स्कन्ध

हिन्दी भाषानुवाद

अनुवादक:

गो.वा.श्रीनारायणजी त्रिपाठी, नाथद्वारा

गो.वा.देवर्षि श्रीरमानाथ शास्त्री, कांकरोली

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य

...तब व्यासजीने भागवतपुराण प्रकट किया जिसके अभ्यास (श्रवण–स्मरण–कीर्तन) से लोग मुक्त हो सकते हैं, बशर्ते भागवतका आजीविकार्थ उपजीवन न किया जाय. यह श्रीमद्भागवत एक श्रेष्ठ साधन है. अतः प्रयत्नपूर्वक, किसी लौकिक हेतु या दम्भ के बिना, आदरके साथ इसका पठन करना चाहिये. भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कण्ठमें ही क्यों न अटक जायें परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं ही करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके अन्य किसी भी उपायसे अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये

(तत्त्वार्थदीपनिबन्ध.२।६७, २४३, २५४).

जो लोग भगवद्गुणगानको अपनी आजीविकाका साधन बनाते हैं ऐसे गुणगानकर्ता गंदे जलको एकत्रित करनेकेलिये जमीनमें खोदे गये गहरे गढ्ढेकी तरह होते हैं. (जलभेद.५)

मुंह–हाथ–पांव आदि धोनेमें प्रयुक्त गंदे जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गढ्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे अधम होते हैं दक्षिणा लेकर कथा करनेवाले ...आशय यह है कि गढ्ढेमें भरे हुवे प्रक्षालनोच्छिष्ट गंदे जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंकेलिये ग्राह्य नहिं होता ... पौराणिकोंके भावोंका निरूपण करनेके बाद जो गायकोंका निरूपण किया गया है वह यह दिखलानेकेलिए कि (आजीविकार्थ पुराणोंका उपयोग करनेवाले) पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य नीच ही होते हैं.

(श्रीकल्याणरायविरचित जलभेदविवृति ५).

।। प्रासंगिक ।।

यह ज्ञापित करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीभागवतकी विवृति 'सुबोधिनी'के हिन्दी अनुवादका पुनः प्रकाशन किया जा रहा है.

यह तो सुविदित है कि मूल संस्कृत सुबोधिनीका पुनः प्रकाशन पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीके सम्पादकत्वमें श्रीवल्लभविद्यापीठश्रीविट्ठलेश-प्रभुचरण आश्रम ट्रस्ट, कोल्हापुर द्वारा किया गया है.

सुबोधिनीके गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी, गो.वा.श्रीमग्नलाल शास्त्री तथा गो.वा.श्रीव्रजलाल सांकळीया आदि विद्वानों द्वारा लिखित गुर्जरभाषानुवादका पुनः प्रकाशन श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी द्वारा किया जा चुका है.

इसी तरह श्रीरामानुजमतानुयायी किन्तु सुबोधिनीके परम प्रेमी श्रीटी. रामनन्ने सुबोधिनीका अंग्रेजी अनुवाद करके उसे सद्गुरु पब्लिकेशन्स, दिल्ली द्वारा मूल संस्कृत सहित प्रसिद्ध करवाया है, जो २४ खंडोंमें उपलब्ध होता है. यह अंग्रेजी अनुवाद श्रीरामन्ने श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल, जोधपुर द्वारा प्रकाशित, सम्प्रति अनुपलब्ध, सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादका ही किया है. वे लिखते हैं:

> "I owe a deep debt of gratitude to Sri Subodhini Parakashan Mandal (Jodhpur). My traslation is, to a very large extent, based on this book and I am, indeed, very grateful for this Mandal".

सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादका प्रकाशन ''श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल''(जोधपुर) नामकी संस्थाको स्थापित करके उसके द्वारा गो.वा. श्रीनन्दलालजी मानधना,जोधपुर ने करवाया था. इनको इस भगीरथ कार्यमें गो.वा.श्रीरामचन्द्र(नन्ददास) वर्मा का साथ मिला. इन दोनों महानुभावोंकी निष्ठा प्रेरणा उत्साह और समर्पण से पुष्टिमार्गके अनेक विद्वानोंने मिल-जुलकर सुबोधिनीका अनुवाद तैयार किया. इनमें उल्लेखनीय हैं:

गो.वा.श्रीफतहचन्द वासु (जोधपुर)

> दशमस्कन्धके नब्बे अध्यायोमेंसे चोहत्तर अध्याय; तृतीय स्कन्धके १७ से २१ अध्याय.

गो.वा.श्रीआनन्दीलालजी शास्त्री (श्रीनाथद्वारा)

प्रथम स्कन्धके १ से ९ अध्याय

गो.वा.श्रीनारायणप्रसाद व्यास(कोटा)

प्रथमस्कन्धके १० से १९ अध्याय.

गो.वा.पं.गोरधनजी शास्त्री(कोटा)

दशमस्कन्धके चौदह अध्याय,

गो.वा.श्रीनारायणजी त्रिपाठी(नाथद्वारा)

द्वितीय स्कन्धके १ से ४ अध्याय. तृतीय स्कन्धके २२ से ३३ अध्याय .

गो.वा.श्रीरमानाथ शास्त्री(कांकरोली)

द्वितीय स्कन्धके ५ से १० अध्याय.

इस अनुवादके संशोधन तथा सम्पादन कार्यमें पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला), गो.वा.श्रीनारायणजी त्रिपाठी (श्रीनाथद्वारा) तथा गो.वा.श्रीरणछोड कलाधर भट्ट(मुम्बई) का भी योगदान रहा है. पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला) तो ''श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल, जोधपुर'' के संरक्षक भी हैं.

इस श्रीभागवत-सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादके पुनःप्रकाशनका एकमेव उद्देश्य यही है कि श्रीवल्लभवाङ्मय कभी भी किसी भी जिज्ञासुकेलिए अलभ्य न रहे. हमें विश्वास है कि इस पुनःप्रकाशनसे सुबोधिनीके अध्येताओंको अवश्य लाभ होगा.

अन्तमें सुबोधिनीके हिन्दी भाषानुवादके पूर्व प्रकाशक, अनुवादक, संशोधक, सम्पादक, द्रव्यसहायक आदि सभीके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं तथा इस कार्यमें निःस्वार्थ भावसे सहयोग करनेवाले सभी वैष्णवोंका भी सादर स्मरण करते हैं.

सुबोधिनी स्वाध्याय मंडल

क्या आप पुष्टिमार्गी हैं?

एक बार श्रीवल्लभाचार्यके ये आदेश पढ़ें.

सोचें, क्या आप श्रीवल्लभके मार्ग पर चल रहे हैं?

परब्रह्म श्रीकृष्णको ही अपना आश्रय-रक्षक जानें. मन-वचन-कर्मसे अन्याश्रय कदापि न करें.

भगवानने पुष्टिजीवोंको अपनी स्वरूपसेवाकेलिये भूतल पर प्रकट किया है. कृष्णसेवा ही पुष्टिजीवका स्वधर्म है. अतः कृष्णसेवाको जो स्वधर्म समझता है वही पुष्टिजीव है और वही पुष्टमार्गमें प्रवेशके योग्य है.

भगवत् शास्त्रको अच्छी तरहसे समझकर, आत्मनिवेदित होकर अपने तन-धनसे अपने घरमें श्रीकृष्णकी सेवा करें.

घरमें बिराजते ठाकुरजीको ही अपना सर्वस्व समझें जो खास आप ही के उद्धारार्थ कृपा करके आपके घर पधारे हैं. उनको छोडकर अन्य ठाकुरजीके दर्शन-सेवा केलिये भटकना अपने सेव्यप्रभुका तिरस्कार है.

अपनी सभी वस्तु-व्यक्ति-व्यवहारका समर्पण अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीकी सेवामें ही करें. वे ही उनके सच्चे स्वामी हैं.

अपने ठाकुरजीको सर्वस्व समर्पित करके उस समर्पित महाप्रसादसे ही खान-पान-दान आदि सभी लौकिक-शास्त्रीय कार्य करें. असमर्पित पदार्थके उपयोगका सर्वथा त्याग करें.

हवेली-मन्दिरोंमें भेंट-सामग्री देकर कराये जाते सेवा-मनोरथ पुष्टिसिद्धान्तके अनुसार सेवा-भक्ति है ही नहीं; वो न केवल सेवा-भक्तिके नामपर पाखंड है अपितु परम पवित्र भगवत्सेवाको धंधा बनानेवाले दुष्टोंको पोषित करना है.

भगवत्सेवा-मनोरथ-कीर्तनके निमित्त भेंट-सामग्री मांगना-स्वीकारना उनको व्यापार-धंधा बनाना है. ऐसा पाप करनेवालेका नर्कमें पात होता है.

अतः भगवत्सेवा–मनोरथ–कीर्तनके निमित्त किसीको कुछ भी न दें.

अनजानेमें भी यदि कोई अवैष्णव सेव्य ठाकुरजीका दर्शन कर लेता है तो हमारी एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. ऐसा हो जाने पर श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराकर शुद्ध करना चाहिये.

भगवत्सेवा अपने ही घरमें करें. सार्वजनिक हवेली–मन्दिरमें सेवा–मनोरथ करना पुष्टिसिद्धान्तके अत्यन्त विरुद्ध है.

दर्शनको कभी भक्ति न समझें. दर्शनका आग्रह उसीका रखें जो कृपा करके आपके घरमें आपकेलिये आपके माथेपर बिराज रहे हैं, जिनकी सेवा आप स्वयं कर रहे हैं.

मंदिर–हवेलियोंमें दिया जाता या वहांसे खरीदा जाता प्रसाद–पातल महापातकी देवद्रव्य होता है. ऐसा प्रसाद खानेवाला नर्कमें ही जाता है.

प्रसादका नहीं किन्तु घरके ठाकुरजीने जो अङ्गीकार किया है उस समर्पित महाप्रसादको लेनेका आग्रह रखें.

भगवत्सेवाकी ही तरह भागवतका पाठ भी स्वयं ही करें. भक्तिभावकी वृद्धिके अलावा दूसरे किसी भी हेतुसे भागवतका पाठ न करें.

प्राण निकल जायें तो भले ही निकल जायें परन्तु दक्षिणा लेकर भागवतकी कथा–कीर्तन कभी भी न करें.

दक्षिणा लेकर कथा–कीर्तन करनेवालोंके मुखसे कथा–कीर्तन सुनना गटरका पानी पीनेके समान हीन कृत्य है. व्यावसायिक कथावक्ताओंके संगको दुष्टसंग समझकर उनका त्याग करो.

।। अनुक्रमणिका ।।

भागवत निबन्धानुसार सारणी
भागवतार्थ निबन्ध द्वितीय स्कन्ध
श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रस्तोत्र (द्वितीयस्कन्धके नाम)

द्वितीय स्कन्ध

ज्ञान(साधन)लीला

प्रकरण १: तत्त्वध्यान(वस्तुनिर्धार)

अध्याय १. ध्यानविधि तथा भगवान्‌के विराट् स्वरूपका वर्णन. १
अध्याय २. भगवान्‌के स्थूल और सूक्ष्म रूपोंकी धारणा तथा क्रममुक्ति और सद्योमुक्तिका वर्णन. ४७

प्रकरण २: हृत्प्रसाद(श्रद्धा)

अध्याय ३. कामनाओंके अनुसार विभिन्न देवताओंकी उपासना तथा भगवद्भक्तिके प्राधान्यका निरूपण. ८३
अध्याय ४. राजाका सृष्टिविषयक प्रश्न और शुकदेवजीका कथारम्भ. १०७

प्रकरण ३: मनन(विमर्श)

अध्याय ५. अन्तर्यामीके प्राकट्यका प्रकार ब्रह्मा कहते हैं. १३८
अध्याय ६. पुरुषसूक्त वर्णित भगवान्‌के विराट देहका वर्णन. १८१
अध्याय ७. अन्तर्यामीके अवतारोंकी कथा. २३४
अध्याय ८. राजाके प्रश्नसे प्राप्त होते विचार. ३५८
अध्याय ९. जीव और ब्रह्म विषयक सन्देहका निवारण. चतुःश्लोकी भागवत. ३८७
अध्याय १०. पुराणादिके लक्षण और प्राकृत सर्गका क्रम. ४७५

भागवतार्थ निबन्धानुसार प्रकरणादि विभाग

द्वितीयस्कन्ध. ज्ञान(साधन)लीला

द्वितीयस्कन्धके प्रकरणोंका विभाग:

प्रकरण१: अध्याय १-२. तत्त्वध्यान(वस्तुनिर्धार)
प्रकरण२: अध्याय ३-४. हृत्प्रसाद(श्रद्धा)
प्रकरण३: अध्याय ५-१०. मनन(विमर्श)

प्र.१: प्रथम साधन: तत्त्वध्यान(वस्तुनिर्धार)

स्थूलध्यान(अ.१)
सूक्ष्मध्यान(अ.२)

प्र.२: द्वितीय साधन: हृत्प्रसाद-श्रद्धा

श्रोताका हृत्प्रसाद(अ.३)
वक्ताका हृत्प्रसाद(अ.४)

प्र.३: तृतीय साधन: मनन-विमर्श

उत्पत्ति(अ.५-७)
- -अनित्यमें जनन
- -परिच्छिन्नमें समागम
- -नित्यापरिच्छिन्नमें प्राकट्य
  - -आवेशी
  - -अवतार

उपपत्ति (अ.७-१०)
- -आशंका
- -उत्तर
- -फल

भहाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित तत्वार्थदीपनिबन्धका

।। भागवतार्थ प्रकरण ।।

द्वितीय स्कन्ध

(अध्याय १-१०)

द्वितीय स्कन्धमें स्कन्धार्थ, प्रकरणार्थ तथा अध्यायार्थों को कहनेके लिये सङ्गति हेतु प्रथम स्कन्धमें सिद्ध अर्थका अनुवाद करते हैं:

उत्तमे चोत्तमश्रोतुः प्रश्न आद्ये निरूपितः ।
अध्यायदशकैस्तत्र साङ्गं श्रवणमीर्यते ।।१ ।।

कारिकार्थ: उत्तम वक्ता श्रीशुकदेवजीने उत्तम श्रोता परीक्षितके प्रश्नका प्रथम स्कन्धमें निरूपण किया. अब उस प्रश्नके उत्तरमें अङ्गसहित श्रवणका कथन करते हैं. अर्थात् परीक्षितने पूछा कि अब मेरे लिये क्या कर्त्तव्य है तो श्रीशुकदेवजीने कहा कि तुम्हें साङ्ग श्रवण करना चाहिये. श्रवणके अङ्ग दस होते हैं इसलिये द्वितीय स्कन्धके दस अध्यायोंमें उनका निरूपण है. इसलिये इस द्वितीय स्कन्धका अर्थ श्रवणाङ्ग है ।।१ ।।

सम्पूर्ण भागवत् श्रवणविधिका अङ्ग है. उसमें विषयरूप दस स्कन्ध हैं. प्रथम स्कन्ध अधिकारकेलिये हैं और द्वितीय स्कन्ध अङ्गनिरूपणकेलिये है. इस प्रकार भागवतमें श्रवण ही महावाक्यका अर्थ है. श्रवण क्या है इस आकांक्षाके उत्तरमें कहते हैं:

शक्तितात्पर्यनिर्धारः श्रवणं पद-वाक्ययोः ।
तत्त्वध्यानं हृत्प्रसादो मननं चाङ्गम् उच्यते ।।२ ।।
श्रोतव्य-विषयत्वेन लीला दशविधा पुनः ।
वक्तव्या वासुदेवस्य तदर्थम् अपरा कृतिः ।।३ ।।
शक्तितात्पर्यनिर्धारः सामान्येन पदादिगः ।
अंगोक्त्यैव सुसंसिद्धो द्वितीयोङ्गविनिश्चये ।।४ ।।
कृष्णस्य सर्वकल्पत्वे निर्धारः पद-वाक्ययोः ।
गुणातीत स्वरूपत्वे निर्गुणश्रुतिनिर्णयः ।।५ ।।

पदमें शक्तिका निर्धार एवं वाक्यमें तात्पर्यका निर्धार श्रवण है. अथवा पदमें शक्ति-तात्पर्यका निर्धार तथा वाक्यमें शक्ति-तात्पर्यका निर्धार श्रवण है

श्रवणके तीन अङ्ग है: १.तत्त्वध्यान, २.हृत्प्रसाद और ३.मनन.

तत्त्वके स्वरूपका चिन्तन तत्त्वध्यान कहा जाता है. चित्तशुद्धिको हृत्प्रसाद कहते हैं.

तीन अंगोके कहनेसे प्रकरण विभागका भी निरूपण हो जाता है. भगवान् वासुदेवकी दस प्रकारकी लीलाऐं सुनने योग्य है. इससे आगेके स्कन्धोंके अर्थोका भी नाम गिना दिया है.

यदि यह शंका हो कि धर्मीका श्रवण किसी भी धर्मके साथ किया जा सकता है, ऐसा कोई नियम नहीं है कि दशविध लीलासे युक्तका ही श्रवण करना चाहिये? इसका 'तदर्थम् अपरा कृतिः' से उत्तर देते हैं.

उत्तर: यदि इस प्रकारकी लीला ही श्रोतव्य है ऐसा न होता तो आगेके दस स्कन्धोंमें निरूपण की जानेवाली लीला व्यर्थ हो जाती. अतः अपराकृति– दशविध लीलाओंकी कृतिसे वे ही श्रोतव्य हैं. सामान्य रूपसे शक्ति तात्पर्यका निर्धार पद और वाक्य से ही होता है. अङ्गोंके निरूपणसे ही अङ्गीका निरूपण सिद्ध हो जाता है. तात्पर्य यह है कि जब सब अङ्गोंका निरूपण कर देंगे तो अङ्गी उससे अलग कैसे रहेगा.

उन अङ्गोके निश्चयके लिये यह द्वितीय स्कन्ध है. शक्ति तात्पर्य निर्धार द्वितीय स्कन्धमें स्पष्टरूपसे नहीं है इसलिये उसे स्पष्ट करनेके लिये 'कृष्णस्य सर्वरूपत्वे' ऐसा कहा है. अर्थात् भगवान् कृष्ण सर्वरूप हैं अतः जितने भी पद एवं वाक्य हैं वे सब भगवद्वाचक हैं. यदि शक्तिसंकोच पक्ष रखेंगे तो जिस पदकी जिसमें शक्ति होगी वह उसीका बोधक होगा भगवद्वाचक नहीं होगा. कदाचित ऐसी शंका हो कि दशविध लीलाका सुनना कहा है और वेदोमें तो आत्मा श्रोतव्या ऐसा कहा है अतः विरोध आयेगा? इसका उत्तर यह है कि भगवानके दो रूप हैं एक गुणातीत और दूसरा सगुण. वेदमें गुणातीतको श्रोतव्य बताया है और पुराणमें सगुणको श्रोतव्य बताया है. अतः जब वेदनिर्णयसे निर्णय करेंगे तो वहां गुणातीत ही श्रोतव्य होगा. क्योंकि श्रुतियां निर्गुण हैं. पुराणमें तो भगवान् सगुण हैं अतः दशविध लीलायुक्त भगवान् ही सुननेका विषय हैं ।।२–५।।

'श्रोतुर्वक्तुस्तथा श्रद्धा' इस कारिकासे दूसरे अंगको सिद्ध करते हैं:

श्रोतुर्वक्तुस्तथा श्रद्धा सान्यसेवा बहिर्मुखा।
श्रोतुर्वक्तुः समुत्साहो नमनाद्यादरात् स्फुटः ।।६ ।।

श्रद्धाके अभावमें श्रवण नहीं होता अतः श्रोता तथा वक्ता में श्रद्धा भी होनी चाहिये. अर्थात् प्रथम प्रकरणकी तरह श्रद्धा भी अन्तरङ्ग है. जैसे दशविध लीलायुक्त भगवानसे अतिरिक्तका श्रवण नहीं होता उसी तरह दशविध लीलासे प्रतिपादित रूपसे अतिरिक्त रूपमें श्रद्धा नहीं होती. श्रोताकी यदि अन्यत्र श्रद्धा होगी तो उसका श्रवण व्यर्थ होगा. अतः श्रोतामें श्रद्धाका होना आवश्यक है. वक्ताकी श्रद्धा तो नमन आदिके आदरसे स्पष्ट ज्ञात होती है ।।६ ।।

इस तरह मध्यम प्रकरणके अर्थको कहकर तृतीय प्रकरणमें अवान्तर भेद है अतः उसके भेदका निरूपण करते हैं:

उत्पत्त्याःचोपपत्त्या च सर्वत्वं तस्य चिन्त्यते ।
तथा च व्यतिरिक्तत्वं फलतस्त्वस्य निर्णयः ।।७ ।।

उत्पत्ति और उपपत्ति के द्वारा सब भगवान् हैं ऐसा विचार किया जाता है. 'च'का अर्थ है उत्पत्तिमें उपपत्ति और उपपत्तिमें उत्पत्ति आवश्यक है. सबकी उत्पत्ति भगवानसे होती है इसलिये सब भगवान् हैं ऐसा यदि निर्णय करेंगे तो उसमें शंका यह होगी कि 'वृक्ष-बीजन्याय'से यदि भगवान् ही सब हो जाते हैं, और अलग यदि नहीं रहते हैं, तो उत्पत्ति ही घटित नहीं होती. अतः उत्पत्ति तथा उपपत्ति में भगवानकी अलग स्थिति माननी होगी. इसका उत्तर यह है कि इसका निर्णय तो फलके द्वारा हो जायेगा ।।७ ।।

इस तरह अङ्गोंका निर्णय करके उसीसे अङ्गी सिद्धिको कहते हैं:

ततो लीलाः सदा वाच्याः श्रोतव्याः श्रवणेन हि ।
म्रियमाणे विशेषेण योगो ह्यष्टांग ईर्यते ।।८ ।।
अन्ते मतेर्गतित्वं हि मनश्चंचलम् अस्थिरम् ।
पाक्षिकोऽपि हि दोषोऽत्र परिहार्यः सुसात्त्विकै ।।९ ।।

भगवानका निर्णय करके भगवानकी लीलाओंका कीर्त्तन करना चाहिये. अन्यथा उनमें लीलापन ही नहीं होगा. और कानोंसे लीलाओंको सुनना चाहिये, स्मरण भी करना चाहिये, और जो म्रियमाण है उसके लिये तो अष्टाङ्गयोग भी करना चाहिये. उसका कारण यह है कि मन चञ्चल है, अस्थिर है. अतः अन्तमें जैसी मति होती है वैसी ही गति होती है. इसलिये पाक्षिक दोषके परिहारकेलिये सात्त्विकोंको अष्टाङ्गयोग करना चाहिये ।।८-९।।

अन्तमें शुभ मति रहे उसकेलिये साधनोंको कहते हैं:

गृहत्यागस्तीर्थवासो योगाभ्यसनमेव च ।
अन्तकाले त्ववश्यं हि यथा चित्तं न भिद्यते ।।१० ।।

अन्तकालमें अच्छी बुद्धि रहे इसके लिये १. गृहत्याग २. तीर्थमें निवास और ३. योगाभ्यास ये तीन साधन हैं. श्रवण या योग किसी एकका किया जाय ऐसा विमर्श है. सब किये जाये ऐसा भी किन्हींका कहना है. किन्हींका ऐसा कहना है कि अधिकारके अनुसार किया जाये. कुछ ऐसा भी कहते हैं कि यह बहिर्मुख और अन्तर्मुख व्यवस्था है. शुकदेवजीने पूर्व जन्ममें वैसा किया था इसलिये उनका ऐसा अनुभव था. श्रवणको तो शुकदेवजीने पूर्व जन्ममें वैसा किया था इसलिये उनका अनुभव था. श्रवणको तो शुकदेवजीने व्यासजीसे जाना था. इसलिये अन्तकालमें तो श्रवण अवश्य ही करना चाहिये जिससे भगवानसे चित्त अलग न हो जाय ।।१०।।

ज्ञान मार्गका परित्यागकर भक्ति योग किसलिये स्वीकार करते हैं?

श्रुतात्म ब्रह्मभावस्य नानन्दानुभवः सदा ।
मनसश्चञ्चलात्वाद्धि स्थिरे योगेन साधिते ।।११ ।।
सगुणां मानसीं मूर्तिं हरेः कृत्वाण्डरूपिणीम् ।
अन्तर्यामिस्वरूपां वा ध्याने सत्त्वमये हृदि ।।१२ ।।
प्रकटः परमानन्दः तत्र स्थित्वा सुखी भवेत् ।
गुणानां प्रेरकत्वे हि स्थिरता साधने मता ।।१३ ।।

'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे जिसने ब्रह्मको समझ लिया है उसकेलिये अन्य कोई कर्त्तव्य तो शेष रहता नहीं, केवल उसे आनन्दका अनुभव करना है. वह आनन्द उसे मिलता नहीं हैं अतः उसे अन्य कोई साधन ढूंढना होगा. अर्थात् जिन साधनोंका फल नियत है उसमें यदि श्रुतिकी बात नहीं मिली तो अब साधनोंका ही उपदेश करना चाहिये. इसलिये जीव साक्षात् ब्रह्म है यह नहीं किन्तु, जीवमें ब्रह्मका व्यपदेश (ब्रह्म सदृश) समझना चाहिये. जैसे प्रतिमामें विष्णु बुद्धि व्यपदेश पक्षसे मानते हैं. इसलिये मनकी चञ्चलताको योगके द्वारा दूर करके उसे स्थिर करना चाहिये तदनन्तर हरिकी सगुण मानसी मूर्त्तिका विराट्रूपमें अथवा अन्तर्यामीरूपमें सत्त्वमय हृदयमें ध्यान करना चाहिये. तब परमानन्द प्रकट होगा, उस परमानन्दमें स्थित सुखी हो जाय. सत्त्व आदि गुणोंसे यदि मनमें चञ्चलता आ जाये तो साधनके द्वारा मनमें स्थिरता करनी चाहिये ।।११-१३।।

यह आसन्न मृत्युवालेकेलिये नहीं कहा है किन्तु जो मृत्यु चाहता है उसकेलिये कहा है. अतः जो उस तरहका है उसके लिये साधन और फल कहते हैं:

आमृतेस्तत्र तिष्ठेत बुद्धया वा तनुम् उत्सृजेत् ।
लिंग च तत्र त्यक्तव्यम् अग्रे गत्वाथ वा त्यजेत् ।।१४ ।।
धर्मस्य वासनाशेषाद् यदीच्छा पारलौकिके ।
स्थूलस्य भावनायां हि यदि मृत्युस्तदा भवेत् ।।१५ ।।
चतुर्मुखत्वं सूक्ष्मे तु प्रधानफलमेव हि ।
मनोमय्या अपि यतो मुक्तिदातृत्वम् उच्यते ।।१६ ।।
स्थूलेन भावितेचिते भक्तिः सूक्ष्मे तदा मनः ।
भक्त्यभावे तथा रागे न सूक्ष्मे विशते मनः ।।१७ ।।

योगके द्वारा आयुकी वृद्धि होने पर जो शरीर छोड़ता है अथवा बुद्धिपूर्वक जो शरीरका परित्याग करता है वहां भी दो पक्ष हैं. १.सब प्रकारकी कामनाके अभावमें देहत्यागके समयमें ही लिंगदेहका परित्याग करना चाहिये तब सद्योमुक्ति होती है और २.क्रमसे अथवा अंशसे त्याग किया जाता है तब क्रममुक्ति होती है. जब सद्योमुक्ति हो जाती है तो फिर क्रममुक्ति पक्ष किसलिये है? उसका कारण यह है कि स्वर्ग आदिके साधक जो धर्म पहले किये थे वे धर्म योगसाधनाके द्वारा निवृत्त हो जाते हैं किन्तु फलके विषयमें वासनाके बच जानेसे वे धर्म रह जाते हैं तब परलोककी इच्छा होती है. ध्येयके भेदसे भी फलमें भेद होता है. अतः यदि स्थूल(विराट्)की भावना करते हुए मृत्यु हो जाती है तो लोक व्यवहार्यरूप चतुर्मुखता उसे प्राप्त होती है. और ध्येयका विषय यदि सूक्ष्म होता है तो उसे प्रधान फल सद्योमुक्ति अथवा क्रममुक्ति प्राप्त होती है. इस कथनसे यदि कोई यह समझ ले कि योगसे ही मुक्ति होती है और भक्तिसे नहीं तब तो पूर्वमें कहा गया श्रवणादि मार्ग व्यर्थ ही हो जायेगा! इसका उत्तर यह है कि अष्टांग योगमें ध्यानके द्वारा मनोमयी मूर्ति भी जब मुक्ति दे सकती है तो श्रवणादिके द्वारा स्वाभाविक भगवान् जब प्रकट हो जाते हैं तो उस योगसे भी श्रवणादिकी महती विशेषता है. यदि ऐसी आशंका हो कि इसमें प्रमाण क्या है? इसका उत्तर यह है कि स्थूल और सूक्ष्म भेदसे ध्येय दो प्रकारका है. अतः स्थूल भेदसे चित्त भावित होता है तो भक्ति उत्पन्न होती है अतः स्थूल ध्यान भक्तिका अंग हुआ. और

भक्तिसाध्य सूक्ष्मज्ञान फलका साधक होता है. यदि भक्तिका अभाव हो या राग हो तो सूक्ष्ममें मनका प्रवेश नहीं हो सकता ।।१४-१७।।

और भी इसमें नियामक है उन्हें बताते हैं:

सर्वस्य भक्तिशेषत्वं तद्धेतुः श्रवणादिकम् ।
निर्वाहकं तद् अन्योन्यं तेन त्रयम् उदीर्यते ।।१८ ।।

यद्यपि श्रवण, कीर्त्तन और मनन ये तीनों ही प्रत्येक भक्तिके अंग हैं, भक्तिके साधक हैं तथापि बिना श्रवणके कीर्त्तन कैसे होगा और बिना कीर्त्तनके श्रवण कैसे होगा तथा बिना श्रवणके मनन भी कैसे होगा अतः ये तीनों ही एक-दूसरेके निर्वाहक हैं अतः तीनोंको यहां कहां गया है ।।१८।।

शंका होती है कि जब श्रवण अथवा योग मेंसे कोई एक साधन करना चाहिये तो सर्वदाश्रवणकी क्या आवश्यकता है? अन्तमें जब योगकी साधना करनी है तो अल्पकालसाध्य योगकी ही साधना करनी चाहिये, श्रवणकी क्या आवश्यकता है? इस पर कहते हैं:

बहुकालविलम्बे तु सुगमं त्वेतदेव हि ।
अन्यथा पापसंवृद्धौ न त्यागे विशते मनः ।।१९ ।।
अत्यागेऽपि हरिः प्रीतः स्वयं वा साधयेत् फलम् ।
एवं श्री कृष्ण भजनम् अध्यायद्वितयेन हि ।।२० ।।
श्रवणादिभिरुक्तं हि नित्यम् एतद् न चेतरत् ।

अन्तकाल जब सन्दिग्ध है तब यदि योगमें प्रवृत्त होता है तो कालविलम्बके कारण दुःखी होता है और श्रवणमें तो सुख ही प्राप्त होता है इसलिये सुगम होनेसे श्रवण ही कर्त्तव्य है. श्रवण न करनेसे तो पाप बढते जायेंगे तो त्यागके अभावमें योगमें मनका प्रवेश नहीं होगा और श्रवणमें तो त्यागके अभावमें भगवान् प्रसन्न हो जायेंगे. तो स्वयं फलदान करेंगे इसलिये श्रीकृष्णका भजन दो अध्यायोंसे कथन है. उनका भजन श्रवणादिसे कहा गया है अतः श्रवणादि ही नित्य है, योग तो पाक्षिक है, नित्य नहीं है ।।१९-२० ।।

अध्याय ३

इस तरह दो अध्यायोंके अर्थका विचारकर अब तीसरे अध्यायके अर्थका विचार करते हैं:

कामेन त्वन्वयभजनम् अस्मिन् कामोऽपि सिद्ध्यति ।।२१ ।।

सर्वेंद्रियाणां वैफल्यम् असेवायां भविष्यति ।
निषिद्धार्थत्वसाम्येन द्वयम् एकत्र चोदितम् ।।२२ ।।
श्रोतुरुत्साहकथने सन्देहाच्छौनिके कृतम् ।
भजने बाधनिर्धारो द्वयम् एकत्र सिध्यति ।।२३ ।।
यावत् प्रभोः स्वरूपं च गुणाः कर्मादयस्तथा ।
न सम्यग् अवगम्यन्ते तावद् भजन संशयः ।।२४ ।।

यद्यपि आवश्यकता न होनेसे और बाधकके अभावसे भगवानके अतिरिक्त अन्य देवताओंके भजनकी आवश्यकता नहीं होती. किन्तु यदि कामना हो तो उन-उन विषयके देवताओंके भजनकी आवश्यकता होती है. किन्तु उन देवताओंका भजन न कर भगवानका ही यदि भजन किया जाय तो कामनाकी पूर्ति भी हो जाती है. और भगवानका भजन न करनेसे तो सब इन्द्रियोंकी निष्फलता भी हो जायगी. कामना न हो तो भी इन्द्रियोंको सफल बनानेकेलिये भगवानका भजन करना चाहिये. इन्द्रियोंको यदि सफल न किया गया तो उन इन्द्रियोंके अभिमानी देवता भगवानका सम्बन्ध प्राप्त न होनेसे दुःखी होंगे जिससे मोक्षमें अथवा ज्ञानप्राप्तिमें वे बाधक बन जायेंगे.

इस तीसरे अध्यायमें अन्य देवताओंके भजनका निषेध जैसे किया गया है वैसे ही भगवानके भजनका भी निषेध किया है यह कैसे? इसका उत्तर देते हैं: निषिद्धताकी समानता होनेसे दोनोंका निषेध एक ही जगह कह दिया है.

इस तीसरे अध्यायमें श्रोताकी श्रद्धाका कथन है. राजा परीक्षित् तो उत्तमाधिकारी है अतः उसमें तो श्रद्धा निश्चित रूपसे है किन्तु शौनककी श्रद्धामें सन्देह हो सकता है अतः श्रोताके उत्साहका बढ़ाना शौनकके लिये ही है. भजनमें बाधका निर्धार तो अन्य देवताओंके भजनकेलिये है, किन्तु वह साधारण है. जब भगवानका अनन्यरूपसे भजन किया जाता है तो उससे अन्य देवताओंके भजनका तथा इन्द्रिय दोषोंका बाध हो जायगा. इन्द्रियोंमें दोष होनेसे ही अन्य देवताओंका भजन होता है. अतः भगवानसे अतिरिक्तके भजनमें इन्द्रिय दोष कारण है.

जब शौनकजीको यह ज्ञान था तो उन्होंने प्रश्न क्यों किया ? उसका उत्तर यह है कि जब तक प्रभुका स्वरूप, प्रभुके गुण और प्रभुके कर्म आदि ठीक तरहसे समझमें नहीं आते तब तक भजनमें संशय होता ही है अतः प्रश्न करना ठीक ही है ।।२१-२४ ।।

अध्याय ४–६

इस तरह तीसरे अध्यायमें शौनकजीके उत्साहका निरूपण करके चतुर्थ अध्यायमें राजा परीक्षितके उत्साहका निरूपण करते हैं:

भजनार्थसमुत्साहो ममतानाशपूर्वकः ।
त्यक्तोऽपि विषयोऽन्तःस्थो ज्ञानादेव निवर्तते ।।२५ ।।
तत्त्यागपूर्वकः प्रश्नः कृतः स्वोत्साहबोधकः ।
नमनेनेव निर्धारं सामान्येन शुको जगौ ।।२६ ।।

श्रीशुकदेवजीने राजा परीक्षितका भजनके लिये उत्साह बढाया. उसके पहले उसकी ममताके नाशका निरूपण किया. ममताका नाश सामान्यरूपसे श्रद्धाका प्रतिपादन करनेवाला होता है. यदि किसीको यह शंका हो कि राजाने जब प्रायोपवेश किया तो राज्य आदिमें तो उसकी ममता तो पहले ही हट चुकी थी तो फिर अब ममताके त्यागके विषयमें कहना व्यर्थ है, उस पर कहते हैं कि विषयोंका त्याग कर भी दिया जाय किन्तु अन्तःस्थ जो विषय होता है उसकी निवृत्ति ज्ञानसे ही होती है. ज्ञान ही सम्पूर्णरूपसे ममताको दूर कर सकता है. अतः राजाने ममता त्यागपूर्वक अपने उत्साहके विषयमें प्रश्न किया. शुकदेवजीका उत्साह भगवान्‌को किये नमन और प्रार्थनासे ही सिद्ध होता है ।।२५–२६ ।।

एवम् उत्साहसंसिद्धिः विश्वासार्थं कथावचः ।
एतज् ज्ञानं भागवतश्रवणादेव नान्यथाः ।।२७।।
इति नारदसंदेहो ब्रह्मवाक्यं तथोच्यता ।
विमर्शोऽपि ततः सिध्येद् उत्पत्त्या सा त्रिधा मता ।।२८।।

अब दो कारिकाओंसे पूर्व प्रकरणका उपसंहार करते हैं. शुकदेवजीके द्वारा किये गये नमन तथा प्रार्थनासे सभीमें उत्साहकी सिद्धि हुई. श्रीशुकदेवजीने स्वतः प्रमेयके कथनको छोड़कर विश्वासके लिये ब्रह्मा और नारदजीके संवादको कहा. उसमें भी नारदजीका प्रश्न इस बातको बताता है कि यह ज्ञान भागवतके श्रवणसे ही होता है अन्य प्रकारसे नहीं हो सकता है इसलिये सर्वज्ञ नारदजीने प्रश्न किया और ब्रह्माजीने भी उत्तर दिया यदि नारदजी समझते हुए प्रश्न करते तो ब्रह्माजी उनके प्रश्नकी उपेक्षा कर देते. इस तरह नारदजी और ब्रह्माजीके वचन और अनुवचन से ही विमर्शकी सिद्धि होती है. उत्पत्तिसे वह विद्या तीन प्रकारकी है उसीको यहां कहते हैं.

अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमः ।
नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं सत्त्वतः स्वतः ।।२९ ।।
सूक्तार्थकथनं मध्ये भजनार्थं हि सर्वथा ।

अनित्य शरीरकी उत्पत्ति होती है और नित्य तथा परिच्छिन्न शरीरमें समागम होता है. नित्य तथा अपरिच्छिन्न शरीरमें प्राकट्य दो तरहसे होता है: एक आवेशरूपसे और दूसरा अवतारूपसे. इससे लोकमें भी वस्तुकी उत्पत्तिके निर्धारणसे भजनका निर्धारण होता है. जैसे १.किसीकी बनाई हुई मूर्ति होती है, दूसरी जिस मूर्तिमें प्राण प्रतिष्ठा आदि करके आवाहन किया जाता है वह, और तीसरी मूर्ति वह है जो स्वतः ही प्रकट होती है जैसे वेंकटेश आदिकी मूर्ति. जिसमें भगवानकी नित्यस्थिति होती है उसे 'अवतार' कहते हैं, परिमित काल तक जिसमें भगवानकी स्थिति रहती है उसे 'आवेश' कहते हैं. प्रथम प्रकारकी मूर्तिका भजन लौकिक है, द्वितीय प्रकारकी मूर्तिका भजन वैदिक है तथा तृतीय प्रकरणकी मूर्तिका भजन आन्तरानुभव सिद्ध है ।।२९ ।।

इस तरह पञ्चम एवं षष्ठ अध्यायका अर्थ कहकर अब सप्तम अध्यायके अर्थको कहते हैं.

अध्याय ७

तन्मूलत्वाद् हि सर्वस्य तज्जे तद्रूप एव च ।।३० ।।
मूलभक्त्यैव भजनम् अतः प्राकट्यसंकथा ।
तस्यापि मूलं कृष्णस्तु विमर्शे तस्य साधनम् ।।३१ ।।
माहात्म्यं च स्वरूपं च द्वयं तत्रैव रूपितम् ।
अनेन फलसिद्धिर्हि बहूनाम् इति कीर्त्तितम् ।।३२ ।।
तावन्मात्रत्वकथनम् अन्येषां वारयत्यपि ।

मध्यम भजनके दो रूप हैं: एक तो वेदमें सिद्ध प्रकारसे और दूसरा ब्रह्मानुभवरूप अथवा यज्ञरूप. इनमें यज्ञरूप भजन 'तज्ज' कहा जाता है. भक्तिमार्गसे जो भजन होता है मूलभक्तिसे ही होता है. इसलिये पुरुषोत्तमकी भक्तिकी सिद्धिकेलिये अब अवतारोंमें प्राकट्यकी कथा कही है. अवतारोंका भी मूल कृष्ण हैं. अतः विमर्शप्रकरणमें कृष्णाकी पुरुषोत्तमता सिद्ध करते हैं. यदि कृष्णकी पुरुषोत्तमता सिद्ध नहीं होती तो साधन अनुपपन्न हो जाते तथा अन्य अवतारोंकी तरह भगवान् कृष्णका भी चरित्रमात्र ही कहा जाता. किन्तु भगवान्

कृष्णके तो माहात्म्य तथा स्वरूपका भी निरूपण किया है ''इतरथार्जुनयोर्न भाव्यम्'' से तो माहात्म्यका वर्णन और ''सितकृष्ण केशो यस्यांश'' से स्वरूपका निरूपण किया है. यहां कारिकाके 'द्वय' पदसे माहात्म्य तथा स्वरूपका ही निरूपण है कथाका निरूपण नहीं है. यदि शंका हो कि ''ये च प्रलम्ब'' इत्यादिमें संक्षेपसे कथाका भी तो वर्णन है तो उसका उत्तर यह है कि यह कथा नहीं है किन्तु अनेकोंके फलकी सिद्धि हुई उसका निरूपण है. अर्थात् भगवान् कृष्ण ही मोक्ष कर सकते हैं. और ''ये च प्रलम्ब'' में जिनकी गणना की गई है उन्हींको मुक्ति मिली है अन्योंको नहीं.

अध्याय ८–१०

इस तरह पांचसे सात तकके अध्यायोंमें उत्पत्तिके द्वारा विचार कहकर अब आठसे दस अध्यायोंमें उपपत्ति(युक्ति)के द्वारा विचार करते हैं:

उपपत्त्या विचारोऽपि त्रिधा शंकोत्तरे फलम् ।।३३ ।।
ब्रह्मणोऽपि हरिर्मूलम् उपपत्तिः कथागता ।
प्रदर्श्य कथनात् तस्य न मूलान्वेषणं मतम् ।।३४ ।।
उक्तेऽर्थेऽनुपत्तिश्च शिष्टप्रश्नस्तथैव च ।
आक्षेपस्य समाधानम् अन्यत् स्थूलेऽति दिश्यते ।।३५ ।।
तस्मात् स्थूलश्रुतिः सिद्धा तत्स्वरूपम् अतः फलम् ।
रूपतश्चाथतश्चैव तत्स्वरूपनिरूपणम् ।।३६ ।।
लक्षणोक्त्या स्वरूपस्य त्रैविध्यं चार्थतः स्फुटम् ।
आनन्त्याद्धि विशेषस्य स्थूले कथनतोऽपि च ।।३७ ।।

पहले छः कारिकाओंसे उत्पत्तिका विवरण करके अब साढे सात कारिकाओंसे उपपत्तिके द्वारा विचार करते हैं. उपपत्तिके द्वारा भी विचार तीन प्रकारसे करते हैं: १.शंका, २.उत्तर और ३.फल. आठवें अध्यायमें शंका, नवम अध्यायमें उत्तर और दशम अध्यायमें फल.

आठवां अध्याय आक्षेपक युक्तिवाला होनेसे उसका उपपत्ति (युक्ति)में प्रवेश है और नवमका सिद्धान्त युक्तिवाला होनेसे उपपत्ति प्रकरणमें प्रवेश है. इसी तरह दशमका फलाख्य युक्तिवाला होनेसे उपपत्ति प्रकरणमें प्रवेश है. तात्पर्यका निर्णायक होनेसे फलमें भी युक्तित्व है. ब्रह्माके मूल(उत्पत्ति स्थान) हरि हैं. अर्थात् भगवान् ही ब्रह्माके उपादान कारण है इसमें कथागत युक्ति

ही मूल है. यह सारा जगत् भगवद्रूप है इसे स्वयं भगवान् ही आगे कहेंगे. ''मैं ही सबसे पहले था'' ('अहमेवा समेमाग्रे').

यदि कोई ऐसी शंका करे कि भगवानका कारण भी कोई होगा उसे ढूंढना चाहिये? इसका उत्तर यह है कि भगवानने अपने रूपको दिखाकर पीछे अपने स्वरूपको कहा. इसलिये न तो कोई सन्देह उत्पन्न होता है और न अन्य किसी मूलको ढूंढनेकी अपेक्षा होती है. यह उपपत्तिका प्रकरण है इसे सिद्ध करनेकेलिये 'उक्ते अर्थे अनुपपत्तिश्च' ऐसा हेतु दिया. अर्थात् जिस अर्थका पहले उत्पत्तिसे निरूपण किया था उसीको यहां पूर्वपक्ष रखा गया है और उसीकी सिद्धिकेलिये अन्य बातें पूछी गई है. वक्ता आक्षेपका समाधान करता है बातोंका उत्तर नहीं देता. नहीं तो फिर कथापक्ष ही हो जायेगा. आक्षेपसे अतिरिक्तका भी परम्परासे उपयोग है अतः स्थूल भागवतमें उसका उत्तर है यह बात अन्य स्थूलसे कही गई है. इससे उपपत्तिसे जो सिद्ध है उसीका निरूपण यहां किया गया है. इसलिये सर्ग, विसर्ग आदि दस लक्षण जिसमें है उस भागवतको सुनना चाहिये. इसलिये फलाध्यायमें भागवतके स्वरूपका ही निरूपण किया गया है. सर्वदा अथवा मरनेवालोको भागवत सुननी चाहिये ऐसा कहनेसे भागवतकी फलवत्ता सिद्ध होती है. अतएव फलाध्यायके रूपसे और अर्थसे भागवतके स्वरूपका निरूपण है. दस प्रकारकी लीलाओंका लक्षण कहकर भागवतका स्वरूप कहा है. आध्यात्मिक आदि भेदोंसे अर्थ भी तीन प्रकारका होता है.

शंका: जब अर्थसे और स्वरूपसे निरूपण कर दिया गया है तो फिर स्थूल भागवतको सुननेकी क्या आवश्यकता है? इस आशंकाकेलिये कहते हैं कि आध्यात्मिकादि त्रिविध भेदोंके विशेष अनन्त हैं उनका निरूपण यहां नहीं है. स्थूल भागवतमें ही उनका निरूपण विशेष रूपसे है. अतः लक्षणरूपसे निरूपण यहां हैं और विशेष रूपसे ज्ञान स्थूल भागवतमें ही है ।।३३ – ३७।।

अब दशमाध्यायमें सिद्ध अर्थका अनुवाद तीन कारिकाओंसे करते हैं:

सार्थकं च सुरूपं च तस्मात् श्रोतव्यता स्थिता।
तस्यांशश्रवणे चापि निःसन्देहफलं च तत् ।।३८ ।।
तादृशार्थस्य सम्प्रश्नः कथाक्षेपार्थम् उच्यते।
विघ्नसन्देहतः शीघ्रं स्वकृतार्थत्वसिद्धये ।।३९ ।।
शौनकस्य हि संप्रश्नः शुकोक्तिश्चापि तादृशी।

अतः सर्वोत्तमम् इदम् इति वक्तुं तथा वचः ।।४० ।।

भागवत् सार्थक एवं सुरूप है इसलिये वह सुनने योग्य है. भागवतके किसी अंशके श्रवणसे भी निःसन्देह वह फल होता है. विदुरजीने केवल दो लीलाओंका ही श्रवण किया था. इतने मात्रसे ही उनको सम्पूर्ण फल सिद्ध हो गया. इसलिये शौनकजीने विदुरजीको कथा पूछी कि जिससे शीघ्र फल हो उसे ही कहिये. अर्थात् शौनकजीका कथा विशेषके लिये ही प्रश्न है. शुकदेवजी भी उसीको कहनेके लिये प्रवृत्त हुए. इसी बातको सूतजी शीघ्रतासे कहने लगे, अन्यथा विलम्ब हो जानेमें शौनकजी कुछ और प्रश्न पूछलें तो अपना अभिप्रेत सिद्ध न हो.

शंका होती है कि शौनकजीने किस अभिप्रायसे ऐसा प्रश्न किया? उसका उत्तर यह हैं: शौनकजी अपनी कृतार्थता चाहते हैं इसकेलिये प्रश्न किया. कदाचित सब लीलाओंका सुनना सम्भव हो सके या न हो सके! ऐसा ही अभिप्राय श्रीशुकदेवजीका भी था. सात दिनके बीचमें ही राजाको उद्वेग हो जाय या श्रीशुकदेवजीकेलिये कोई निमित्तान्तरकी आपत्ति हो जाय तो कार्य सिद्ध न होगा. इसलिये सर्वोत्तम अंशके आक्षेपकेलिये ही उन्होंने कहा. इसलिये कहा जानेवाला भागवत् ही सर्वोत्तम है यह बात फलित होती है ।।३८ – ४० ।।

इति श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचित तत्त्वार्थदीपनिबन्धके श्रीमद्भावतार्थ प्रकरणके द्वितीय स्कन्धका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

।। श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रं स्तोत्रम् ।।

द्वितीयस्कन्धनामानि

ज्ञान(साधन)लीला

……श्रोतव्यः सकलागमैः ।।

कीर्तितव्यः शुद्धभावैः स्मर्तव्यश्चात्मवित्तमैः।।२५।।

(८२) श्रोतव्यः सकलागमैः

(१) सर्व सिद्धान्तोंके द्वारा श्रवण करने योग्य (२) समस्त शास्त्रके अनुसरण करनेवाले विद्वानोंके द्वारा श्रवण करने योग्य.

सर्व सिद्धान्तोंसे एवं अनेक विद्वानोंसे मननीय पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही है. आप स्वयं गीतामें आज्ञा करते हैं कि ''**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**'' (सर्व वेदों द्वारा मैं ही जानने योग्य हूं) श्रुति भी ''**सर्वे वेदा यत् पदम् आमनन्ति**'' (सारे वेद परमात्माके चरणोंको ही नमन कर रहे हैं.) भागवतके प्रथम स्कन्धके अंतमें ''**यत् श्रोतव्यम् अथो जाप्यम्**'' इस श्लोकसे परीक्षित, मरनेवालेके श्रवण करने योग्य, जपने योग्य क्या है? ऐसा प्रश्न शुकदेवजीसे करता है. उसके प्रत्युत्तरमें श्रीशुकदेवजी बताते हैं ''**तस्मात् भारत! सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्**'' (हे परीक्षित! हे भारत! अभयकी प्राप्त इच्छा करनेवाले मनुष्यको भगवानके चरित्रोंका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिये) यही कल्याणकर है. ऊपर कहे गये श्लोकके भावको प्रकट करनेवाले तीन नाम बताये गये हैं. इस लिये ही सर्व सिद्धान्तोंसे और विद्वानोंसे ये प्रभु ही श्रवण करने योग्य हैं.

(८३) कीर्तितव्यः शुद्धभावैः

शुद्धभावयुक्त भक्तोंसे कीर्तन करने योग्य.

शुद्ध भाव अर्थात् जिनका सरल स्वभाव है तथा काम, क्रोध, लोभ और मोह इत्यादिसे रहित शुद्ध जिनका अंतःकरण है ऐसे भक्तों द्वारा कीर्तन करने योग्य तो एकमात्र प्रभु ही हैं. इस कारण ही आप गीतामें आज्ञा करते हैं ''**महात्मानस्तु मां पार्थ! दैवीं प्रकृतिम् आस्थिता, भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्, सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः**'' (हे अर्जुन ! दैवीप्रकृतिमें रहे हुये महात्मा लोग मुझे अव्यय तथा सर्वमें आदिरूप जानकर अनन्यभावसे भजते हैं. वैसे दृढव्रत धारण कर यत्नपूर्वक निरन्तर मेरा कीर्तन करते हैं.) इस प्रकार आपके वचनसे

कीर्तन करने योग्य पूर्ण पुरुषोत्तम ही हैं.

(८४) स्मर्तव्यश्चात्मवित्तमैः

आत्मज्ञ भगवदीयों द्वारा स्मरण करने योग्य.

आत्मज्ञ परमात्माको जाननेवाले अर्थात् भगवान्‌के अनुग्रहको प्राप्त करके मैं प्रभुका अंश हूं अर्थात् प्रभु समुद्ररूप हैं और मैं उनकी एक तरंगरूप हूं. भले ही मैं अंशरूप हूं तो भी जैसे समुद्रसे तरंग अभिन्न होती है, वैसे ही मैं भी प्रभुसे अभिन्न हूं. तो भी मैं मायामें प्रविष्ट हुआ एक अल्प जीव हूं. इसलिये वो मेरे प्रभु और स्वामी हैं. मैं उनकी ही शरणमें हूं. वो ही मेरे सेवनीय एवं स्मरणीय हैं. इस प्रकार अपने स्वरूपको जानकर प्रभुके स्वरूपका अनुभव करनेवाले भक्त द्वारा केवल परमात्मा श्रीकृष्णही स्मरण करने योग्य हैं.

अनेक-मार्ग-कर्ता च नानाविध-गति-प्रदः।।

पुरुषः सकलाधारः सत्त्वैक-निलयात्मभूः।।२६।।

(८५) अनेकमार्गकर्ता

(१)अनेक योग सांख्यादि मार्गोंके रचनाकार; (२)अनेक-एक संख्या रहित ऐसे स्वयं ही अपने मार्गके रचनेवाले.

योग सांख्यादि मार्गोंको प्रकट करनेवाले आप प्रभु ही हैं. योग सांख्यके जो-जो आचार्य हो गये, उन-उन आचार्योंके रूप आप स्वयं ही अपने अंशसे प्रकट हुये हैं और उन-उन मार्गोंको प्रकट किया है. भगवान् एक रूपमें और अनेक रूपमें भी प्रकट होते हैं अर्थात् स्वयं अगम्य, किसीसे भी जाने न जा सकें ऐसे हैं. इसलिये इनके मार्गोंको स्वयं ही रचनेवाले हैं, कोई और दूसरा मार्गको जाननेमें समर्थ नहीं हो सकता. महाभारतके अंतर्गत विष्णुसहस्रनाममें ''एकोनैकः सर्वगः किम्'' परमात्मा एक रूपमें, अनेक रूपमें और वैसे ही सर्वरूप भी है ऐसा बताया गया है, अतएव अपने मार्गको आप ही प्रकट करनेवाले प्रभु हैं, ऐसा कहा गया है.

(८६) नानाविधगतिप्रदः

(१)अलग-अलग प्रकारकी गतिके देनेवाले; (२)विविध प्रकारोंसे नवधा भक्तिरूप गतिको देनेवाले.

जैसे जिसके कर्म हों वैसी विविध गतिको प्रदान करनेवाले आप श्रीकृष्ण हैं. जिसकी योग्यता स्वर्गकी हो, उसे स्वर्ग; अपवर्गकी योग्यतावालेको अपवर्ग;

स्वस्वरूपज्ञानकी योग्यतावालेको स्वस्वरूपज्ञान, ऐसे सर्वको यथायोग्य गति प्रभु प्रदान करते हैं. और निज भक्तोंको स्मरण कीर्तनादि नव प्रकारकी भक्तिमें जो जिसके योग्य हो वैसी भक्तिरूप गति भी प्रदान करते हैं. ऐसे नानाविध गति देनेवाले प्रभु ही हैं.

(८७) पुरुषः

(१)पुर ब्रह्माण्डमें शयन करनेवाले; (२)नौद्वारवाला पुर यह देह, उसमें शयन करनेवाले; (३)उन्नतिमान प्राणियों में बिराजमान; (४)पुरु– चौदह भुवनोंका नाश करनेवाले; (५)पूर्ण (६)सबसे पुरातन; (७)सबके स्थानरूप; (८)विराटपुरुष.

इस अखिल ब्रह्माण्डमें शयन करनेवाले व्यापक रूपसे स्थिति करनेवाले एवं नवद्वारमय शरीररूपी नगरमें बिराजमान हैं. इस कारण उनको 'पुरुष' कहा जाता है. महाभारतमें व्यासजीने कहा है ''इन सर्वभावोंसे युक्त मुख नाक कानादि नव द्वारवाले देहरूप नगरमें व्याप्त होकर जो परमात्मा शयन करता है उसको 'पुरुष' कहा जाता है''. उन्नतिको पाये हुये सर्व प्राणी मात्रके अंतरमें प्रभु बिराजमान हैं. जब स्वयं इस सर्व सृष्टिके संहारकी इच्छा होती है तब चौदह भुवनोंका विनाश कर सर्व वस्तुओंको अपनेमें लीन कर लेते हैं. आप पूर्ण हैं, सनातन हैं, सर्वस्थानमें स्थिति करनेवाले हैं. अतएव ''पुराणात् सदनाच्चैव ततोऽसौ पुरुषो मतः'' सबसे पुरातन और सर्वस्थानरूप होनेके कारण आपको पुरुष मान्य किया जाता है. उसमें आप तो विराट स्वरूप हैं. उस कारणसे पुरुष ऐसे कहकर व्यवहार करनेमें आता है. श्रुति आज्ञा करती है ''पुरुषो वै विराजः'' (पुरुष परमात्मा ही विराट रूप है.) इत्यादि कारणोंसे भगवान् स्वयं पुरुष पुरुषोत्तम ही हैं.

(८८) सकलाधारः

सकल विश्वके आधार.

इस सकल ब्रह्माण्ड भाण्ड देहके आधार प्रभु ही हैं. गीतामें आप आज्ञा करते हैं कि ''मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'' (यह सारा जगत जैसे डोरसे मणियां पुरोई जाती हैं वैसे ही परमात्मासे ओतप्रोत हैं.) तथा ''विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नम् एकांशेन स्थितो जगत्'' (यह समग्र जगत मेरे एक अंशपर अवलम्बित है) ऐसे प्रमाणों द्वारा प्रभुके आधारसे ही यह विश्व टिका हुआ है, ऐसा सिद्ध होता

है. जैसे शरीरमें चैतन्यरूपसे आप बिराजते हैं तब भी इन्द्रियोंके विद्यमान होते हुये भी, ये देह कोई भी आनन्द देनेवाला नहीं है, वैसे ही इस सर्व विश्वके प्रभु आधार नहीं हों तो इसमें कुछ भी रुचिकर नहीं लगेगा. प्रभुके आभाससे ही ये सर्व भासता है, उनके आनन्दके कारण ही सब कुछ आनन्दमय लगता है. अतएव सर्वके आधार प्रभु ही हैं.

(८९) सत्वैकनिलयात्मभूः

(१)केवल सत्वगुण युक्त जिनके चित्त हैं ऐसे भक्तोंके हृदयमें प्रकट होनेवाले; (२)सत्वगुणका आश्रय करनेवाले भक्तजनोंमें स्वस्वरूपको उदय करनेवाले; (३)स्वस्वरूपसे ही प्रकाशमान होनेवाले.

रजोगुण और तमोगुण के विकार दूर होनेके बाद जब चित्त सत्व गुणसे निर्मल बन जाता है तब ही विमल अंतःकरणमें प्रभु बिराजते हैं. मलिन दर्पणमें जैसे प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं देता वैसे ही सांसारिक विकारोंसे मलिन बने मानसरोवरमें हंस स्वरूप परमात्मा प्रकाशित नहीं हो सकते. यहां शुद्ध सात्विक भावकी आवश्यकता है. प्रभु निर्गुण हैं, दिव्य गुणधारी हैं. शुद्ध सत्व स्वरूप हैं. अर्थात् उन प्रभुको हृदयमें पधरानेकेलिये अलौकिक सात्विकभावकी आवश्यकता होती है. वैसे भाव जहां उदित होते हों वहां ही वृन्दावनचंद्रका हृदयाकाशमें प्रत्यक्ष प्रकाश होता है, इसमें कोई संशय नहीं है.

सर्वध्येयो योग–गम्यो भक्त्या ग्राह्यः सुरप्रियः ।।
जन्मादि–सार्थक–कृतिः लीला–कर्ता पतिः सताम्।।२७।।

(९०) सर्वध्येयः

समस्त भक्तों द्वारा सब स्थानोंमें एवं समग्र रूपोंमें ध्यान करने योग्य.

सर्व भक्तजनोंके ध्यान करने योग्य तो एक श्रीकृष्ण ही हैं. परमात्मा व्यापक है, अर्थात् सर्वस्थानोंमें आप बिराज रहे हैं और आप सब वस्तुओंमें प्रकाशित हैं. ऐसे ही गीतामें आज्ञा करी है ''यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति'' (जो मुझे सब स्थानोंमें देखता है और मेरेमें ही सर्व वस्तुओंका अवलोकन करता है, वो ही ज्ञान सम्पन्न है.) इस कारण सर्व भक्तजनोंको सर्व स्थलोंमें सर्वरूप परमात्माका ही ध्यान धरना चाहिये. इस प्रकार प्रभु ही ध्यान करने योग्य हैं, ये ही श्रीकृष्ण सर्व स्थलोंमें सर्व रूपोंमें बिराजमान हैं. अतएव आपको सर्वध्येय कहा गया है.

(९१) योगगम्यः

योग द्वारा जानने योग्य – प्राप्त होते हैं, ऐसे.

''भक्त्या त्वनन्यया शक्य'' भक्तियोग द्वारा प्राप्त हो सकें, ऐसे प्रभु हैं. जब तक वैसा दृढ़ भक्तियोग सिद्ध नहीं हो वहां तक प्रभु प्राप्त होने अशक्य हैं. आपने गीतामें आज्ञा करी है ''भक्त्या माम् अभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः'' ''भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहम् एवंविधोऽर्जुन, ज्ञातुं दृष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप'' (उस पराभक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको, मैं जो हूं और जितना हूं, ठीक वैसेका वैसा तत्त्वसे जान लेता है; परन्तु हे परंतप अर्जुन! अनन्यभक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेकेलिये तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूं.) इस प्रकार भक्तियोगसे ही प्रभु प्राप्त हो सकते हैं, इस कारण आप योगगम्य हैं.

(९२) भक्त्याग्राह्यः

(१) भक्ति द्वारा ग्रहण करे जा सकें ऐसे; (२) भक्ति द्वारा ही सर्व रीतिसे ग्रहण करने योग्य स्वरूपवाले.

प्रभु भक्तिसे ही ग्राह्य हो सकें ऐसे हैं. परमात्माको प्राप्त करनेका इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है. प्रभु आज्ञा करते हैं ''पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति, तदहं भक्त्युपहृतम् अश्नामि प्रयतात्मनः'' (जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्ध बुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र–पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीति सहित आरोगता हूं.) इस प्रकार आप केवल अनन्य भावमयी भक्तिद्वारा ही प्राप्त होते हैं, ऐसा बताना चाहते हैं. इस कारण यहां भक्त्याग्राह्य पुरुषोत्तम ऐसा कहा गया है.

(९३)सुरप्रियः

(१)देव–देवीजीवोंको प्रिय (२)दैवीजीव जिनको प्रिय है (३)दैवी जीवोंके पोषण हार.

दैवीजीवोंको तो केवल परमात्मा ही प्रिय हैं, वैसे ही परमात्माको भी दैवीजीवोंके ऊपर प्रेम होता है. इस कारण उनका पोषण आप स्वयं ही करते हैं. इस प्रकार जीवोंका और परमात्माका परस्पर तादात्म्य स्नेहसंबंध होता है,

इसलिये प्रभुको सुरप्रिय कहा गया है.

(९४) जन्मादिसार्थककृतिः

(१)जन्म जिसमें आदि है, ऐसे आयुष्यको सफल करनेवाली जिनकी कृति है अर्थात् लीला है. (२)भगवान्की दशविध जो लीलायें हैं उनका आश्रय करनेवालोंका सार्थक जन्म होता है.

भगवान्की दशविध लीलाओंका आश्रय किये बिना जन्म निष्फल है. प्रभु भक्तजनोंका जन्म इत्यादि सफल करनेके लिये ही लीलायें निर्माण करते हैं. फिर जो उन लीलाओंका आश्रय न करे तो उनका जन्म वृथा ही माना जाता है. श्रीमद्भागवतके इस स्कंधमें कहा गया है कि ''तज्जन्म तानि कर्माणि'' (श्रीहरिकी लीलाओंका सेवन करनेमें आये उनका ही जन्म सार्थक है. वो ही मुख्य कर्म है तथा जिसमें भगवान्का गुणानुवाद करनेमें आया हो इसके अतिरिक्त जो क्षण भी जाता है वो उदय-अस्त रूप द्वारा मनुष्योंका आयुष्य हरण करता है.) अर्थात् उनका जीवन भगवत्कथाके बिना सफल नहीं हुआ. उसकी आयुष्य वृथा ही गयी. इस कारण ही भगवत्कृतिका आश्रय करना चाहिये और उसके करनेवाले जन्मादिको सफल करनेवाले प्रभु ही हैं.

(९५) लीलाकर्ताः

लीला अर्थात् भगवान् अपनी आत्मशक्तिरूप मायाके द्वारा जगत्की रचना करते हैं.

भगवानने अपनी आत्मशक्तिरूप माया द्वारा ही जगतको रचा है. इसलिये माया-आत्मशक्तिमें प्रेरणा करनेवाले आप ही हैं. भागवतके इस स्कंधमें कहा गया है कि ''भूयएव विवत्सामि भगवान् आत्ममायया, यथेदं सृजते विश्वं दुर्विभाव्यम् अधीश्वरैः'' (मैं आपसे फिर भी यह जानना चाहता हूं कि भगवान् अपनी मायासे इस संसारकी सृष्टि कैसे करते हैं? इस संसारकी रचना तो इतनी रहस्यमयी है कि ब्रह्मादि समर्थ लोकपाल भी इसके समझनेमें भूल कर बैठते हैं). ऐसा बताकर प्रभुही अपनी माया शक्तिको प्रेरणा देकर सृष्टि आदिकी रचना करते हैं. ऐसी लीला करनेवाले श्रीकृष्ण ही हैं.

(९६) पतिः सताम्

सत्पुरुषोंके-भक्तोंके पालनहार.

सज्जन भक्तोंके पति-स्वामी आप ही हैं. आपही उनका रक्षण करते हैं.

उसी प्रकार प्रत्येक सद्वस्तुका भी पालन करनेवाले आप प्रभु ही हैं. इसलिये इस स्कंधके चौथे अध्यायमें ''प्रसीदतां मे भगवन् सतां पतिः'' (सत्पुरुष-भक्तोंके पति ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण मेरे ऊपर प्रसन्न हों) इसमें सत्पुरुषोंके पति भगवान् हैं, ऐसा स्पष्ट कथन किया गया है.

आदि-कर्ता तत्त्व-कर्ता सर्व-कर्ता विशारदः ।।
नानावतार-कर्ता च ब्रह्माविर्भाव-कारणम्।।२८।।

(९७) आदिकर्ता

आदि ऐसे कर्ता अथवा आदि जो आकाश अथवा काल है उनके कर्ता अथवा आदि जो ब्रह्मा हैं उनको उत्पन्न करनेवाले.

सबके आदि कर्ता भगवान् ही हैं. उन सब वस्तुओंमें सबसे पहले आकाश उत्पन्न हुआ तो उस आकाशको भी प्रकट करनेवाले प्रभु ही हैं. श्रुति आज्ञा करती है कि ''तस्माद् वा एतस्माद् आकाशः संभूतः'' (उस परमात्मामेंसे सबसे पहले आकाश उत्पन्न हुआ) तथा इस स्कंधके पांचवे अध्यायमें कहा गया है ''स एष भगवाँल्लिङ्गैस्त्रिभिरेभिरधोक्षजः, स्वलक्षितगतिर्ब्रह्मन् सर्वेषां मम चेश्वरः'' (इन्द्रियातीत भगवान् गुणोंके इन तीन आवरणोंसे अपने स्वरूपको भलीभांति ढक लेते हैं, इसलिये लोग उनको नहीं जान पाते. सारे संसारके और मेरे भी एकमात्र स्वामी वे ही हैं.) इस प्रकार स्वयं ब्रह्माजी कह रहे हैं. इसलिये सबको उत्पन्न करनेवाले पुरुषोत्तम प्रभु ही है. इस कारण आपने आदिकर्ता कहा.

(९८) तत्त्वकर्ता

तत्त्वोंकी रचना करनेवाले.

सांख्य शास्त्रमें प्रकृतिसे लेकर चौबीस तत्त्व माने गये हैं. कितने २८ भी मानते हैं. वैसे ही कितने २४ से भी कम ७-८-११-१५-१७ ऐसे भी तत्त्वोंकी संख्या मानते हैं. इन सब तत्त्वोंकी रचना करनेवाले परमात्मा ही हैं.

(६६) सर्वकर्ता

(१)सारे विश्वको बनानेवाले; (२)कुम्हारादि सर्वकर्ताओं जैसे सर्वरूपोंको रचनेवाले; (३)विश्वमें जो कोई कुछ भी कार्य करता है वह भगवान्की शक्तिसे ही कार्य करता है; अतएव भगवान् ही सर्वकर्ता हैं.

सर्व वेद सूत्र गीता इत्यादिमें परमात्माका कर्तृत्व भली प्रकार दिग्दर्शित किया गया है. कुम्हार घडेका कर्ता है वो भी भगवदिच्छासे ही, वैसे ही सृष्टिके

रचनाकार ब्रह्माजी, पालनहार विष्णु और संहारक महादेवजी इत्यादि जो कर्ता प्रतीत होते हैं वो भगवान्‌की आज्ञाके आधीन होकर उनकी शक्तिसे ही कार्य करते हैं न कि स्वतन्त्र रीतिसे. उन कर्ताओंमें वैसे-वैसे रूपोंसे प्रभु ही बिराजे हुये हैं और उनसे वो कार्य सम्भव होता है, अन्यथा कुछ भी किसीसे कार्य हो नहीं सकता. इस कारण प्रभु सर्वकर्ता हैं.

(१००) विशारदः

(१)अत्यन्त निपुण भगवान् जिनकी उत्तम वाणी है; (२)शरद ऋतुके पूर्ण चन्द्रको भी अपने प्रकाशसे लज्जित करनेवाले प्रभु.

प्रभु स्वयं ही वाणीके पति हैं तो उनकी वाणीमें मिठास, उत्तमता हो इसमें आश्चर्यकी क्या बात है? हजारों सूर्य और हजारों चन्द्रमाओंका प्रकाश जिनके सामने कम पड़ता हो वहां एक बेचारा शरदपूर्णिमाका चन्द्र लज्जित हो जाय तो उसमें विस्मयकी क्या बात है? सबमें रही हुई निपुणता, चतुरता केवल प्रभुकी कृपाका लेशमात्र है, तो फिर आप अति चतुर, अति निपुण हों तो इसमें कुछ भी अद्भुतताकी बात नहीं है.

(१०१) नानावतारकर्ता

वाराहादि भिन्न-भिन्न अवतारोंके उत्पन्न कर्ता अथवा ग्रहण करनेवाले.

प्रभुने वाराह, कूर्म, मत्स्य, इत्यादि भिन्न-भिन्न अवतारोंको ग्रहण किया है. इस स्कन्धके सातवें अध्यायमें ब्रह्मा और नारदजीके संवादप्रसंगमें ''यत्रोद्यतः क्षितितलोद्धरणाय'' श्लोकसे आरम्भ करके अध्यायकी समाप्ति तक भगवान्‌के अवतारोंका ही वर्णन है. अतएव स्वयं श्रीकृष्णही धर्मका स्थापन करनेकेलिये और भक्तोंका उद्धार करनेकेलिये अलग-अलग अवतारोंको प्रकट करनेवाले हैं.

(१०२) ब्रह्माविर्भावकारणम्

(१)ब्रह्मा अर्थात् हिरण्यगर्भकी उत्पत्तिमें कारणरूप; (२)ब्रह्माजीको दर्शन देनेकेलिये जिनका प्राकट्य है, ऐसे भगवान्.

हिरण्यगर्भकी पहले उत्पत्ति हुई है. उनकी उत्पत्तिके कारण आप प्रभु हैं. स्वयंही आदि कालमें इस सृष्टिका निर्माण करनेकेलिये पहले हिरण्यगर्भ-ब्रह्माको प्रकट किया. यजुर्वेदकी श्रुति बताती है कि ''हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'' (पहले हिरण्यगर्भ प्रकट हुआ.) उसके बाद आगे सृष्टिका प्रवाह चला है. इस स्कन्धके नवमें अध्यायमें ''ब्रह्मणे दर्शयन् रूपम्'' ऐसा कहकर आगे ब्रह्माके तपसे प्रसन्न

होकर प्रभुने उनको दर्शन दिये हैं. इस कारण यहां ब्रह्माको दर्शन देनेकेलिये जिनका प्राकट्य है ऐसे पुरुषोत्तम, कहा गया है.

दश–लीला–विनोदी च नाना–सृष्टि–प्रवर्तकः ।।
अनेक–कल्प–कर्ता च सर्व–दोष–विवर्जितः।।२९।।

(१०३) दशलीलाविनोदी

(१)दश लीला द्वारा विनोद करनेवाले; (२)दशलीलाओंसे कालको प्रेरणा देनेवाले.

श्रीमद्भागवतमें भगवान्की दश प्रकारकी लीलायें वर्णित हैं. वो हैं: सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय. इन दश प्रकारकी लीलाओंसे आप कालको प्रेरणा देनेवाले हो.

(१०४) नानासृष्टिप्रवर्त्तकः

अलग–अलग सृष्टिका प्रवर्त्तन करनेवाले. नाना अर्थात् देव, पितृ, मनुष्य, गंधर्व, दानव इत्यादिरूप अलग–अलग प्रकारकी सृष्टिका प्रवर्त्तन करनेवाले श्रीकृष्ण ही हैं. इस स्कन्धमें दशम अध्यायमें ''पुरुषोऽण्डं विनिर्भिद्य'' इस श्लोकसे आरम्भ करके परमात्माने जो भिन्न–भिन्न प्रकारसे सृष्टि प्रकट की है उसका वर्णन किया गया है. ऐसी विविध प्रकारकी सृष्टि करना, ये कोई साधारण शक्ति नहीं है. अतएव वैसी असाधारण शक्ति प्रभु बिना दूसरेमें हो नहीं सकती. परमात्मामें ऐसी अनेक शक्तियां विराजमान हैं. इसलिये ऐसी सृष्टिके रचनाकार श्रीकृष्ण हैं.

(१०५) अनेककल्पकर्ता

अनेक कल्पोंके करनेवाले.

पाद्मकल्प, ब्राह्मकल्प, वाराहकल्प इत्यादि अनेक कल्पोंकी रचना करनेवाले, निर्माण करनेवाले आप पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं.

(१०६) सर्वदोषविवर्जितः

दोषोंसे रहित.

सारे दोषोंसे रहित तो एक प्रभु ही हैं. सबमें कोई न कोई दोष तो दीखनेमें आता ही है. कारण कि संसारही दोषोंसे भरा हुआ है. इसी कारण इसे दुःखमय कहा जाता है. प्रभुको संसार नहीं होता. अतएव उनमें कोई दोष एवं दुःख नहीं है. वैसे आप प्रभु तो आनन्दरस रूप हैं. अतएव आपमें दोष–दुःख कहांसे होंगे,

संभव ही नहीं, अतएव ''निर्दोष एको हरिः'' एक हरि ही निर्दोष हैं ऐसा कहा गया है. अतएव इस नामको प्रकट किया गया है.

।। इति द्वितीयस्कन्धनामानि ।।

श्रीभागवत सुबोधिनी

द्वितीय स्कन्ध

(श्रवणाङ्ग स्कन्ध–ज्ञानलीला)

प्रथम साधन: तत्त्वध्यान–वस्तुनिर्धार. (अ.१–२)

अध्याय १

ध्यान विधि तथा भगवान्‌के विराट् स्वरूपका वर्णन

स्कन्धे तु प्रथमे प्रोक्ता: त्रिविधा ह्यधिकारिण:।
तेषां कर्तव्यनिर्द्धारो द्वितीये विनिरूप्यते।।का.१।।

कारिकार्थ: प्रथम स्कन्धमें तीन प्रकारके अधिकारी कहे गये थे. अब द्वितीय स्कन्धमें उनके कर्तव्यके निर्धारका निरूपण किया जाता है.

तस्मिन् निर्धारिते पश्चात् क्रियाविषयसंकथा।
अग्रे च तां प्रवक्ष्याम: तृतीयादिभिरुत्तमै:।।का.२।।

कारिकार्थ: जब कर्तव्यका निश्चय हो जाता है उसके अनन्तर ही क्रिया (लीला)के विषयकी चर्चा होती है. इसलिए द्वितीय स्कन्धके आगे तृतीय आदि उत्तम स्कन्धोंमें उन(लीलाओं)को मैं कहूंगा.

निर्धारणेऽङ्गत्रितयं वस्तुनिर्धारणं पुरा।
श्रद्धा चैव विमर्शश्च वस्तुनिर्धारणं पुन:।।का.३।।

कारिकार्थ: तीनों प्रकारके अधिकारियोंके कर्तव्यके निर्धारणमें तीन अंग हैं. वस्तुनिर्धारण पहला है, फिर श्रद्धा और विमर्श है.

प्रमाणेन प्रमेयेण साधनेन फलेन च।
एकत्र मानमेये हि फलं साधनम् एकत:।।का.४।।
अतोऽत्र वस्तुनिर्धारे ह्यध्यायद्वितयं मतम्।

कारिकार्थ: इसके अनन्तर वस्तुनिर्धार प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल से किया गया है. इसमें भी दो कोटि की गई है. प्रमाण–प्रमेयकी एक कोटि और फल–साधनकी एक कोटि है. अतएव वस्तुनिर्धारमें दो अध्याय माने गए हैं.

श्रद्धापि द्विविधा लोके श्रोतृ–वक्तृविभेदत:।।का.५।।
फलोपकार्यङ्गम् एतद् नाधिकारे ततो विशेत्।

कारिकार्थ: इसी तरह श्रद्धा भी श्रोता और वक्ताके भेदसे दो प्रकारकी है. श्रद्धा आनन्दानुभवरूप फलका उपकारी अंग होनेसे अधिकारमें उसकी गणना नहीं है.

विमर्शोऽपि द्विधा पूर्वम् उत्पत्या चोपपत्तितः।।का.६।।
त्रिविधे द्वे ततस्तत्र षडध्यायास्ततो दश।
तत्र तु प्रथमेऽध्याये कर्तव्यं विनिरूप्यते।
वस्तुनः तत्त्वनिर्धारो मान-मेयविभेदतः।।का.७।।

कारिकार्थ: विमर्श भी उत्पत्ति और उपपत्ति भेदसे दो प्रकारका है. इनमें प्रत्येकके तीन भेद हैं इसलिए इसके छः अध्याय हैं. इस तरह पूरे द्वितीय स्कन्धके दस अध्याय हैं. उनमें पहले अध्यायमें कर्तव्यका निरूपण है. प्रमाण और प्रमेयके भेदसे इसमें वस्तुके तत्त्वका निर्धार है।।६-७।।

आभासार्थ: प्रथम स्कन्धमें अधिकारके निरूपणमें परीक्षितके मुख्य अधिकारका निरूपण किया. अब उसे क्या करना है, इस तरह कर्तव्यकी जब आकांक्षा हुई तो उसे भगवान्‌की कृपासे सत्सङ्ग मिल गया. जब सत्सङ्ग मिल गया है तो सर्वतत्त्वकी जिज्ञासाकेलिए प्रश्न करना ही चाहिए. इसलिए परीक्षितने सर्वतः प्रथम दो प्रश्न किये:

प्रथम तो सर्वात्मना-सब तरहसे क्या करना चाहिए?
दूसरा मरनेवालेकेलिए क्या करना चाहिए?

'सर्वात्मना कर्तव्यम्'का तात्पर्य यह है कि जिसके किये बिना कोई भी पुरुषार्थ सिद्ध न हो सके. उसमें अधिकारीका निर्धार अपेक्षित नहीं है. इन सबका निर्धारण उत्तर देनेके समय ही होगा. मरनेवालेके कर्तव्यका निर्धारण द्वितीय प्रश्न है. परीक्षितने पहले जो श्रोतव्य आदि पांच पदार्थ पूछे थे वे पांचो ही इन दोके निरूपणके अन्तर्गत हैं. अतः इन दोके निरूपणसे ही उन पांचोंका निरूपण हो जायेगा और कुछका निरूपण आगे करेंगे. इसलिए दोका ही निरूपण करना चाहिए. 'सब तरहसे क्या करना चाहिए' और 'मरनेवालेको क्या करना चाहिए'. उसकेलिए सब वस्तुओंकी यथार्थताका निरूपण करना पडेगा. फलाभिमुख अङ्ग और श्रद्धाका निरूपण करना पडेगा और उसके विचारका भी निरूपण करना होगा. इनकी आवश्यकताका उन-उन प्रकरणोंमें निरूपण करेंगे. उन दो प्रश्नोंमें

पहले प्रश्न सर्वात्मना कर्तव्यका निर्धार 'वरीयान्' इत्यादि चौदह श्लोकोंसे कहते हैं. कर्तव्य निरूपणके पहले प्रश्नका अभिनन्दन करना चाहिए. इसलिए ''वरीयान् एष ते प्रश्नः'' इससे उस प्रश्नकी प्रशंसा की. जिस तरह भूखेकेलिए अन्नदान आवश्यक है उसी तरह आकांक्षा रखनेवालेके लिए कर्तव्यका कहना भी आवश्यक है. अधिकारका निर्धार करना चाहिए. विशेषकर यह अधिकार निर्धार पूर्व प्रश्नका अङ्ग है, ऐसा निरूपण नही किया है फलका निरूपण न कर केवल बुद्धिपूर्वक कर्म करनेवालेको विधि(आज्ञा) कर्ममें प्रवृत्त नहीं कर सकती. इसलिए फल निर्धारकेलिए अधिकारीका निरूपण करना चाहिए. उस निरूपणमें तीन दोष आते हैं उनका निराकरण करना चाहिए, उसकेलिए तीन श्लोक हैं. उसमें पहले श्लोकमें प्रश्नका अभिनन्दन(प्रशंसा) है:

श्रीशुक उवाच

वरीयान् एष ते प्रश्नः कृतो लोकहितो यतः।
आत्मवित्सम्मतः पुंसां श्रोतव्यादिषु यः परः।।१।।

श्लोकार्थः शुकदेवजीने कहा, हे राजन्! तुमने जो मनुष्योंका हित करनेवाला प्रश्न पूछा है वह आत्मज्ञानियोंकेलिए भी हितकारी है. वह प्रश्न श्रोतव्य आदिसे भी श्रेष्ठ है।।१।।

व्याख्यार्थः श्रोतव्य आदिके प्रश्नोंमें जो तुमने सर्वतः प्रथम 'सर्वात्मना किं कर्तव्यम्' पूछा है, अत्यंत श्रेष्ठ है. इस प्रश्नकी उत्तमताका कारण यह है कि यह प्रश्न तुम्हारा उपकार करनेवाला है. अन्य प्रश्न तो अन्योंका उपकार करनेवाले हैं. इस विषयमें महत्पुरुषोंकी सम्मति है यह 'आत्मवित्सम्मतः' से बताई है. यह प्रश्न आत्मज्ञानियोंको भी सम्मत है. इस प्रकारके प्रश्न और उत्तरमें बुद्धिकी उत्तमता सूचित होती है और सभी विचारकों एवं स्वतन्त्रों केलिए भी ऐसा प्रश्न आदरणीय है. अतः इसका उत्तर अवश्य दूंगा ऐसा भाव है।।१।।

आभासार्थः इस समय फलको चाहनेवाला अधिकारी कैसा है इसका निश्चय करना है, क्योंकि सबका कर्तव्य एकसा नहीं होता:

श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रशः।
अपश्यताम् आत्मतत्त्वं गृहेषु गृहमेधिनाम्।।२।।

श्लोकार्थः हे राजेन्द्र! आत्मतत्त्वको न जाननेवाले और घरोंमें ही गृहकार्योंमें लिप्त मनुष्यों केलिए सुनने आदिके विषय तो हजारों ही हैं।।२।।

व्याख्यार्थः आगेके प्रश्नोंका अभिनन्दन श्रीशुकदेवजीने नहीं किया इसलिए वे प्रश्न गौण हैं यह सूचित होता है. तथापि राजाकी आकांक्षा यदि उन गौण प्रश्नोंके उत्तर सुननेकी दृढ हो गई हो तो मुख्य प्रश्नका दिया हुआ उत्तर भी राजा ठीक तरहसे नहीं समझ सकेगा. इसलिए अधिकारका जहां निरूपण किया है वहां श्रोतव्य आदिका निराकरण करते हैं. परीक्षितकेलिए 'राजेन्द्र' सम्बोधन दिया है उसका तात्पर्य यह है कि तुमने बहुतसे पुरुष देखें हैं और बहुतसे शास्त्र भी देखें हैं परंतु उनसे तुम्हारा कोई पुरुषार्थ सिद्ध हुआ नहीं है, इसका अनुभव तुम्हें हो चुका है इस बातको प्रदर्शित करनेके लिए है. मनुष्योंकेलिए सुनने योग्य हजारों हैं इस वचनके कारण ही उत्तरमें भी उसी 'नृणां'का अनुवाद किया है. तो फिर जो प्रश्न पहले किये हैं उनका उत्तर क्यों नहीं दिया गया? इसके उत्तरमें 'सन्ति सहस्रशः' ऐसा कहा. अर्थात् मेरे कहनेके पहले ही इस विषयके प्रश्नोत्तर हजारों हो चुके हैं. अतः उनका उत्तर देनेकी आवश्यकता मैं नहीं समझता. सामान्य प्रश्नोंमें अपने चाहे हुए प्रश्न नहीं है इसकेलिए 'अपश्यताम् आत्मतत्त्वम्' ऐसा कहा है. आत्मतत्त्व अनारोपित रूप होता है. उस अनारोपित रूप आत्मतत्त्वको समझानेवाले शास्त्रोंका अभाव होनेसे आत्मतत्त्वका ज्ञान नहीं हो सकता. लोकव्यवहारमें भी आत्मा आरोपित ही दिखाई देती है अथवा देह आदि रूपसे संवलित(युक्त) ही प्रतीत होती है. जैसे 'मैं' से आत्मा लिया जाय तो वह मैं देह, इन्द्रिय आदि रूपोंसे ही प्रतीत होता है. ''मैं गौरवर्ण हूं, श्यामवर्ण हूं, लंगडा हूं'' यहां आरोपित रूपसे ही है. आत्माकी प्रतीति शुद्ध रूपसे हो रही है. यदि कोई यह शंका करे कि उपाय जब विद्यमान है तो लोग आत्मतत्त्वको क्यों नहीं जानते? इसका उत्तर 'गृहेषु गृहमेधिनाम्' इससे दिया है. उन लोगोंको अलगसे आत्मतत्त्वको जानकर क्या करना है? वे तो गृहमेधी हैं अर्थात् उनकी बुद्धिमें तो घर ही सबकुछ है इसलिए उनको तो केवल घरके उपयोगी जो हो उसे ही जानना है. यदि वे आत्माको सबसे अलग समझने लग जाय तो उनका घर ही समापप्त हो जायेगा, घरसे कोई प्रयोजन ही नहीं रहेगा. इसलिए वे आत्माको नहीं जानना चाहते. 'गृहेषु'में जो सप्तमी है वह निमित्तार्थक सप्तमी है. उनकी बुद्धि तो गृह(घर) निमित्तक ही है. अतः वे तो यह चाहते हैं कि हम केवल गृहनिष्ठ ही हों. अतः हमें घर प्राप्त करना चाहिए. इसलिए जिस बुद्धिसे गृहसिद्धि(घरकी प्राप्ति) हो वैसी ही बुद्धिका सम्पादन करते हैं. वैसी बुद्धि तो लौकिक ग्रन्थोंसे ही प्राप्त हो

जाती है. उसकेलिए हमारे वचनोंकी अपेक्षा नहीं है. इसलिए उस विषयका तुम्हारा प्रश्न तो ठीक नहीं है. इससे मरनेवालोंको क्या करना चाहिए इस प्रश्नकी श्रीशुकदेवजीने न तो प्रशंसा की और न निन्दाकी. इसलिए उसका उत्तर आगे कहेंगे ऐसी सम्भावना है।।२।।

आभासार्थ: शंका होती है कि उनकी बुद्धि केवल घर केलिए ही क्यों है जबकि सद्बुद्धिके साधन विद्यमान हैं. उसपर कहते हैं:

निद्रया ह्रियते नक्तं व्यवायेन च वा वयः।
दिवा चार्थेहया राजन् कुटुम्बभरणेन वा।।३।।

श्लोकार्थ: हे राजन्! रात्रिकी आयु तो नींदमें अथवा स्त्रीसंगमें समाप्त हो जाती है और दिनकी आयु धनोपार्जन करनेमें अथवा कुटुम्बके पोषणमें बीत जाती है।।३।।

व्याख्यार्थ: यदि मनुष्योंके पास समय हो तो वे सत्संग कर सकें किन्तु उनके पास कोई समय ही नहीं है. उनकी आयुका समय तो दूसरे ही छीन लेते हैं. उसीको कहते हैं कि आयुको हरण करनेवाले दो हैं, नींद और चेष्टा. इन दोनों ही ने आधी-आधी आयु छीन ली है. उनमें रात्रिकी आधी आयुको नींद हर लेती है अर्थात् रात्रि सम्बन्धी आयु तो अज्ञानमें ही चली जाती है और दिन सम्बन्धी आयु धन कमानेमें चली जाती है. इस तरह रात्री सम्बन्धी आयु अज्ञानमें और दिन सम्बन्धी आयु विपरीत ज्ञानमें बीत जाती है. इसलिए सारी ही आयु जब इन दोमें बीत जाती है तो सत्सङ्गकेलिए कौनसा समय रहता है? यदि कोई शंका करे कि सारी रात्रिमें कहां नींद बीतती है? इसका उत्तर यह है कि नींदमें न सही स्त्रीसंगमें बीतती है. अथवा स्त्रीसंगरूपी साधनोंमें बीत जाती है यह 'च' से द्योतित होता है. 'वा' का अर्थ यह है कि इन दो प्रकारोंको छोडकर अन्य किसी पक्षकी संभावना नहीं है. 'वयः' शब्दसे यहां युवावस्था ही ली जाती है क्योंकि चारों प्रकारके पुरुषार्थोंकी सिद्धिका साधन आयु ही है. वह यदि नींदमें और धन कमानेमें, घरके कामकाजमें बीत गई तो फिर बुढापेमें क्या सिद्धि प्राप्त करेगा. बचपनमें भी क्या कर सकता है? घरका मूल धन है इसलिए अर्थोपार्जनकेलिए चेष्टा करनी ही पडती है. 'दिवा च'के 'च' से निद्राका ग्रहण करना चाहिए. जब धन कमानेका प्रयत्न करता है उससे जब अर्थ प्राप्ति होती है तो फिर कुटुम्बके पोषणमें समय यापन करता है।।३।।

आभासार्थ : शंका होती है कि वैराग्यके साधन जब उपस्थित होते हैं तो फिर उन्हें घरसे वैराग्य क्यों नहीं होता ? इसपर कहते हैं:

देहापत्य–कलत्रादिष्वात्मसैन्येष्वसत्स्वपि।
तेषां प्रमत्तो निधनं पश्यन्नपि न पश्यति।।४।।

श्लोकार्थ: देह, पुत्र, स्त्री आदि अपनी आत्माके सहायक नहीं हैं फिर भी उनको अपने सहायक मानकर उनकी आसक्तिके कारण उनसे होनेवाले अपने विनाशको देखते हुए भी नहीं देखता।।४।।

व्याख्यार्थ: घरमें तीन मुख्य हैं: देह, पुत्र और स्त्री. इन्हींके सम्बन्धसे अन्य भी सम्बन्धी बनते हैं. वे परंतु सब स्वभावसे और गुणोंसे भी दुष्ट हैं. क्योंकि ये आत्माका विनाश करनेवाले हैं. जो जिसके सेवक होते हैं वे उसका पोषण करते हैं. परंतु ये तो आत्माकी सेना होते हुए भी काम–क्रोधादि शत्रुओंके द्वारा आत्माका विनाश करवाते हैं. अतः देह, अपत्य, स्त्री आदि दुष्ट हैं. यदि ये ऐसे हैं तो इससे क्या ? ऐसा प्रश्न हो तो उसका उत्तर यह है कि वे धनसे पोषित होते हुए भी आत्मघात दोषसे नष्ट हो जाते हैं. उस समय दुष्टोंके नाशसे उसको आत्मनिष्ठ होनेका अवसर है. परंतु अंदर रहनेवाले दोषोंसे वैसा हो नहीं सकता उसे कहते हैं 'प्रमत्तः'. जैसे मदिराके मदसे भान भूला हुआ पुरुष शरीरसे गिरे हुए वस्त्रको जानता ही नहीं, शरीरका स्पर्श करते हुए भी शरीरसे गिरे हुए वस्त्रका अनुसन्धान नहीं करता, उसी तरह यह जीव भी आत्मघात दोषसे भरे हुए उनको देखते हुए भी, ये जीवित ही हैं, इस तरह उनकेलिए प्रयत्न करता है. इसलिए बाह्य और आभ्यन्तर दोषोंसे व्याप्त होनेके कारण उनकी आयुका क्षय(विनाश) व्यर्थ ही होता है. वे तो घरमें ही फंसे रहते हैं. अतः उनकेलिए तो तुम्हें श्रोतव्य आदिका प्रश्न नहीं पूछना चाहिए. बुद्धि, आयु और दोषोंका अभाव –ये तीन आत्माका उद्धार करानेवाले हैं. ये तीन जिसमें न हो वह आत्मोद्धारका अधिकारी नहीं हो सकता।।४।।

आभासार्थ: इस तरह परीक्षितके प्रश्नका अभिनन्दन करके और यह तुम्हारा प्रश्न साधारण नहीं है यह बताकर जो निर्भय होना चाहता है उसकेलिए उपाय बताते हैं:

तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्।।५।।

श्लोकार्थ: इसलिए हे भारत! जो अभय होना चाहता है, उसे सबकी आत्मा, सबके दुःखको हरण करनेवाले ऐश्वर्यगुणसम्पन्न भगवान्का श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिए।।५।।

व्याख्यार्थ: सर्वात्मना जो कर्तव्य है यह पक्ष ही ठीक है. अन्य विषयक पक्ष ठीक नहीं है. इसलिए जिनको संसारसे भय लगता है और जो भयकी निवृत्ति केलिए यत्न करते हैं, अभय चाहनेवाले उनको भगवान्का श्रवण करना चाहिए. यद्यपि यहां युक्ति कहनी चाहिए परंतु जो बहिर्मुख हैं उनकी बुद्धि तो युक्तिको भी नहीं मानती इसलिए स्वभावसे जो अधिकारी है उसे बताना चाहिए, इसलिए 'हे भारत!' ऐसा पद दिया है. विशिष्ट अधिकारका बतानेवाला यह सम्बोधन है. मैनें जो कहा है उसपर तुम्हारा विश्वास है. ''**दौष्यन्तिरत्यगान् मायाम्**'' (दुष्यन्तके पुत्रने मायाका उल्लङ्घन किया'' ऐसा वाक्य होनेसे भरतमें माया मोह नहीं था, उसी प्रकार धर्मपुरःसर उन्हीं भरतके वंशमें उत्पनन्न होनेवालोंमें भी माया मोहका अभाव होनेसे तुम्हें मेरे कथन पर विश्वास होगा.

शंका हो कि वैदिक विधि बोधित अग्निहोत्रादिकोंके एवं आत्मजिज्ञासा के कथनको छोडकर कैसे भगवान्के श्रवणका विधान किया जाता है, क्योंकि यह तो अवैदिक है? उसपर कहते हैं कि 'सर्वात्मा'. प्रमाणबलसे प्रमेयबल महान् होता है ऐसा आगे कहेंगे. प्रमेयबलमें युक्ति बलवती होती है. उसमें युक्ति यह है कि निर्भय होनेवालोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ही हों ऐसा कोई नियम नहीं है. त्रैवर्णिकोंसे अन्य जिन्होंने पुण्यका संचय किया है उनमें भी निर्भय होनेकी इच्छाका उदय हो सकता है. वेदमें तो केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के ही लिए अभय होनेका उपाय है, अन्यकेलिए उनमें उपाय नहीं कहा गया है. तो फिर उनकेलिए भी कोई साधन बताना ही पडेगा. तो फिर उसी साधनसे त्रैवर्णिकोंका भी पुरुषार्थ सिद्ध हो जायेगा. इस तरह लाघव होनेसे सभीकेलिए उपयोगी एक ही उपाय कहना चाहिए. वह उपाय जब सबकेलिए उपयोगी है तो वैसा ही कोई उपाय आपको कहना चाहिए.

ऐसा तो कोई होगा नहीं कि जो अपने आत्माके विषयमें कुछ सुनना न चाहे. श्रुतिमें कहा है

''आत्माका श्रवण करना चाहिए''

''आत्मलाभसे उत्कृष्ट और कोई वस्तु नहीं है''

''आत्मज्ञानी शोकसे मुक्त हो जाता है''.

वहां यदि यह मान लिया जाए कि अपनी-अपनी आत्माका ही श्रवण किया जाए तो इतनेसे इस तरहकी समझ करानेवालेका वाक्य अपूर्ण ही रहेगा. आत्माओंमें प्रकृति और विकृति भाव नहीं होता इसलिए ऐसा मानना पडेगा कि सबकी जो एक आत्मा होती है उसीको सुनना चाहिए. इसलिए श्रुतिमें भी जहां 'आत्म'पद है उस जगह सबका जो एक आत्मा है वह लिया जाता है. यदि कोई कहे कि 'आत्मा' शब्द जातिवाचक भी हो सकता है, जैसे कोई कहे कि ''तुम गायकी पूजा किया करो'' तो वहां केवल कोई एक ही गाय नहीं ली जाती, किंतु वहां गौ जातिका ग्रहण है उसी तरह यहां भी अपनी-अपनी आत्माका श्रवण मान लिया जाय तो क्या हानी है? इसका उत्तर यह है कि व्यक्तिरूप जो अपना आत्मा है वह तो गौण है, इसलिए श्रुति उस आत्माके विषयमें नहीं कहती है. जितने भी आत्मा हैं उन सबका ज्ञान किसीको हो नहीं सकता इसलिए आत्माका कार्य सिद्ध नहीं होगा. सङ्घात(शरीर)में भी आत्मज्ञान विद्यमान है और श्रुतिमें आत्मज्ञानका कोई प्रकार कहा नहीं है तो फिर आत्मज्ञान केलिए किया जानेवाला प्रयास व्यर्थ होगा. श्रुति भी औपचारिक (गौण) हो जायेगी. इसलिए सर्वात्मा(भगवान्) ही सुनने योग्य हैं. अलग-अलग शरीरकी आत्माओंका उस आत्माके साथ कोई भेद न होनेसे उसकी गौणता भी नहीं होगी. ''**फलम् अत उपपत्तेः**'' इस सूत्रसे केवल ज्ञानमात्रसे फल नहीं होता, किन्तु श्रवण आदिके द्वारा ब्रह्मका ज्ञान होनेपर ही आत्मा(भगवान्) फल देता है. यदि फल देनेवाला आत्मा निर्धर्मक हो या शरीररूप हो तो वह फल देनेमें असमर्थ ही होगा. इसलिए फल देनेमें समर्थ रूप ही आत्मा श्रोतव्य है. अतः वह आत्मा षड्गुण ऐश्वर्यसे सम्पन्न भगवान् है. भ्रान्तशास्त्रोंमें स्वीकृत आत्मा जैसा आत्मा नहीं है. वेदका अर्थ भी यही है ऐसा हमने पहले कह दिया है.

एक बात और यह है कि दुःखोंका न होना और सुखकी प्राप्ति होना ये ही तो आत्मज्ञानका फल है. उसमें पहले हमें दुःखका अभाव खोजना चाहिए क्योंकि सबसे पहले बुद्धि यह चाहती है कि इससे दुःखकी निवृत्ति होती है या नहीं. उसमें श्रवण और श्रवणसाध्य ब्रह्मज्ञान इन दोनोंका एक ही फल अथवा सब फल है. 'आहारपृथक्त्व' न्यायसे सर्वफल निर्धारसे पहले साक्षात्कार होनेपर दुःखकी निवृत्ति तो हो जायेगी क्योंकि भगवान् हरि हैं, सबके दुःखोंको

मिटानेवाले हैं, परंतु परमानंदकी प्राप्ति नहीं होगी. अथवा परमानंद हो भी गया तो स्वर्गादि सुख-दुःखकी निवृत्ति नहीं होगी. यदि कहो कि "**सन्नियोग शिष्टानां सदैव प्रवृत्तिः सदैव निवृत्तिः**" इस परिभाषासे यदि होंगे तो दुःखनिवृत्ति और सुखप्राप्ति, ये दोनों ही होंगे और यदि नहीं होंगे तो दोनों ही नहीं होंगे; ऐसा इस परिभाषाका आशय है. परंतु फल देनेवाले भगवान् दो नहीं देते. अन्यथा 'आहारपृथक्त्व' न्यायका भंग हो जायेगा. इसलिए श्रवणको ही वैसा कहना चाहिए जो उभयरूप हो. अर्थात् दुःखका अभाव और सुखकी प्राप्ति कराता हो. ऐसा तो आत्मा (भगवान्) है. उसको 'हरिरीश्वरः'से बताया है. सब दुःखका हरण करनेवाला होनेसे भगवान्को 'हरि' कहा है और ईश्वर होनेसे सर्वफलदातृता है(सब फलका दान करनेवाले हैं) इसलिए उनका श्रवण आवश्यक है. यह "**तं यथा यथोपासते**" इस श्रुतिसे बताया है. इसलिए भगवान् जो सबकी आत्मा हैं, जो सबके दुःखोंको दूर करते हैं और जो षड्गुण ऐश्वर्यसे युक्त हैं, सब फलोंको देनेमें समर्थ हैं, ऐसे चार धर्मोंसे युक्त हैं; उन भगवान्का गुणोपसंहारन्यायसे श्रवण करना चाहिए. इस तरह जो श्रोतव्य-श्रवण करने योग्य विषय(भगवान्) है उसे विशेषणों द्वारा अलग करके उसकेलिए क्या करना चाहिए उसे बताते हैं 'श्रोतव्यः कीर्तितव्यः स्मर्तव्यः' श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिए.

यहां यह शंका हो सकती है कि इस भागवत शास्त्रका फल तो भक्ति है तो श्रवण, कीर्तन और स्मरण धर्मरूप नहीं हो सकते, क्योंकि भागवतका फल तो भक्ति है ऐसा उत्तम वक्ता श्रीशुकदेवजीने कहा है. इसलिए नौ प्रकारकी भक्ति करनी चाहिए ऐसा कहना उचित है, तो फिर श्रवण, कीर्तन और स्मरण करनेका ही क्यों कहा? इस शंकाका उत्तर देते हैं कि यह कहना ठीक है कि नवधा भक्ति करनी चाहिए परंतु श्रवण, कीर्तन और स्मरणके आगेके भक्तिके प्रकार प्रेम होनेके अनन्तर ही होते हैं. अतः पहले इन तीनोंके द्वारा जब स्नेह उत्पन्न हो जायेगा तो भक्तिके आगेके प्रकार बिना कहे ही आ जायेंगे.

यदि प्रश्न हो कि भगवान् सुनने योग्य हैं इसका क्या अर्थ है? क्या भगवान्के वाचक शब्दोंको कानसे सुनना अथवा उनका अर्थ जानना या अभिप्राय समझना? इन सबको करना अथवा किसी एकको? यदि केवल भगवान्के वाचक शब्दोंको सुनना इतना ही अर्थ लिया जाए तो विधि व्यर्थ हो जायेगी. ज्ञान(समझ) प्रमाण और वस्तुके अधीन है इसलिए जिसके कान हैं

उसको कहींसे भी शब्दका उच्चारण होते ही ज्ञान होगा ही. जिसको वस्तुके संकेतका ज्ञान है उसे तो अर्थज्ञान भी हो जायेगा. जैसे घडारूप वस्तुमें ''इस प्रकारकी आकृतिवालेको घडा कहा जाता है'' ऐसा संकेत ज्ञान है उसे 'घडा' शब्द सुनते ही उस वस्तुका ज्ञान भी हो जायेगा. यदि कहो कि जब ज्ञान हो जायेगा तो उसकी प्राप्तिकेलिए यत्न भी करना चाहिए. यत्नके बिना भी देवगतिसे सबकेलिए श्रवणकी प्राप्तिकी सम्भावना हो सकती है. तो क्या श्रवण सर्वदा करना चाहिए? नहीं, अशक्तिके कारण सर्वदा श्रवण हो नहीं सकता. यदि कोई दिन-रात श्रवण ही करता रहेगा तो फिर उसे भोजनादि कहांसे मिलेंगे और उसका जीवन निर्वाह कैसे होगा?

एक बात यह भी है कि भगवान्को कहनेवाले जितने भी पद अथवा वाक्य हैं उन सबको तो एक ही पुरुष उपस्थित नहीं कर सकता तो कहना पडेगा कि थोडे बहुत जो भगवद्वाचक पद हैं उनको तो उपस्थित कर सकता है. तब यत्किंचित् पद-वाक्योंको उपस्थापित करना तो सभीमें हो सकता है. तब फिर 'श्रोतव्यः' ऐसा कहना कहां तक उचित है? शक्ति-तात्पर्यका निर्धार शब्द मात्रके सुननेसे हो जाता है उसी तरह कीर्तन और स्मरण का निर्धार भी पद-वाक्यके श्रवणसे हो जायेगा ऐसा कहना ठीक नहीं. सभी पद और वाक्यों की उपस्थिति होगी नहीं तो उनका निर्धारण भी अशक्य होगा. और यदि कहा जाए कि यत्किंचित् पद-वाक्य मात्रका निर्धार होना चाहिए, तब तो इस तरहका शक्तितात्पर्य निर्धार तो सभीको होता है. फिर उसकेलिए उपदेश उचित नहीं होगा! ऐसा कहना भी ठीक नहीं.

भगवान् वासुदेवकी दस प्रकारकी लीलाएं सुनने योग्य हैं. ये दस प्रकारकी लीलाएं तृतीय स्कंधसे द्वादश स्कंध तक हैं. इस द्वितीय स्कंधमें तो सामान्य रीतिसे केवल इतना ही निर्णय किया गया है कि सब पद और वाक्य भगवद्वाचक हैं और विशेष लीलाओंका वर्णन तथा शक्ति-तात्पर्य निर्धार अन्य स्कन्धोंमें किया गया है. अतः श्रवणका उपदेश उचित ही है.(कारिकार्थ)

दशविधलीलायुक्त भगवान् श्रोतव्य हैं अन्यथा विषय वाचक पदचतुष्टयसे ही श्रवणकी सिद्धि हो जायेगी. फिर उसकेलिए 'श्रोतव्यः' यह विधि व्यर्थ हो जायेगी. तृतीय स्कन्धसे द्वादश स्कन्धोंकी कृति व्यर्थ हो जायेगी. इसलिए तात्पर्यका निर्धार सामान्य न्यायसे व्याकरण एवं मीमांसा की तरह इस

द्वितीय स्कंधमें ही किया जा रहा है. अतः कोई दोष नहीं है. ये चार गुण अधिकारीके फलनिरूपण केलिए कहे गए हैं, श्रोतव्यरूपसे नहीं कहे हैं. असाधारण धर्मके रूपमें ही उनका उपयोग होता है. यद्यपि भगवान्के गुण अनन्त हैं परंतु उन सबका समावेश दस प्रकारकी लीलाओंमें ही हो जाता है यह आगे कहा जायेगा. समावेश न होनेपर भी उन गुणोंमें अनन्तता रहती है यह भी आगे कहा जायेगा.

यहां श्रवण, कीर्तन और स्मरण; इन तीनका विधान नहीं करना चाहिए. केवल एक प्रेमके द्वारा ही अभयकी सिद्धि हो जायेगी. यदि कहो कि ये श्रवणादिक तीन मिलकर ही अभयकी सिद्धि करते हैं तो परीक्षितने तो केवल श्रवण ही किया था इसलिए उसे अभयप्राप्ति नहीं होगी. परन्तु उसे तो अभय प्राप्ति हुई थी. कीर्तन और स्मरण के पूर्व तो श्रवण की ही आवश्यकता है. अतः श्रवणका ही विधान आवश्यक है. श्रवण करो या कीर्तन करो अथवा स्मरण करो, इस तरह विकल्पसे अनेकका विधान ठीक नहीं है. इसपर कहते हैं कि श्रवणादि तीनों ही एक-दूसरेके निर्वाहक हैं. इसलिए तीनोंका विधान उचित है. इसे इस तरहसे समझिए कि यदि कीर्तनका विधान करें तो श्रवणका निर्वाह ही कैसे होगा? यदि कहो कि "**स्वाध्यायो अध्येतव्यः**" इसमें केवल स्वाध्यायके विधानसे ही विचार, अध्यापन आदिकी प्राप्ती हो जाती है उसी तरह यहां भी श्रवणके विधानसे ही कीर्तन-स्मरणकी प्राप्ति हो जायेगी ऐसा कहना ठीक नहीं. अध्यापन संसारी कर्तव्य है इसलिए विधिके बिना भी वृत्तिके बलसे विचार और अध्ययन भी लिए जाते हैं. यहां तो वैसा है नहीं. जो केवल श्रवणसे ही कृतार्थ हो जाता है उसकी कीर्तनमें भी प्रवृत्ति हो इसमें कोई युक्ति दीखती नहीं तो फिर कीर्तनका ही विधान कर दीजिये, श्रवण तो अपने आप ही हो जायेगा; ऐसा कहना भी ठीक नहीं. परीक्षितने तो श्रवण ही किया था, कीर्तन कहां किया था. फिर भी उसे अभयकी प्राप्ति हुई थी!

अत्यन्त निरपेक्ष श्रीशुकदेवजीकी कीर्तनमें प्रवृत्तिकी सिद्धिकेलिए कीर्तनका विधान किया है. यदि शुकदेवजी भागवत नहीं कहते तो परीक्षितका श्रवण कैसे सिद्ध होता? फल तो कीर्तन करनेवाले शुकदेवजीको और श्रवण करनेवाले परीक्षितको भी मिला. भगवान्में प्रवेश हो जाना इसे ही 'अभय' कहते हैं. भगवान्में प्रविष्ट होनेपर ही सब भयकी निवृत्ति होती है. तो ठीक है श्रवण और

कीर्तन दोनोंकी विधि तो आवश्यक है परंतु स्मरणका विधान नहीं करना चाहिए. यदि कहो कि श्रवणके अनन्तर यदि स्मरण नहीं किया जायेगा तो श्रवण की हुई बातको भूल जायेगा. तो फिर कीर्तन(कथन) कैसे करेगा? ऐसा कहना ठीक नहीं है. भूल जानेपर भी जो पहले श्रवण किया है उसके द्वारा उसका स्मरण हो जायेगा, उसकेलिए विधिकी आवश्यकता नहीं है. यदि ऐसा कहा जाय तो उचित नहीं. एकबार कीर्तन(बोलने)से भी उसे भूल सकते हैं इसलिए कीर्तनका अङ्ग स्मरण है ऐसा नहीं कह सकते. जब स्मरणकेलिए विधि हो तो स्मरण और कीर्तन सदा होते रहेंगे और अन्य किसी दोषका प्रवेश भी नहीं होगा. और एक बात यह भी है कि श्रवण, कीर्तन और स्मरण इन तीनोंकी आवृत्ति मृत्यु पर्यंत की जाए तो अवश्य ही ये अभयके साधक होंगे. संसारसे भय होना यह पूर्व अवधि है और उत्तरावधि है देहपात पर्यंत, संसारमें आनेसे लेकर मृत्यु पर्यंत श्रवण, कीर्तन और स्मरण आवश्यक है. इसलिए ब्रह्मसूत्रमें कहा है ''**आवृत्तिः असकृदुपदेशात्**''. (उपदेश होनेसे एककी ही अनेक बार आवृत्ति करनी चाहिये). यद्यपि स्नेह जब हो जाता है तब उसकी आवृत्तिका उपदेश नहीं करना चाहिए क्योंकि तब तो आवृत्ति अपने आप ही होती रहती है. भरतजीकी जैसे हरिणमें आसक्ति हो गई थी उसी तरह यदि भगवान्के अतिरिक्त अन्यमें आसक्ति हो जाए तो और यदि कहो कि उनकी जो हरिणमें आसक्ति हुई थी वह तो अधिकारके अभावके कारण हुई थी. तब तो फिर यदि अधिकार नहीं है तो श्रवण, कीर्तन और स्मरणकी विधि भी व्यर्थ हो जायेगी? ऐसा कहना परन्तु ठीक नहीं है. अधिकार बराबर बना रहे इसीकेलिए तो श्रवण आदिकी विधि है. इसलिए जहां तक संभव हो देहपात पर्यंत श्रवण, स्मरण और कीर्तन की आवृत्ति करते रहना चाहिये.

एक शंका यह होती है कि जिस तरह श्रवणादि तीनकेलिए विधि है उसी तरह मनन और निदिध्यासन केलिए विधि क्यों नहीं है? साथ-साथ ज्ञानकी भी विधि होनी चाहिए, क्योंकि ज्ञानके बिना मनन और निदिध्यासन नहीं हो सकते. ज्ञान केलिए विधि न होनेसे ''**ज्ञानादेव तु कैवल्यम्**'' इस श्रुतिका भी विरोध होगा. यदि ऐसा कहा जाए कि ज्ञान तो बिना विधिके ही ले लिया जायेगा. यदि विधिके बिना ज्ञानका ग्रहण हो जायेगा तो फिर ज्ञानमें व्यापारता आ जायेगी. यहां तो स्नेहमें व्यापारता कही जा रही है, ज्ञान तो फलरूप है; ऐसा कहना ठीक नहीं. ये मनन और निदिध्यासन श्रवणके अन्दर ही आ जाते हैं. अतः उनकेलिए अलगसे

विधिकी आवश्यकता नहीं है, ये बात आगे कही जायेगी. और ज्ञान तो शब्दके द्वारा होता है. अतः श्रवणसे ज्ञान तो अपने आप ही सिद्ध है. प्रेमसे किये जानेवाले श्रवण, कीर्तन और स्मरणसे भगवान्‌का साक्षात्कार भी हो जायेगा. तो भी उसमें कारण तो श्रवणादि ही हैं. अन्तिम साक्षात्कार तो फलसे अलग नहीं है इसलिए उसका तो फलमें ही समावेश हो जायेगा. यदि कोई कहे कि आध्यात्मिक श्रवणकी तरह श्रवणादिसे शुद्ध संस्कारवाले मनसे शरीर आत्माके साक्षात्कारकी तरह भगवान्‌का साक्षात्कार होता है ऐसा कहना चाहिए, तो ऐसा नहीं कह सकते.

''**नाहं वेदैः न तपसा**'' इस गीतावाक्यसे जो भगवत्प्राप्तिका निषेध किया है वह तो वेदोक्त श्रवणादिके द्वारा जिनका अधिकार नहीं है उनकेलिए है. यदि कहो कि श्रवणका मुख्य फल शरीर संबंधी आत्मसाक्षात्कार है तो यह ठीक नहीं. संघात(देह)से मुक्त होकर अक्षरब्रह्मताको प्राप्त ही भागवतके श्रवणका मुख्य अधिकारी होता है. यह ''**एतावद् अरे खलु अमृतत्वम्**'' इस ब्रह्मप्रकरणमें पठित श्रुतिसे सबकी आत्मा जो भगवान् है उन्हींका श्रवणके द्वारा साक्षात्कार होना फल बताया है. भगवान् स्वतन्त्र हैं इसलिए अन्य किसी साधन(वैदिक साधन)के द्वारा उनका आविर्भाव सम्भव नहीं. भक्तिमार्गीय श्रवणके द्वारा ही उनका साक्षात्कार हो सकता है. और जो ऐसा कहते हैं कि ''**तत् त्वम् असि**'' (वह तू है) इस वाक्यके श्रवणसे जगनेके बाद जैसे स्वप्नकी निवृत्ति हो जाती है, उसी तरह ''**तत् त्वम् असि**'' कहनेसे अपनेमें ब्रह्मात्मभावकी स्फूर्ति हो जायेगी अथवा इस वाक्यसे सब अविद्याकी निवृत्ति हो जायेगी और आत्माकी कृतकृत्यता हो जाती है, ऐसा कहनेवाले ज्ञानदुर्बल हैं. ये केवल उनका मनोरथमात्र ही है. यदि केवल ''वह ब्रह्म तू है'' इतना सुनने मात्रसे ही भगवत्प्राप्ति हो जाती हो तो शुकदेवजी जैसे और सनकादि जैसे आजतक भ्रमण न करते. वे भी अभी तक भगवत्साक्षात्कारकेलिए घूम रहे हैं. अतः भगवत्सायुज्यसे ही सब भयकी निवृत्ति होती है. ''ब्रह्म होनेपर ही ब्रह्मको प्राप्त होता है'' ''**ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्नोति**'' यह श्रुति भी इसी अर्थको बता रही है. यदि भक्तिमार्गीय श्रवणसे ही भगवत्साक्षात्कार होता है, वैदिकमार्गसे नहीं होता है तब तो उपनिषद् सब व्यर्थ हो जायेंगे. यह बात परन्तु नहीं है. इसी अर्थको अधिकारीके भेदसे और प्रकारभेदसे वेदोंमें बताया है. फल तो दोनोंका एक ही है. इसलिए गीतामें स्पष्ट कहा है

''**ते प्राप्नुवन्ति मामेव**'' वे सब मुझे ही प्राप्त होते हैं.

''**वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यः**'' सब वेदोंके द्वारा मैं ही जाना जाता हूं.

''**सर्वे वेदा यत् पदम् आमनन्ति**'', सब वेद जिस पदका चिन्तन करते हैं.

''**तद् विष्णोः परमं पदम्**'', वह विष्णुका उत्तम पद.

''**तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्**'' वही कविओंका परम ब्रह्म है.

इत्यादि वचनोंसे सबकेलिए एक ही को प्राप्तव्य बताया है. इसलिए इन सबका सार यह हुआ कि जो त्रैवर्णिक(ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य) हैं उनका भगवान्में प्रवेश वैदिक प्रकारसे अथवा भागवत प्रकारसे होता है और त्रैवर्णिकसे अतिरिक्तोंका भगवान्में प्रवेश केवल भागवत प्रकारसे ही होता है.

त्रैवर्णिकोंसे अतिरिक्तोंका भागवत प्रकारसे भगवान्में प्रवेश होगा. त्रैवर्णिकोंका भागवत प्रकारसे भगवान्में प्रवेश नहीं हो सकेगा ऐसा व्यवस्थित विकल्प यहां नहीं है. त्रैवर्णिकोंका भी भागवतमार्गसे भगवान्में प्रवेश हो सकता है इसमें गीतावाक्य प्रमाण है ''**किं पुनः ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा**'', ''**क्लेशो अधिकतरः तेषाम् अव्यक्तासक्तचेतसाम्**'' इत्यादि. इसलिए श्रुतिविरोध भी नहीं है. शाण्डिल्यका जो वचन है उसका तात्पर्य तो यह है कि उसकी चित्तशुद्धि वैसी नहीं हुई थी इसलिए उसे पहले उपनिषदोंके द्वारा फल प्राप्त नहीं हुआ था. कारण उसका यह है कि वैदिकमार्गमें जो साधन चित्तके शोधक हैं, वे क्लेशसाध्य हैं. अपने पक्षका स्थापन करनेवाले वाक्योंका तात्पर्य केवल अपने पक्षको स्थापित करना मात्र ही है. इसीलिए वे दूसरे पक्षकी निन्दा भी करते हैं उनके ऐसा कहने मात्रसे कभी श्रुतिविरोध सम्भव नहीं हो सकता. इसलिए ब्रह्मसूत्रके विचारानुसारी वैदिकमार्गसे अथवा भगवन्मार्गसे अपने-अपने अधिकारके अनुसार सभीको परम पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है इसमें कोई विरोध नहीं है. विधिविशेषका विचार तो नहीं करना चाहिए. क्योंकि श्रोतव्य आदिमें जो 'तव्य' प्रत्यय है उसका विधान विधिमें नहीं है. केवल विधिलिङ्, लोट् और लेट् लकारका ही विधिमें विधान है. भगवान् तो लोक और वेद में प्रसिद्ध हैं. उनकेलिए विधिकी सम्भावना ही कैसे सम्भव हो सकती है. विधि तो अपूर्व बातको बतानेमें होती है और विधि तो वेदमें होती है. भक्तिशास्त्रमें विधि कैसी? श्रवण, कीर्तन और स्मरण में जो फल-साधनता है वह तो इसलिए है कि इनको उसी केलिए(भगवान्के हीलिए) किया जाता है. अतः समभिव्याहारसे ही प्राप्त हो जाता है. वाक्यार्थके अपूर्व होनेसे भावनापक्षका

निराकरण पूर्वमीमांसाभाष्यमें ही कर दिया है. श्रोतव्यादिमें जो 'तव्य' प्रत्यय हुआ है वह विधिमें नहीं है, किन्तु ''**कृत्याश्च**'' इस सूत्रसे आवश्यक अर्थमें है, और यह आवश्यकता प्रश्नके अनुगुण है. इसलिए भगवत्प्रवेशार्थ जब तक जीवित रहे तब तक जितनी भी हो सके उतनी श्रवण, कीर्तन और स्मरण इन तीनकी आवृत्ति करनी चाहिए ऐसा सिद्ध हुआ. अर्थात् सुनना और सुनाना, सुनाना और सुनना इसी तरह श्रवण और कीर्तन का स्मरण करना. इस बातका प्रतिपादन करनेकेलिए दो 'च' दिये हैं. 'इच्छता' इस पदके कहनेका तात्पर्य यह है कि श्रवण आदिके किये बिना निर्भयता होगी ही नहीं. उसके न करनेपर कोई पाप नहीं है, यह बात भी इससे सूचित होती है।।५।।

आभासार्थ: श्रवण तो भगवान्के साक्षात्कारका अङ्ग है, यह तो श्रुतिसे भी प्रमाणित हो गया. किन्तु भगवत्साक्षात्काररूप फलमें स्मरण और कीर्तन भी हेतु हैं, इसे सिद्ध करना है. क्योंकि इस विषयमें भी वादीका विरोध दूर करना है. उसमें पहले जिसमें किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं है ऐसे स्मरणकी फलसाधकताको सिद्ध करते हैं:

एतावान् साङ्ख्य–योगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया।
जन्मलाभः परः पुंसाम् अन्ते नारायणस्मृतिः।।६।।

श्लोकार्थ: सांख्य, योग और वर्णाश्रम आदि धर्मोंमें निष्ठा होनेपर भी पुरुषोंके जन्मलाभका श्रेष्ठ फल तो यही है कि अन्तमें भगवान् नारायणकी स्मृति होना।।६।।

व्याख्यार्थ: स्वतन्त्ररूपसे पांच सिद्धान्तोंका विधान है. उनमें वेदमार्ग और पाञ्चरात्र ये दोनों इन पांचोंमें मुख्य हैं और श्रुतिमार्ग तथा पाञ्चरात्र दोनों ही समान हैं. तीसरा पशुपति मत है. वह तामसों केलिए है. कल्पभेदसे तामसोंमें उत्कृष्टताको उत्पन्न करके परम्परासे वैदिक अथवा अवैष्णव मतमें वह उपयोगी होता है. अथवा यह मत क्रममुक्तिका कारण है. इसके आगे हैं सांख्य, योग और धर्मशास्त्र. इनका प्रतिपादन तो वैदिक और वैष्णवमार्ग के अङ्गरूपसे किया जा चुका है. स्वतन्त्ररूपसे ब्रह्ममीमांसामें निन्दित होनेके कारण इनका प्रवेश हो नहीं सकता है इसलिए ये केवल स्मरणका अङ्ग बन सकते हैं. अर्थात् अंतमें भगवान् नारायणका स्मरण करा देना इतना पुरुषार्थ इनके द्वारा हो जाता है. बुद्धिस्थ एतत् शब्दका विवरण करते हैं ''अन्ते नारायणः स्मृतिः'' अन्तमें नारायणका स्मरण हो जाना ये

ही तो जन्म लेनेका परम लाभ है. पञ्चाग्निविद्याके प्रकारसे उत्तम देहको जन्म देना ये स्वधर्मका फल है. योगका फल भी यही है. भगवद्गीतामें ''**शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टो अभिजायते**'' यहांसे लेकर ''**अनेकजन्मसंसिद्धः ततो याति परां गतिम्**'' इस उपसंहारसे योगके द्वारा भी अन्तिम देह सिद्ध किया जाता है. सांख्यमें भी बहुत जन्मोंके अन्तमें ज्ञानी मुझे प्राप्त होता है ''**बहूनां जन्मनाम् अन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते**'' इस वाक्यसे और ज्ञानीसे भी अधिक योगी है ''**ज्ञानिभ्योपि अधिको मतः**'' योगकी प्रशंसा करनेवाले इस वाक्यसे भी योग अन्तिम जन्मका साधक होता है यह बताया है. व्रत, उपवास आदि जो भगवद्धर्म हैं वे भी भगवदीय देहके साधक होते हैं. इसलिए अन्तिम देह जब प्राप्त हो जाता है तब ये सब अनुपयोगी हो जाते हैं. यह बात भी नहीं है कि वह देह स्वरूपभूत होता हुआ फलसाधक बन जायेगा किन्तु अन्तमें जैसी बुद्धि होती है वैसी ही गति होती है ''**अन्ते या मतिः सा गतिः**'' इस न्यायसे और ''**यं यं वापि स्मरन् भावम्**'' इस गीतावाक्यसे अन्तिम देहका उपयोग अन्तमें भगवान्के स्मरणमें होता है. और हमारे बताये गये प्रकारसे जिस किसी भी देहमें अन्तमें भगवान्का स्मरण होता है तब पूर्वसे परमें बलिष्ठता रहती है ''पूर्वात् परबलीयस्त्वम्'' इस न्यायसे वह देह ही अन्तिम न होते हुए भी अन्तिमताको प्राप्त होता हुआ लाभरूपसे सम्पन्न हो जायेगा. योग, सांख्य आदि भी अपने-अपने मार्गके अनुसार फलप्राप्ति करानेमें दूर होते हुए भी उनका प्रवेश भी इसीमें हो जायेगा. इसलिए देहके साधक जो योग आदि हैं, उनसे सिद्ध हुए देहकेलिए भी अन्तमें नारायणकी स्मृति होना ही लाभ है. इस तरहके जन्मलाभको जो साक्षात् भगवत्प्रवेशका हेतु हो उसे यह विधिका अंगभूत है इस प्रकारकी श्रुतिकी संमति अपेक्षित नहीं है. यद्यपि भगवदीय होना भी जन्मलाभ कहलाता है तथापि उससे भी श्रेष्ठ तो ये ही है कि अन्तमें भगवान्की स्मृति हो.

मोक्षरूप अतिश्रेष्ठ परम पुरुषार्थ जो स्वतः प्राप्त होता है, भगवदीय उसका भी आदर नहीं करते क्योंकि भगवदीय होनेमें ही वे अपनेलिए सब पुरुषार्थोंकी सिद्धि मान लेते हैं तो ''**अपवर्गम् आत्यन्तिकं परम पुरुषार्थमपि स्वयम् आसादितं नो एव आद्रियन्ते भगवदीयत्वे नैव परिसमाप्त सर्वार्थाः**'' इस वाक्यका विरोध होगा. ऐसी शंका न उठाना क्योंकि यहां 'पुंसां' ऐसा पद दिया है. उसका तात्पर्य यह है कि जिनके ऊपर भगवान्का अनुग्रह है ऐसे पुष्टिमार्गीय जीवोंका भगवदीयत्व जन्मलाभरूप है ऐसा कहा गया है. परंतु यह तो ऊपर कहे गए

सांख्यादि मार्गोंका जो कि प्रावाहिक मर्यादा मार्गरूप हैं, उनमें जिनकी निष्ठा है उनकेलिए वैसा होनेसे अन्तमें जैसी बुद्धि होती है वैसी गति होती है, इस न्यायसे अन्तमें भगवान्‌की स्मृति होनेपर भगवत्प्राप्ति होती है यह इनकेलिए कहा गया है. अतः पूर्वोक्त विरोध यहां नहीं आ सकता. 'पुंसाम्'से साधारण पुरुषोंका लेना. इसलिए भगवत्स्मृति महान् फलको देनेवाली होनेसे सर्वदा भगवान्‌का स्मरण करना चाहिए यह बात सिद्ध होती है।।६।।

आभासार्थ: कीर्तन भी स्मरणकी तरह ही है, इसे अब सिद्ध करते हैं:

प्रायेण मुनयो राजन्! निवृत्ता विधिषेधतः।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः।।७।।

श्लोकार्थ: हे राजन्! प्रायः जो मुनि विधि-निषेधसे निवृत्त हो चुके हैं और निर्गुण भगवान्‌में ही रमण करते हैं वे भी भगवान्‌के गुणोंके कथनमें तो आनन्दानुभव करते हैं।।७।।

व्याख्यार्थ: कीर्तन तो स्मरणसे भी अधिक है. जिनका अन्तिम जन्म हो गया है और जो जीवनमुक्त हो चुके हैं और गुणातीत ब्रह्ममें ही जिनकी बुद्धि निश्चित हो चुकी है, जिनकी पुनरावृत्तिकी संभावना भी नहीं है, उनको भी श्रवणके अनन्तर होनेवाले भगवान्‌के गुणोंके कीर्तनमें परम आनंदको प्राप्त होते हुए साधनदशामें ही जब भगवान्‌के गुणोंके वर्णनमें इतना सुख होता है तो साध्यकी फलदशामें कैसा सुख होगा, ऐसा मानते हुए आनंदका अनुभव करते हैं. यह बात प्रसिद्ध है इसको बतानेकेलिए 'स्म' पद दिया है. और कुछ तो मनन ही को अन्तिम फल मान लेते हैं अथवा असंप्रज्ञात समाधिमें स्थित होकर उसी सुखमें लीन हो जाते हैं. वे उस स्थितिसे अलग ही नहीं हो सकते इसलिए भगवान्‌के गुणानुवर्णनका आनन्द नहीं ले सकते. अत: उनके अतिरिक्त जो मुनि हैं वे ही भगवान्‌के गुणानुवादके श्रवणमें आनंद लेते हैं यह सूचित करनेकेलिए 'प्रायः' पद दिया है. 'राजन्' यह सम्बोधन इस बातका इसका स्मरण करानेकेलिए दिया है कि इसका(असंप्रज्ञात समाधिका) अनुभव तुमने शमीक ऋषिसे जान ही लिया था. भगवान्‌के गुण ही ऐसे हैं कि उनके कथनमें अनुरागके कारण वे उनके कथनमें आनंदानुभव करते हैं. न कि अपनी कृतिके धर्मके कारण ऐसा करते हैं. वे मुनि तो कृतिके गुणों और दोषों के संबंधरहित हैं. उसको 'निवृत्ता विधिषेधतः' से

बताया है. अर्थात् विधि सहित निषेधसे वे परे हो चुके हैं. ''**द्वयं तथा ब्रह्मणि कर्म नच्छ्रति**'' इस न्यायसे ब्रह्मभूत होते हुए भी '**दोषबुद्ध्योभयातीत:**' इत्यादि वाक्यसे विधि-निषेधसे परे होते हुए भी भगवान्के गुणानुकथनमें रमण करते हैं. जिस तरह बालक किसी भी विधि या निषेधको जानता नहीं है उसी तरह विधि-निषेधसे परे जो मुनि हैं वे 'बुधो बालकवत् क्रीडेत्'की स्थितिमें रहते हैं. यद्यपि कुछ लोग 'क्रीडेत्' पदको देखकर इसे भी विधिरूप कहेंगे परंतु इसका आगे कहीं निषेध बताया नहीं है अतः इसे विधिरूपसे नहीं लिया जा सकता. ये मुनि तो गुणत्रयातीत स्वयं अपनी आत्मामें ही स्थित हैं. यह विरोध जैसा लगता है परंतु यह तो विरोधाभास है. इसको समझानेकेलिए गुणका ग्रहण किया है. इसलिए कीर्तन जो स्वतंत्रपुरुषार्थरूप है, उसके विषयमें कोई शंका नहीं करनी चाहिए।।७।।

आभासार्थ: इस तरह युक्तिसे दोनोंका समर्थन करके तीनों ही पुरुषार्थके साधक हैं ऐसा सिद्ध कर देनेपर भी यह शंका हो सकती है कि यह सब तो युक्तिसे सिद्ध किया गया है, इसलिए अप्रामाणिक है. इस शंकाको दूर करनेकेलिए कहते हैं:

इदं 'भागवतं' नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्।
अधीतवान् द्वापरादौ पितुर्द्वैपायनाद् अहम्।।८।।

श्लोकार्थ: यह भागवत पुराण वेदके समान है. मैनें अपने पिता द्वैपायनसे द्वापरके आदिमें इसे पढा था।।८।।

व्याख्यार्थ: यह भागवत पुराण है, इसलिए प्रमाणरूप है. पुराणोंमें यह भागवत नामवाला पुराण है. 'भागवत' शब्द यौगिक है. 'भगवता प्रोक्तं' भगवान्ने जिसे कहा या भगवान्का प्रतिपादन करनेवाला अथवा भगवान् ही जिसका फल है. यह दुर्बल हो ऐसा नहीं है. वेदके बराबर है. अथवा परब्रह्मका ज्ञान जिसमें है. इसकी गुरुपरम्पराको कहते हैं, मेरे पिता द्वैपायन ही मेरे गुरु थे. जिस समय मैनें भागवतपुराणका अध्ययन किया था उस समयका काल प्राणियोंकी बुद्धिका नाशक था, उसे बताते हैं. 'द्वापरादौ' द्वापरके आदिमें. उस समयमें मनुष्योंकी बुद्धि द्विपरक(सन्देहजनक) नहीं हुई थी. 'अधीतवान्'का अर्थ है कि मैनें भागवतको वेदकी तरह नियमसे और अर्थको समझकर पढा था. 'पितुः' यह पद इस बातका द्योतक है कि पिता ही पुत्रका उपनयन (यज्ञोपवीत) करे. इस न्यायसे

उपनयन भी पिताने किया और पढाया भी उन्हींने इसलिए साराका सारा अध्ययनप्रकार सुसम्पन्न हुआ ऐसा सूचित होता है।।८।।

आभासार्थ: यदि कहो कि भागवतके अध्ययनकी सामग्री भी वेदकी तरह ही है तो उसका भी विचार करना ही चाहिए. इसलिए केवल भागवतके अध्ययनसे निर्धारित अर्थकी समझ नहीं हो सकती इस आशंकाका उत्तर देते हैं:

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यद् अधीतवान्।।९।।

श्लोकार्थ: हे राजर्षे! मैं निर्गुण ब्रह्ममें निष्ठावाला होते हुए भी उत्तमश्लोक भगवान्(श्रीकृष्ण)की लीलाओंकी ओर मेरा मन खिंच गया जिससे इस भागवतको मैनें पढा।।९।।

व्याख्यार्थ: मेरा पढना कोई बच्चोंकी तरह पढना नहीं था, किन्तु विचारपूर्वक मैनें पढा. पहले तो मैनें अधिकारका ही विचार किया. मुझे इस भागवतका अध्ययन करना चाहिए या नहीं, इसपर ''**आत्मलाभाद् न परं विद्यते**'' आत्मज्ञानसे उत्कृष्ट और कोई नहीं है इत्यादि श्रुतियोंसे सारे ही अध्ययनका उपयोग आत्मलाभ पर्यन्त होना चाहिए. अतः मैं गुणातीत समाधिरूपमें स्थित होते हुए भी भागवतके रसका अनुभव करके उसकी अप्राकृतताको जानकर जैसे ब्रह्ममें लीन योगी फिर समाधि अवस्थाका सेवन नहीं करता, उसी तरह मैनें भी ब्रह्मरससे भी अधिक रसवाली भगवलल्लीलाओंके गुणोंसे आकृष्ट चित्त होकर इस भागवतका अध्ययन किया. जो रस अपने आश्रयमें अपने स्थानमें अपनेमें ही स्थित रहता है वह रस अपने पास आए हुओंको अपने रसका प्रकाश नहीं करता. अपने आश्रयमें तो वह धर्मरूपसे ही प्रकट रहता है. इसके दृष्टांत हैं: नृत्य और पात्रमें स्थित पीनेका जल. जब भगवान् लीलारूपसे प्रकट होते हैं तब उस लीलामें जो रस है वह ही रस ब्रह्ममें है परंतु वह रस प्रकट नहीं है ऐसा निश्चय करके मैनें(श्रीशुकदेवजीने) यह विचार किया कि जो प्रकट नहीं है उस रसके प्रकट होनेकी आशामें कब तक बैठा रहा जाए. इसलिए उस ब्रह्मरसकी प्राप्तिकी अपेक्षा तो इसी समय मिल रहे रसको क्यों न पिया जाए. इस प्रकारके विचारके साथ ही भगवान्की लीलाने मेरे चित्तको अपनी ओर आकृष्ट कर लिया. इसीको 'उत्तमश्लोक' पदसे कहा है. उत्तम जो नारदादि हैं उनसे भगवान् प्रशंसनीय है, इसलिए भगवान्को उत्तमश्लोक कहते हैं. भगवान्के गुण करण(असाधारण

कारण) होनेसे उनके द्वारा भगवान्की स्तुति भी होती है और मानवोंके साथ भगवान्का संबंध भी होता है. इसीलिए जो कोई भगवत्स्वरूपात्मक रस है, वह ब्रह्ममें समान रूपसे है. परंतु यह लीलारस उससे भी अधिक है. इस रसका उपभोग अपनी अभिव्यक्तिसे करना चाहिए. इस तरहकी जिनकी इच्छा है, उनको यह लीला सुननी चाहिए, ऐसा निश्चय करके श्रोतव्य रसके जाननेवाले मैनें इस आख्यान(भागवत)को पढा. 'राजर्षे' यह सम्बोधन इस बातको सूचित करता है कि जैसे ऋषिदशामें राजत्व रसकी स्फूर्तिका होना अधिक है, ज्ञानके साथ मिल जानेसे उसकी मान्यता अधिक बढ जाती है. उसी तरह लीलारस भी है, इस तरह युक्ति भी इसमें कही गई है. इस सम्बोधनसे मर्यादाके साथ-साथ तुम्हारेमें पुष्टिरूपता भी है, यह भी कहा गया है।।९।।

आभासार्थ: इसलिए वैसे ही श्रोताओंके यह सुनने योग्य है. कीर्तनरसका आस्वादन प्राप्त करने केलिए पृथ्वी पर घूमते हुए मुझे उस प्रकारके श्रोता तुम मिले हो. अतः उसको मैं तुम्हें कहूंगा:

तद् अहं तेऽभिधास्यामि महापौरुषिको भवान्।
यस्य श्रद्दधताम् आशु स्याद् मुकुन्दे मतिः सती।।१०।।

श्लोकार्थ: क्योंकि आप उन महापुरुषके सम्बन्धी हो इसलिए मैं उस भगवलल्लीलारसको तुम्हें कहूंगा जिसमें श्रद्धा रखनेवालोंकी शीघ्र ही मुकुन्दमें सद्बुद्धि हो जाती है।।१०।।

व्याख्यार्थ: पूर्वकथित उस अद्भुत(प्रकट) ब्रह्मामृतरसभूत भगवत् चरित्रको कीर्तनरसका आस्वादन लेनेवाला मैं ब्रह्मामृतरसको चाहनेवाला तुम्हें कहूंगा. अथवा 'ते' का यह अर्थ है कि उस रसका संबंध मैं तुमको कराकर फिर मैं उस रसका सब तरहसे पान करूंगा. जिस रसका पान स्वयंने किया है, उस रसका आस्वादन यदि पुनः करना है तो उसे निकालकर दूसरेमें उसे स्थापित करके फिर वह पिया जा सकता है. इस तरहकी प्रक्रिया हाथियोंमें देखनेको मिलती है. 'अभितः' पान तो उस रससे जब उसे नहला दिया जाए तब होता है. 'द्वैपायन' इसी बातको सूचित करता है. जैसे द्वीपके दोनों ओर जल होता है, इसलिए वह द्वीप बाहरसे और भीतरसे जल पीता है, उसी तरह द्वीपमें होनेके कारण द्वैपायन(व्यासजी)ने भी इस रसका बाह्य रूपसे आंतर रूपसे पान किया. अर्थात् भागवतके अन्त:स्थ गुणोंका और बहि:स्थ गुणोंका भी व्यासजीने अनुभव किया.

इसलिए सूक्ष्मरूप भागवतके दो रूप हुए. एक तो अन्तःस्थित गुणोंवाली सूक्ष्म भागवत जिसे भगवान्ने प्रकट किया और दूसरा भागवत बाहर स्थित गुणोंवाला उसे ब्रह्माजीने प्रकट किया. उन दोनोंको व्यासने अन्दर प्रवेश करके पुनः बाहर प्रकट किया है. इसलिए उत्पत्तिके विचारसे और युक्तिसे भगवान्के गुणोंका स्वरूपविचार कर उन दोनोंको यहां कहा. यदि ऐसा न होता तो भगवान् अपने गुणोंके प्रकाशक भागवतको जिसका ब्रह्माने अनुभव किया, उसे भगवान् क्यों कहते? वह भी नारद केलिए कैसे कहते? इसलिए युक्तिसे तो भगवान्की अपेक्षा भगवान्के गुण अधिक हैं ऐसा निरूपण हुआ. और उत्पत्तिमें भगवान्के अंदर रहनेवाले गुणोंको बाहर किया इसीलिए तुम्हें कहूंगा ऐसा कहना सिद्ध होता है. यदि परीक्षितको ऐसा विचार हो कि इस प्रकारके रसके अनुभवका अधिकारी मैं कैसे हो सकता हूं, अतः कहा है ''महापौरुषिको भवान्'' तुम महापुरुष भगवान्के संबंधी होनेसे महापौरुषिक हो. कीर्तिके कारण भगवान्को महापुरुष कहते हैं. और कीर्ति होती है गुणोंसे और उन गुणोंके रसानुभवकी योग्यता तुममें है इसलिए कि तुम भगवदीय हो. नहीं तो इस तरहके धर्मवाले भगवान्के तुम सम्बन्धी नहीं होते. 'भवान्' इसलिए कहा कि इसमें कुछ छिपा नहीं है. इस तरह भगवान्के गुणोंकी अधिकता कहकर उनका फल कहते हैं. 'यस्य'का अर्थ है कि जिस आख्यानके संबंधवाली जो श्रद्धा है, उस श्रद्धासे युक्तोंकेलिए मोक्ष देनेवाले अपने आनंदके देनेवाले भगवान्में सती अर्थात् पतिव्रतारूप उन भगवान्के ही केवल रसका आस्वादन करनेवाली बुद्धि होती है।।१०।।

आभासार्थः इस तरह भगवान्के गुणोंका स्वरूप और फल कहकर उसमें केवल मेरा ही ऐसा विचार है, ऐसा नहीं है किन्तु सभी विचारकोंकी इसमें सम्मति है.

एतद् निर्विद्यमानानाम् इच्छताम् अकुतोभयम्।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्।।११।।

श्लोकार्थः हे राजन्! जो संसारसे विरक्त होना चाहते हैं, और जो भयसे मुक्त होना चाहते हैं, उन योगियोंकेलिए यह निश्चित है कि वे भगवान्के नाम और गुणोंका श्रवण-कीर्तन करे।।११।।

व्याख्यार्थः संसारसे विरक्त सब पुरुषोंने ये ही निर्णय किया है कि जो संसारसे विरक्त हो उन्हें भगवान्के गुणोंका श्रवण तथा कीर्तन करना चाहिए. जिनको संसारसे वैराग्य हो गया है, वह विरक्त होना चाहते हैं अथवा वैराग्यका

आभास कर रहे हैं और जो 'अकुतोभय'(जिसे किसीका भय न हो) ब्रह्मानंदको चाहते हों, उस ब्रह्मानंदकी प्राप्ति केलिए योग आदिका अनुष्ठान करते हों, उन सब केलिए ये ही निर्णय है कि उन्हें भगवान्के नामका अनुकीर्तन करना चाहिए. उन्हें अथवा उन केलिए हरिनामका अनुकथन करना चाहिए. जो विरक्त हैं और ब्रह्मानंदको प्राप्त करना चाहते हैं, वे पहले योगके द्वारा उस ब्रह्मानंदका अनुभव करते थे, परंतु ब्रह्मानंदके जैसे रसका अनुभव उन्हें योगादिसे नहीं मिला. अतः उस प्रकट ब्रह्मानंदका स्थान तो भगवन्नाम ही है. भगवान्का नाम हरि है, इसलिए वे पहले तो पूर्वके क्लेशको दूर करते हुए ही उस ब्रह्मानंद रसका पान कराते हैं. भगवन्नामोंका पूर्वोक्त प्रकारसे जो उस रसको प्रकट करनेवाले हैं, उनका पहले पान करना चाहिए, पीछे उनका अनुकीर्तन करना चाहिए. यही शास्त्रोंका निर्णय है. इसलिए आप(परीक्षित) और मैं(शुकदेवजी) दोनों ही उस महारसमें मग्न हो गए हैं. इसलिए दोनों ही उत्तमाधिकारियोंका परम उत्साह सूचित हुआ।।११।।

आभासार्थ: इस तरह भगवान्के गुणोंका कीर्तन एवं श्रवण को सुनकर शापके द्वारा सात ही दिनमें अपने मरनेको याद करके जैसा रसास्वादन आपने बताया है, वह तो मुझे मिलेगा नहीं. इस तरहसे दुःख मनाते हुए राजासे श्रीशुकदेवजीने कहा:

किं प्रमत्तस्य बहुभिः परोक्षैर्हायनैरिह।
वरं मुहूर्तं विदितं घटेत श्रेयसे यतः।।१२।।

श्लोकार्थ: इस जगत्में मनुष्यको बिना जानी हुई अनेक वर्षोंकी आयुसे क्या लाभ है? इससे तो जानी हुई एक मुहूर्तकी आयु भी अपना कल्याण करनेमें साधन बन जाती है।।१२।।

व्याख्यार्थ: तुम्हें इस बातका दुःख नहीं करना चाहिए कि श्रवण और कीर्तन करनेकी साधन तो आयु है, वह तो मेरी केवल सात ही दिनकी है. आकांक्षावाले अधिकारीको जिस तरह रसकी अभिव्यक्ति होती है वैसी. मेरा जीवन इतना ही है, यह जिसे पता नहीं है, ऐसे अनधिकारीको रसाभिव्यक्ति नहीं हो सकती. इसलिए मेरा जीवन इतना ही है, इसको बतानेवाला शाप तो उत्तम ही है. जीवनकी अल्पता तो उत्तम है क्योंकि इसमें उत्तरकी अवधि निकट है. परम रसका आस्वादन करके और उस रसमें प्रवेश हो जानेसे पश्चात्ताप नहीं होता. इसलिए जो अपने स्वार्थके विषयमें असावधान है, उसके आयुके बिना जाने हुए

बहुतसे वर्ष भी निष्फल ही हैं. अपनी आयुका जाना हुआ तो एक मुहूर्त(दो घडी) भी पुरुषार्थको सिद्ध करनेमें उत्तम होता है. क्योंकि उसे अपनी आयुका ज्ञान है; इसलिए उतने ही समयमें वह पुरुषार्थको सिद्ध करनेमें यत्न करता है।।१२।।

आभासार्थ: इसलिए नहीं जानी हुई शत्रुओंकी आयुकी तरह नहीं जानी हुई अपनी आयु भी उपयुक्त नहीं होती; किन्तु जानी हुई आयु ही उपयोगी होती है; इसको दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं:

खट्वाङ्गो नाम राजर्षिः ज्ञात्वेयत्ताम् इहायुषः।
मुहूर्त्तात् सर्वम् उत्सृज्य गतवान् अभयं हरिम्।।१३।।

श्लोकार्थ: खट्वाङ्ग नामके राजर्षिने मेरी आयु इतनी ही है; इसको जानकर एक मुहूर्त(दो घडी ४८ मिनट)में ही सारे राज्य, कुटुम्ब आदिका परित्याग कर अभयरूप हरिको प्राप्त कर लिया।।१३।।

व्याख्यार्थ: 'खट्वाङ्ग' नामके दीलीप राजाने देवोंके पक्षपाती होकर दैत्योंको मारा था. तब देवोंने उसे वर मांगनेको कहा. इस पर राजाने देवोंसे कहा कि पहले मैं यह जानलूं कि मेरी आयु कितनी है. उसे जानकर ही उसके अनुसार मैं वरकेलिए प्रार्थना करूंगा. ऐसा सोचकर उसने आयुका प्रश्न किया. तब खट्वाङ्गने देवोंके वचनसे एक मुहूर्त्तकी आयु जानकर स्वर्गसे पुनः पृथ्वी पर आगये. भगवान्ने पहले इस राजासे कहा था कि मैं तेरी रक्षा करूंगा. इसलिए इसने हरिके अतिरिक्त अन्य सबका परित्याग करके अभयरूप हरिका स्मरण करते हुए उन्हें प्राप्त कर लिया. इसलिए कालकी अधिकताकी कोई अपेक्षा नहीं है; यह इसका भाव है।।१३।।

आभासार्थ: तेरी आयुके तो दो सौ से भी अधिक मुहूर्त्त हैं.(२१० मुहूर्त) एक मुहूर्तसे ही कार्य सिद्ध हो जायेगा. तथापि पहले हमारे द्वारा कही गई दस प्रकारकी भगवल्लीलाओंका श्रवण करो.

तवाप्येतर्हि कौरव्य सप्ताहं जीवितावधिः।
उपकल्पय तत् सर्वं तावद् यत् साम्परायिकम्।।१४।।

श्लोकार्थ: हे कौरव्य!(परीक्षित) राजर्षि खट्वाङ्गकी तरह तुम्हारी तो अभी सात दिन जीवनकी अवधि है. इसलिए मरनेवाले केलिए जो करना चाहिए, उसका सम्पादन करलो।। १४।।

व्याख्यार्थ: जिस तरह राजा खट्वाङ्गको अपनी आयुका ज्ञान था, उसी

तरह तुम्हें भी अपनी आयुका ज्ञान है. 'एतर्हि'का अर्थ है, इस समय भी ज्ञान है. जीवनकी अवधि सात दिनकी है. केवल सात दिन ही जीवनकी अवधि है. इसलिए सात दिनमें जितना भी परलोककेलिए साधन है उसका सम्पादन करलो. अर्थात् सबका परित्याग करके भगवत्कथाको सुनो. कुछ टीकाकारोंने लिखा है कि आगे कहे जानेवाले साधन करो; परन्तु उनका ऐसा कहना प्रमेयके विरुद्ध है ।।१४।।

आभासार्थ: राजाने जो पूछा कि सर्वात्मना कर्तव्य क्या है; इस पहले प्रश्नका सपरिकर उत्तर ''**अन्ते नारायण स्मृतिः**'', ''**गतवानभयं हरिम्**'' इन दो वाक्योंसे दे दिया. अन्तमें भगवान्की स्मृति होना ही अन्तिम जन्मलाभका फल है. अभयरूप भगवान् हरिस्मरणसे प्राप्त होता है और ''**उपकल्पय तत्सर्वम्**'' इससे अन्तकालके कर्तव्यका उपदेश दिया ही है. सर्वात्मरूपसे हर समय वही कर्तव्य है. तथापि राजाके हृदयमें यह हो कि जो मैनें पूछा उसका उत्तर तो दिया नहीं. यदि उसका उत्तर न दिया जाए तो हमारे द्वारा कहा जानेवाला श्रवण भी उसके हृदयमें ठीक तरहसे भासित नहीं होगा. इसलिए विशेषरूपसे अन्तकालके कर्तव्यको कहते हुए पूर्वोक्त श्रवणके फलके उपकारक मनन और निदिध्यासन है; उनका यहां निरूपण करते हैं:

अन्तकाले तु पुरुष आगते गतसाध्वसः।
छिन्द्याद् असङ्गशस्त्रेण स्पृहां देहेऽनु ये च तम्।।१५।।
गृहात् प्रव्रजितो धीरः पुण्यतीर्थजलाप्लुतः।
शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत् कल्पितासने।।१६।।
अभ्यसेद् मनसा शुद्धं त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं परम्।
मनो यच्छेद् जित श्वासो ब्रह्मबीजम् अनुस्मरन्।।१७।।

श्लोकार्थ: जब पुरुषका अन्तकाल आ जाए, उस समय उसको घबराना नहीं चाहिए. किन्तु अनासक्तिरूप शस्त्रसे देहमें और देहसे जिनका सम्बन्ध है उनसे आसक्तिको काट डाले. घरसे सन्यास लेकर धैर्यपूर्वक पवित्र तीर्थजलोंमें स्नान करें. पवित्र एकान्त स्थानमें शास्त्रोंमें बताए गए पवित्र आसन पर बैठकर मनसे पवित्र और सर्वश्रेष्ठ ओंकाररूप ब्रह्माक्षरका अभ्यास(जप) करे. प्राणायाम के द्वारा श्वासको जीतकर ब्रह्मबीज ओंकारका स्मरण करते हुए मनको जीतले।।१५-१७।।

व्याख्यार्थः युक्तियोंसे बार-बार विचार करनेको मनन कहते हैं. ''भगवान्का श्रवण करना चाहिए'' ऐसा जो कहा है उसमें भगवान् कौन है, ऐसी जिज्ञासा होती है. उसकेलिए 'सर्वात्मा' आदि पदोंसे सर्वपुरुषार्थरूप, सर्वफल-साधक सबका सब भगवान् है, ऐसा कहा जायेगा. सब भगवान् कैसे हैं; इस आकांक्षामें ''**आत्मैवेदं सर्वम्**'', ''**ब्रह्मैवेदं सर्वम्**'', ''**अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनः**'' (''यह सब आत्मरूप है; यह सब ब्रह्मरूप है; मैं हरि हूं; यह सब भगवद्रूप है'') इत्यादि वाक्य प्रमाण हैं. तथापि लौकिकयुक्तिकी अपेक्षा हो तो उसकेलिए सारे ही जगत्का भगवान्के शरीरमें सन्निवेश कहा जाता है. पुरुष तो भगवान् है; इसमें तो किसीका विरोध है नहीं. ''**पुरुषो ह वै नारायणो अकामयत**'', ''**पुरुष एव इदं सर्वम्**'' (''यह पुरुष ही नारायण है; इसने कामना की''.'' यह सारा जगत् पुरुष ही है'') इत्यादि श्रुति इसमे प्रमाण है. जबतक सारे ही जगत्का पुरुषशरीरमें निवेश नहीं किया जाता तब तक पुरुष सर्वरूप है ऐसा कोई मान नहीं सकता. इसलिए पुरुषशरीरमें सम्पूर्ण जगत्का निवेश कहते हैं. और एक बात यह भी है कि वचन मात्रसे ही पुरुषशरीरमें सबका निवेशन कर भी दिया जाए किन्तु यदि अनुभवसे वह सिद्ध न हो तो भी उसे कोई नहीं मानेगा. अतः उसका निवेशन ध्यानरूपसे कहते हैं. जब भगवान्का ध्यान किया जायेगा; तो उनका कभी साक्षात्कार भी हो जायेगा. तब उन भगवान्के शरीरमें सारे जगत्को देखते हुए निःसंदिग्ध हो जायेगा. इसकेलिए मनन-निदिध्यासन पर्यन्त साक्षात्कार जिसका फल है; उन तत्त्वोंके निरूपणकेलिए उपदेश देते हुए 'पाक्षिक दोषका भी परिहार करना चाहिए' इस न्यायके अनुसार कौन जान सकता है कि अन्तकालमें स्मरण करते हुए किसी अन्यका स्मरण हो जाये तो फिर वही ही होना पडे. उस दोषको दूर करने केलिए चित्तकी वृत्तियोंके निरोधरूप योगको कहते हुए, उसी योगके अङ्गभूत ध्यानको कहते हुए, ध्यानके विषयरूपसे भगवान्के स्वरूपको भी कहते हुए, अन्तकालमें क्या करना चाहिए इस प्रश्नका उत्तर भी कहते हैं. यहां जो 'तु' शब्द दिया है उसका आशय यह है कि तुम्हें योगकी साधना करनी चाहिए और उसके अङ्गरूपसे भगवान्का ध्यान करना चाहिए; यह तेरेलिए आवश्यक नहीं है. अर्थात् तुम्हें योग-साधनकी आवश्यकता नहीं है. अथवा 'तु' शब्दसे पूर्वपक्षसे सङ्गत ही कुछ कह दिया वह तुम्हारेलिए आवश्यक नहीं है.

अन्तकालका अर्थ है मरणसमय अथवा अवस्थारूप जो समय है उसका

अन्त. यहां 'कालस्य अन्तः तस्मिन्' इस समासमें 'राजदन्तादिषु परम्' इसकी तरह 'काल' शब्दका पर निपात हो गया है. अथवा अन्तक(यमराज) काल अन्तकाल समझना. 'आगते'का अर्थ है जान लेनेपर सबसे पहला साधन करना है, १.घबराना नहीं. उसके बाद वैराग्य शस्त्रसे देहमें और उसके अनन्तर २.देहसे सम्बन्ध रखनेवाले घर, कुटुम्ब आदिमें जो अनुराग है कि ये सब मेरे हों अथवा ये मेरेलिए उपकार करें; इस तरहकी इच्छाको वैराग्यसे काट डाले. अर्थात् अन्तःकरणमें उनकी अपेक्षाका परित्याग करे. अन्तकाल आनेपर पहला कर्तव्य तो घबराना नहीं और दूसरा कर्तव्य यह है देह, घर, कुटुम्ब आदिकी ममताका परित्याग. अब तीसरे साधनको बताते हैं: ३.घरसे निकल जाये, संन्यास लेकर चला जाए. फिर चौथा साधन है ४.शीत आदिकी बाधा होनेपर धैर्य रखे. ये यम कहे गए हैं. ५.अब नियम बताते हैं. 'पुण्यतीर्थजलाप्लुतः' पवित्र तीर्थोंके जलमें स्नान करे. 'तीर्थ' शब्द इसलिए दिया है कि उन तीर्थोंका जल मंगवाकर उस जलसे स्नान न कर स्वयं ही तीर्थमें जाकर स्नान करे. इसमें 'पुण्य' पद इसलिए है कि कामनाओंके पूर्ण करनेवाले तीर्थोंमें स्नान न करे. अथवा पुण्यरूप तीर्थ-गंगाजीमें स्नान करे. अथवा 'तीर्थ' पदसे गंगाके घाट पर स्नान करे. क्योंकि घाटको भी तीर्थ कहते हैं. इसमें प्रमाण श्रुति है "**तीर्थे हि ते तां प्रावेशयन्**". 'आप्लुतः'का अर्थ है ठीक तरहसे स्नान करे.

अब आसन बताते हैं. पवित्र देशमें एकान्तमें विधिवत् पहले नीचे कुशका आसन, उसके ऊपर मृगचर्मका, फिर उसके ऊपर वस्त्रका. इस तरहके आसन पर बैठकर अभ्यास करे. प्राणायामको बताते हैं. 'अभ्यसेत्' बीजसहित प्राणायाम करनेसे वायु शीघ्र ही स्थिर हो जाता है. वायुका इधर-उधर चलना पापसे होता है. अतः 'त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं' अकार-उकार-मकार; इन तीन वर्णोंसे संघट्टित(निर्मित) तीन वर्णोंवाला एक ही ब्रह्मवाचक ॐ निर्विघ्नताको करता है और मंगलरूप है. अर्थात् यह ॐ वायुके चलनरूप विघ्नको दूरकर मंगल करता है. वाणी चार प्रकारकी है: परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी. इनमेंसे प्रथम प्रकारसे अथवा वर्णका उच्चारण न हो इस तरह ॐ का जप करते हुए प्राणायाम करे. इससे वायुका जय होता है. प्राणायामके अनन्तर प्रत्याहारको कहते हैं 'मनो यच्छेत्' जब श्वास पर विजय हो जाता है, तब मनका नियन्त्रण होता है और श्वास पर विजय ब्रह्माक्षर(ओम्)से होता है. इसलिए ब्रह्मबीज(ओम्)का

अनुस्मरण करते हुए श्वास को जीतकर मनको नियन्त्रित करे. इस तरहका यहां संबंध समझना।। १५-१७।।

आभासार्थ: प्रत्याहारमें मन और इन्द्रियोंके जयमें हेतुहेतुमद्भावसे भेदका निरूपण करते हैं:

नियच्छेद् विषयेभ्योऽक्षाद् मनसा बुद्धिसारथिः।
मनः कर्मभिराक्षिप्तं शुभार्थे धारयेद् धिया।।१८।।

श्लोकार्थ: पहले तो बुद्धिका सहारा लेकर विषयोंकी ओर जानेवाली इन्द्रियोंको मनके द्वारा रोके. तदनन्तर कर्मोंसे इधर-उधर आक्षिप्त मनको भी बुद्धिसे भगवान्की मूर्तिमें स्थिर कर दे।।१८।।

व्याख्यार्थ: इन्द्रियोंको मनके द्वारा विषयोंसे हटावे. विषय दुष्ट होते हैं अतः मनसे इन्द्रियोंका नियमन करनेमें बुद्धि सारथी-सहायक होती है. प्राणायामके द्वारा मनकी क्रियाका निवारण होता है; यह कहा जा चुका है. अब कर्मोंसे आक्षिप्त मनको प्रत्याहाररूप कर्मोंसे आक्षिप्त किया अर्थात् सब प्रकारके विषयोंसे वह दूर हो गया. मन विषय ज्ञानके अनुकूल न रहा. ऐसे मनको शुभरूप अर्थमें सर्वावयव व्यापिका बुद्धिसे मानसिक मूर्तिकी परिकल्पना करके उस मूर्तिके सभी अवयवोंमें मनको धारणरूप करे. सभी अवयवोंमें मनको स्थापन करना धारणा है, और एक अवयवमें मनको धारण ध्यान है. इस तरहका ध्यान और धारणा में भेद है।। १८।।

आभासार्थ: ध्यानको कहते हैं.

तत्रैकावयवं ध्यायेद् अव्युच्छिन्नेन चेतसा।
मनो निर्विषयं युक्त्वा ततः किञ्चिद् न संस्मरेत्।।१९।।

श्लोकार्थ: उस भगवन्मूर्तिके एक अवयवका ध्यान करे. किन्तु मनसे देखे हुए अंगोंको उनके साथ मिलाते हुए ध्यान करे. फिर मनको निर्विषय बनाकर उसके अनन्तर किसीका भी चिन्तन न करे।।१९।।

व्याख्यार्थ: मनसे ग्रहणमें आई हुई उस मूर्तिमें एक ही अवयव(अंग)का ध्यान करें. परन्तु जब दूसरे अवयवका ध्यान करने लगें तब उस पहलेके ध्यान किये हुए अंगको भी उसके साथ मिलाकर ध्यान करें. इससे खण्डशः ध्यान केलिए निषेध किया है. एक अवयवका भी ध्यान दूसरे अवयवके साथ योग्यता अनुसार मिलाकर ही करना चाहिए. इस तरह ध्यान करनेपर जब मन विषयकी वासनाओंका परित्याग

कर देता है ; तब इस विषयको भी मनसे अलग करके सर्वथा विषयरहित करके योग सहित करके, अर्थात् सर्ववृत्तियोंका निरोध करके, तब किसी भी पदार्थको याद न करे. योगसाधित प्रयत्नसे चित्तको निरुद्ध करके रहे।।१९।।

आभासार्थ: तदनन्तर जो होता है उसे कहते हैं.

पदं तत् परमं विष्णोः मनो यत्र प्रसीदति।
रजस्तमोभ्याम् आक्षिप्तं विमूढं मन आत्मनः।
यच्छेद् धारणाया धीरो हन्ति या तत्कृतं मलम्।।२०।।

श्लोकार्थ: मन जहां ध्यानाकारसे परिणमित हो जाता है; निर्मल हो जाता है, वह विष्णुका परम पद है. रजोगुणके आक्षिप्त और तमोगुणके द्वारा विमूढ(बेभान) मनको धीरपुरुष धारणाके द्वारा एकाग्र करले. जिससे धारणा गुणकृत मैलको नष्ट कर देती है।। २०।।

व्याख्यार्थ: इस तरह चित्त निरोध किया जायेगा, तो वह चित्त स्वयं ही स्वच्छ हो जाता है, ध्यानाकारसे परिणत हो जाता है. वह मन ध्यानरूप हो जाता है. उस परिणामका जो आधार है वह विष्णुका परम(श्रेष्ठ) पद है. यदि विष्णुपदसे अतिरिक्त स्थलमें वह निरुद्ध होगा तो उस स्थलकी अभिव्यक्ति करेगा या दुःखी होगा. अतः जहां निरुद्ध होनेसे वह प्रसन्न होता है; उस प्रसन्नतामें कारण आधारका सामर्थ्य है, वह प्रसादका आधार भगवान्का पद ही है. चित्तकी निर्मलतामें जो प्रकाशित होता है वह जीवात्म स्वरूप पुरुषोत्तमका ही स्थान है. श्रुतिमें भी अग्निकी शिखारूपसे जिसको कहा गया है वह भी जीवकी कला ही है. ''**तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः**''. अथवा अक्षर भगवान्का पद (स्थान) है तो उसका अंश जीव भी भगवान्का पद है. इसलिए जितने समय तक मन प्रसन्न रहता है तब तक उसी तरह रहना चाहिए. ''रजः सत्त्वं तमश्चैव'' इस न्यायसे रजोगुण और तमोगुण कालसे प्रेरित होकर मनको विक्षिप्त करते हैं अथवा विमूढ(ज्ञानरहित) कर देते हैं तब योगबलसे दूसरोंके भी मन भगवत्पदमें भासित होते हैं. क्योंकि सभी जीव भगवत्पदमें ही इकठ्ठे हो जाते हैं. वहां अन्यके मनके विक्षेपमें कुछ न करे परंतु जब रजोगुण अपने मनको कर्ममें प्रवृत्त करना चाहे या तमोगुण जब मनको मूढ करे तब उसके दोषको दूर करनेकेलिए धारणाके द्वारा फिर मनको रोके. उसे रोकनेके समय रजोगुण वासनासे विषयोंको उपस्थित करता है और तमोगुण निद्रा, आलस्य आदिको करता है. अतः उस समय धैर्य

रखे. उसको ऐसी धारणा करनी चाहिए जिससे तमोगुण और रजोगुणके दोष दूर किये जा सकें. चण्डिका या शिवकी धारणा न करे किंतु जो धारणा मनके मैलको दूर कर सके वैसी धारणा करे।।२०।।

आभासार्थ: धारणा वैसी करनी चाहिए जिससे योगकी सिद्धि हो सके. चित्तको निरुद्ध करनेवाले बहुत कर्मादि योग हैं. परंतु उनमें भक्तिलक्षण योग जिससे सम्पन्न होता है उस धारणाको करना चाहिए.

यत्र सन्ध्यार्य्यमाणायां योगिनो भक्तिलक्षणः।
आशु सम्पद्यते योग आश्रयं भद्रम् ईक्षतः।।२१।।

श्लोकार्थ: जिस धारणामें योगीको मङ्गलमय भगवान्के दर्शन करते हुए भक्तिरूप योग शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है।।२१।।

व्याख्यार्थ: भगवान् ही जिस धारणाका विषय हैं; उन भगवान्के सभी अवयवों(श्रीअंगों)में जब चित्तवृत्ति स्थिर हो जाती है तब चित्तवृत्तिका निरोध करनेवाले योगीकेलिए भक्तिरूप योग सम्पन्न हो जाता है. जिस तरह 'शृङ्ग-सास्नादिमत्व' गायका लक्षण गाय ही में रहता है उसी तरह उस योगसे भक्ति अलग नहीं रहती. अर्थात् वह योग भक्तिके नामसे प्रसिद्ध रहता है. यदि शंका हो कि उस योगका लक्षण भक्ति क्यों है? उसका उत्तर यह है कि उस योगमें जो धारणाका विषय है वह भगवान्का रूप है जो अत्यन्त मनोहर है और उसीका वह ध्यान करता है. अतएव भगवद्ध्यानके कारण वह योग भक्ति लक्षण योग हो जाता है।।२१।।

आभासार्थ: उस धारणाके विषयमें राजा विशेष प्रश्न करता है:

राजोवाच

यथा सन्धार्य्यते ब्रह्मन् धारणा यत्र सम्मता।
यादृशी वा हरेद् आशु पुरुषस्य मनोमलम्।।२२।।

श्लोकार्थ: हे ब्रह्मन्! जिस तरह धारणा की जाती है और जिसमें आपको धारणा सम्मत है एवं जिस प्रकारकी धारणा पुरुषके मनके मैलको शीघ्र दूर कर देती है; उसे कहिए।।२२।।

व्याख्यार्थ: यह धारणा कैसे की जाती है? क्या मनके अन्दर भगवान्की मूर्तिकी कल्पना करके उसमें मनको स्थापित करना चाहिए? अथवा शास्त्रोंमें जैसी भगवान्की मूर्तिको सुना है उसका स्मरण करके उसको मनमें स्थापना करनी चाहिए? एक बात यह भी है कि जिस मूर्तिमें मनको स्थापन करना सम्मत है वह

बताइये क्योंकि भगवान्की मूर्ति तो अनंत हैं. इसलिए जिस भगवान्की मूर्तिमें मनको स्थापित करना सभी योगियोंको सम्मत हो वह कहिये. वह मूर्ति जैसी है, जिस प्रकारकी है; वह रूपप्राधान्य है या धर्मप्राधान्य है? स्थूल है या सूक्ष्म है? निराकार है या साकार है? शान्त है या आग्रहवाली है? इन सबमें ऐसी मूर्ति आप बताइये जो पुरुषके मनके मैलको नष्ट कर दे. यद्यपि यहां कथन कहिये ऐसा नहीं कहा है; परंतु वह अर्थके द्वारा ही प्रतीत होता है. गुरुके सन्निधानमें 'कहो' इस तरह नियोग(आदेश) अनुचित है; इस अभिप्रायको बोधित करने केलिए वाक्यशेषको कहकर नियोगांश(कहो) इसको नहीं कहा।। २२।।

आभासार्थ: वह मूर्ति कैसी है इसका उत्तर देते हैं:

श्रीशुक उवाच

जितासनो जितश्वासो जितसङ्गो जितेन्द्रियः।
स्थूले भगवतो रूपे मनः सन्धारयेद् धिया।।२३।।

श्लोकार्थ: आसन, श्वास, सङ्ग और इन्द्रियों को जीतकर बुद्धिके द्वारा भगवान्के स्थूलरूपमें मनकी धारणा करें।। २३।।

व्याख्यार्थ: जिस तरहकी धारणा करनी चाहिए उसका उत्तर देते हैं. आसन-श्वास-सङ्ग-इन्द्रियां इनके जयके सहित जो धारणा है वह मनके मैलको नष्ट करती है. विषयके सङ्गको जिसने जीत लिया है उसे जितसङ्ग कहते हैं. इससे मनका निग्रह कहा गया है. आपकी धारणा जिसमें सम्मत हो वह कहिए; इसका उत्तर 'स्थूल' आदिसे दिया है. निश्चयात्मक बुद्धिसे भगवान्के स्थूल रूपमें धारणा करनी चाहिए।।२३।।

आभासार्थ: यहां यह प्रश्न हो सकता है कि भगवान्का स्थूल रूप कैसा? व्यापक स्थूल रूप तो फलरूप है; वह तो धारणाके योग्य हो नहीं सकता और अन्य जो मत्स्य आदि रूप हैं उनके परिमाणका तो निर्धारण है ही नहीं. अतः स्थूल रूप क्या इसपर कहते हैं:

विशेषस्तस्य देहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम्।
यत्रेदं दृश्यते विश्वं भूतं भव्यं भवच्च सत्।।२४।।

श्लोकार्थ: स्थूलोंमें भी स्थूल यह पृथ्वीरूप विशेष उस विराट् भगवान्का देह है. जिस भगवान्के देहमें भूत, भविष्यत् और वर्तमान सारा विश्व दिखाई देता है।। २४।।

व्याख्यार्थः पृथ्वी विशेषरूप है क्योंकि सभी विशेष पृथ्वीरूप हैं. इसीलिए ''**अतो विशेषो भावानां भूमावेवोपलक्ष्यते**'' ऐसा कहा है. 'विः' का अर्थ है विशिष्ट भगवान्. वह जिसमें शिष्ट बाकी रहता है इसलिए पृथ्वीको विशेष कहा है. अथवा 'वेः शेषः विशेषः' 'वि'का अर्थ है काल उसका जो शेष. इस पृथ्वीपर रहनेवाले सबका अपनी इच्छासे कालके द्वारा ग्रास हो जाता है; इसीलिए भगवान्का देह विशेष है. काल भगवान्का चेष्टा रूप है और चेष्टाका आधार देह होता ही है. साङ्ख्यशास्त्र देह और आत्मा का परस्पर संयोग संबंध है ऐसा मानते हैं. सांख्यके एकदेशी और योगी देहका अध्यास मानते हैं. अन्य मतवाले भगवान्का आवेश मानते हैं, जैसे लोहेके गोलेमें अग्निका आवेश होता है. अन्योंका कहना है कि अहंकारसे मैं हूं ऐसा स्वीकार करना ही देह है. वे चारों ही पक्ष भगवान्के और देहके संबंधका प्रतिपादन करनेवाले नहीं होते हैं परंतु भगवान्का देहके साथ स्व-स्वामिभाव संबंध होनेसे षष्ठीसे उसे बताया है. अर्थात् देहादि सब पदार्थ स्व(भोग्य) हैं और भगवान् सबका स्वामी भोक्ता है. इसे 'तस्य' से बताया है.

'दिह' उपचये धातुसे अच् प्रत्यय करनेपर 'देह' शब्दकी सिद्धि होती है. यह पृथ्वी भगवान्का उपचयरूप(देह) है. यद्यपि स्वरूपमें स्थित रहते हुए भी भगवान् सबकुछ कर सकते हैं फिर भी सबका पोषण करनेकेलिए अपने स्वरूपसे भी अधिक सुख देनेकेलिए उपचित(वृद्धिको प्राप्त) होते हुए अर्थात् पुष्ट होते हुए सब कुछ करते हैं. भगवान्का वह रूप ही धारणाका विषय होता है इसमें सबकी सम्मति है. 'अयम्' यह शब्द इस बातको बताता है कि यह सबके सामने है प्रत्यक्ष है. यद्यपि भगवान्का सारा रूप सामने नहीं है, उसका एक देश ही सामने है, तथापि इससे इतरका अनुमान करना सहज है इसलिए इतर अवयवके ज्ञानसे सहकृत प्रत्यक्ष सामग्री ही विशिष्ट ज्ञानको उत्पन्न करती है. इसे समझाने केलिए 'अयम्' ऐसा कहा है. पृथिवी बहुत बडी है अथवा बहुत मोटी है इसलिए उसे स्थविष्ठ कहते हैं. इस भागवत शास्त्रमें विरल अवयवोंको सूक्ष्म कहा जाता है और घने अवयवोंको स्थूल कहा जाता है. इसलिए आकाश आदि सूक्ष्म कहे जाते हैं और सूक्ष्म होनेके कारण व्यवहारमें उपयुक्त नहीं होते. पृथिवी तो सबके व्यवहारमें आती है इसलिए यह स्थूल है. संहत-घट्ट अवयवोंसे उपचित अवयवी प्रकट किया जाता है. इसी तरह देह(पृथ्वी)के द्वारा भगवान् प्रकट किये जाते हैं.

अतः जब भगवान् ध्यानके विषय होते हैं तो प्रकट हो जाते हैं. इसलिए भगवान्का निरूपण स्थूलरूपसे किया है. अथवा बुद्धिमें प्रविष्ट भगवान् बुद्धिको भी विशद कर देते हैं. अतः वह स्थूल बुद्धि सूक्ष्म विषयोंका ग्रहण नहीं करेगी.

इस कारण सूक्ष्म मनके रजोगुण और तमोगुणके दोषोंसे वह बुद्धि अलग रहेगी, उनका ग्रहण नहीं करेगी. 'च' इस बातको बताता है कि भगवान्का देह सुंदर भी है क्योंकि उसमें सब विषयका समवाय संबंध है. अतः बुद्धि उसमें स्थिर होती है. उपचित(घट्ट) अवयवोंके कारण 'स्थवीयस्'(विरलावयव) आकाशादि से भी यह स्थविष्ठ है. इसीलिए

''**आकाशशरीरं ब्रह्म**'', ''**वायुरात्मा**'',
''**ज्योतिषां ज्योतिः**'', ''**तोयात्मने नमः**''

''आकाश जिसका शरीर है; वायु आत्मा है; ज्योतिका वह ज्योति है और जो जलात्मा है'' इन वाक्योंसे सभी भूतोंको भगवान्का शरीर बताया है. फिर भी इसी विशेषसे इन भगवान्को धारणाका विषय बताया है.

एक बात यह भी है कि सभी रूप इस पृथ्वीमें ही सम्भव हैं. यह पृथ्वी अन्यमें सम्भव नहीं है. इसलिए भगवान्की देहरूप पृथ्वी ही ध्यानका विषय है. सारा ही विश्व इस पृथ्वीमें व्यञ्जित(प्रकाशित) होता है. जैसे समुद्र, सूर्य, वायु, अवकाश(आकाश) और भी जो सूक्ष्म अवान्तर भूत जो अहङ्कारादि हैं; उनका भी इसीमें समावेश है; उसको 'पातालम् एतस्य' इत्यादिसे कहेंगे. यहां तक कि भूत, भविष्यत् और वर्तमान कार्योंके द्वारा कालका भी इसमें समावेश हो जाता है. अनुदय और अस्तमय काल ही भूत भविष्यत् आदिका साधक है. किसी निमित्तसे कालमें अतीत आदि धर्मका संबंध होनेसे उसमें उत्पत्ति, स्थिति और विनाश है लक्षण जिनका ऐसे सत्त्वादि गुणत्रयोंकी प्रेरणासे उत्पत्ति, स्थिति, विनाश होते हैं. इसलिए अपने कार्यके सहित काल जो भगवान्की चेष्टारूप है वह यहां(पृथिवीमें) स्पष्ट रूपसे प्रकाशित होता है. अतः सारा ही भगवत्कार्य इस पृथिवी पर स्पष्टरूपसे ज्ञात होता है. भूत जो बीत चुका उसे कहते हैं; भव्य होनेवाला और भवत् वर्तमानरूप है. 'च' से भूत, भविष्यत् और वर्तमान; कालत्रय संबंधसे रहित भी लिया जाता है. अर्थात् प्राण–जीव आदि स्वरूप भी इस पृथ्वीमें दीखते हैं. 'यत्'का अर्थ है यह प्रसिद्ध है, इसमें कुछ छिपा नहीं है. अतः इसकेलिए विशेष रूपसे प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं है।। २४।।

आभासार्थ: शंका हो सकती है कि जड पदार्थ ध्यानका विषय कैसे हो सकता है? क्योंकि जिसका ध्यान करते हैं वह फल देनेवाला भी अवश्य होना चाहिए. जड पदार्थ तो फल दे नहीं सकता! यदि कहें कि क्रिया(यज्ञादि) जड होते हुए भी अदृष्टके द्वारा फल देते हैं, उसी तरह ध्यान भी अदृष्ट द्वारा फलदान कर सकेगा! किन्तु ऐसा भी नहीं कह सकते. यहां ध्येयका साक्षात्कार ही दृष्ट है; अदृष्ट कोई नहीं है. यदि कहें कि भगवत्सम्बन्ध होनेसे जड ध्येय है तो यह भी ठीक नहीं. ''गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः'' इस न्यायसे मुख्य भगवान् ही ध्यानके विषय होने चाहिए. जड पदार्थ ध्यानका विषय नहीं होना चाहिए. उसपर कहते हैं:

आण्डकोशे शरीरेऽस्मिन् सप्तावरणसंयुते।
वैराजः पुरुषो योऽसौ भगवान् धारणाश्रयः।।२५।।

श्लोकार्थ: सात आवरणोंसे युक्त ब्रह्माण्डरूप इस शरीरमें जो विराट् पुरुष भगवान् है वही धारणाका विषय है।।२५।।

व्याख्यार्थ: यहां इस जड पदार्थको ध्यानका विषय नहीं कहा है किन्तु यह भगवान्का आश्रय होनेसे इसे ध्येय कहा है. इससे ''**यथा सन्धार्यते ब्रह्मन्**'' इसका भी निरूपण हो जाता है. साक्षात् ध्यानका विषय तो भगवान् ही हैं. ब्रह्माण्ड तो उस भगवान्का आधार होनेसे ध्यानका विषय है. यद्यपि यहां यह शंका हो सकती है कि स्वयंका ही आत्मारूप जीव भी ब्रह्मका आधार होनेसे ध्येय हो सकता है? उसका उत्तर आगेके अध्यायमें मतान्तर रूपसे दिया जायेगा. परंतु बहिःस्थित भगवान्को अन्तःप्रविष्ट करनेमें स्नेहकी अधिकता होती है; उसकी सिद्धि केलिए और स्वयंकी आत्मा जो अणु है; उसमें महत्तत्वकी सिद्धि केलिए और अपने प्रयत्नकी सफलता केलिए अपने अंदर सिद्ध भगवद्रूप आत्माकी अपेक्षासे तो जो सिद्ध नहीं है; जो केवल स्मरणमात्रका ही विषय है उसके ध्यानकी सिद्धि केलिए ब्रह्माण्ड जिसका आधार है उस भगवान्को यहां ध्यानका विषय बताया है. इससे सिद्धसाधनता दोष भी नहीं होता. 'आण्डकोशे'का विग्रह इस प्रकार है: ''अण्ड सम्बन्धी आण्डः, आण्डएव कोशः आण्डकोशः, तस्मिन् आण्डकोशे'' अर्थात् अण्डसम्बन्धी मुकुलित(कलिरूप) कमलरूप ही जिसका शरीर है. '**भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः**' इस वाक्यसे भगवान्ने ही अपनेलिए इस ब्रह्माण्डको अपना शरीर किया है. जब भगवान्ने ब्रह्माण्डको

अपना शरीर किया है तो इसके द्वारा किये जानेवाले भोगको भगवान् करते हैं. सब प्रकारके भोगोंका आधार शरीर होता है इसलिए आत्माकी अपेक्षा भी भगवान्के आधाररूपसे इसीका ध्यान करना चाहिए. आण्डकोशमें 'कोश' शब्दका आशय यह है कि भगवान्के अन्य देहोंमें तो छिद्र है परंतु यह कोश (कली)रूप होते हैं इसमें कोई छिद्र नहीं है. उस कोशमेंसे ही मकरन्दका पान होता है. यह भगवान्का शरीर अत्यंत सुरक्षित है इसको कहते हुए भगवान्के सिवा अन्य सब तत्त्वसमूह इसमें संनिविष्ट हैं; इसे कहते हैं 'सप्तावरण संयुते' यह आण्डकोश भगवच्छरीर सात आवरणोंसे संयुक्त है. 'संयुक्त' पद देनेका तात्पर्य यह है कि मध्यका स्थान शून्य नहीं है. जलसे लेकर प्रकृति पर्यन्त सात आवरणरूप है. उन सात आवरणोंवाले आण्डकोश शरीरमें जो विराज पुरुष है वह द्वितीय पुरुषरूप है और सब जगह शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है. 'असौ' पद इसलिए दिया है कि जो शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है वह ही अनुभवसिद्ध वैराज विराट्के शरीरमें प्रविष्ट है. यह वैराज कोई जीव विशेष नहीं है. अतः इस वैराजको भगवान् कहा है. यह वैराज भगवान् ही योगियोंके प्रत्यक्षसे सिद्ध है. इसीलिए प्रचुरतर अभ्याससे 'असौ'(यह) इस तरहसे प्रत्यक्षरूपसे उसका निर्देश किया है. वह वैराज पुरुष ही धारणाका आश्रय है और उसका आश्रय है कोश, जैसे लोहेके गोलेमें अग्नि रहती है अथवा कमलमें स्थित जैसे भ्रमर होता है, यद्वा महलमें जैसे राजा रहता है. 'आश्रय' पदसे अपने शरणमें आए हुएकेलिए धारणाका फल सब प्रकारसे देंगे ही ऐसा सूचित होता है।।२५।।

आभासार्थः अब भगवान्के शरीरमें सभी सूक्ष्मोंका और साधारणोंका सन्निवेश कहनेकेलिए और जितने भी आधार हैं वे सब भगवान्के शरीरके अंग होनेसे भगवान्को उनका भार नहीं है; इसका निरूपण करते हैं:

पातालम् एतस्य हि पादमूलं पठन्ति पार्ष्णिप्रपदे रसातलम्।
महातलं विश्वसृजोऽथ गुल्फौ तलातलं वै पुरुषस्य जङ्घे।।२६।।
द्वे जानुनी सुतलं विश्वमूर्त्तेः ऊरुद्वयं वितलञ्चातलञ्च।
महीतलं तज्जघनं महीपतेः नभस्तलं नाभिसरो गृणन्ति।।२७।।
उरःस्थलं ज्योतिरनीकम् अस्य ग्रीवा महर्वदनं वै जनोऽस्य।
तपो रराटीं विदुरादिपुंसः सत्यं तु शीर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः।।२८।।

श्लोकार्थः इस विराट् भगवान्का पादतल पाताल है. एडी और पैरके आगेका भाग रसातल है और विश्वकी सृष्टि करनेवाले महापुरुषके टखने महातल हैं. पुरुषकी दोनों पिंडरियें तलातल हैं. दोनों ही घेंटूं सुतल हैं. विश्वमूर्ति भगवान्की दोनों जांघें वितल और अतल हैं. भूपति भगवान्का पेडू महीतल है. नाभिको नभस्तल कहते हैं और भगवान्का उरःस्थल ज्योतिश्चक्र है. ग्रीवा महर्लोक है और मुख जनलोक है. आदिपुरुष भगवान्का ललाट तपोलोक है. सहस्रशीर्षा भगवान्का मस्तक सत्यलोक है।।२६-२८।।

व्याख्यार्थः चौदह लोक चौदह भेदसे भगवान्के अंगविभागको प्राप्त होकर ध्यानका विषय बन जाते हैं. परंतु ऐसा न समझें कि भगवान्के अवयव लोकरूपताको प्राप्त हो गये हैं. यदि ऐसा होता तो उत्तम जो भगवान्के अंग हैं उनमें हीन भावना हो जायेगी जिससे वे भगवान्के अवयव ध्यानका विषय नहीं हो सकेंगे. उन्हींको कहते हैंः सबसे नीचेका लोक पाताल है. पादमूलका अर्थ है पाद(चरण)का आरक्त स्थान. वैसा होनेपर वासुकि प्रभृति नाग(सर्प) रेखारूप हो गये. इसमें प्रमाण भी बताते हैं, 'पठन्ति' अर्थात् इस शरीरकी वेदकी तरह यह अनादि सिद्धा प्रसिद्धि है. भगवान्के पक्षमें साकार ब्रह्म वहां व्याप्त है इसलिए उस लोकभावको प्राप्त हो गये हैं. 'पार्ष्णि'का अर्थ है चरणके पीछेका भाग(एडी) और 'प्रपद'से पैरका आगेका भाग. इस तरह आगे और पीछे दोनोंके निर्देशसे प्रत्याहार न्यायसे पैरके मध्य भागका भी ग्रहण हो जाता है. रसातल पातालके ऊपरके लोकको कहते हैं. गुल्फ पैरोंकी गांठरूप(टखने) को कहते हैं. महातल रसातलके ऊपरका लोक कहलाता है. इसी तरह आगे भी पूर्वमें जिसका निरूपण किया है उसके पीछेके लोकका निरूपण किया जायेगा. महातलमें जो 'महत्' पदका प्रयोग किया है उसमें हेतु बतानेकेलिए 'विश्वसृजः' ऐसा पद दिया है. यहांसे ही सृष्टिकी अधिकता हुई है. यह खण्ड भिन्न है इसका निरूपण करने केलिए 'अथ' शब्दका प्रयोग किया है. इससे यह सिद्ध होता है कि पुरुष पञ्चात्मक है. उनमें दो लोक एक खण्ड है. इसके अनन्तर भिन्न प्रकारसे दोनोंका वर्णन है. गुल्फों(टखनों) तीन गुणोंके भी पांच भेदोंका यहां कथन है. १.केवल तम २.रजस्तम ३.रज ४.रजःसत्त्व और ५.सत्त्व इस तरहसे. इनमें केवल तमका निरूपण किया.

महातलसे लेकर सुतल पर्यन्त द्वितीय खण्ड है. उनमें दोनों पिंडरियां

तालतल है. 'पुरुषस्य' यह पद लोमशत्वका द्योतक है. 'लोमशः पुरुष स्मृत जङ्घे' इस द्विवचनसे दोनों पिंडलियें लेना. ये अवयव दो हैं इसलिए द्विवचनका प्रयोग किया है. अथवा ये दोनों आधार हैं इसलिए द्विवचनका प्रयोग है. दोनों घुटने सुतल हैं. जब 'जानुनी' ऐसा द्विवचनका प्रयोग कर दिया है फिर 'द्वे जानुनी'में द्विव शब्दका प्रयोग क्यों किया? इसका तात्पर्य यह है कि यह सुतल शुद्ध और अशुद्ध भेदसे दो प्रकारका है. इसीलिए आगे 'सुतलं शुद्धं' ऐसा कहेंगे. एक तो उसमें साधारण स्थान है और दूसरा भगवान्की स्थितिका स्थान है. जहां बलि रहता है वह शुद्ध सुतल है इसीलिए 'विश्वमूर्तेः' इस पदसे भगवान्के द्वारा प्रदर्शित विश्वरूपकी याद दिलाई है.

वितल और अतल ये दोनों भगवान्की दोनों जांघें हैं. एक जांघ अतल और दूसरी वितल. कुछ टीकाकारोंका कहना है कि दोनों जांघोंके आगेका भाग वितल और दोनोंके पीछेका भाग अतल है. ऐसा कहना लौकिक पुरुष न्यायसे हो सकता है परंतु पंचम स्कन्धमें उसके 'अधस्तात्'(नीचे) ऐसा पद नहीं है. अतः ऐसा मानना विचारणीय है; ठीक नहीं. अथवा यहां दो 'च' विद्यमान हैं इसलिए वैसा हो भी सकता है. यद्वा उनमें भी अवान्तर भेद हैं. महादेवजीकी क्रीडाका स्थान और मयपुत्रका स्थान जो स्वर्गका दूसरा रूप है. महीतलका अर्थ पृथ्वी है. उसको भगवान्का जघन कहा है. खडे हुए पुरुषकी इस प्रकारकी व्यवस्थिति होती है. ऊर्ध्व गोलमें भी इसी तरहकी व्यवस्था समझना. ध्येय तो ऊर्ध्व गोल ही है. 'महीपतेः' पदसे राजरूपसे यहां भगवान्की स्थिति बताई गई है. 'नभस्तल'से अन्तरिक्ष(आकाश) लेना.

'नाभिसरः'का तात्पर्य यह है कि अन्तरिक्षमें जलकी स्थिति है. अर्थात् भगवान्की नाभिमें जलकी स्थिति है. यद्यपि भगवान्की नाभिमें जल है यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है किन्तु वेदके प्रमाणसे ऐसा सिद्ध है. उसे 'गृणन्ति'से कहा है. ''**सलिलं वा इदम् अन्तरासीद् यदतरं तत् तारकाणां तारकात्वम्**'' ऐसा श्रुतिमें कहा है. यहां भगवन्मूर्तिका अभाव होनेसे और रुद्रका स्थान होनेसे तथा नाभिकमलकी उत्पत्तिका सम्भव होनेसे नाभिका सरोवररूपसे निरूपण किया है. उरः वक्षस्थलको कहते हैं. 'ज्योतिरनीकम्'से सूर्यसे लेकर ध्रुव पर्यन्त पूरे ज्योतिश्चक्रका निरूपण है. वह ज्योतिश्चक्र भगवान्का स्थान है उसमें अन्य किसीकी स्थिति नहीं है. क्योंकि यह शिशुमार भगवद्रूप है. हृदयमें जीवका स्थान

होता है. इसलिए ज्योतिःपुंज शिशुमारमें भगवान्का ध्यान किया जाता है. ग्रीवा महर्लोक है. ठोडीसे लेकर भ्रू पर्यन्त मुख कहलाता है. वह मुख जनलोक है. यह भी केवल भगवान्का ही स्थान है क्योंकि महर्लोक नित्यसुखका स्थान है यह आगे कहा जायेगा. ररार्टी–ललाट तपोलोक है; यह शून्य स्थान है. 'ररार्टी'में स्त्रीलिंग पदका प्रयोग किया है इससे यह स्थान शृंगारका आधार है ऐसा बताने केलिए है. 'आदिपुंसः' कहनेका आशय यह है कि वह पुरुष तपसे ही प्राप्त हो सकता है. मस्तक सत्यलोक है. भगवान्के मस्तक हजारों हैं इसलिए 'शीर्षाणि' ऐसा बहुवचन पद दिया है. 'सहस्रशीर्ष्णः'से 'सहस्रशीर्षाः' आदि श्रुति उस भगवान्की ज्ञापिका है यह बताने केलिए है. सत्यलोकमें ब्रह्मा आदिके बहुतसे लोकोंका भेद होनेसे वह लोक(सत्यलोक) सबका मूर्धन्य है इसकी सिद्धि केलिए 'शिरस्' शब्दमें बहुवचन दिया है।।२६–२८।।

आभासार्थः इस तरह भगवान्के श्रीअंगमें लोकोंका सन्निवेश कहकर अब उन लोकोंमें रहनेवाले जीवोंका सन्निवेश 'इन्द्रादय' आदि से कहते हैं:

इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः कर्णौ दिशः श्रोत्रम् अमुष्य शब्दः।
नासत्यदस्रौ परमस्य नासे घ्राणश्च गन्धो मुखम् अग्निरिद्धः।।२९।।
द्यौरक्षिणी चक्षुरभूत् पतङ्गः पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च।
तद्भ्रू विजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्यम् आपोऽस्य तालू रस एव जिह्वा।।३०।।
छन्दांस्यनन्तस्य यशो गृणन्ति दंष्ट्रा यमः स्नेहकला द्विजाति।
हासो जनोन्मादकरी च माया दुरन्तसर्गो यदपाङ्गमोक्षः।।३१।।
व्रीडोत्तरोष्ठोऽधरएव लोभो धर्मः स्तनोऽधर्मपथश्च पृष्ठः।
कस्तस्य मेण्ढ्रं वृषणौ च मित्रौ कुक्षिः समुद्रागिरयोऽस्थिसङ्घाः।।३२।।

श्लोकार्थः इन्द्रादि देवता भगवान्की बाहु हैं, दिशाएं कान हैं और शब्द ही भगवान्की कर्णेन्द्रिय हैं. दोनों ही अश्विनीकुमार इसकी नासिका है, गन्ध घ्राणेन्द्रिय है, प्रज्वलित अग्नि ही इसका मुख है. स्वर्गलोक इसकी आंखें हैं; सूर्य चक्षुरिन्द्रिय है. विष्णुकी आंखोंकी पलकें रात–दिन हैं. उन भगवान्के भ्रूकी चेष्टा ब्रह्माका लोक है, जल तालुरूप है, रस ही जीभ है. सात प्रकारके छन्द भगवान्के यशका गान करते हैं. भगवान्की दाढ यम है, स्नेहकला ही विराट्के दांत है. विराट्का हास ही मनुष्योंको उन्माद करनेवाली माया है, विराट् भगवान्का

कटाक्ष ही नित्यप्रवाहरूप सृष्टि है. ऊपरका ओठ लज्जारूप है और नीचेका ओठ लोभरूप है. धर्म उस विराट्का स्तन है. अधर्ममार्ग उस विराट्की पीठ है. उस विराट्का उपस्थ ब्रह्मा है और वृषण मित्र देवता हैं. विराट्का पेट समुद्र है और भगवान्की अस्थियां पर्वत हैं.

नद्योऽस्य नाड्योऽथ तनूरुहाणि महीरुहा विश्वतनोर्नृपेन्द्र!।
अनन्तवीर्यश्वसितं मातरिश्वा गतिर्वयः कर्म गुणप्रवाहः।।३३।।
ईशस्य केशान्विदुरम्बुवाहान् वासस्तु सन्ध्ये कुरुवर्य भूम्नः।
अव्यक्तम् आहुर्हृदयं मनश्च स चन्द्रमाः सर्वविकारकोषः।।३४।।

श्लोकार्थः इस विराट् पुरुषकी नाडियां नदियां हैं. और हे राजेन्द्र! इन विश्वतनुकी रोमावली वृक्ष हैं. अनन्त पराक्रमी भगवान्का श्वास वायु है, भगवान्की गति ही काल है, भगवान्में गुणोंका प्रवाह ही कर्म है. भगवान्के केशोंको मेघ जानते हैं. दोनों ही सन्ध्यायें भगवान्के वस्त्र हैं. हे कुरुवर्य! उस भूमा पुरुषका हृदय ही प्रकृति है. सब विकारोंका कोष चन्द्रमा भगवान्का मन है.

विज्ञानशक्तिं महिमामनन्ति सर्वात्मनोऽन्तःकरणं गिरित्रम्।
अश्वाश्वतर्युष्ट्रगजा नखानि सर्वे मृगाः पशवः श्रोणिदेशे।।३५।।
वयांसि तद्व्याकरणं विचित्रं मनुर्मनीषा मनुजो निवासः।
गन्धर्वविद्याधरचारणाप्सरः स्वरः स्मृतीरसुरानीकवर्यः।।३६।।
ब्रह्माननं क्षत्रभुजो महात्मा विड्ऊरुरङ्घ्रिः श्रितकृष्णवर्णः।
नानाभिधाभीज्यगणोपपन्नो द्रव्यात्मकः कर्म वितानयोगः।।३७।।

श्लोकार्थः भगवान्की महिमाको विज्ञानशक्ति कहते हैं. सर्वात्मा भगवान्का अन्तःकरण ही महादेव हैं. भगवान्के नख घोडे, खच्चर, ऊंट, हाथी आदि हैं. भगवान्के कुल्हेमें ही मृग आदि सब पशु हैं. पक्षी भगवान्की विचित्र चित्रकारी है. मनु भगवान्की इच्छा है. मनुष्य वासस्थान है. गन्धर्व विद्याधर चारण अप्सराएं भगवान्का स्वर हैं. असुरोंमें श्रेष्ठ प्रह्लाद भगवान्की स्मृति है. ब्राह्मण मुख है, क्षत्रिय भुजा है, वैश्य जांघ और काले वर्ण वाले(शूद्र) चरण हैं. अनेक प्रकारके नामवाले प्रधान-गौण देवगणोंसे युक्त और व्रीहि, यव आदि द्रव्यात्मक जो यज्ञ कर्म है वह सब भगवान्का अंग हैं।।२९-३७।।

व्याख्यार्थः यद्यपि जिनका जहां स्थान है वहां वे बिना कहे ही रहते हैं यह

तो अपने आप आ जाता है परन्तु जिन जीवोंका स्थान नियत नहीं है उन जीवोंके स्थानका निरूपण किया जाता है. क्योंकि देवता सब लोकोंमें घूमते रहते हैं. अतः उनका नियत स्थान बताना आवश्यक है. अथवा भगवान्‌की इन्द्रियां उनका आधार नहीं होंगी, उसके निरूपण केलिए भी अलगसे निरूपण किया गया है. वे देवता आधिदैविक हैं. दूसरे भी देवता जिनका निरूपण उस प्रकरणमें किया है वे भी आधिदैविक हैं. इन्द्रादि देवता उस्र हैं, कर्मफलके देनेवाले हैं. जो भारको सहन करनेमें समर्थ होते हैं वे 'उस्र' कहलाते हैं. 'उत्=ऊर्ध्वं सरन्ति' इस तरह उस्रकी व्युत्पत्ति है. इस विषयमें "**उस्रावेतं धूरुषाहावि**" यह श्रुति प्रमाण है. भगवान्‌के बाहु ही फल देनेवाले हैं. इस ब्रह्माण्डमें भगवान्‌के कान दिशा हैं. शब्द तो भगवान्‌की श्रोत्रेन्द्रिय है. 'नासत्यदसौ' दोनों अश्विनीकुमार इस विराट्‌की नासिका हैं. परम उत्कृष्ट यज्ञरूपके दो नासिका है. यज्ञमें ही उनका उपकार प्रसिद्ध है. भगवान्‌के इन्द्रियगोलक हमारी इन्द्रियोंके अधिष्ठाता हैं और भगवान्‌का विषय हमारी इन्द्रिय है. गन्ध इस विराट्‌की घ्राणेन्द्रिय है. प्रज्वलित अग्नि भगवान्‌का मुख है. इसलिए भगवान्‌के मुखमें जिसको अर्पण करना हो उसे प्रज्वलित अग्निमें देना चाहिए. शिशुमारका स्थानभूत स्वर्गलोक द्यौः कहलाता है, वह नेत्र है. अक्षिणीसे आंखोंके गोले लिये जाते हैं. सूर्य चक्षुरिन्द्रिय है. पतङ्गका अर्थ है पतत्–गिरता हुआ जो चले. जिस तरह सूर्य अपने प्रकाशको हमारे ऊपर डालता हुआ चलता है उसी तरह भगवान् भी अपनी दृष्टि हमारे ऊपर डालते हुए चलें; इस आशयसे यहां सूर्यको पतङ्ग कहा है. पलकें चार हैं वे आंखोंको खोलती हैं और बन्द करती हैं. 'विष्णोः' का अर्थ है कालरूप या यज्ञस्वरूप. 'अहना' इस द्विवचनसे रात और दिन का ग्रहण होता है. देवता और मनुष्य इन दोनोंका ग्रहण करानेकेलिए 'उभे च' यह पद दिया है. 'च'से पितरोंका और ब्रह्माका ग्रहण करना चाहिए. सत्यलोकमें स्थित ब्रह्माका स्थान उस भगवान्‌का भ्रू विजृम्भ है. जिसके ऊपर भगवान्‌की संतोषकी दृष्टि होती है उसे ब्रह्मासन पर बिठा देते हैं. भगवान्‌का तालु वरुणपत्नीरूप जल है. रस ही गोलकरूप जिह्वा है. जिह्वासे जिह्वा इन्द्रिय ली जाती है. रसवाला द्रव्य जिह्वा नहीं है; इसको सूचित करने केलिए रसके साथ 'एव'का प्रयोग किया है. 'छन्दांसि'से गायत्री आदि छन्दोंका ग्रहण करना. यद्यपि छन्द तो हजारों हैं परंतु उनमें मुख्य सात ही छन्द हैं. वे छन्द भगवान्‌की कीर्तिका वर्णन करते हैं; इसमें वेद प्रमाण है. इसलिए 'गृणन्ति' पद दिया है.

भगवान्‌की दाढ यम है. भगवान्‌के दांत मोहरूप हैं. भगवान्‌का हास्य प्राणियोंको उन्मादित करनेवाली माया ही है. 'च' से भक्तिरूप भी माया है. वह उन्माद नहीं करती है. माया तो पहले कह ही दी है.

नित्य प्रवाहरूपा सृष्टि दुरन्त सर्ग है. 'अपाङ्गमोक्ष'का अर्थ है कटाक्ष. व्रीडा=लज्जा. यह ब्राह्मणोंके हीन कर्म करनेपर होती है. यह लज्जा भगवान्‌का ऊपरका ओष्ठ है. नीचेका ओष्ठ लोभरूप है. जो तामस होते हैं उन्हें ही लोभ होता है. 'अधरे एव लोभः' यहां 'एव' शब्द इस बातको सूचित करता है कि जो उपरितन(सात्त्विक) हैं उन्हें लोभ नहीं होता. ब्रह्मपुत्र धर्म नरनारायणका पिता दक्षिण स्तन है. अथवा चतुष्पाद धर्म दक्षिण स्तन है. अधर्म वामस्तन है. भगवान्‌की पीठका भाग अधर्ममार्ग है. प्रजापति भगवान्‌का मेंढ्र, नीचेकी इन्द्रिय है. मित्रावरुण भगवान्‌के अण्डकोष हैं. सब समुद्र भगवान्‌का उदर हैं. पर्वत भगवान्‌का अस्थि समूह तथा पसलियां हैं. गङ्गा आदि नदियां इन भगवान्‌की नसें हैं. वृक्ष भगवान्‌के रोम हैं. अचेतन प्रायः सृष्टिके तथा राजसोंके समावेश केलिए 'अथ' शब्द दिया है. लोक तामस होते हैं. देवताओंसे लेकर और राजसोंसे पूर्वके सब सात्त्विक हैं. महीरुहासे वृक्षलिए जाते हैं. इस तरह इस छः प्रकारकी सृष्टिको भगवान्‌के रोम कहे हैं. सारा विश्व जिसके शरीरमें है ऐसा होनेसे भगवान्‌को 'विश्वतनु' कहते हैं. वृक्षादि अन्नाच्छादनरूप होनेसे उसकी विश्वरूपता बताई है. हे नृपेन्द्र! ऐसा सम्बोधन इस बातका सूचक है कि महाराजके राज्यमें एक वृक्षके काटनेपर महाराजको अपने बालोंके छेदनके समान क्लेश होता है; इसका तुम्हें अनुभव है. अनन्त पराक्रमी भगवान्‌के नासापुटमें स्थित श्वास ही यह वायु है. भगवान्‌की गति कालरूप है. सत्त्व, रजस् और तमो गुणकी सृष्टिरूप देवता, मनुष्य और पशु–पक्षी यह भगवान्‌का कर्म है. ये मेघ ईश्वररूप भगवान्‌के सिरके बाल हैं. इनमें पूर्ववत् प्रामाणिकता है इसे 'विदुः'से बताया है. दोनों ही सन्ध्या कालरूप भगवान्‌का पीताम्बर(धोती उपरना) है. यहां सन्ध्या मायारूप नहीं है; इसकेलिए 'तु' शब्द दिया है. भगवान्‌के महत्त्वको तुम जानते हो; इसको बताने केलिए परीक्षितकेलिए 'कुरुवर्य!' ऐसा सम्बोधन दिया है. प्रकृति भगवान्‌का हृदय है. इनमें भी पूर्ववत् प्रामाणिकता है; यह बताने केलिए 'आहुः' कहा है.

जो सब विकारोंका खजानारूप आधिदैविक चन्द्रमा है वह भगवान्‌का मन है. भगवान्‌के मनरूप चन्द्रमाका जब विकास होता है तब सारे विकार उत्पन्न

होते हैं. महत्तत्त्व ही भगवान्‌की ज्ञानशक्ति है. सर्वात्मा भगवान्‌का अन्तःकरण (अहङ्कार) ही महादेव है. 'सर्वात्मनः' इसका तात्पर्य यह है कि अहङ्कारकी स्थिति सर्वत्र है. घोडे, खच्चरी और ऊंट तथा हाथी ये चारों, चारों अवयवोंके नख हैं. उनमें पहले घोडे और खच्चरी हाथोंके नख हैं. बायें हाथके नखोंका उपयोग स्त्रियोंमें होता है. इसलिए यहां 'अश्वतरी' इस स्त्रीलिङ्ग शब्दका प्रयोग किया गया है. सब मृग पशु भगवान्‌का श्रोणि देश है. यद्यपि श्रोणि भगवान्‌का अङ्ग नहीं है; स्त्रियोंके नितम्बको ही श्रोणि कहते हैं; परंतु यहां श्रोणिसे श्रोणिस्थानमें रहते हैं. अथवा मृग और पशु भगवान्‌के दोनों श्रोणिस्थान हैं. पक्षी उस भगवान्‌की विवेकरूप कृति है; इसीको बतानेवाला ''**मयूराश्चित्रिता येन**'' ऐसा वाक्य है. स्वायम्भुव मनु आदि भगवान्‌की इच्छा हैं. मनुष्य भगवान्‌का निवासका घर है. गन्धर्व, विद्याधर, चारण और अप्सराएं ये भगवान्‌के द्‌वारा किया गया राग विशेष है. प्रह्लाद भगवान्‌की स्मृति है. यदि 'स्वरस्मृती' ऐसा पाठ हो तो गन्धर्व, विद्याधर, चारण और अप्सराएं भगवान्‌का स्वर हैं और प्रह्लाद स्मृति है. जहां 'असुरानीक वीर्यः' ऐसा पाठ हो तो भी पूर्वोक्त ही अर्थ होगा, किन्तु प्रह्लाद भगवान्‌का पराक्रम है ऐसा अर्थ हो जायेगा. उद्‌देश्य-विधेयभाव समासमें ही समझना.

ब्राह्मण भगवान्‌का मुख है. ब्राह्मणमें ब्रह्मभाव कोई धर्मविशेष होता है. उस(ब्रह्मभाव)के रहनेपर ही पुरुष 'ब्राह्मण' शब्दसे कहा जाता है. ब्रह्मभावका ही दूसरा नाम ब्राह्मण्य है. ब्राह्मण जाति नहीं है. यदि जाति होती तो व्यक्तिके रहने पर भी वह ब्राह्मणपन कैसे चला जाता? जैसे कहा है ''**शूद्रां शयनम् आरोप्य ब्राह्मणो यात्यधो गतिम्, तस्यां तनयम् उत्पाद्य ब्राह्मण्यादेव हीयते**'' इस वाक्यके अनुरोधसे ब्राह्मणपन चला जाता है. अर्थात् ''जो ब्राह्मण शूद्राका सहवास करता है; वह अधोगतिको प्राप्त होता है और यदि शूद्रामें सन्तान उत्पन्न कर देता है तो ब्राह्मणपनसे हीन हो जाता है''. लक्षणाकी कल्पना करनेमें कोई प्रमाण नहीं है. इसमें नियत व्यञ्जकका अभाव है. यदि ऐसा कहो कि ब्राह्मणीमें जो ब्राह्मणसे उत्पन्न हो वह ब्राह्मण होता है तो ब्रह्माजीमें तथा ब्रह्माजीके मानसपुत्रोंमें यह लक्षण घटित न होनेसे ब्रह्माजी और ब्रह्माजीके पुत्र ब्राह्मण नहीं कहलायेंगे. ऋषभदेवजी क्षत्रिय थे और उनके इक्यासी पुत्र ब्राह्मण कैसे हो गये? इसलिए शास्त्रके बहुतसे वाक्योंका विरोध होनेसे 'ब्राह्मण्य' नामकी कोई देवता है. वह

देवता जिनके शरीरमें अभिव्यक्त हो जाती है वे ब्राह्मण होते हैं. इसीलिए तो शापसे शूद्रता और चाण्डालता होती है और अनुग्रहसे ब्राह्मणता हो जाती है. वह ब्राह्मण्य देवता यज्ञोपवीतके द्वारा देहमें आती है. बहुतसे वाक्य तभी सङ्गत होते हैं. इसी तरह क्षत्रियोंमें 'क्षत्र' नामकी देवताके अभिव्यक्त होनेसे क्षत्रिय होता है. इसीलिए परशुरामजीमें ब्राह्मण्य और क्षौत्र दोनोंहीका समावेश था. ब्राह्मण भगवान्का मुख है और क्षत्रिय भुजा है. प्रज्वलित अग्निको पहले भगवान्का मुख बताया है, यहां ब्राह्मणको भगवान्का मुख कहा है. उसका तात्पर्य यह है कि वाणीका प्रकाशन मुखके द्वारा होता है. अतः वाणीके प्रकाशक ब्राह्मणको मुख कहा है. अतः वाग् इन्द्रियका देवता अग्नि है.

इसी तरह भोक्ता इन्द्रादि देवताओंको पहले भगवान्की भुजा बताई है. यहां तो रसकी अधिष्ठात्री देवता वरुण है. रसभोक्तृत्व ब्राह्मण्य देवतामें है और रक्षा कर्तृत्व क्षत्रमें है. वैश्यको भगवान्की जांघें बताया है. वितल-अतलरूप जांघोंको भी वैश्यरूपता है. वितल-अतल स्थितिसाधक देवता हैं. उनकी वृत्ति चार प्रकारकी है अतः बहुवचन है. कृष्णवर्ण शूद्र भगवान्के चरण हैं. 'श्रितकृष्ण वर्ण'का विग्रह 'श्रितःकृष्णवर्णो यम्' इस तरह है. वेदरहित विद्या और कृष्णवर्णमें शूद्रत्व है. कर्म दो प्रकारका है: स्वाभाविक और वैशेषिक. जो अपनेलिए किया जाता है वह स्वार्थकर्म है और जो दूसरोंकेलिए किया जाता है वह वैशेषिककर्म है. उनमें परार्थकर्मका 'गुणप्रवाहः'से वर्णन पहले किया जा चुका है. यहां स्वार्थ-कर्मका निरूपण है. यह कर्म यज्ञोंका विस्तार है. यज्ञ अनेक प्रकारके हैं. उन यज्ञोंका योग जहां है. सत्र अहीन आदिमें भगवत्कर्म आदि प्रकाशित होते हैं. इन यज्ञोंके दो अङ्ग हैं: देवता और द्रव्य. उनमें अनेक नामवाले देवता हैं; उनमें भी प्रधान देवता और गौणदेवता होते हैं. उनसे सम्पन्न होनेवाले यज्ञ तथा द्रव्यात्मक यज्ञ भी व्रीहि, यव, पुरोडाश आदि हैं. देवताके उद्देशसे द्रव्यत्यागको 'यज्ञ' कहते हैं. इसलिए देवता और द्रव्य यज्ञका अङ्ग हैं।।२९-३७।।

आभासार्थ: इस तरह सभी पदार्थ भगवद्रूप हैं; इसकेलिए उद्देश-प्रकारसे भगवान्के शरीरमें उनका समावेश कहकर अब उपसंहार करते हैं:

इयान् असावीश्वर-विग्रहस्य यः सन्निवेशः कथितो मया ते।
सन्धार्यतेऽस्मिन् वपुषि स्थविष्ठे मनः स्वबुद्ध्या न यतोऽस्ति किञ्चित्।।३८।

श्लोकार्थ: इस तरह यह भगवान्के विग्रह(शरीर)का इतना विस्तार मैने

तुम्हें कहा. इस स्थिर भगवान्के शरीरमें मनकी धारणा की जाती है. मनके साथ बुद्धिसे भी धारणा करें; इससे अधिक और करनेका कुछ नहीं है।।३८।।

व्याख्यार्थ: विराट् देहके अवयवोंका सन्निवेश प्रकार इतना ही है. इससे अधिक विन्यास नहीं है. 'असौ'का अर्थ है कि ये ही विन्यास है; अन्य विन्यास नहीं हैं. अथवा प्रकृतरूप विन्यास इतना है. आनन्दमयका विन्यास तो अन्य है; वह आगे कहा जायेगा. यहां पदार्थोंके विनिवेशके नामोंका ही प्रकरण है इसलिए हमने उन्हींका विवरण(व्याख्या) नहीं कहा. आगे विमर्श प्रकरणमें विवरण किया जायेगा. इस प्रकारके विनिवेशके कहनेका प्रयोजन 'सन्धार्यते' पदसे कहा गया है. इसी भगवान्के अङ्गमें सब योगी अपने मनकी धारणा करते हैं. योगकी अङ्गरूप धारणाका विषय यह ही रूप है. 'स्थविष्ठ' इसका अर्थ पूर्ववत् समझना. देहका पर्यायवाची यहां 'वपु' शब्द रखा है; उसका अर्थ है(वं सुखं पुष्णाति) जो सुखका पोषण(वृद्धि) करता है. तुल्यार्थ होनेसे इसका अर्थ भी वहीं विमर्शाध्यायमें कहा है. यदि भगवान्में मनको लगाते समय पदार्थोंमें आत्मबुद्धि नहीं रखी जायेगी तो सर्वप्रवेश नहीं होगा और परम भक्ति तथा आकांक्षाका अभाव भी नहीं होगा. सायुज्य फल और सब पदार्थोंका यथार्थ भोग एवं चण्डिकादि धारणाका अतिक्रम भी न होगा. विराट् प्रभु ही जब धारणाका विषय हो जाता है तब धारणा कहां करनी चाहिए, कहां नहीं करनी चाहिए, ये सब सन्देह निवृत्त हो जायेंगे. इस विराट्रूपसे भिन्न और कोई रूप है ही नहीं; यह "**न यतो अस्ति किञ्चित्**"से कहा गया है।। ३८।।

आभासार्थ: राजाने सात प्रश्न किये थे उनमें दो प्रश्नोंका उत्तर तो शुकदेवजीने युक्तियुक्त दे दिया. अब जो साधारण पांच प्रश्न रहे उनमें जो कर्तव्य है; उनका अनुप्रवेश श्रोतव्य और स्मर्तव्य में ही हो जाता है और जपका समावेश नामानुकीर्तनमें हो जाता है. इस तरह कर्तव्यके अन्दर ही कर्तव्यका प्रवेश हो जानेसे और वैकल्पिक पक्ष होनेसे अन्योंका भजनीय पक्ष बाकी रहता है; उसे यहां बताते हैं:

स सर्वधी–वृत्त्यनुभूत–सर्व आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षितैकः।
तं सत्यम् आनन्दनिधिं भजेत नान्यत्र सज्जेद् यत आत्मपातः।।३९।।

श्लोकार्थ: जिस तरह स्वप्नमें देखे गये पुरुषोंका देखनेवाला आत्मा एक है; उसी तरह सबकी बुद्धिवृत्ति द्वारा सबका भोग करनेवाला एक है. उस

सत्वस्वरूप आनन्दनिधि भगवान्का भजन करना चाहिए. अन्यत्र आसक्ति रखनेपर उसकी आत्माका पतन हो जाता है।। ३९।।

व्याख्यार्थ: जिसको यहां धारणाका विषय कहा और 'सर्वात्म' पदसे जिसे श्रोतव्यके योग्य निरूपित किया और जिसके विवरण केलिए इस ब्रह्माण्डके सन्निवेशका निरूपण किया वह ही श्रवणादिके द्वारा भजनीय है. श्रवण आदिके द्वारा भगवान्के सन्निधानमें जाकर अथवा भगवत्सायुज्य प्राप्त कर साक्षात् उन्हींका भजन करे. स्वर्गादि अन्य फलमें या अन्य साधनमें आसक्ति होनेपर स्वस्थानसे भी पतित हो जाता है. अर्थात् जिस अवस्थामें है उस स्थितिसे भी पतित हो जाता है. इससे भगवत्प्रेम प्राप्तिके पूर्व भगवान्को फल मानकर उनका भजन करता है. फिर भगवान्में आसक्ति होनेपर भगवत्फलकी भी आकांक्षा न रखे. यदि यह शंका हो कि फलरूप भगवान् है अथवा भजनीय भगवान् है; यह कैसे हो सकता है; इसकेलिए कहा है वह आनन्दनिधि है.

भजनीय फल ही है क्योंकि साधन पुरुषका अङ्ग है. पुरुषके अनुभवका विषय होनेसे अथवा अनुभवरूप होनेसे यद्यपि फल भी पुरुषका अङ्ग है; तथापि वह रसरूप है इसलिए रस प्रधानतासे ही भोगमें रसिकता होती है. इसलिए फल सेव्य है और वह फल है परमानन्द. परंतु वह भी गणनासे प्राप्त ब्रह्ममें स्थित परिमित होनेसे नहीं लिया जाता है; किन्तु आनंदनिधि ही लिया जाता है. 'आनन्दनिधिः'का अर्थ है आनन्दकी निरन्तर रूपसे जिसमें स्थिति हो वह अर्थात् पूर्णानन्द भगवान्. वह ही सेव्य हैं. वह आनन्दनिधि आनन्दका पोषक है, ऐसा पहले कहा गया था इसलिए कदाचित् उसका(आनन्दका) तिरोभाव होगा ऐसी आशंका न हो इसलिए 'सत्यं' ऐसा कहा है. अर्थात् उसमें आनन्दका तिरोभाव कभी होता ही नहीं है. वह सदा आनन्दसे पूर्ण ही रहता है.

''**उद्यतस्य हि कामस्य प्रतिवादो न शक्यते**'' जब कामका उदय हो जाता है तो उसका प्रतिवाद अशक्य हो जाता है ऐसा न्याय है. इसलिए यदि अन्यफलकी ओर चित्त चला जाये तो क्या करना उस केलिए कहते हैं कि 'सर्वधीवृत्यनुभूत-सर्व'. सब जीवोंकी जितनी भी बुद्धिकी वृत्तियां है उनसे, सब ज्ञानजनक इन्द्रियोंकी वृत्तियोंसे सारा अनुभव वह भगवान् ही करता है. जो भी कोई फल है; वह जिस किसी इन्द्रियसे उपभोग्य है उसका उस-उस इन्द्रिय द्वारा उपभोग यह (भगवान्) ही करता है. अतः जिस तरह विराट् स्वरूपसे अलग अन्य कोई नहीं

है; उसी तरह फल भी किसी अतिरिक्तसे भोग्य नहीं है. अर्थात् इस विराट्से अनुपभोग्य फल कोई है ही नहीं.

यदि कहो कि यह भोक्ता कैसे है क्योंकि भोगनेवाले तो उन-उनके अधिष्ठाता विद्यमान हैं; उसपर कहते हैं कि 'आत्मा यथा'. उन-उन इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवता दिशा आदि विद्यमान रहते हैं परंतु फिर भी उनका अनुभव जैसे आत्मा करता है उसी तरह भगवान् भी, एकदेशाभिमानी उस अनुभव करनेवाले आत्माकी कोई परवाह न करके, उस आत्माके द्वारा अधिष्ठित इन्द्रियोंसे ही सबका अनुभव करता है.

यदि कहो कि इन्द्रियोंके अधिष्ठाता आत्मा प्रत्यक्षरूपसे प्रतीत नहीं है इसलिए स्वयं इन्द्रियां ही विषयोंको आत्मीयरूपसे ग्रहण करती है; उस अप्रतीत आत्माको ''यह सब मेरे द्वारा गृहीत है'' ऐसा अनुभव भले ही हो; परंतु भगवान् तो समष्टिरूप हैं. उनका व्यष्टिरूप आत्माओंमें, देहमें स्थित कीडोंकी तरह, प्रतीतिका अभाव होनेसे आत्मीयताका भी अभाव होगा. इसलिए उन इन्द्रियोंकी सर्वधीवृत्तियोंसे उनका भगवान् अनुभव कैसे कर सकते हैं?

इसके समाधान केलिए कहते हैं 'स्वप्नजनेक्षितैकः'. स्वप्नजनोंका देखनेवाला जैसे एक ही है. स्वप्न यद्यपि मायिक है परंतु उस स्वप्नका ज्ञान मायिक नहीं है. क्योंकि वह ज्ञान आत्मरूप है. उस स्वप्नमें देखे गए पुरुष सब देखते हैं ऐसी प्रतीति भी है. उसमें पुरुष देहोंका मायिकत्व न्यायसिद्ध है तथापि उनमें रहनेवाली जो प्रतीति है वह मायिक नहीं है. वहां अन्यचैतन्यका अभाव होनेसे भगवान्की अथवा जीवकी चेतनता होती है. उस स्वप्नका द्रष्टा जीव तो हो नहीं सकता, क्योंकि जिन इन्द्रियोंके द्वारा वह(जीव) देखता है वे इन्द्रियां तो स्वप्नमें है नहीं. तब जीवका वह देखना मिथ्या है. तब उसका देखनेवाला भगवान् है; इस युक्तिसे यह निश्चित होता है. नींदके कारण वह भेद ज्ञात नहीं होता. इस स्वप्नके दृष्टांतसे ही और जगह भी भगवान् देखता है ऐसा निश्चय होता है. इससे देहोंमें जीव हो या जीव न हो भगवान् ही द्रष्टा है ऐसा निश्चय होता है. उस भगवान्के देखने आदिमें हमारी इन्द्रियोंकी आवश्यकता नहीं है. इन्द्रियोंके देवता ही भगवान्के इन्द्रिय गोलक हैं(इन्द्रियां हैं). विषय ही इन्द्रियां हैं. विषयोंमें हमारी इन्द्रियोंका लय हो जाता है. कारणमें लय होता है; इस पक्षमें भी उनमें विषयकी सत्ता रहती है. जब तक कारणका लय नहीं होता तब तक कारणमें लीन इन्द्रियोंका प्रकाश सम्भव

रहता है और यदि लयका अङ्गीकार किया जाए तो गौरव होगा. इसलिए इन्द्रियोंका लय विषयमें ही स्वीकार करना होगा. अन्यथा निद्रा तो उसमें व्यवधान करनेवाली नहीं है. तो फिर उसका उद्‌बोध कैसे किया जायेगा? अहङ्कार तो आत्माध्यासरूप है इसलिए इन्द्रियोंकी तरह लीन होता है. इन्द्रियोंका कारणभूत होकर लीन नहीं होता. वैसा होनेपर तो पुनः सृष्टिका अभाव होनेसे उसकी उत्पत्ति नहीं होगी. इसलिए विषयमें लीन इन्द्रियां भगवान्‌की इन्द्रियोंमें लीन हो जाती हैं. इसलिए स्वप्नके देखनेवालेका जब विचार किया जाता है उसमें जैसे यह विराट् सबको व्याप्त करके सबकी आत्मा होकर सबको देखता है; यह निश्चय है उसी तरह जागरण अवस्थामें भी उन-उन विषयोंमें प्रविष्ट इन्द्रियां भगवान्‌की इन्द्रियोंमें प्रविष्ट होनेसे भगवान्‌केलिए वे ज्ञानका साधन करनेवाली हो जाती हैं. यदि ऐसा न हो तो भगवान्‌की इन्द्रियोंसे अलग विषय ही नहीं है तो फिर वे इन्द्रियां किसका ग्रहण करेंगी. वहां इन्द्रियोंमें सम्बन्ध आत्माका ग्रहण करते हुए भी वेद्य(जानने योग्य)की आकांक्षा रहती है. आत्मा तो वेद्य है नहीं; इसलिए परेन्द्रिय (ईश्वरेन्द्रिय)केलिए आत्माकी इन्द्रियां वेद्य हो सकती हैं. इसलिए उसको हमारी इन्द्रियोंकी अपेक्षा है और वह विराट् सर्वत्र एक ही है. भेदक(विशेषण)में प्रमाणका अभाव है; अतः स्वप्नके दृष्टान्तसे जितने भी व्यावर्तक(विशेषण) हैं वे अव्यावर्तक हो जाते हैं. इस दृष्टान्तसे ही उस भगवान्‌में सर्व भोगोंकी सिद्धि हो जाती है; अतः उसकेलिए अन्य किसी यत्नसे भोगकी सिद्धि न करें. ऐसा करनेसे पतनकी सम्भावना होती है. देहमें स्थित कीडोंका जो दृष्टांत दिया था, उसमें तो देह कीटोंमें सर्वात्मभावका तिरोभाव है; इससे अथवा जीव होनेसे उनमें स्फूर्तिका अभाव है. अतः अब यहां किसी प्रकारकी कोई शंका नहीं है।। ३९।।

श्रीभागवत महापुराणके द्‌वितीय स्कन्धकी महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी विवृतिका पहला अध्याय सम्पूर्ण.

अध्याय २

प्रथम साधन: तत्त्वध्यान(वस्तुनिर्धार)

भगवान्‌के स्थूल और सूक्ष्मरूपों की धारणा तथा क्रममुक्ति और सद्योमुक्ति का वर्णन

मानमेयविनिर्धारः तत्त्वार्थं विनिरूपितः।
फलसाधननिर्द्धारो द्‌वितीये विनिरूप्यते।।का.१।।
द्‌विविधस्तत्त्वनिर्देशो बाह्याभ्यन्तरभेदतः।
बाह्यो निरूपितस्तत्र मानमेयपुरस्सरम्।।का.२।।
आन्तरं भिन्नमार्गेण फलसाधनबोधतः।
अतः साधननिर्धारः प्रथमं क्रियते स्फुटः।
पश्चात् फलस्य निर्द्धारः ततस्तत्त्वं फलिष्यति।।का.३।।

कारिकार्थ: प्रमाण और प्रमेय के द्‌वारा वस्तुतत्त्वोंका निर्धार प्रथम अध्यायमें किया गया. अब फल और साधन के द्‌वारा वस्तुतत्त्वोंका निर्धार द्‌वितीय अध्यायमें किया जा रहा है. बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे वस्तुओंके तत्त्वोंका निरूपण दो प्रकारका है. बाह्य तत्त्वका निरूपण तो प्रमाण और प्रमेय के द्‌वारा प्रथम अध्यायमें किया जा चुका है. अब आन्तर तत्त्वका निरूपण फल और साधन ज्ञानके द्‌वारा भिन्न मार्गसे किया जायेगा. अतः प्रथम स्पष्ट रूपसे साधनका निर्धार किया जाता है. तदनन्तर फलका निर्धार होगा जिससे वस्तुतत्त्वका ज्ञान हो जायेगा।। का.१–३।।

आभासार्थ: इस तरह प्रथम अध्यायमें सब वस्तुओंके तत्त्वका निर्धार प्रमाण और प्रमेय के द्‌वारा हो चुका है. भिन्न रूपसे प्रतीत होनेवाली वस्तुओंका भी प्रवेश भगवान्‌में ही है. सबके अन्तःकरणमें स्थित होनेसे सबके द्रष्टा भी भगवान् हैं इसलिए भगवान् ही साधन हैं और भगवान् ही फल हैं ऐसा कहा. तथापि बाह्य होनेसे साधन और फल के तत्त्वका निर्धार नहीं हो सका. अब इस अध्यायमें भगवद्रूप वस्तुओंकी साधनता और फलता किस रूपसे है इसका विचार किया जाता है. उनमें त्यागका विषय होनेसे देहादिमें या ब्रह्माण्डमें साधनता है और अक्षररूप अवान्तर फलसे फलता है. इसलिए सर्व परित्यागसे जीवरूपकी

साधनताका और ब्रह्मस्वरूपकी फलताका निर्धारण हो जायेगा. उनमें पूर्वोक्त फल अथवा साधनका प्रकृतमें उपयोग कहनेकेलिए वैराग्यके अङ्गरूपसे उसका उपयोग कहते हैं:

श्रीशुक उवाच

एवं पुरा धारणयात्मयोनिः नष्टां स्मृतिं प्रत्यवरुद्ध्य तुष्टात् ।
तथा ससर्जेदम् अमोघदृष्टिः यथाप्ययात् प्राग् व्यवसायबुद्धिः।।१।।

श्लोकार्थ: श्रीशुकदेवजी बोले, सृष्टिके पूर्व इस तरह ब्रह्मधारणाकेद्वारा प्रसन्न हुए परब्रह्मसे नष्ट हुई अपनी स्मृतिको प्राप्त कर अमोघ दृष्टि ब्रह्माने इस जगत्की सृष्टि की. वह सृष्टि जगत्के प्रलयके पूर्व जैसी थी वैसी ही की और ब्रह्माजी पहलेकी तरह ही निश्चित बुद्धिवाले रहे।।१।।

व्याख्यार्थ: यहां किसी व्याख्याकारने 'धारणा'का फल सामर्थ्य किया है किन्तु सामर्थ्य तो ब्रह्मामें स्वतः सिद्ध थी. उसकेलिए धारणाको साधन माननेकी आवश्यकता नहीं है. यहां जब 'नष्टां स्मृतिं प्रत्यवरुद्ध्य' ऐसा कहा है तो धारणाका फल नष्ट हुई स्मृतिको पुनः प्राप्त करना ही है. 'नष्ट' पदसे यह सूचित होता है कि ब्रह्माकी स्मृति सर्वथा नष्ट हो गई थी उसे प्रसन्न हुए भगवान्से सम्पादित की, इसलिए स्मृतिके प्राप्त करनेमें प्रसन्नता ही हेतु है. प्रसन्नता सामर्थ्यका हेतु नहीं है. सामर्थ्य तो ब्रह्माजीमें स्वतः सिद्ध है. यहां तो पहले जिसे भूल गए थे उसकी याद दिलानेमें ही प्रसन्नताको हेतु बताया है इसलिए वह दृढ वैराग्यका हेतु है अथवा भगवत्तोष सभीका हेतु है यह पहले कहा जा चुका है. उसीको यां कहा जा रहा है. 'पुरा'का अर्थ है दैनन्दिन प्रलयके अनन्तर. इस तरह धारणासे पूर्वकल्पमें जो स्मृति थी तथा पदार्थनिर्माणका जो ज्ञान था, उसे प्राप्त कर पुनः सृष्टि की; इस तरह सम्बन्ध समझना. 'तुष्टात्'में हेतुमें पञ्चमी है. प्रसन्न हुए भगवान्केद्वारा अथवा भगवद्हेतुक जैसे पहले सृष्टिकी थी उसी तरह सृष्टिकी. भगवान्की प्रसन्नतामें पहलेका ज्ञान ही कारण है. जैसे कोई पिता किसी पदार्थको छिपाकर बच्चेको भुलावेमें डालकर उसकी परीक्षा लेता है और वह बच्चा यदि उस पदार्थको उपायसे जान लेता है तब वह पदार्थको छिपानेवाला पिता प्रसन्न होता है. उसी तरह ब्रह्मा भी सृष्टिके पहले भगवान्के निकटमें थे; पश्चात् पृथ्वीके भोगोंको भोगनेकेलिए आए तो सृष्टि करना भूल गये थे तब उपाय(धारणा)केद्वारा उसकी याद आ गई तो भगवान्ने प्रसन्न होकर ब्रह्माको

अपना सखा बना दिया.

मुख्य साधन तो पूर्वोक्त धारणा ही है. प्रसन्नताको जब साधन मानते हैं तो इस पक्षमें भी भगवान्‌के प्रसन्न हो जानेपर कोई अलभ्य नहीं रहता, ''तुष्टे तु तत्र किम् अलभ्यम्'' इस न्यायसे. और सब सुगम हो जायेगा इसलिए प्रसन्न करनेकेलिए साधन अवश्य करना चाहिए. सृष्टि करनेकी सामर्थ्य इसमें प्रयोजक नहीं है. वह तो और भी अधिकारी होनेसे इसमें रुकावट डालनेवाला है. 'आत्मयोनिका' अर्थ है ब्रह्मा. 'नष्ट' अर्थात् भूली हुई. 'स्मृति' पदार्थ ज्ञान. सृष्टि तो अनादि है. इसलिए पहले भी पदार्थज्ञान स्मरणसे ही हुआ था. इसलिए यहां संसारनाश नहीं कहा. प्रसन्न हुए भगवान्‌केद्वारा यह सारा ही विश्व भगवान्‌में लीन होकर स्थित था. पुनः उसी तरह सृष्टि की जैसी प्रलयके पहले थी. अर्थात् पहले जिस तरहकी यह सृष्टि थी अथवा जिस तरहकी व्यवसायात्मिका बुद्धि थी उसी तरह वैसी सृष्टिकी।। १।।

आभासार्थः अब ऐहिक तथा पारलौकिक फल भोगके वैराग्य तथा सर्वविषयके त्यागकेलिए अन्य साधन कहते हैं:

शाब्दस्य हि ब्रह्मण एष पन्था यद् नामभिर्ध्यायति धीरपार्थैः।
परिभ्रमंस्तत्र न विन्दतेऽर्थान् मायामये वासनया शयानः।।२।।
अतः कविर्नाममु यावद् अर्थः स्याद् अप्रमत्तो व्यवसायबुद्धिः।
सिद्धेऽन्यथार्थे न यतेत तत्–तत् परिश्रमं तत्र समीक्षमाणः।।३।।

श्लोकार्थः शब्दब्रह्म वेदका मोहक ऐसा मार्ग है कि दो अर्थोंवाले नामोंसे साधक कुछका कुछ ध्यान करने लग जाता है. जिससे वास्तविक पदार्थोंको न समझकर भ्रममें पड जाता है और वह वासनाके कारण मायामय संसारमें सो जाता है; भ्रममें ही पडा रहता है. इसलिए समझदार उन द्व्यर्थक नामोंमेंसे अपने वास्तविक अर्थको निकालनेमें सावधान और निश्चित बुद्धिवाला रहे. जब वास्तविक अर्थ समझमें आ जाए; तो फिर अन्य अर्थको निकालनेकेलिए व्यर्थका परिश्रम न करें।।२–३।।

व्याख्यार्थः रूप–रसादि सभी विषय त्याग करने योग्य हैं. यद्यपि उत्तमाधिकारियों केलिए लौकिक विषय बाधा नहीं पहुंचा सकते परंतु परित्यागमें वैदिक विषय बाधक होंगे. जैसे ''स्वर्गकी कामनावाले, प्रजा कामनावाले, पशुकी कामनावाले को जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र करना चाहिए''. ''**यावज्जीवम्**

अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः प्रजाकामः पशुकामश्च'' इस विधिका परोक्ष अर्थ न समझकर जब तक जीता रहे तब तक अग्निहोत्रको नित्याङ्ग समझकर या प्रजा कामना आदिको नित्याङ्ग मानकर अनुष्ठान करता रहेगा, तो उसके लिए वैराग्य अकर्तव्य हो जायेगा. यदि कर्तव्य होगा तो भी कामना त्याग रूपसे ही होगा. अथवा होमसे अतिरिक्त समयमें कर्तव्य होगा. अथवा ''**यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्**''में प्रव्रजन(सन्यास)का यह अर्थ है कि अपने आत्मामें अग्निका समारोपण करके सन्यास ले लें और अग्निहोत्र भी करता रहे. अथवा विद्वत् सन्यासका यह वचन है. इनमें पहला तो ''**प्राणाग्निहोत्रोपनिषदुक्त–प्राणाग्निहोत्र**'' इत्यादिसे कहा है, और दूसरा नवम स्कन्धमें ''**विरक्तो न्यासम् आस्थितः सदैवाग्निभिरात्मानं युयोज परमात्मनि**'' इस सौभर्युपाख्यानमें कहा गया है कि जरामर्याग्निहोत्र करें. तीसरा है ''**अम्भस्यपारे**'' इत्यादि तैत्तिरीय बृहन्नारायण उपनिषद्की समाप्तिमें ''**तस्यैवं विदुषः**'' इस अनुवाकमें कथित है. ये सब प्रमाणसिद्ध है फिर भी जो प्रव्राजकेलिए अन्धपङ्गवाद्यधिकार स्वीकार करते हैं उनकेलिए कहा जाता है कि सभी पदार्थ श्रुतिमूलक हैं. इसलिए श्रुति विरोधसे पदार्थोंकी कल्पना अनुचित है. इसलिए जिस तरह पदार्थ कहे गए हैं उसी तरह वे पदार्थ फलमें और साधनमें जानने चाहिए.

अतः वैराग्य और पूर्वोक्त प्रकारसे शास्त्रार्थका निर्धार सम्भव नहीं हो सकता ऐसी आशंका करके सम्पूर्ण वेदके अर्थको कहते हैं. जिस तरह परब्रह्म भगवान् अर्थरूप हैं; उसी तरह वेद भी शब्दराशिभूत ब्रह्म है; जलराशिकी तरह. जिस तरह ब्रह्ममें सर्वत्र आनंद पूर्ण है उसी तरह शब्दब्रह्म(वेद)में भी फल(आनन्द) कहा जाता है क्योंकि शब्दब्रह्म भी ब्रह्म ही है. वेदमें शब्दका ही प्रकृष्ट स्थान है; अतएव वह शब्द मात्र है. अर्थ तो परब्रह्मरूप है. इसलिए फल परब्रह्मरूप है. अन्यथा वाक्योंका साध्यार्थत्व अङ्गीकार करके फलको पुरुषका अङ्ग माननेपर एक ही कर्ममें साधनके अनुसार धर्म–धर्मीके भेदसे क्रियाभेदसे कहे जानेवाले फल अप्रमाण होंगे अर्थात् वाक्योंमें अप्रामाणिकता होगी अथवा कर्मान्तरार्थकता होगी. उसको उदाहरणसे बताते हैं; ''**स्वर्गाय वा एतानि लोकाय हूयन्ते**'' ऐसा उपक्रम करके दाक्षिणहोममें नैमित्तिक चार आहुतिमें दाक्षिणा संस्काररूपसे किये जानेवाले गार्हपत्य होममें दो आहुति हैं. आग्नीध्र उत्तर वेदी पर एक–एक आहुति हैं. उनमें प्रत्येक कर्ममें संख्या आदिका माहात्म्य भी वेदमें

बताया है, 'जो यजमान गार्हपत्य हवनमें दो आहुति देता है वह प्रतिष्ठित होता है', ''**द्वाभ्यां गार्हपत्ये जुहोति द्विपाद् यजमानः प्रतिष्ठायै**''. यदि इन दो आहुतियोंमें ही यजमान प्रतिष्ठा लाभ करता है तो अन्य आहुति निरर्थक होंगी अथवा विरोध होनेसे अप्रामाणिक होंगी. एक ही कर्म होनेसे विकल्प भी नहीं हो सकता. और भी, ''आग्नीध्रमें हवन करता है वह अन्तरिक्षका आक्रमण करता है''. ''**आग्नीध्रे जुहोति अन्तरिक्षएव आक्रमते**'' यहां आग्नीध्र होममात्रसे ही जब अन्तरिक्ष (आकाश) में आक्रमणका सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है; तब तो श्रुति प्रमाण मानी जायेगी, परंतु प्रत्यक्षमें वैसा होता नहीं. इसलिए इस श्रुतिको प्रमाण नहीं माना जायेगा. इसी तरह ''**आहवनीये जुहोति स्वर्गमेव एनं लोकं गमयति**'' आहवनीय अग्निमें हवन करने पर वह यजमानको स्वर्गलोकको ले जाती है. इस श्रुतिमें यजमानकेलिए उसी समय स्वर्ग प्राप्ति कही है; वह स्वर्गप्राप्ति(मृत्युरूप) तो अनिष्ट रूप है; इसलिए ऐसे यज्ञको कौन करेगा. और भी दो आहुतियोंसे यजमानकी यहां प्रतिष्ठा कहकर फिर ''**सौरीभ्यां मृगभ्यां गार्हपत्ये जुहोति अमुमेव एनं लोकं समारोहयति**'' इन होम साधन दो ऋचाओंसे सूर्यके समान प्रकाशित होता है. इस धर्मसे स्वर्गाक्रमण लक्षण फल कहा. वह संख्या फलसे विरुद्ध है. इस तरह कर्मोंकी अनेक फलता तथा अन्योन्य विरुद्ध फलता एवं बाधित फलताको बतानेवाला वेद अप्रमाण हो जायेगा. अतः वेदमें अप्रामाणिकता न आवे इसकेलिए उसका कुछ तात्पर्य अवश्य बताना चाहिए. जिससे शब्दार्थमें कोई बाधा न हो वैसा उसका तात्पर्य कहना चाहिए. अर्थात् यदि वेदकी ऋचाओंमें परस्पर विरोध होता हो या प्रत्यक्ष विरोध दिखाई देता हो; फिर शब्द और अर्थमें बाधा हो जायेगी तो तात्पर्यका निश्चय न हो सकेगा.

इसलिए दोनों ही प्रकारके दोष जिस तरह न हो उस तरह उस वेदके शब्दार्थोंका वर्णन करना चाहिए. वह वर्णन किस तरह किया जाये ऐसी आकांक्षा होनेपर वेदके सिद्धार्थत्वका अनुसंधान करके और फलका ब्रह्मगतत्व अनुसन्धान कर वर्णन करना चाहिए. उसका प्रकार इस तरह है ''**यज्ञो वै विष्णुः**'' यज्ञ विष्णु है इस श्रुतिसे यज्ञरूप क्रियामें प्रविष्ट सोलह ऋत्विज और यजमानात्मक यज्ञ भगवद्रूप है और सर्वलोकान्तःपाती भगवद्रूपकी लीलाका ही सर्वत्र वर्णन है. क्योंकि वह भगवान् एक ही जगह सब रसोंके विद्यमान होनेसे सर्वत्र सर्वपूर्ण होते हुए भी जैसे जहां जिस भोगसे लीला की; वेद उसका उसी तरह वर्णन करता है;

ऐसा निश्चय होता है. अतः काण्डद्वयात्मक वेदमें इसी विराट्रूप भगवान्का जिसका एक नाम 'यज्ञ' भी है; उस(यज्ञ)का प्रतिपादन किया जाता है. जिसे हमने स्थूल धारणा कही; वेदने भी उसीको कहा इसलिए शब्दब्रह्म वेदका और हमारा(भागवतका) एक ही मार्ग है. किन्तु वाक्यके अर्थका ज्ञान न होनेसे लोग भ्रममें पड जाते हैं. क्योंकि यज्ञादिके प्रकरणमें स्थित नामोंसे, जिनका वाक्यार्थसे कोई सम्बन्ध ही नहीं है; उनसे पदार्थका निश्चय करके उनकी खण्डशः साधनताको जानकर उन-उनकी इच्छा करता है और इच्छाके अनुसार ही ध्यान करता है. वाक्यार्थ बोधनमें पदोंकी बोधकता नहीं है और पदार्थोंके बोधनमें भी बोधकता नहीं है. एकसाथ दो वृत्तियां नहीं रहती. इसलिए अपने अर्थके बोधनमें वे शब्द असमर्थ हैं फिर भी लोग नामभ्रमसे भ्रमित हो जाते हैं. तब वे अपनी बुद्धिके अनुसार वेदके अर्थको समझकर उस-उस बुद्धिसे भ्रमित होकर अथवा उसकेलिए कर्म करते हुए जिनको फलरूप बताया है; उन्हें वे प्राप्त नहीं करते. किन्तु वासनाकी दृढतासे उसी अर्थका विचार करते हुए सन्देहमें पड जाते हैं. अर्थात् महामोहमें डूब जाते हैं. इसलिए हमने जैसा कहा और वेदने जैसा कहा; उसमें कोई भेद न होनेसे प्रामाण्यमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं करना चाहिए.

शंका करते हैं कि यदि वेद भिन्न प्रकारसे किसी अर्थका प्रतिपादन करता हो तो तब कोई पुरुषार्थ सिद्ध न होगा. क्योंकि भगवान्की तरह सब कर्म करनेका सामर्थ्य अन्यमें नहीं है. इसलिए ऐसा निर्णय करना उचित नहीं. इस आशंका पर कहते हैं; जहां महावाक्यके उपयोगकेलिए सिद्ध अर्थके अनुवादक रूपसे अवान्तर फलोंका अनुवाद करती है; वे फल लोकसिद्ध होनेसे युक्तियुक्त हैं और उस प्रकारके फलोंकेलिए साधन करना चाहिए. जैसे 'तुम मरु भूमिमें प्याऊ'. ''**धन्वन्निव प्रपा असि**'' यहां अग्निकी स्तुतिवाक्यमें अग्नि किस तरह अत्यन्त प्रिय है इसकेलिए लोकसिद्ध प्रपा-प्याउको दृष्टान्त बनाया है. उसी तरह ''वृष्टिकी कामनावाला कारीरी याग करे''. ''**कारीर्या वृष्टिकामो यजेत्**'' इस तरह ''आभिचारिक क्रियाकेलिए श्येनयाग करे''. ''**श्येनेन अभिचरन् यजेत**'' ये फल प्रत्यक्ष संवादी है और इनका प्रतिपादन भगवल्लीलाकेलिए ही है और ये मुक्तिरूप महावाक्यार्थके उपयोगी हैं. श्रुतिके तात्पर्यको लोकदृष्टान्तरूपसे जाननेमें निपुण होकर साधन सहित जिन अनुवाद फलोंमें अपना कार्य सिद्ध होता है; उतना ही उसका तात्पर्य समझें.

''**शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः**'' इससे शम-दम आदिका उपक्रम करके आत्मामें ही अपनी आत्माको देखे. ''**आत्मन्येव आत्मानं पश्येत्**'' ''वह भगवान् (आत्मा) यह सारा जगत् है''. ''**स भूत् स भव्यम्**'' ऐसा कहकर ''**ज्ञात्वा तमेवं मनसा हृदा च भूयो न मृत्युम् उपयाति विद्वान्**'' ''जो समझदार इस तरह उस भगवान्को मन और हृदयसे जान लेता है वह मुक्त हो जाता है''. और भी ''**अम्भस्यपारे**'' ऐसा उपक्रम करके 'जो इसको जानते हैं वे मुक्त हो जाते हैं'. ''**य एनं विदुः अमृतास्ते भवन्ति**'' इसलिए जैसे जिसका जहां अधिकार होता है; उसको वैसा ही होना चाहिए. परंतु उसमें भी सावधानी आवश्यक है. केवल इस तरहके ज्ञानमात्रसे ही और अग्रिम कृतिमें निरपेक्ष होनेसे कार्यकी सिद्धि नहीं होती.

शंका करते हैं कि सदा सावधान रहनेवालेकेलिए, भी जैसे गेहूंकी ढेरीमें पडे हुए यव(जौ)का निकालना अप्रमत्तके लिए भी, यदि नेत्रकी ज्योति अत्यन्त तेज न हो और प्रकाश भी न हो तो, कठिन हो जाता है. इस आशंका पर कहते हैं कि उसे व्यवसाय बुद्धि होना चाहिए. अत्यन्त विचारके साथ सम्पूर्ण शास्त्रका पूर्ण ज्ञान करके अपने स्वार्थकी बातका निश्चय करके उसकेलिए साधन करनेमें दृढ हो जाए. उसमें क्या करना चाहिए इस आकांक्षाकेलिए सबसे पहले तो लोक प्राप्त देहादि निर्वाहके कार्य नहीं करना चाहिए. क्योंकि देहनिर्वाह तो समयानुसार अथवा भगवान्से हो जायेगा अथवा देह निर्वाह स्वभावसे, कर्मसे अथवा लोगोंसे अपने आप हो जायेगा. अतः उसकेलिए प्रयत्न न करे, क्योंकि अपना प्रयत्न तो परिमित है और उस परिमित प्रयत्नको भगवान्ने हममें भगवान्की सेवाकेलिए स्थापित किया है. इसलिए उस प्रयत्नका विनियोग अन्यत्र नहीं होना चाहिए. केवल इतनी ही बात नहीं है कि देहादिका निर्वाह तो अन्य प्रकारसे ही सिद्ध है किन्तु देहादिके निर्वाहकेलिए यदि प्रयत्न करता है तो शैय्या, वस्त्र आदि एक-एक वस्तुकेलिए देह-इन्द्रिय-बुद्धि आदिको कितना परिश्रम करना पडता है; इसका विचार कर देहादिके निर्वाहार्थ प्रयत्न न करे ऐसा यहां संबंध है।।२-३।।

आभसार्थ: देह निर्वाह तो बिना ही प्रयत्नके सिद्ध है; यदि उसके निर्वाहकेलिए प्रयत्न किया जाता है तो बहुत क्लेश होता है; इसे समझाते हैं:

सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैः बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम्।
सत्यञ्जलौ किं पुरुधान्नपात्र्या दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः।।४।।
चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां

नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन्।
रुद्धा गुहाः किम् अजितोऽवति नोपपन्नान्
कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्।।५।।

श्लोकार्थः जब अपने ही आप सोनेके लिए पृथ्वी मिल रही है तो पलंग आदिकेलिए प्रयत्न क्यों किया जाये. अपना ही बाहु जब अपने पास है; तो तकियेकेलिए प्रयास क्यों किया जाये. जब हाथकी अंजली है तो फिर अनेक प्रकारकी भोजनथालियोंकेलिए प्रयत्न किस लिए? दिशा और वृक्षोंकी छाल जब विद्यमान है तो फिर वस्त्रोंकेलिए प्रयत्न किसलिए किया जाय. फटे चिथडे क्या रास्तेमें पडे हुए नहीं मिलते हैं; उनको पहिन ले. क्या वृक्ष हमें फल आदिकी भिक्षा नहीं देते हैं? पानी पीना है तो नदियोंसे पी ले; नदियां सूख तो नहीं गई हैं. रहना है तो गुफाओंमें रह जायें, क्या गुफाएं किसीने बन्द कर दी हैं. अति समर्थ किसीसे भी पराजित न होनेवाला भगवान् जब रक्षा कर रहा है तो फिर अन्य रक्षककी क्या आवश्यकता है? इसलिए ज्ञानी भक्तोंको किसलिए धनके दुष्टमदसे अन्धे धनिकोंकी सेवा करनी चाहिए।। ४-५।।

व्याख्यार्थः विस्तृत बिछाई हुई और बालुका(रेती) आदिसे कोमल भूमि बिना किसी क्लेशके मिल जाती है तो फिर पलंग और उसके ऊपर बिछानेकेलिए गद्दे कि जिसमें कपडा, रुई, सिलाई, धुनाई और बिछाना लगे; इतने प्रयासका क्या फल है. साधन और सुख तो पृथ्वी और शय्यामें बराबर है किन्तु शय्याकेलिए दुःखकी अधिकता है. बाहु जब स्वतः सिद्ध है तब(भोजनपात्रोंकी क्या आवश्यकता है?); ऐसा इसलिए कहा कि महापुरुषोंमें इन्द्रियोंकी विकलताकी सम्भावना ही नहीं है. 'उपबर्हणैः' ऐसा बहुवचन इसलिए है कि रुई जिनमें भरी हुई है ऐसे तकिये अनेक हैं. सिरको ऊंचा रखनेकेलिए, दोनों गालोंकेलिए तथा दोनों पैरोंके नीचे रखनेकेलिए. इनका प्रयोजन ही क्या है?

भिन्न वाक्य होनेसे एकवाक्यता तात्पर्यसे हो जायेगी. हाथरूप पात्रमें ही भिक्षा ली जा सकती है तो फिर अनेक प्रकारके ताम्र आदि पात्रोंकी क्या आवश्यकता है. अन्यथा पलंग, तकिये, अन्नपात्र आदिका सम्पादन करनेमें तो प्रयास होगा ही. ऊष्णकालमें दिशा ही वस्त्र हैं और शीतकालमें वृक्षोंकी छाल वस्त्रकी जगह उपयुक्त हो सकती हैं. आदि शब्दसे फटे चिथडे एवं पत्र भी वस्त्रके स्थानमें ग्रहण किये जा सकते हैं तो फिर दुकूल पट्टवस्त्रोंकी क्या आवश्यकता है?

और जो महान् वैरागी हैं; उन्हें मनुष्योंसे क्या प्रयोजन है? उन्हें तो सब लोगोंको भी छोडना चाहिए.

यदि शंका हो कि सर्वत्र सब पदार्थ तो अन्य लोगोंके अधिकारमें है; उनकी प्राप्ति तो साधन करनेसे ही होगी. पृथ्वी भी किसीके अधिकारमें होती है अतः उस पृथ्वीपर उस पृथ्वीके स्वामीकी आज्ञासे या उसके आग्रह पर रहा जा सकता है. देह भी पराधीन है; ''**देहः किम् अन्नदातुः स्वं निषेक्तुर् मातुरेव च, मातुः पितुर्वा बलिनः क्रतुरग्नेः शुनोऽपि वा**'' ('यह शरीर किसकी सम्पत्ति है. अन्न देकर पालनेवालेकी या गर्भाधान करानेवाले पिताकी अथवा माताकी जिसने उसे अपने पेटमें रखा अथवा माताको भी जन्म देनेवाले नानाकी या बलपूर्वक इससे काम करानेवालेकी या जिसने इसे खरीदा है; या अग्नि एवं कुत्तों आदिकी!') वल्कल आदि भी तो साधन करनेपर ही प्राप्त हो सकते हैं. अतः सर्वदा किसीकी भी अपेक्षा न रखें ऐसा कैसे हो सकता है? और यदि यह कहें कि कुछ अपेक्षा रखी जाये तब तो फिर 'यदि डूबता ही है तो पातालमें ही प्रवेश करे', ''मग्नश्चेत् पातालं विशेत्'' इस न्यायसे कुछ अपेक्षा रखनेकी बजाय तो पूर्ण अपेक्षा रखना ही अच्छा है. इस पर कहते हैं, क्या फटे चिथडे रास्तेमें पडे नहीं मिलते; उनके प्राप्त करनेमें तो कहीं जाना भी नहीं पडता.

वृक्ष जो सदा अपने फलों आदिसे दूसरोंका ही पोषण करते हैं; उन फलोंसे उनका कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं होता. वे वृक्ष पके हुए फलोंको स्वतः ही पृथ्वी पर गिरा देते हैं और अधपके फल हिलानेसे नीचे गिर जाते हैं. वे वृक्ष देवतारूप हैं और वैष्णव हैं. भगवान्के जीवोंकेलिए ही भगवान्ने सृष्टिकी है; अतः एक जिस वस्तुका त्याग कर देता है; वह वस्तु दूसरेकी हो जाती है. इसी तरह चीर(फटे कपडे) भी भगवत्संबंधी हैं और मार्ग भी भगवान्के क्योंकि रास्तेसे ही सर्वत्र जाया जाता है. तो क्या वे मार्ग फटे चिथडे नहीं देंगे? अवश्य देंगे. यदि शंका हो कि दान(देना)तो चेतनधर्म है, मार्ग अचेतन हैं; वे कैसे चीर देंगे? ''**सर्वेषाम् अध्वनां पादावेकायनम्**'' इस श्रुतिके अनुसार पाद सम्बन्धसे उनका दान लक्षित होता है. यदि कहो कि '**लक्षणां नैव वक्ष्यामि**' इस प्रतिज्ञाका विरोध होगा तो इसका उत्तर यह है कि लक्षणा परोक्षवादसे अतिरिक्त नहीं करनी चाहिए. यहां तो परोक्षवाद है यह इस श्लोकके चतुर्थ चरणसे स्पष्ट है. इसीलिए ''**नद्योऽशुद्ध्यन् गुहा रुद्धा**'' इनमें विपरीत लक्षणा है. वृक्षोंके पास जानेवालोंको तुरंत ही या कुछ

क्षणके विलम्बसे वृक्ष फल देते हैं; अतः उनमें भी चेतनता है. 'अङ्घ्रिपाः' पदसे ऐसा सूचित होता है कि वे पैरोंसे ही जल पीते हैं; इसलिए उनके हाथ अशुद्ध नहीं हैं. वृक्ष केवल जल ही पीते हैं और कुछ नहीं खाते तथा जल भी पैरोंसे ही पीते हैं. धूपके कारण उनकी शाखायें शुद्ध हैं और भी उनमें ये विशेषता है कि वे वनमें ही रहते हैं, सहिष्णु-सहनशील हैं और उनका जीवन केवल परोपकारके ही लिये है. इसलिए उन्हीं माधुकरी(भिक्षा) करनी चाहिए.

जलकेलिए भी किसी अन्यकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि नदियां सूखी नहीं है. यदि नदियां सूख जायें तो कुए आदिकी आवश्यकता होती हैं. नदियां तो बहुत हैं और बहुत बडी होती हैं; इसे सब जानते हैं.

शीत, वात, धूप, वर्षा इनके निवारणकेलिए भी अन्य किसीकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि गुफाएं रुक नहीं गई हैं. क्योंकि गुफाओंका रुकना कहीं सुना नहीं है. यदि शंका हो कि कदाचित् सबका अभाव हो गुफाओंमें भी बाध आदिका भय हो तो क्या किया जाए? इसका उत्तर 'किमजितोऽवति नोपसन्नान्'से दिया है. जिसको कोई जीत नहीं सकता ऐसे सर्वसमर्थ प्रभु शरणागतकी क्या रक्षा नहीं करेंगे? आग्रहपूर्वक सर्वत्र ऐसा कथन इसलिए किया है कि वैसे अधिकारी भी वैसा नहीं करते हैं.

इस तरह सब कार्योंकी सिद्धि जब अनायास ही सिद्ध हो जाती है तो फिर अधिकारी होते हुए भी धनके मदसे जो अन्धे हैं उनका सेवन क्यों करते हैं? धनके मदसे जो अन्धा होता है वह अपने पास आनेवालेके स्वरूपको पहचान नहीं सकता तो फिर उसके पास जानेसे लाभ ही क्या है?।। ४-५।।

आभासार्थ: इस तरह प्रसंगसे अन्योंको उपदेश देकर और उस तरहके जो निरपेक्ष हैं; उन्हें जो करना चाहिए उसे कहते हैं.

एवं स्वचित्ते स्वतएव सिद्धे आत्मा प्रियोऽर्थो भगवान् अनन्तः।
तं निर्वृतो नियतार्थो भजेत संसारहेतूपरमश्च यत्र ।।६।।

श्लोकार्थ: इस तरह अपने चित्तमें स्वतः ही अपनी आत्मा प्रिय पुरुषार्थ और अनन्त भगवान् जब सिद्ध(विद्यमान) हैं तो फिर आनन्दयुक्त होकर उनका भजन करे. जिससे संसारके कारण अज्ञानका उपराम(समाप्त) हो जाता है।। ६।।

व्याख्यार्थ: भजनीयके उपार्जनमें कोई क्लेश नहीं है उसे कहते हैं. इस तरह सब प्रकारसे किसीकी भी अपेक्षा न रखते हुए जिसे अन्तःकरणकी प्रेरणासे

साधा जाता है; वह अन्तःकरणमें रहता है यह निर्विवाद है. अतएव इस हेतुसे अथवा इस प्रकारसे अपने अधीन चित्तमें बिना ही यत्नके जो सिद्ध है उसे अथवा उसकी सिद्धिकेलिए उसका भजन करे; ऐसा सम्बन्ध समझे. उस प्रकारके भजनीय भगवान्‌के रूपको कहनेकेलिए सब पुरुषार्थोंका कारणभूत वह भगवान् पांच धर्मोवाला है.

उसके पांच धर्म १.आत्मा २.प्रिय ३.अर्थ ४.भगवान् और ५.अनन्त – ये पांचों ही विशेषण परस्पर एक-दूसरेके हेतु भी हैं. आत्मा होनेसे प्रिय है; प्रिय होनेसे अर्थरूप; भगवान् होनेसे अनन्त है. प्राणियोंके सेवामें पांच रूप उपयुक्त हैं. १.अपनी आत्मा २.देह ३.धन ४.ईश्वर ५.नित्यकर्म. वहां भगवान् पांच रूपोंवाला भी है; उसे कहते हैं.

सर्वतः प्रथम तो भगवान् उनकी आत्मा है. वास्तवमें अधिकारीके प्रति तत्त्वरूपसे प्रकाशमान भी है इसलिए वह अवश्य सेव्य है. इस तरह युक्तिसे उसकी सेवा करना कहा. अब रुचिसे भी उसकी सेवा होती है; उसे कहते हैं. 'प्रियः' जिस तरह अपना प्राण अथवा देह प्राणियोंके प्रीतिका विषय होता है; भगवान् भी उसी तरह प्रिय हैं. भगवान्‌को जब आत्मा कहा है तो आत्मा तो सबको प्यारा होता ही है फिर 'प्रियः' ऐसा जो कहा है उसका आशय यह है कि आत्माकी प्रियता परिच्छिन्न(परिमित) है. उस प्रीतिका विनियोग जब एकमें हो जाता है तो अन्यमें वह प्रीति नहीं होती है; इसलिए सर्वरूप एक ही भगवान् जब हैं तो उस एक ही भगवान्‌में प्रीति करनी चाहिए. (यदि शंका हो कि दक्षिणमें अनेक महिलाओंके साथ समान अनुराग देखा जाता है तो फिर ऊपरका कथन ठीक नहीं है. इसका उत्तर यह है कि यदि दक्षिणके दृष्टान्तसे प्रीतिको सर्व विषयतासे स्वीकार करते हैं तो खण्डशः एकमें अथवा एकरूपमेंकी जानेवाली प्रीति सब पुरुषार्थोंको सिद्ध नहीं कर सकती-प्रकाश.) प्रीति जो भगवद्धर्म है; उसको भगवान्‌ने सब जीवोंकेलिए खण्डशः दिया है. इसलिए जहां ही प्रीति होती है; उससे ही सुख होता है. इसलिए देह आदिमें जो प्रीति है उसको वहांसे हटाकर भगवान्‌में ही प्रीति करनी चाहिए यह इसका तात्पर्य है.

अर्थ धनरूप है. जितना कार्य उस अर्थसे होगा वह सब भगवान्‌से होगा. 'अर्थ' शब्दके पांच अर्थ हैं. उन पांचों ही अर्थवाला अर्थ भी भगवान् है. १.सर्ववेदार्थ २.सर्वधनरूप ३.सर्ववस्तुरूप ४.सर्वनिवृत्तिरूप ५.सर्वनिवर्तक.

भजनमें ये पांचों धर्म भजनीय भगवान्‌को सबसे पृथक् करनेवाले हैं. इसलिए गुणोपसंहारन्यायसे इनका ग्रहण करना चाहिए. वैसा होनेपर ही भगवान्‌में सर्वात्मकता तथा भजन होता है. भगवान् षड्गुणैश्वर्व सम्पन्न हैं इसलिए ऐश्वर्यादिकेलिए भी अपना सेवन होता है. 'श्री' शब्दसे यहां शोभाका ग्रहण है. भगवान् अनन्त हैं अर्थात् देशकाल इनसे उसका परिच्छेद नहीं होता. अतः नित्य हैं. इससे यह समझना चाहिए कि पच्चीस तत्त्व और छब्बीसवां महाविष्णु; इन छब्बीस प्रकारसे उनकी सेवा करनी चाहिए. उनमें जीवात्मा और परमात्मा; इस तरह आत्माके दो भेद हैं. ग्यारह इन्द्रियोंसे भोग्य होनेके कारण प्रिय ग्यारह प्रकारका है. अर्थ पांच प्रकारका है, भगवान् छः प्रकारके हैं. अनन्त भी दो प्रकारका है. इस तरह सब प्रकारसे भगवान् सेवा करने योग्य हैं.

सेवकके भी अधिकारीके विशेषणभूत दो धर्म हैं; उन्हें निर्वृत्तः और नियतार्थःसे बताया है. 'निर्वृत्तः'से तो अन्याश्रयकी निवृत्ति बताई और 'नियतार्थः'से भगवान्‌में दृढता बताई. ये दोनों ही धर्म आवश्यक हैं. अन्यथा सब प्रकारसे सेवा करने पर भी पुरुषार्थ सिद्धि नहीं होगी. सर्वतः निवृत्त(अन्याश्रय रहित) न होगा तो 'ब्रह्मास्त्र'न्यायसे भगवान् उसका त्याग कर देंगे. दूसरा धर्म है नियतार्थ, नियत अर्थात् भगवान्‌में ही जिसका पुरुषार्थ है अथवा जिसकेलिए भगवान् ही पुरुषार्थ हैं. दृढता यदि नहीं हुई तो 'संशयात्माका विनाश होता है' "**संशयात्मा विनश्यति**" यद्यपि भगवान ही फल हैं. भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य किसीकी अपेक्षा नहीं है फिर भी संसारका कारण अज्ञान अथवा भगवान्‌की विमुखता उसकी निवृत्ति भी उसका आनुषङ्गिक फल है. 'च' से सायुज्यप्राप्ति आदि भी आनुषङ्गिक फल प्राप्त हो जाते हैं।। ६।।

आभासार्थ: इस तरह भजनकी सर्वोत्तमताका प्रतिपादन करके उस प्रकारके उत्तम भजनको नहीं करनेवालोंकेलिए शोक प्रदर्शित करते हुए कहते हैं.

कस्तां त्वनादृत्य परानुचिन्ताम् ऋते पशूनसतीं नाम युञ्ज्यात्।
पश्यन् जनं पतितं वैतरिण्यां स्वकर्मजान् परितापान् जुषाणम्।।७।।

श्लोकार्थ: भगवान्‌के चिन्तनको छोडकर स्वयंका ही नाश करनेवाली सांसारिक चिन्ताको पशुओंके सिवा कौन अपने साथ लगायेगा? सांसारिक ध्यानके कारण अपने कर्मजन्य परितापोंको भोगते हुए वैतरणीमें पडे हुओंको देखता हुआ भी सांसारिक ध्यान करता है; तो वह शोचनीय है।।७।।

व्याख्यार्थ: इस तरह भगवान्के ध्यानरूप चिन्तनका अनादर करके (नहीं करके), चिन्तकका ही विनाश करनेवाली देह आदिकी चिन्ता पशुओंके सिवाय और कौन कर सकता है? 'नाम' शब्ध प्रसिद्ध दरशाता है. 'युञ्ज्यात्'का अर्थ है स्त्रीकी तरह उसे कौन योजित करता है? अज्ञानसे भले ही देहादिके चिन्तनमें चित्तको योजित करे किन्तु उसकेद्वारा किये जानेवाले अहंकारको जब जान लेता है तो फिर चित्तको कोई उसमें नहीं लगायेगा. अपकारको 'पश्यन् जनं' आदिसे गिनाते हैं. जिस तरह भगवान्के भजनसे भगवान्के छः गुणोंका अपनेमें संक्रमण होता है; उसी तरह देहादिके भजनसे देहादिमें रहनेवाले छः दोषोंका संक्रमण होता है. वे छः दोष ये हैं : १.उत्पत्ति २.नाश ३.दुःख ४.कर्म ५.परिताप और ६.हीनता. उसे बताते हैं. 'जनं' का अर्थ है उत्पन्न. 'पतित'का अर्थ है अपने स्थानसे गिरना अर्थात् मर जाना. यमराजकेद्वार पर स्थित नदीको वैतरणी कहते हैं. इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो असती(देहादिकी चिन्ता)का परिग्रह करता है वह मरकर वैतरणी नदीमें पडता है और अपनेद्वारा किये गए विविध कर्मोंके फलोंको भोगता है. परितापसे शोक आदिका ग्रहण किया गया है. अतः ऐसा कौन होगा जो अमृतको छोडकर विष खाता है. अब अधिक विस्तार करना उचित नहीं।।७।।

केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेश–मात्रं पुरुषं वसन्तम् ।
चतुर्भुजं कञ्ज–रथाङ्ग–शङ्ख–गदाधरं धारणया स्मरन्ति ।।८।।

श्लोकार्थ: कितने ही अपने देहके अन्दर हृदयाकाशमें निवास करनेवाले प्रादेश मात्र पुरुष, जिनके चार भुजाएं हैं; उनमें पद्म, चक्र, शङ्ख और गदा धारण कर रखी है, उसका धारणासे स्मरण करते हैं.

प्रसन्नवक्त्रं नलिनायतेक्षणं कदम्ब–किञ्जल्क–पिशङ्ग–वाससम् ।
लसन् महारत्न–हिरण्मयाङ्गदं स्फुरन् महारत्न–किरीट–कुण्डलम् ।।९।।
उन्निद्र–हृत्पङ्कज–कर्णिकालये योगेश्वरास्थापित–पादपल्लवम् ।
श्रीलक्ष्मणं कौस्तुभ–रत्न–कन्धरम् अम्लान–लक्ष्म्या वनमालयाञ्चितम्।।१०।।

श्लोकार्थ: जिनका प्रसन्नमुख है, कमलके समान बडे जिनके नेत्र हैं, कदम्बकी केसराओंके समान जिनका पीताम्बर है, जिनके स्वर्णमय रत्नजडित बाजूबन्ध शोभित हैं और जिनके किरीट और कुण्डलोंमें रत्न चमक रहे हैं.

योगियोंने अपने प्रफुल्ल हृदयकमलकी कर्णिकामें जिनके चरणारविन्दोंको स्थापित कर रखा है, जिनके वक्षस्थलमें श्रीनिवासका चिह्न है, गलेमें कौस्तुभ मणिको धारण किया है, जो कभी कुम्हलाती नहीं ऐसी वनमालाको धारण किये हैं.

विभूषितं मेखलयाङ्गुलीयकैः महाधनैर्नूपुर-कङ्कणादिभिः।
स्निग्धामलैः कुञ्चित-नील-कुन्तलैः विरोचमानानन-हास-पेशलम्।।११।।
अदीन-लीला-हसितेक्षणोल्लसद् भ्रू-भङ्ग-संसूचित-भूर्यनुग्रहम्।
ईक्षेत चिन्तामयम् एनम् ईश्वरं यावन् मनो धारणयावतिष्ठते।।१२।।

श्लोकार्थः कटिमें मेखला, अंगुलियोंमें मुद्रिका और बहुमूल्य नूपुर तथा कङ्कण आदिसे शोभित चिकने स्वच्छ घुंघराले नीले बालोंसे शोभायमान मुस्कराहटसे युक्त मुखारविन्द है जिनका, उदार लीलायुक्त हास्य सहित देखनेसे उल्लसित जो भ्रूभङ्ग; उससे पूर्ण अनुग्रहका सूचन करते हुए, चिन्तनमय इन भगवान्का धारणाकेद्वारा जब तक मन उनमें स्थिर नहीं होता, तब तक हृदयमें दर्शन करे.

एकैकशोऽङ्गानि धियानुभावयेत् पादादि यावद् हसितं गदाभृतः।
जितं जितं स्थानम् अपोह्य धारयेत् परं परं शुद्ध्यति धीर् यथा यथा।।१३।।

श्लोकार्थः यदि ऐसा न हो सके तो गदाधारी भगवान्का चरणारविन्दसे लेकर हास्य पर्यन्त एक-एक अङ्गका बुद्धिसे अनुभव करे. जो-जो स्थान(अङ्ग) अपनी बुद्धिमें स्थिर हो गया हो उसको हृदयमें रखते हुए आगेके अवयवोंका ध्यान करे. इससे बुद्धि शुद्ध होती रहे।। ८-१३।।

व्याख्यार्थः इस तरह सर्वार्थनिश्चयपूर्वक भक्तिमार्गके अनुसार भगवद् विद्वषयक श्रवणादि साधन करने चाहिए यह सिद्ध हो गया. यहां किन्हींके मतमें सर्वनिर्द्धार व्यर्थ है. चतुर्भुज आदि जो मुख्य भगवान्का रूप है और वह भगवान् आनन्दमात्र कर-पाद-मुख-उदर आदि रूप हैं ऐसा जानकर उसका भजन करे. इसलिए धारणामें स्थूलस्थानमें भगवान्का आनन्दरूप ही भजनीय है ऐसी योजना करते हैं. मूलमें उनका निर्देश 'केचित्' पदसे किया गया है; जिसका तात्पर्य यह है कि यह मत सर्वसम्मत नहीं है. इस प्रकारका ध्यान केवल आनंदका आविर्भाव करेगा; दोषनिवृत्ति नहीं करेगा. यद्यपि नान्तरीयक पापादिकी निवृत्ति होती है तथापि उसमें सर्वभावत्व सम्पादकताका अभाव होनेसे रागादिकी निवृत्ति नहीं हो

सकती.

ध्यान करनेके योग्य भगवान्के चार रूप हैं:

१.अंगुष्ठ मात्र

२.प्रादेशमात्र

३.पुरुषमात्र और

४.विराट्रूप.

उनमें प्रादेशमात्रकी ही निकटता अपनेमे है. वैश्वानर विद्यामें यह सिद्ध है और प्रादेशमात्र अपने हृदयमें समा सकता है. अथवा ''**अत्यतिष्ठद् दशांगुलम्**'' इस श्रुतिके अनुसार पुरुषसे अतिरिक्त रूपको अतिरेकार्थ–व्यापताकेलिए भजते हैं. वह अतिरिक्त भी पुरुषाकार ही है. 'वसन्त'का अर्थ है उस तृतीय(अन्तर्यामी) पुरुषका. उसके स्थूलरूपका वर्णन 'चतुर्भुजम्'से किया है और चारों भुजाओंमें कञ्ज(कमल)–(रथाङ्ग)चक्र–शङ्ख और गदा धारण किये हुए हैं. इससे वे सर्वतः रक्षा करते हैं ऐसा सूचित होता है. जीव जब भगवान्में प्रवेश करे तो उस समय उन आयुधोंमें तत्त्वोंको स्थापित करके प्रवेश करे. धारणा जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है उससे स्मरण करते हैं. वह हृदयमें विद्यमान है अतः उसकेलिए मानसिक कल्पनाकी अपेक्षा नहीं है.

भक्तोंकेलिए फलदानार्थ जिनका मुख प्रसन्न है, कमलके समान लम्बे जिनके नेत्र हैं. कदम्बकी केसराओंकी तरह आधा पीला और अन्तभागमें रक्त और अन्तमें मुक्ताफल सहित रेखाकार अर्थात् भगवान्का पीताम्बर कदम्बकी केसराओंकी तरह स्वर्णके दण्डाकार सूतमें पिरोये हुए मोतियोंसे युक्त है जिसने सम्पूर्ण जीवोंको कृतार्थ किया है ऐसे वेदरूप पीताम्बरको धारण किये हैं. भगवान्का पीताम्बर इस तरहका है. सोनेके बाजूबन्द हैं जिनमें जडित महारत्न शोभित हो रहे हैं. अङ्गद भुजाओंके आभरण हैं. किरीट और दोनों कुण्डलोंमें चमकते हुए महारत्न हैं.

विकसित हृदयरूप कमलमें जो कर्णिका है उसमें जहां सूर्य–चन्द्र–वायु और अग्नि का भी प्रवेश नहीं है उस हृदयरूप घरमें योगेश्वरोंने जिन भगवान्के चरणारविन्दको स्थापित कर रखा है. जिनके लक्ष्मी ही चिह्न हैं. कौस्तुभ रत्न गलेमें धारण किये हुए हैं. जिसकी शोभा कभी कम नहीं होती, जिसके पुष्प सदा ही नवीन बने रहते हैं, कभी मुरझाते नहीं, ऐसी वनमालाको धारण किये हुए.

कमरके ऊपर डोरेके समान मेखलासे, अमूल्य रत्न आदिसे युक्त अंगूठियोंसे शोभित. 'महाधनैः' यह विशेषण करधनी तथा अंगूठी दोनोंही केलिए है. एक नूपुरका धारण महाराजका चिह्न है. 'आदि' शब्दसे कडे आदि भी ग्रहण किये जाते हैं. स्निग्ध-चिकने और स्वच्छ नील अलकोंसे शोभायमान मुख पर जो हास है उससे सुन्दर सभी याचकोंकेलिए सब प्रकारके फलोंके दानमें निःसंकोच युक्त जो अदीन लीला है; उस तरहके हाससे युक्त जो देखना, उससे उल्लासको प्राप्त जो भ्रू उनके इशारेसे सूचित किया है अधिक अनुग्रह जिनने; इस तरह चिन्तन(धारणा)से प्रकट हुए राजाधिराजरूप ईश्वरके दर्शन करे.

जब तक सर्वाङ्गस्थित धारणासे मन स्थिर रहे, चञ्चलताको प्राप्त न हो, तब तक सर्वाङ्ग धारणा करे. इस तरह जब सर्वाङ्गकी स्फूर्त्ति हो जाये तब धारणाकेद्वारा मनमें एक-एक अंगको धारणा करे. पहले एक अंगका ध्यान करे. जब वह अंग अपने अधीन हो जाए तब दूसरे अंगकी धारणा करे. यह 'धिया' पदसे स्पष्ट है. यहां एक-एक अंगकी धारणामें धारणाका क्रम बताते हैं. 'पादादि यावद् हसितम्' पैरसे प्रारंभ करके हास्य पर्यन्त इस क्रमसे धारणा करे. तृतीय स्कन्धमें यह स्पष्ट हो जायेगा. 'गदाभृतः' इस पदसे प्राणोंकी निश्चलता सूचित होती है. भगवान्का जो-जो श्रीअङ्ग अपने स्वाधीन हो चुका है उस अङ्गको पैरोंके क्रमसे ग्राहक बुद्धिके अग्रभागसे हटाकर फिर उस भागसे आगेके भागको ग्रहण करे. अन्य अंगके ग्रहण करनेके समय उस प्रकारके भगवान्के अङ्गोंके अधिक गुणोंका स्मरण करना चाहिए जिससे बुद्धिके दोष हट जायें. दोषोंके हट जानेसे बुद्धि स्वच्छ हो जाती है; तब उस स्वच्छ बुद्धिमें अन्य अवयवका भी समावेश हो जाता है. इसी तरह उत्तरोत्तर अवयवोंके ध्यानमें भी करना. जिस-जिस प्रकारसे बुद्धि शुद्ध हो, उस-उस प्रकारसे आगेके अङ्गकी धारणा करे।।८-१३।।

आभासार्थः जिसमें भक्ति हो जाती है उसीमें ऐसी धारणा होती है. जब तक भक्ति उत्पन्न न हो तब तक पूर्व(स्थूल) धारणा ही करनी चाहिए.

यावद् न जायेत परावरेऽस्मिन् विश्वेश्वरे द्रष्टरि भक्तियोगः।
तावत् स्थवीयः पुरुषस्य रूपं क्रियावसाने प्रयतः स्मरेत।।१४।।

श्लोकार्थः सर्वश्रेष्ठ, विश्वेश्वर तथा सबके साक्षी इस भगवान्में जब तक भक्तियोग न हो तब तक अपने नित्यकर्म करनेके अनन्तर उस पुरुषके स्थूल

रूपका सावधान रहकर स्मरण करता रहे।। १४।।

व्याख्यार्थ: जिन्हें हम पर(उत्कृष्ट) मानते हैं वे सब भगवान्के अवर(हलके) हैं. पर और अवर की स्फूर्ति होना ही सर्वोत्तमतारूप प्रेम-भक्तिका अङ्ग है. उसीका दूसरा पर्याय माहात्म्यज्ञान है. 'अस्मिन्' यह 'इदम्' शब्दका सप्तमीका रूप है. सामने जो होता है उसीके लिए 'इदम्' शब्दका प्रयोग होता है. इसलिए श्रीशुकदेवजी उन भगवान्की भक्तिकेद्वारा प्रत्यक्ष देखते हुए कह रहे हैं. यहां द्रष्टाका अर्थ सर्वसाक्षी है. 'स्वप्नजनेक्षितैकः' इस पूर्वोक्त न्यायसे सब वस्तुओंमें अथवा चैतन्यरूपसे यद्वा अन्तःप्रकाशरूपसे प्रकाशमानमें. 'भक्तियोग'में भक्तिके साथ जो 'योग'पद रखा है उससे अपनेद्वारा किया गया चित्तनिरोधरूप साधन भक्तिका साधनभूत स्थिररूप कहा गया है. अर्थात् असाधारण भक्तिका निरूपक कहा गया है. अपनेमें भक्तिलक्षण योग कहा है यह इसका तात्पर्य है.

तब तक पूर्वोक्त पुरुषके स्थवीय-स्थूलरूपका ध्यान करे. क्रियाके अवसानमें, अग्निहोत्र आदि करनेके अनन्तर, अव्यग्र शुद्ध अवस्थामें ध्यान करे. कुछ टीकाकारोंके मतमें 'क्रियावसाने'का अर्थ संन्यास ग्रहण करके ऐसा है, तब निरन्तर स्मरण होता है. परंतु ऐसा अर्थ करना उचित नहीं है, क्योंकि यहां जो 'क्रियावसाने' कहा है उसका अर्थ तो यह है कि क्रिया चित्तशुद्धिमें हेतु है. वह यहां नहीं हो सकती. संन्यासीकेलिए तो सब क्रियाओंका त्याग कहा है. शुद्धिके प्रतिबन्धक संन्यासकी कल्पनाकी अपेक्षा तो साधकत्व कल्पना करना ही श्रेष्ठ है. भगवद्ध्यान करनेवालेकेलिए पवित्र तीर्थोंके जलमें स्नान करनेका नीयम भी कहा है 'पुण्यतीर्थजलाप्लुतः'. 'प्रयतः'का अर्थ है सावधान होकर. नियमसे रहनेमें भी धर्म है. यदि किसी फलका अभिसन्धान न हो तो धर्मका प्रयोजन ही क्या है. उसकेलिए अन्य भावना परित्यागार्थ ऐसा कहा है. अर्थात् अन्य भावना न आ जाए इसकेलिए सावधान रहना चाहिए।।१४।।

आभासार्थ: इस तरह अन्तकालमें पाक्षिक दोषके परिहारकेलिए योगकी साधना कहकर यह योग दृष्टोपाय भी है; इसको बतानेकेलिए मरणका प्रकार बताते हैं.

स्थिरं सुखञ्चासनम् आस्थितो यतिः यदा जिहासुरिमम् अङ्ग लोकम्।
देशे च काले च मनो न सज्जयेत् प्राणाद् नियच्छन् मनसा जितासुः।।१५।।

मनः स्वबुद्ध्यामलया नियम्य क्षेत्रज्ञ एनां निनयेत् तम् आत्मनि ।
आत्मानम् आत्मन्यवरुद्ध्य धीरो लब्धोपशान्तिर्विरमेत कृत्यात्।।१६।।

श्लोकार्थः योगी जिस समय इस मर्त्यलोकका परित्याग करना चाहे तब जो सुखकर स्थिर आसन है उसे लगाकर बैठे. और उत्तरायणकाल हो या बदरिकाश्रम देश हो, इस प्रकारकी मनमें आसक्ति न रखे. प्राणोंको मनकेद्वारा रोके फिर जितासु होनेपर व्यवसायात्मिका बुद्धिसे मनको रोककर उस बुद्धिको क्षेत्रज्ञ(जीव)में ले जावे. उस जीवको भी आत्मामें ले जाये. व्यष्टि आत्माको समष्टि आत्मामें रोककर धीर पुरुष शान्ति प्राप्त कर कर्म करनेसे विराम प्राप्त करे।।१५-१६।।

व्याख्यार्थः यह बुद्धिपूर्वक मरण-स्मरणका अङ्ग है; सहकारी है. कोई इस बुद्धिपूर्वक मरणको उत्तराङ्ग बताते हैं अर्थात् यह फलजनन दशामें सहकारी है. अन्योंका कहना है कि यह बुद्धिपूर्वक मरण अवान्तर व्यापार है. 'स्थिर'का अर्थ है अचञ्चल और 'सुखम्'का अर्थ है कोमल. इस तरहका आसन पद्मासन या वृष्यादिरूप आसन हो उसमें अच्छी तरहसे स्थित हो जाये. अर्थात् मनसे भी अन्यत्र गमन निषिद्ध है. इससे आगे संन्यास नित्य है. अथवा तब संन्यास करना चाहिए यह 'यति' पदसे बताया है. प्राणायाम करके पञ्चाक्षर संन्यास मन्त्र 'अहं ब्रह्मास्मि'का तीन बार जप करके फिर 'अभयम् अभयभूतेभ्यः' इस प्रकार सब प्राणियोंकेलिए अभय देकर फिर ब्रह्मका 'ॐ तत् सत्' जो तीन प्रकारका निर्देश है; उसे कहकर "**वसुरण्वो विभूरसि**" इस महोपनिषद्के अर्थकी भावना करके प्रणव(ॐ)से ब्रह्ममें जीवका योजन करना ही यतित्व है. ऐसा यति जब हो जाए तब उसी समय अथवा अन्य समय जब भी देहका त्याग करना चाहे तब देश या कालकी अपेक्षा न करे. मेरे देहत्यागकेलिए बदरिकाश्रम आदि पुण्य स्थान हो या उत्तरायणकाल हो, 'च'से उन देश-कालके अङ्गधर्मोंमें भी मनको आसक्त न करे.

विशेषणभूत देश-काल आदिमें चित्त न लग जाए, इसकेलिए मनको केवल भगवान् ही में लगाकर ऐसा समझे कि जो देश आदिसे होगा वह भगवान्से ही हो जायेगा. इस तरह मनको स्थिर करके प्राणायाम करे. मूलाधार(गुदा)से ही अपानवायुको संकुचित करके उस अपानवायुमें प्राणवायु मिलाकर कुण्डलिनीका प्रबोधन करे. इस प्रकार प्रबुद्ध उस कुण्डलिनीको जो कि प्राणापानके सहित है; उसे सुषुम्णा रन्ध्रमें स्थापित कर वायुको ऊपर ले जाये. ऐसा सामर्थ्य जितासुको

ही होता है. इस तरह उस समयमें उसे याद दिलाते हैं कि जितासुमें ही ऐसा सामर्थ्य होता है. अथवा ऐसा करनेपर जितासु होता है. जब किसीको उसके गामसे निकाल दिया जाता है; तभी निकालनेवालेके जपकी सिद्धि होती है. जितासु हो जानेके अनन्तर फिर सङ्घात(देह)से अलग रूपवाली बुद्धिसे जो कि भक्ति आदिसे शुद्ध हो चुकी है; उससे मनका नियमन करे. मनके प्रयत्नोंको छुडाकर स्थिर करले. घडेके बन जानेके अनन्तर दण्डके त्यागकी तरह उसका परित्याग कर दे. अथवा मनको अपने अपनपेमें स्थापित करके अथवा बुद्धिसे संयुक्त करके फिर उस बुद्धिको जो मनःसमाहित है; क्षेत्रज्ञ शरीर आत्मामें प्रविष्ट कर दे. जो क्षेत्रज्ञ देहादि क्षेत्रको ही ''यह मैं हूं, यह मेरा है'' ऐसा मानता है; उस देहाभिमानी क्षेत्रज्ञमें मनःसमाहित आत्माका प्रवेश कर दे. तदनन्तर उस क्षेत्रज्ञको भगवान्के रूपविशेष सर्वजीव समूहरूप आत्मा जो भगवद्विभूतिरूप है; उसमें प्रविष्ट कर दे; जिसका वर्णन गीतामें ''**अहम् आत्मा गुडाकेश सर्वभूताशय स्थितः**'' वाक्यसे किया है. फिर उस भगवद्विभूतिरूप उसी आत्माको उसी भगवान्के रूपमें निरोध करके एकाकार करके पुनः देहके अनुसन्धानकी इच्छा न करता हुआ धीर होकर उस आत्मामें शान्तिलाभ करके करोडों जन्मोंमें किये हुए कार्योंसे और सब प्रयत्नोंसे उपराम करे. समाधिमें स्थितकी तरह स्थित होकर पुनः इस मनुष्यलोकमें न आवे. यहीं पर उसकी मुक्ति हो जाती है; ऐसा एक पक्ष है. अर्थात् इस हृदयाकाशमें ही मुक्त हो जाता है. ऐसा होनेपर यह देह अपने कारणों अविद्या-काम-कर्मोंके विलीन होनेसे स्वयं ही चला जाता है. परंतु उस देहके जानेका अनुसन्धान नहीं होता. इसे स्पष्ट रूपसे देवहूतिकी संसिद्धिमें तृतीय स्कन्धमें कहेंगे।।१५-१६।।

आभासार्थः पूर्व श्लोकमें बताई गई अवस्थाको ही मुक्ति कहते हैं:

न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुः कुतो नु देवा जगतां य ईशिरे ।
न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च न वै विकारो न महान् प्रधानम् ।।१७।।

श्लोकार्थः जहां पहुंचने पर देवताओंका नियामक काल भी कुछ नहीं कर सकता; तो फिर जगत्के ईश्वर देवता तो कर ही क्या सकते हैं. जहां सत्त्व, रजस्, तमस् और विकार महत्तत्व एवं प्रकृति भी कुछ नहीं कर सकती।। १७।।

व्याख्यार्थः जिस परमात्मामें पहुंचने पर उस मुक्त जीव पर कालका भी कोई प्रभुत्व नहीं होता, जो काल देवताओंसे भी उत्कृष्ट है; भगवान्का मुख्य

अधिकारी है. यह काल देवताओंको नियममें रखनेवाला है. इससे कालका अधिकार एवं कालका सामर्थ्य बताया. तथापि भगवान्में स्थित होनेसे मुक्त पर उसका प्रभुत्व नहीं चलता. तो फिर उस मुक्त पर इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंका तो प्रभाव कर ही क्या सकता है.

देवता सदा समाधिमें स्थित योगीको वहांसे निकाल सकते हैं किन्तु उस मुक्तके निकालनेमें उनका सामर्थ्य कैमुतिक न्यायसे निवारित किया गया है. देवताओंका सामर्थ्य 'जगतां य ईशिरे'से बताते हैं. सारे जगत्के वे ईश(स्वामी) हैं. अतः कालका या कालके नियन्त्रणमें रहनेवालोंका सामर्थ्य बताया. यद्यपि कालकी प्रेरणाके बिना गुणोंमें क्षोभ(चलन) नहीं होता और बिना क्षोभके गुण किसीको अपने स्वरूपसे च्युत(हटा) नहीं कर सकते. तथापि गुणोंको क्षुभित करनेमें काल गुणोंके अधीन रहता है. इसलिए 'न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च' इससे उनका निराकरण अलगसे किया है. 'च'से प्रकृतिके गुण और अहंकारके गुणोंका भी ग्रहण किया गया है. 'वै' का अर्थ निश्चय है. अहंकार भी मुक्तको च्युत नहीं कर सकता है. अहंकार तो सदा ही स्वरूप च्युत करने(गिराने) वाला है. इसीलिए इसकेलिए 'वै' निश्चयवाचक पद दिया है. 'महान्'से महत्तत्व और 'प्रधान'से प्रकृति; ये सब परमात्मामें स्थित मुक्तको चलित नहीं कर सकते।। १७।।

आभासार्थ: उस स्थानका ऐसा माहात्म्य कैसे है; इस शंका पर कहते हैं.

परं पदं वैष्णवम् आमनन्ति तत् यन् नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः ।
विसृज्य दौरात्म्यम् अनन्यसौहृदा हृदोपगूह्यार्हपदं पदे पदे ।।१८।।

श्लोकार्थ: परमात्माके अतिरिक्त देहादि अन्य पदार्थका 'वह परमात्मा इस तरहका नहीं है' ऐसा समझकर परित्याग करते हैं और देहादिमें आत्मभाव भी नहीं रखते. केवल प्रभुसे ही प्रेम करते हैं. ऐसे निर्दोष मुक्त उस पुरुषोत्तमके चरणरूप स्थानको प्रतिक्षण हृदयसे आलिङ्गन करते हैं और उसे ही सर्वोत्कृष्ट वैष्णव स्थान कहते हैं।।१८।।

व्याख्यार्थ: श्रीपुरुषोत्तमका चरणरूप अक्षरब्रह्मरूप स्थान सब स्थानोंसे उत्कृष्ट है. अतएव उसे वैष्णव पद(स्थान) कहते हैं. अर्थात् जिस वैष्णव स्थानको परमपद कहते हैं; ऐसी यहां योजना है. 'यत्' शब्दसे उद्देश्य लिया जाता है और 'आमनन्ति'से उसमें प्रमाण बताते हैं. केवल श्रुतिको ही प्रमाणरूपमें उपस्थित करनेपर उसे उपचरित(लाक्षणिक या स्तुतिरूप) है ऐसी कल्पना कर लेते. अतः

'नेति नेत्यतदुत्सिसृक्षवः' ऐसा कहा. आत्मासे अतिरिक्त इस सङ्घात-देहको जो छोडना चाहते हैं वे उस अक्षरब्रह्मरूप स्थानको जिसे वैष्णवपद कहते हैं. अर्थात् केवल वैष्णव पद ही ग्राह्य है; अन्य सब त्याज्य है. यहां यह शंका होती है कि वे उत्तमाधिकारी हैं; अतः उन्हें ऐसी स्फूर्ति स्वतः हो जायेगी. उसके उत्तरमें कहते हैं कि 'विसृज्य दौरात्म्यम्' जो उत्तमाधिकारी हैं उन्हींको भी तीनों गुणोंकी सत्त्व, रजस् एवं तमस् की अपेक्षा रहती है. तथापि उनमें सर्वथा देह आदिमें आत्मभावका त्याग रहता है, यह ही सब दोषोंका अभावरूप है तथा भगवान्से अतिरिक्तमें उनका प्रेम नहीं है. ''**स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्वः**'' इस न्यायसे उनकी भगवान्में परम प्रीति होती है. उनका साधन बताते हैं 'अर्हपदम्' भगवान्के चरणारविन्दका क्षण-क्षणमें अथवा मनके स्थापन स्थानमें आलिङ्गन करते हैं और अन्य लोगोंको भी इस साधनका उपदेश देते हैं. अतः उनका कथन कभी अन्यथा नहीं होता।। १८।।

इत्थं मुनिस्तूपरमेद् व्यवस्थितो विज्ञान-द्रग्-वीर्य-सुरन्धिताशयः ।
स्वपार्ष्णिनापीड्य गुदं ततोऽनिलं स्थानेषु षट्सून्नमयेज्जितकल्मः।।१९।।
नाभ्यां स्थितं हृद्यधिरोप्य तस्माद् उदान-गत्योरसि तं नयेद् मुनिः ।
ततोऽनुसन्धाय धिया मनस्वी स्वतालु-मूलं शनकैर्नयेत।।२०।।
तस्माद् भ्रूवोरन्तरम् उन्नयेत निरुद्ध-सप्तास्वयनोऽनपेक्षः ।
स्थित्वा मुहूर्त्तार्द्धम् अकुण्ठदृष्टिः निर्भिद्य मूर्द्धन् विसृजेत् परं गतः।।२१।।

श्लोकार्थः इस तरह मुक्ति पक्षका निरूपण किया. अब यदि मुनि हो तो वह उस पक्षको छोडकर अपने विज्ञान दृष्टिके पराक्रमसे राग-द्वेष आदिको दूर करके अपनी एडीसे गुदाको खूब जोरसे दबाकर वहांकी वायुको ऊपर उठाकर षट्चक्रका भेदन कर ऊपर ले जाये. पहले नाभिमें स्थित वायुको हृदयमें रोपित करे. वहांसे उदान गतिसे छातीमें ले जाये. फिर बुद्धिमान् बुद्धिसे विचारकर उस वायुको धीरे-धीरे अपने तालु मूलमें ले जाये. फिर वहांसे वायुको दोनों भ्रुवोंके मध्यमें ले जाये. फिर किसी फलकी अपेक्षा न रखते हुए निरुद्ध(रोके गये) प्राणोंके सातों स्थानोंमें आधे मुहूर्त(एक घडी २४ मिनिट) तक स्थित होकर सावधानीसे मस्तकके रन्ध्र(ब्रह्मरन्ध्र)को भेदन कर परमात्माको प्राप्त हुआ मुनि प्राणसहित इन्द्रियोंका परित्याग कर दे।। १९-२१।।

व्याख्यार्थः पूर्वपक्षके उपसंहारको बतानेके लिए 'इत्थं' यह पद दिया है.

अर्थात् ऐसी स्थिति होनेपर देह आदि स्वयं ही चले जायेंगे ऐसा यहां तात्पर्य है. अब पक्षान्तरको(द्वितीय पक्षको) कहते हैं. यदि उसमें स्थित न हो सके तो मननवाला जो द्वितीय पक्ष है; उसका अवलम्बन करे. यदि उसका स्वरूप भिन्नरूपसे भासित हो तो उसका परित्याग कर दे. अन्य प्रकारसे पुरुषार्थकी सिद्धि करे. उसी अन्य 'व्यवस्थितः' आदिसे कहते हैं. विशेषाकारसे उसी वैष्णवपदमें मनको स्थिर करके आत्माको भगवान्में मिलाकर भगवत्साक्षात्कार अथवा ब्रह्मात्मभावका बहुत काल तक अनुभव करके फिर उस विज्ञानके बलको प्राप्त कर विज्ञान ही अनुभवरूप जो सब अज्ञानोंको मिटानेवाला है; उसके सामर्थ्य-बलसे जब रागादि दूर हो जाते हैं; तब उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है. अर्थात् उसको अपने अनुभवरूप ज्ञानसे रागादि दोषोंको दूर कर ठीक तरहसे अन्तःकरणको शुद्ध करना चाहिए.

जब चित्त शुद्ध हो जाये तब देहत्यागकेलिए प्रयत्न करे. अब देहत्यागका उपाय 'स्वपार्ष्णिनापीड्य' आदिसे कहते हैं. मूलाधार(गुदा)को अपनी एडीसे अच्छी तरहसे दबावे. 'स्वपार्ष्णिना'में जो एकवचन है उसका तात्पर्य यह है कि दोनों एडियोंसे मूलाधारको नहीं दबाना चाहिए. मूलाधार स्थान गुदा है. वहांसे कुण्डलिनीका प्रबोध होता है. इस हेतुसे उस मूलाधारसे वायुको ऊपर ले जाकर षट्चक्रभेदनसे ऊपर ले जाये. वहां वायुके स्थानभूत छः चक्र हैं: मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा. इन छहों चक्रोंकी स्थिति क्रमशः १.गुदा २.गुह्य स्थान ३.नाभि ४.हृदय ५.तालुमूल और ६.भ्रूमध्य में है. इन स्थानोंको कमलाकार बताया है. वे क्रमशः १.चतुर्दल २.षड्दल ३.अष्टदल ४.द्वादशदल ५.षोडशदल तथा ६.द्विदलरूप है. इन छः चक्रोंसे वायुको ऊपर ले जाना सरलतासे सम्भव नहीं है क्योंकि जिसका अभ्यास नहीं है वह यदि वायुको ऊपर ले जाना चाहेगा तो वह वायु नियत स्थानमें न जाकर अन्यत्र चला जायेगा. अतः उसकेलिए साधन बताते हैं 'जितक्रमः'. वायुके आकर्षणमें जितना भी कष्ट है; उसको जिसने सहन किया हो.

नाभिपर्यन्त तो वायुको ले जानेमें सीधामार्ग है; आगे टेढापन है. अतः नाभिमें स्थित वायुको अत्यधिक प्रयत्नसे हृदयमें आरूढ करना चाहिए. वहां हृदयकमल ऊपरकी ओर तो उसकी डण्डी है और नीचेकी ओर कमल है. उस कमलकी उस वायुकेद्वारा अधोमुखको ऊर्ध्वमुख(ऊपरकी ओर मुखवाला)

करना चाहिए. इसके अनन्तर अधिक प्रयत्न करना पडता है; इसलिए 'नाभ्यां स्थितं' ऐसा अनुवाद करके फिर उपवायुको हृदयमें आरोपित करना चाहिए ऐसा कहा. उससे आगे वायुको ले जाना बहुत कठिन है. क्योंकि तालुमूल स्थानमें ले जानेकेलिए छातीमें उदान वायु ही रहती है; इसलिए जो भी वायु वहांसे जायेगी वह उदानभावको प्राप्त होकर ही जा सकती है. इसीलिए कहा है; उदान गतिसे उस वायुको छाती तक ले जाए; 'उदानगत्योरसि तं नयेत्' पूर्वाधिकारमें हृदयपर्यन्त ही वायुका लाना लिखा है. इसे तो हृदयके आगे ले जाना है इसलिए पहलेकी तरह 'मुनिः' कहा है. छातीमें उदानके साथ समानरूपसे स्थितिको प्राप्त वायुको आगे जानेमें उस समान भावका परित्याग करके उदानके साथमें मिलनेके पूर्वका जो भाव उसका अनुसन्धान करके फिर अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धिसे, जो बुद्धि उस उदान वायुको तो वहीं छोड दे और उसी पूर्व वायुको आगे बढानेमें समर्थ हो; उस बुद्धिसे महाबुद्धिमान् उस वायुको छातीसे अग्रिम स्थान जो तालुमूल है; वहां ले जाये. तालुमूलमें ले जाते समय शीघ्रता न करे. शीघ्रता करनेसे वह वायु मुख आदिके द्वारसे निकल सकती है; इसीलिए उसको धीरे-धीरे ले जानेको कहा है. इस तरह तालुमूलमें स्थिरकी हुई वायुका मुख आदि छिद्रोंकेद्वारा निकलना सम्भव है; इस आशंकासे ही 'निरुद्धसप्तास्वयनः' प्राणवायुके जानेके सातद्वार हैं; उन सबको रोककर तालुमूलमें स्थिरीकृत वायुको तालुमूलसे भ्रूके ऊपर ले जाये. वहां आज्ञाचक्र है; उसमें वायुको स्थिर करे. अन्तःकरणकी शुद्धि तो पहलेसे ही होनी चाहिए; यह तो पहले ही कह चुके हैं. अतः सब प्रकारकी अपेक्षासे रहित होकर वहां(भ्रूके उपरिस्थानमें) भगवान्के ध्यानसे भगवान्के आविर्भूत(प्रकट) होनेपर वहां एक घडी तक अकुण्ठ दृष्टिसे स्थित हो जाये; जिससे उसी जगह उसको भगवान्का सायुज्य प्राप्त हो जायेगा.

वायुके बाहर न निकलनेका प्रयत्न तो पहले ही किया जा चुका है. अतः उस वायुको ब्रह्मरन्ध्रमें ले जाकर ब्रह्मरन्ध्रका भेदन कर विसर्जित कर दे. इन्द्रियोंका भी विसर्जन कर दे. विशेष प्रकारके योगियोंका ऐसा कहना है कि क्रममुक्तिके अधिकारी प्राणोंको भी ब्रह्मरन्ध्रसे निकाले. आगे उनका भी उपयोग होता है. अन्य योगियोंका कथन ऐसा है कि "**इहैव समवनीयन्ते**" इस वाक्यके अनुरोधसे प्राणोंकी यहां ही आत्मामें अपने मूलभूत आसन्यरूपसे स्थिति रहती है. प्राण भोगका साधक नहीं है; यह भी कहते हैं. "**तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति**"

यह श्रुति तो अमुक्ति विषयक है. इसलिए इससे कोई विरोध नहीं आता. शंका करते हैं कि ''**अस्य सौम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां स य एषोणिमा**'' इस छान्दोग्य श्रुतिके अनुसार वाणी, मन, प्राण और तेज इन चारोंका ही लय मुक्ति एवं अमुक्ति विषयमें कहा गया है. इसलिए इन्द्रियत्याग या इन्द्रियविसर्जन श्रुति विरुद्ध अवभासित होता है. इसका उत्तर यह है कि ''**प्राणान् उत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा उत्क्रामन्ति**'' इस शारीरक ब्राह्मणोक्त श्रुतिसे प्राणोंकी जो उत्क्रान्ति और ''**त एतस्यैव रूपम् अभवंस्तस्माद् एते एतेन् आख्यायन्ते प्राणा इति**'' इस सप्तान्न ब्राह्मणोक्त जो प्राणव्रत चरण है; इन दोनोंका विचार करनेसे ''**वाङ् मनसि सम्पद्यते**'' इत्यादि श्रुतिमें भी 'प्राण' शब्दसे इन्द्रियां ही ली जाती हैं. इसलिए वहां भी सर्वेन्द्रिय लय ही कहा गया है. इसलिए प्राणोंके आगमनमें भी इन्द्रियत्याग श्रुतिविरुद्ध नहीं है और गमनमें आयुका अभाव होता है. ''**मुख्ये कार्य सम्प्रत्ययः**'' इस न्यायसे मुख्यानुरोधित प्राणोंका यहां लय होता है. इसलिए इन्द्रियां और इन्द्रियोंसे सम्बद्ध प्राणका बाहर निःसारण किया ऐसा समझना।।१९-२१।।

आभासार्थः इस तरह उत्तम और मध्यम भेदसे दो प्रकारकी सद्यो मुक्तिका निरूपण किया. पहली जो उत्तम सद्योमुक्ति है उसमें वासनाका क्षय न होनेसे, और वासनाका क्षय भोगसे होता है ऐसा मानकर उसकेलिए क्रममुक्तिका कथन करते हुए वह सद्योमुक्ति इन्द्रियादिकोंको अपने साथ ही ले जाता है; उसे कहते हैं.

यदि प्रयास्यन् नृप पारमेष्ठ्यं वैहायसानाम् उत यद् विहारम् ।
अष्टाधिपत्यं गुणसन्निवाये सहैव गच्छेद् मनसेन्द्रियैश्च ।।२२।।

श्लोकार्थः हे राजन्! यदि अक्षीण वासनावाला जीव ब्रह्माके स्थानमें, देवताओंके विहारस्थानमें, अष्टलोकपतियोंके ऐश्वर्यस्थानमें अथवा ब्रह्माण्डके ऊपर अथवा नीचे कहीं भी जाना चाहे तो मन और इन्द्रियादिकोंके साथ ही जावे।।२२।।

व्याख्यार्थः यदि जाना चाहते हैं तो मन और इन्द्रियोंके साथ ही जाये ऐसा सम्बन्ध जानना. 'नृप' यह सम्बोधन इस बातको बताता है कि तुम्हारे सभी पुरुषार्थ सिद्ध हो चुके थे; परंतु वासनाका क्षय न होनेसे तुम भी शिकार खेलने गये थे. इसी तरह जिनकी वासनाका क्षय नहीं हुआ है वे जिस स्थानमें जाना चाहें उस

स्थानोंको गिनाते हैं. ब्रह्माका स्थान, विमानमें वैठकर स्त्रियोंके साथ सर्वत्र अन्तरिक्षमें घूमनेवालोंके जो विहार स्थान हैं वहां अथवा आठ लोकपालोंके अष्टगुणैश्वर्य स्थान. अधिक क्या कहें, गुणोंके समूहरूप ब्रह्माण्डके नीचे, ऊपर तथा मध्यमें जाना चाहें तो मन और इन्द्रियोंके साथ ही जावे. 'च' से वासना और प्राणोंका भी संग्रह होता है. अर्थात् वासनाको भी साथमें रखे अथवा प्राणोंको भी साथ ले जाये।।२२।।

आभासार्थ: जीवका ऐसा सामर्थ्य कैसे होता है; इसपर कहते हैं.

योगेश्वराणां गतिम् आहुरन्तः बहिस्त्रिलोक्याः पवनान्तरात्मनाम् ।
न कर्मभिस्तां गतिम् आप्नुवन्ति विद्या–तपो–योग–समाधिभाजाम् ।।२३।।

श्लोकार्थ: पवनके अन्दर जिनका लिङ्गशरीर रहता है उन योगेश्वरोंकी गति त्रिलोकीके भीतर और बाहर सर्वत्र हो जाती है. उपासना, कृच्छादि तप और अष्टाङ्गयोग तथा समाधियुक्त भक्तिको करनेवाले कर्मकेद्वारा उस गतिको प्राप्त नहीं कर सकते।।२३।।

व्याख्यार्थ: योग जिनके अधीन रहता है वे योगेश्वर कहलाते हैं. यद्यपि गमनका सामर्थ्य इनमें स्वतः नहीं होता किन्तु योगकेद्वारा उनमें सब प्रकारकी गतियां हो जाती हैं. तीनों लोकोंके अन्दर, बाहर और भीतर भी उनकी गति होती है. बाहर स्थित होते हुए भी वे अन्दर आ जाते हैं और अन्दर रहते हुए भी बाहर चले जाते हैं. उसका कारण यह है कि जिनका आत्मा(लिङ्ग शरीर) पवनके अन्दर रहता है, वे योगी ऐसा कर सकते हैं. यहां त्रिलोकीसे ब्रह्माण्ड न समझना; किन्तु तीनों लोक ही समझना. यद्यपि कर्मोंसे भी सर्वत्र ब्रह्माण्डमें गमन हो सकता है, तथापि कर्मोंकेद्वारा होनेवाले गमनमें स्वतन्त्रता नहीं होती है. जो स्वच्छन्द गति योगियोंमें होती है वह कर्म करनेवालोंमें नहीं होती. उनकी गति तो कर्माधीन है; स्वच्छन्द नहीं है.

यहां यह शंका होती है कि उपाय तो दोनोंमें तुल्य है फिर योगगतिमें गौणता और कर्मोंकी(यज्ञ से) गतिमें मुख्यता क्यों है? उसका उत्तर यह है कि कर्म तो स्वतन्त्र है; वह असहाय जीवको अपने अधीन कर लेता है और योगमें तो विद्या, तप, योग और समाधि; ये चार उस जीवके सहायक होते हैं. इन्हीं चारों सहायकोंसे युक्त जीवको योग स्वाधीन नहीं कर सकता. इसी तरह अन्य भी इस जीवको स्वाधीन नहीं कर सकते. इसलिए जीव ही स्वतन्त्र रहता है. जीवके

इच्छानुसार गमनमें दूसरे, विद्या तप आदि गौण हैं, और वे उसके गमनमें सहायक बनते हैं. मन्त्र प्रकारसे की जानेवाली उपासना विद्या कहलाती है. तपसे कृच्छ आदिका ग्रहण है. अथवा तप ज्ञान है. योग जिसके आठ अङ्ग है; उसका यहां ग्रहण है. यहां समाधिसे समाधिमें स्थित भगवान्के दर्शनसे उत्पन्न होनेवाली भक्तिके सहित परम धर्म कहा गया है. इन विद्या आदिकी करणदशामें भी पुरुषकी स्वतन्त्रता रहती है और कर्ममार्गमें तो विधिकी अधीनता रहती है।।२३।।

आभासार्थः इस तरह पुरुषकी स्वाधीनताका निरूपण करके अब पुरुषके गमनका प्रकार कहते हैं.

वैश्वानरं याति विहायसा गतः सुषुम्णया ब्रह्मपथेन शोचिषा।
विधूतकल्कोऽथ हरेरुदस्तात् प्रयाति चक्रं नृप शैशुमारम्।।२४।।
तद् विश्वनाभिं त्वतिवर्त्य विष्णोर् अणीयसा विरजेनात्मनैकः।
नमस्कृतं ब्रह्मविदाम् उपैति कल्पायुषो विबुधा यद् रमन्ते।।२५।।
अथो अनन्तस्य मुखानलेन दन्दह्यमानं स निरीक्ष्य विश्वम्।
निर्याति सिद्धेश्वरजुष्टधिष्ण्यं यद् वै परार्द्धं तदु पारमेष्ठ्यम्।।२६।।

श्लोकार्थः हे राजन्! यह योगी आकाशमार्गसे होता हुआ अग्निलोकमें जाता है. सुषुम्णा नाडीसे वायुरूप होकर ब्रह्मपथसे उस लोकमें जाता है. अग्निलोकमें होकर जानेसे उसकी अपव्यकता सूख जाती है. फिर वह तेजोमय शरीरसे शिशुमार चक्रमें जाता है. रजोरूपसे रहित यह जीव विश्वकी नाभिरूप शिशुमार चक्रका भेदन करके शुद्ध शरीरसे महर्लोकमें जाता है. यह लोक ज्ञानिगम्य है. इस लोकमें एक कल्पकी आयुवाले ज्ञानी भृगु आदि महर्षि रहते हैं. इसके बाद जब सङ्कर्षणके मुखकी अग्निसे यह विश्व(त्रैलोक्य) जल जाता है तब यह योगी उन महर्षियोंके साथ उससे ऊपरके जनलोक, तपोलोक और सत्यलोकमें जाता है. यह सत्यलोक ब्रह्माका स्थान है. वहां भी यह सिद्धेश्वरोंके साथ निवास करता है।।२४-२६।।

व्याख्यार्थः आनन्दमय भगवान्की जहां प्राप्ति होती है वहां तक यह जीव चला जाता है -ऐसा सम्बन्ध है. 'वैश्वानर'से अग्निके अधिष्ठाता देवताका लोक लिया गया है. ''**अग्निः ज्योतिः अहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्**'' इस भगवद्गीताके वाक्यके प्रकारसे गमन होता है.

शंका होती है कि वह लोक बहुत दूर है. वहां तक पहुंचनेमें तो बहुत

समय लगेगा इसलिए जब तक वहां नहीं पहुंचेगा, उसके बीचमें जीवको कोई भोग प्राप्त होंगे नहीं और भोगका आग्रह उसमें विद्यमान है इसलिए बीचमेंसे ही पीछे लौट आयेगा? इसका उत्तर देते हैं **'विहायसा गतः'** वह आकाशमार्गसे जाता है. पूर्वश्लोकमें 'पवनान्तरात्मनाम्' ऐसा कहा ही है. जैसे वायुका गमन होता है उसी तरह उन जीवोंकी भी गति होती है. यदि ऐसी आशंका हो कि वायुकी गति इधर-उधर भी हो सकती है; सीधी ही गति हो ऐसा तो कोई नियम नहीं है. इस पर कहते हैं कि 'सुषुम्णया'. वह सुषुम्णा मार्गसे ही जाता है अतः उसकी गति इधर-उधर नहीं होगी. सीधी गतिसे ही वैश्वानर लोकमें जाता है.

शंका: सुषुम्णा मार्ग इधर-उधर क्यों नहीं जाता? उसकेलिए कहते हैं कि सुषुम्णा मार्ग ब्रह्मका मार्ग है. ब्रह्मका मार्ग होनेसे वह व्यापिवैकुण्ठमें ही जाता है.

शंका: सुषुम्णा तो नाडीरूप है, देहसे बाहर उसका गमन कैसे होगा? इसकेलिए कहा है कि 'शोचिषा'. वह सुषुम्णा नाडी तेजोरूपा है. इसलिए इसके देहकी तरह ब्रह्माण्डमें भी होना सम्भव है. इस तरह तेजोरूप सुषुम्णा मार्गसे वैश्वानर लोकमें जानेपर पहले जलके सम्पर्कके साथ गमन होनेसे अथवा कामनाओंकी बहुलताके साथ गति होनेसे वह सकल्क रहता था. वैद्यकके अनुसार जलके साथ मिश्रित पदार्थको 'कल्क' कहते हैं और अनिष्ट कर कर्म भी 'कल्क'शब्दसे कहे जाते हैं. अत: वहां वैश्वानर लोकमें पहुचने पर उस अग्निमध्य भोगसे कल्कका शोष हो जायेगा. इसलिए उसके अनन्तर ज्योतिःस्थानमें जानेमें आदित्यादि ध्रुव पर्यन्त गमनमें विधूतकल्क होकर तेजोमय शरीरसे ही भगवान्के स्वरूपभूत शिशुमाररूप चक्रमें पहुंचता है.

यद्यपि शिशुमार चक्र पृथ्वीके चारों ओर विद्यमान है; इसलिए टेढी, सीधी, ऊपर और नीचे भी गति हो सकती है तथापि वह जीव ऊपर ही जाता है. नृप यह सम्बोधन शुद्ध सत्त्वात्मक जीवकी गति ऊपरकी ओर ही होती है; इसे तुम जानते हो. जो मनुष्योंकी रक्षा करता है उसे मनुष्य अपनेसे ऊपर ही रखते हैं. शिशुमार चक्रका स्वरूप आगे पञ्चम स्कन्धमें कहा जायेगा.

वहां ध्रुवका स्थान शिशुमार चक्रके अन्तमें होता है. वह शिशुमारचक्र ब्रह्माण्डका नाभिस्थान है, उसके आगे चार लोक हैं. वहां तु शब्दसे जीवको पूर्वकी तरह रूपांतर करना होता है. उससे दूसरा रूप ध्रुव स्थानमें होता है. विष्णोः इस पदका सम्बन्ध दोनोंके साथ होता है. अर्थात् ध्रुवस्थान और महर्लोक आदि

दोनों ही विष्णुके स्थान हैं. उन लोकोंमें जिस तरहसे शरीरसे जाया जाता है; उसका वर्णन करते हैं '**अणीयसा विरजेन आत्मना**' वह शरीर पूर्व शरीरकी अपेक्षा बहुत छोटा होता है. उसमें प्रधान रूपसे वायु ही रहती है अर्थात् उसके अवयव बहुत शिथिल होते हैं; मजबूत नहीं होते. उसमें रजोगुणका सम्बन्ध नहीं रहता. वायुका रजोगुणके साथ सम्बन्ध तीन लोकमें ही रहता है; आगे नहीं रहता. अथवा पूर्वशरीर तो तामस था; उसे जीवने वैश्वानर लोकमें त्याग दिया. और जो दूसरा था, उसे भी ध्रुव स्थानमें छोड दिया. अब जो यह तीसरा शरीर तमोगुण और रजोगुणसे रहित है इसको विरज कहते हैं. केवल सत्त्वमय अथवा सत्त्वमिश्र यह होता है इस विरज शरीरसे केवल सत्त्वमयसे ब्रह्माण्डका भेदन करता है यह आगे कहा जायेगा. आत्मनाका अर्थ है पूर्वमें जिस शरीरको आत्माके रूपमें ग्रहण किया था. आगे जानेमें वैमानिकों(देवताओं)की सहायता नहीं रहती है, उसको ही केवल जाना पडता है; इसलिए 'एकः' ऐसा कहा. महर्लोक ब्रह्मवेत्ताओंका स्थान है; अतः उसमें केवल ब्रह्मज्ञानी लोग ही रह सकते हैं. अन्य लोग तो उस स्थानको केवल नमस्कार ही कर सकते हैं. उस महर्लोकमें तो जिनकी कल्पपर्यन्तकी आयु है; ऐसे भृगु आदि ज्ञानी ही विशेषरूपसे भगवद्गुणोंके स्मरणसे अथवा समाधिरूप ज्ञानसे उस महर्लोकमें आनन्दमग्न रहते हैं. यह जीव भी वहां जाकर ब्रह्मकल्प पर्यन्त वहां निवास करता है. उसके बाद जब भगवान्का शयन होता है तब अनन्त भगवान् सङ्कर्षणके मुखकी अग्निसे तीनों लोकोंको अत्यन्त जलता हुआ देखकर भृगु आदि ऋषियोंके साथ ही वह जीव महर्लोकसे निकल जाता है. अथो पदका तात्पर्य यह है कि उसके इस तरह जानेमें कालका बहुत ही व्यवधान हो जाता है. यहां अथो शब्दके अर्थ कथनसे यहां वह जीव वायवीय शरीरका परित्याग कर देता है; यह सूचित होता है. फिर वह जनलोक और तपोलोकमें जाता है जहां सिद्धेश्वरोंके स्थान हैं. तदनन्तर पारमेष्ठ्य सत्यलोक है. उस सत्यलोकमें भी सिद्धेश्वरोंके स्थान हैं।। २४-२६।।

आभासार्थः उस सत्यलोकमें उसे मुक्तिकी तरह सुख प्राप्त होता है.

न यत्र शोको न जरा न मृत्युः नाधिर्न चोद्वेग ऋते कुतश्चित्।
यच्चित्ततोऽदः कृपयानिदंविदां दुरन्तदुःखप्रभवानुदर्शनात्।।२७।।

श्लोकार्थः उस ब्रह्मलोकमें किसी अन्यकी ओरसे शोक, जरा(बुढापा), मृत्यु, मनश्चिन्ता, उद्वेग आदि कोई दुःख नहीं हैं. परंतु संसारके दुःखोंको न

जाननेवाले संसारी लोगोंको अनन्तकाल तक दुःख भोगते हुए देखकर दयाके कारण उनके चित्तमें दुःख हुआ करता है।। २७।।

व्याख्यार्थ: जिस ब्रह्मलोकमें अज्ञानके कारण होनेवाला शोक नहीं है, जरा(बुढापा) जो देहका धर्म है वह भी नहीं है, वहां किसीकी मृत्यु नहीं होती. वहां अन्तःकरणके धर्मके अभावसे मनमें पीडा नहीं होती. कुछ टीकाकारोंका मत है कि प्राणग्राहक होनेसे अन्तःकरणका धर्म मृत्यु है. वहां बुद्धिका धर्म घबराहट भी नहीं है. अथवा 'उद्वेग'का अर्थ असहिष्णुता समझना. यद्यपि असहिष्णुता और उद्वेग वहां भी हैं; परंतु अन्यकेद्वारा नहीं है. किन्तु उनमें असहिष्णुता और उद्वेग स्वतः हैं. स्वतः क्यों हैं? उसे स्पष्ट रूपसे बताते हैं. उनके अन्दर जो चित्तकी विद्यमानता रहती है; इस कारणसे उनको जो दुःख होता है, उस दुःखका अनुभव वे ही करते हैं. वह दुःख कहने योग्य नहीं है. 'अनिदंविदां दुरन्त-दुःख-प्रभवानुदर्शनात्' यह स्थान और यह साधन ज्ञान अथवा मार्गके प्रकार इनको ये नहीं जानते. अतः जिन दुःखोंका कभी अन्त नहीं होता; वैसे दुःखोंको संसारमें बादमें देखते हैं. तात्पर्य यह है वे संसारी जीवोंको देखते हैं कि वे एकबार उत्पन्न होकर समझदार होते हुए भी, संसारके दुःखोंको जानते हुए भी फिर उसी संसारमें जाते हैं; इसका दुःख उनके चित्तमें होता है।।२७।।

आभासार्थ: ब्रह्मलोकमें पहुंचनेके बाद वे मुक्त अपनी इच्छासे ब्रह्माण्डका भेदन करते हैं.

ततो विशेषं प्रतिपद्य निर्भयः तेनात्मनापोऽनलमूर्त्तिरत्वरन्।
ज्योतिर्मयो वायुम् उपेत्य काले वाय्वात्मना खं बृहदात्मलिङ्गम्।।२८।।

श्लोकार्थ: इसके बाद पृथ्वीके आवरणको प्राप्त कर फिर जलावरणमें जलरूप होता हुआ, फिर अग्निके आवरणमें अग्निमय होता हुआ, वायुके आवरणमें वायुरूप होकर, अक्षरब्रह्मके शरीर आकाशावरणमें आकाशरूप होकर मिल जाता है।।२८।।

व्याख्यार्थ: अश्वमेध यज्ञ करनेवाले भी ब्रह्मलोकमें जाते हैं. उसी तरह हिरण्यगर्भ(ब्रह्मा)की उपासना करनेवाले एवं योगाभ्यासी भगवद्भक्त भी वहां (ब्रह्मलोकमें) जाते हैं. उनमें कर्मठ लोगोंकी तो पुनरावृत्ति हो जाती है ऐसा गीतामें बताया है '**आब्रह्मभुवनाद् लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुनः**'. जो हिरण्यगर्भके उपासक हैं उनकी तो ब्रह्माके साथ ही ब्रह्मकी जो गति होती है वह गति ही उनकी होती है

और पूर्वोक्त जीव तो ब्रह्माण्डके सात आवरणोंका भेदन करके चला जाता है; उसकी गतिको बताते हैं. वह सत्यलोकसे विशेष जो पृथिवीका आवरणरूप है उसमें जाता है. वहां वह पृथिवीरूप होकर प्रविष्ट हो जाता है. जब पृथिवीके आवरणका अतिक्रमण करता है तब आवरणरूप पृथिवीका सायुज्य प्राप्त कर उस आवरणका अतिक्रमण करके जलरूपसे जलका सायुज्य प्राप्त करता है. उस जलावरणका अतिक्रमण करनेपर क्रमशः अग्नि-वायुके आवरणोंका अतिक्रमण करके आकाशके अतिक्रम पर्यन्त जाता है. सर्वत्र वह आवरणरूप बनकर ही जाता है. 'अत्वरन्'का आशय यह है कि उन-उन आवरणोंमें गन्ध आदि भोगोंका भोग करता हुआ ही नियत समय तक वहां रहता है. जब समय हो जाता है, भोगेच्छाका अवसान हो जाता है तब वह आगे-आगे चलता रहता है. 'खं' का अर्थ आकाश है. वह तो बहुत बडा है और अनन्त है; अथवा शब्दरूप है या नादात्मक है. आकाशके बडे होनेका कारण तो यह है कि वह भगवान्का लिङ्गशरीर है, जैसा कि श्रुतिसे बताया है ''**आकाशशरीरं ब्रह्म**'' यह आकाश ब्रह्मके व्यापकत्व, अन्तः और बहिः व्यवहारहेतुत्व परिच्छेद और अपरिच्छेद, शब्दब्रह्माश्रयत्व आदि धर्मोंका बोधन कराता है. अर्थात् आकाशके धर्म ब्रह्मके धर्मोंके समान हैं।।२८।।

आभासार्थ: इस तरह आकाश पर्यन्त महाभूतांशोंका परित्याग हो जाता है; तब विषयों(पंचमहाभूतों)के अतिक्रमणके अनन्तर इन्द्रियोंका अतिक्रमण बताते हैं.

घ्राणेन गन्धं रसनेन वै रसं रूपञ्च दृष्ट्या श्वसनं त्वचैव।
श्रोत्रेण चोपेत्य नभोगुणत्वं प्राणेन चाकूतिम् उपैति योगी।।२९।।

श्लोकार्थ: पञ्चमहाभूतोंके परित्यागके अनन्तर वह योगी घ्राणके साथ ही गन्धका, रसन इन्द्रियके साथ ही रसका, दृष्टिके साथ ही रूपका, त्वचाके साथ ही श्वसनका, श्रोत्रके साथ ही शब्दगुणताको प्राप्त करके प्राणकेद्वारा कर्मेन्द्रियोंका भी परित्याग कर देता है।। २९।।

व्याख्यार्थ: 'घ्राणेन'की जगह कहीं 'प्राणेन' एसा भी पाठ है परंतु अर्थ दोनोंका एक ही है. सब जगह पहले उस-उस रूपको प्राप्त करके उन-उन भोगोंके अनन्तर उनका अतिक्रम करके जाना चाहिए. 'नभोगुणत्व'का अर्थ है शब्दत्व. 'प्राणेन'का अर्थ है कर्मेन्द्रियोंके साथ प्राणसे अथवा कर्मेन्द्रियरूप

प्राणसे. 'आकूति'से आदान, गति, विसर्ग, वाक् और निवृत्ति –इन पांच क्रियाओंका ग्रहण करना. 'उपैति'का अर्थ छोडना है. 'योगी' शब्द इसलिए कहा है कि योगकी सामर्थ्यको भूलना नहीं चाहिए।। २९।।

आभासार्थ: अहङ्कार आदिके अतिक्रमको कहते हैं.

स भूत–सूक्ष्मेन्द्रिय–सन्निकर्षं मनोमयं देवमयं विकार्यम्।
सम्प्राप्य गत्या सह तेन याति विज्ञानतत्त्वं गुणसन्निरोधम्।।३०।।
तेनात्मनात्मानम् उपैति शान्तम् आनन्दम् आनन्दमयोऽवसाने।
एतां गतिं भागवतीं गतो यः स वै पुनर्नेह विषज्जतेऽङ्ग।।३१।।

श्लोकार्थ: वह योगी तामस, राजस और देवमय अहङ्कारको तद्रूप होकर परित्याग करता है और फिर उसीके साथ–साथ शुद्ध तत्त्व तथा सत्त्वादि गुणोंकी समान अवस्था गुण प्रकृतिमें तद्रूप होकर उसका भोग करनेके अनन्तर उसका भी परित्याग कर देता है. फिर अपनी आत्मासे आत्मा(अक्षरब्रह्म)को प्राप्त कर फिर आनन्दमय होकर आनन्दमय पुरुषोत्तमको प्राप्त करता है. जो योगी इस भागवती गतिको प्राप्त कर लेता है वह फिर इस संसारमें नहीं आता है और न इस संसारमें फंसता है।।३०–३१।।

व्याख्यार्थ: वही योगी महाभूतों और पञ्चतन्मात्राओंके उत्पत्तिस्थान तामस और राजस अहङ्कारको तथा मनोमय देवमय सात्त्विक विकार्य मूलाहङ्कारको उस–उस रूपको प्राप्त होकर उसका परित्याग करता है. अर्थात् क्रिया और अहङ्कार का परित्याग कर देता है. 'विज्ञानतत्त्व'का अर्थ है महत्तत्त्व और 'गुणसन्निरोध'का अर्थ प्रकृति है. सब जगह वह उसी आत्मासे गति करता है. आगे पुरुषावरण है. उसमें भी उसी आत्मासे आत्माको प्राप्त करता है. तदनन्तर शान्त अक्षरब्रह्मको प्राप्त करता है. उसके बाद स्वयं आनन्दमय होकर आनन्दस्वरूप पुरुषोत्तमको प्राप्त करता है. बस इसके आगे कोई गति नहीं है. भगवान्ने गीतामें कहा है कि ''हे अर्जुन! मुझ(पुरुषोत्तमको) प्राप्त करके फिर वह जन्म नहीं लेता'' ''**माम् उपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते**''. ब्रह्माण्डके मध्यमें ही हृदयके मध्यमें अथवा ब्रह्माण्डसे परे जहां भी आनन्दमय होकर आनन्दरूप भगवान्में प्रवेश करता है वह फिर कदापि इस संसारमें प्रवेश नहीं करता।।३०–३१।।

आभासार्थ: इस तरह सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति; दो मार्ग कहे गए जिनसे पुनः इस संसारमें नहीं आना पडता. अब इसका उपसंहार करते हैं.

एते सृती ते नृपदेव गीते त्वयाभिपृष्टे च सनातने च।
ये वै पुरा ब्रह्मण आह पृष्ट आराधितो भगवान् वासुदेवः।।३२।।

श्लोकार्थ: हे नृपदेव! जिन दो मार्गोंके विषयमें तुमने प्रश्न किया था और जो मार्ग सनातन हैं उन दोनों मार्गोंका वर्णन मैनें कर दिया. पहले ब्रह्माजीने भी भगवान् वासुदेवकी आराधना करके यही प्रश्न पूछा था, तब भगवान् वासुदेवने इन्हीं मार्गोंका उपदेश ब्रह्माजीको दिया था।।३२।।

व्याख्यार्थ: इन दो अध्यायोंमें जितने भी पदार्थ कहे हैं उन सबको भगवत्स्वरूपसे ही जानना चाहिए, इसलिए इन सब पदार्थोंका सन्निवेश उपयोगके अनुसार कर लेना चाहिए. युक्तियोंसे विचार करनेपर स्वरूप स्पष्ट हो जायेगा. यहां तो केवल उनका नाममात्र कर दिया है. उनका स्पष्ट विवेचन तो आगे विमर्शाध्यायमें करेंगे. वह विवेचन तुम्हारे ही लिए होगा. 'हे नृपदेव!' यह सम्बोधन इस बातका द्योतक है कि तुम राजा हो; अतः तुम्हारे सुखकेलिए इनका स्वरूप कह दिया है. वह भी तुमने पूछा था इसलिए कहा. तुमने यद्यपि साधनका प्रश्न किया था परंतु साधन तो फल प्राप्तिकेलिए ही किया जाता है. अतः साधनके साथ फलका प्रश्न भी आ जाता है. ये सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति मार्ग सनातन है. यह नहीं है कि इन मार्गोंसे प्रथम ही प्रथम कोई जाता है किंतु ये मार्ग तोअनादि सिद्ध हैं. इनमें जानेवाला कौन है यह आगे स्पष्ट हो जायेगा. 'ये वै पुरा' से इनको अनादितामें प्रमाण कहा है. ब्रह्माजीके पूछने पर भगवान्ने ब्रह्माजीको कहा, बिना पूछे भगवान्ने भी नही कहा. ब्रह्माजीने जब भगवान्की आराधनाकी तब ये मार्ग भगवान्ने कहे. कहना आवश्यक इसलिए था कि भगवान् वासुदेव हैं; मोक्षदाता हैं।।३२।।

आभासार्थ: इस तरह फलका निरूपण करके इसका उपसंहार करते हैं. इस मार्गके प्रवेशमें कितने उपाय हैं; इस जिज्ञासा पर कहते हैं.

न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतां संसृताविह।
वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत्।।३३।।

श्लोकार्थ:जो लोग इस संसारमें प्रवेश करते हैं उनके कल्याणका इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है. क्योंकि इस मार्गमें वासुदेव भगवान्में भक्तियोग हो जाता है।। ३३।।

व्याख्यार्थ: इस पूर्वोक्त मार्गसे अन्य कोई कल्याणकारी मार्ग नहीं है,

साधनदशामें भी जो सुखकर हो. जो इस मार्गमें प्रथम ही प्रविष्ट होता है उसे भी किसी प्रकारका भ्रम नहीं हो सकता ऐसा सन्मार्ग कोई नहीं है. यह मार्ग बहुत लोगोंको गति देनेमें योग्य है. यह मार्ग तो बेसमझीसे जो इस संसारमें प्रवेश कर रहे हैं उनकेलिए है, जो संसार्येक स्वभाववाले एवं जो संसारमें प्रविष्ट हो गये हैं उनकेलिए नहीं है. ''वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत्'' इससे उस मार्गका पुनः स्मरण दिलाते हैं. मोक्ष देनेकेलिए आये हुए साक्षात् परब्रह्मरूप भगवान्में सत्त्वाकारसे परिणत अन्तःकरणमें षड्गुणैश्वर्यरूपसे सत्त्वासनमें आविर्भूत भगवान्में जिस किसी उपायसे परम प्रीति हो वह उपाय करना चाहिए.

भगवल्लीलाओंके सुननेसे भगवान्में स्नेह होता है और सुनी हुई भगवल्लीलाओंका मनन एवं निदिध्यासन रूपसे जब ध्यान किया जाता है तब सर्वभावस्नेह होता है. यह स्नेहकी द्वितीय कोटि है. इसके बाद सूक्ष्म ध्यानसे हृदयमें भगवान्के आ जानेपर उनमें जो परम स्नेह है वह ही साक्षात् भगवत्प्रवेशका कारण है. वह परम स्नेह फलरूप भी है, साधनरूप भी है और अवान्तर व्यापाररूप भी है. इन सबका कारणभूत यह मार्ग घरसे निकले हुए केलिए अपने इष्टदेशमें प्रवेश पर्यन्त विस्तृत है. उसमें इसका प्रथम भाग साधनरूप है, मध्यभाग अवान्तर व्यापाररूप है और अग्रिम भाग भगवान्से सम्बन्ध रखनेवाला होनेसे फलरूप है. उसमें श्रवणादि और मननिदिध्यासन– रूप दोनों ध्यान क्रमशः फैली हुई भूमिके समान हैं. प्रेम दोनों चरणमें हो. यदि वह प्रेम उस मार्गसे वहां तक गति करे तो भगवान्को प्राप्त करा सकता है; अन्यथा नहीं।।३३।।

आभासार्थः फल और साधनका निर्धार तो पहले ही हो चुका है.

भगवान् ब्रह्म कात्स्न्र्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया।
तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन्यतो भवेत्।।३४।।

श्लोकार्थः भगवान् ब्रह्माने वेदको अपनी बुद्धिसे पूरी तरह तीन बार विचारा और तब यह निश्चय किया कि जिस उपायसे परब्रह्ममें अपना अनुराग हो; वह उपाय ही श्रेष्ठ है।।३४।।

व्याख्यार्थः श्रीशुकदेवजीने प्रमेयबलसे यद्यपि राजाको कह दिया परंतु प्रमाणबलसे भी उसे कहना चाहिए. इसलिए पूर्वोक्त अनादिसिद्ध राशिभूत वेदको ब्रह्माजीने अपनी विचारक बुद्धिसे आलोडन करके फलरूपसे आत्माका निश्चय करके फिर साधनका विचार करने लगे तो ''**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः**'' ''भगवान्

जिसे स्वीकार करे वह ही भगवान्को प्राप्त करता है'' इत्यादि वाक्योंसे भगवान्का स्वीकार करना ही साधन है और प्रेम ही अवान्तर व्यापार है ऐसा जानकर, और **'भक्त्यैव तुष्टिम् अभ्येति'** ''भगवान् भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं'' इसका विचार कर मुख्य साधन भक्ति है; यह जानकर और भक्तिका साधक अन्य है ऐसा निश्चय किया. उसमें भी कूटस्थ निश्चल होकर निश्चय किया।। ३४।।

आभासार्थ: इस तरह प्रमाण और युक्तिसे भक्तिमार्गको स्थिर करके अन्य मार्गोंका भक्तिमार्गमें परम्परासे उपयोग है इसको कहनेके लिए कहते हैं.

भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः।
दृश्यैर्बुद्ध्यादिभिर्दृष्टा लक्षणैरनुमापकैः।।३५।।

श्लोकार्थ: सबका दृष्टा हरि भगवान् सब प्राणियोंमें अपनी आत्मा (अंश) रूपसे जाना जा सकता है. उसका अनुमान दृष्य बुद्धि आदि लक्षणोंसे हो सकता है।। ३५।।

व्याख्यार्थ: प्रत्येक पुरुष और प्रत्येकके विषयमें शास्त्रका विस्तार है. वे शास्त्र किसी भी तरहसे बाधित नहीं हो सकते. परम्परासे उनका उपयोग होता आया है. भगवान् उन्हीं सब शास्त्रोंसे सब प्राणियोंमें लक्षणासे लक्षित हैं. उसको नैयायिक कर्तारूपसे जानते हैं. मीमांसक क्रियारूपसे. वेदान्त आत्मरूपसे और सांख्य आदि करणरूपसे जानते हैं. अन्य लोग उन भेदोंसे ज्ञानत्वसे और कोई ज्ञातृत्वसे उसे जानते हैं. कोई उन भगवान्को ज्ञानके अधिष्ठाता मानते हैं. इस तरह सबने भगवान्के एक देशको ही लक्षित किया है. एक अन्धहस्ति न्याय है. अनेक अन्धोंको इकठ्ठा करके हाथी दिखाया जाये तो उनकी आंखें तो होती नहीं हैं; केवल स्पर्शसे ही अनुभव और युक्ति केद्वारा उसका वर्णन करते हैं. जिसने हाथीके पैरको पकडा वह हाथी खम्भे जैसा है. जिसने पीठका स्पर्श किया वह चबूतरे जैसा है. जिसने पूंछ पकडी वह रस्सी जैसा है ऐसा अनुमान करते हैं; परंतु इन अन्धोंके कहे हुए आकारवाला हाथी नहीं है. हां हाथीका एक-एक हिस्सा उनके कथनानुसार है. इसी तरह भगवान् केवल कर्ता या केवल क्रिया या करण आदि नहीं हैं; किन्तु वह कर्ता, क्रिया,आत्मा, करण, ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञानाधिष्ठान आदि सब कुछ हैं. द्रष्टा वह भगवान् दृश्योंसे बुद्धि आदि लक्षणोंसे असाधारण चिह्नोंसे जो जीवमें नहीं हो सकते उनसे तथा क्रिया आदिसे उनका अनुमान कर सकते हैं. अर्थात् परोक्षज्ञानको उत्पन्न करनेवाले तर्क सहकृत अनुमापकोंसे ही

लक्षित होता है, लक्षणासे जनाया जाता है।। ३५।।

आभासार्थ: अतः न्याय आदि सभी दर्शन ब्रह्मका ज्ञान करानेमें अनुपयुक्त हैं. इसलिए पूर्वोक्त प्रकारसे ही उस भगवान्का श्रवण, स्मरण औरकीर्तन करना चाहिए.

तस्मात् सर्वात्मना राजन्! हरिः सर्वत्र सर्वदा।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यो भगवान् नृणाम्।।३६।।

श्लोकार्थ: इसलिए हे राजन्! सब जगह, हर समय भगवान्का श्रवण,कीर्तन और स्मरण करना चाहिए.

व्याख्यार्थ: 'सर्वात्मना'का अर्थ है स्थिर चित्तके साथ. 'राजन्' यह सम्बोधन राजाको विचार करनेकेलिए दिया है. 'हरि'का अर्थ है भगवान् साधन दशामें भी दुःखको दूर करनेवाले हैं. 'सर्वत्र-सर्वदा' ये दो पद इस बातको सूचित करते हैं कि श्रवणादिमें देश-कालका विचार नहीं करना चाहिए. भगवान् होनेसे पूर्ववत् श्रोतव्य आदिका फल देनेमें समर्थ हैं. श्रवणादिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है इसके लिए 'नृणाम्' पद दिया है।। ३६।।

आभासार्थ: इस तरह मार्गको और वस्तुतत्त्वको कहकर अब प्रकरण समाप्त हो रहा है इसलिए साधारण श्रवण भी चित्त आदिकी शुद्धिकेद्वारा भगवान्को प्राप्त कराता है.

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम्।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम्।।३७।।

श्लोकार्थ: सन्तोंकी आत्मा ऐसे भगवान् श्रीकृष्णके चरितरूप अमृतको जो कानोंमें भरकर पीते हैं वे विषयोंसे दूषित अपने अन्तःकरणको पवित्र करते हैं और अन्तमें भगवान्के चरणारविन्दको प्राप्त करते हैं।। ३७।।

व्याख्यार्थ: बाहरकी स्थित वस्तुको अन्दर प्रविष्ट करना पीना कहलाता है. सभीमें भगवान् भगवत्स्वरूपसे स्फुरित होते हैं. सज्जनोंकेलिए तो भगवान् आत्मत्वरूपसे भी स्फुरित होते हैं. यद्यपि सभी लोग सकाम होते हैं; किन्तु सज्जन लोग को प्रेमलाभ होते हैं. प्रेमको ग्रहण करनेवाले होते हैं. भगवान्की कथा ही अमृत है. इस अमृतको कानोंमें भर लिया जाता है तो यह अमृत विषयोंसे विशेषरूपसे दूषित अन्तःकरणवालोंको पवित्र कर देता है. जैसे रोगी अन्दरके असाध्य रोगोंसे व्याप्त हो तो उसे वैद्य अमृतरससे ठीक करते हैं; उसी तरह जब

अन्तःकरण भी विषय सहित विशेषसे दूषित हो जाता है और किसी भी तरह सन्मार्गके योग्य नहीं रहता; उसे भी यह कथामृत पवित्र करता है. क्रमशः वह कथामृत चरणकमलके निकट वैकुण्ठको अथवा भक्तको प्राप्त करा देती है ।।३७।।

श्रीभागवत महापुराणके द्वितीय स्कन्धकी महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी विवृतिका दूसरा अध्याय सम्पूर्ण.

अध्याय ३

द्वितीय साधन: श्रोताका हृत्प्रसाद–श्रद्धा

कामनाओंके अनुसार विभिन्न देवताओंकी उपासना तथा भगवद्भक्तिके प्राधान्यका निरूपण

श्रोतव्यविषयत्वेन तत्त्वम् एवं निरूपितम्।
उद्देशेनास्य निपुणं साधनं विनिरूप्यते।।का.१।।
अदृष्टं साधनं वाच्यं दृष्टं चाप्यत्र सम्मतम्।
अन्यथा क्रियमाणस्तु विमर्शो व्यर्थतां व्रजेत्।।का.२।।
इन्द्रियाणाम् अदुष्टत्वे ह्यनुकूले तथेश्वरे।
साध्यं सम्पद्यते पूर्णम् अतोऽत्र द्वयम् ईर्यते।।का.३।।
श्रद्धापि तदभिप्रायात् श्रोतुर्वक्तुश्च गम्यते।
तस्मात् साधनसंयुक्तः शृणुयाद् नेतरो वृथा।।का.४।।

कारिकार्थ: पूर्वके अध्यायोंमें उद्देश रूपसे श्रोतव्य विषयत्वसे इस तरह वस्तुतत्त्वका निरूपण कर दिया. अब इसके फलोपकारी साधनका निरूपण किया जाता है. यहां अदृष्ट और दृष्ट साधन दोनों ही कहने चाहिए अन्यथा किया जानेवाला विमर्श व्यर्थ हो जायेगा. जब इन्द्रियां निर्दोष हों और ईश्वर अनुकूल हो तब श्रवण–कीर्तनरूप साध्य पूर्ण होता है. अतः यहां पर अदृष्ट और दृष्ट साधन दोनों ही कहे जाते हैं. इसी अभिप्रायका अनुसन्धान करके श्रोता तथा वक्ता की श्रद्धा भी होनी चाहिए, यह भी जाना जाता है. इसलिए जो साधनसे संयुक्त है वह ही इसका श्रवण करे, साधनरहितका श्रवण वृथा है।।१–४।।

आभासार्थ: इस तरह दो अध्यायोंसे सविषय श्रवणका निरूपण करके, महाफलवाले श्रवणमें सभीकी प्रवृत्ति नहीं देखकर विचार किया कि इसमें कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए जिससे सब लोग इसमें प्रवृत्त नहीं होते हैं; ऐसी आशंका करके विषय(भगवल्लीला) तो निर्दुष्ट है; अतः या तो करण(इन्द्रियों) का दोष हो या इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंका दोष हो ऐसी आशंका करके विचार किया कि इन दोनोंमें भी अधिष्ठाता ही बलवान् हैं अतः वे ही इसमें रुकावट डालनेवाले हैं इसीलिए श्रवणादिमें प्रवृत्ति नहीं हो रही है. ऐसा निश्चय करके

इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंका भजन करना चाहिए जिससे श्रवणादिमें आनेवाला प्रतिबन्ध मिट जायेगा. अतः पहले तो अन्य देवताओंका भजन करना चाहिए, और उसके अनन्तर इन्द्रियोंका शोधन करना चाहिए; ऐसी आशंका करके उसका उत्तर देते हैं. यदि अन्य देवताओंका भजन किया जायेगा तो फिर बहिर्मुखता आ जायेगी और वे देवता तो नियत फल ही दे सकेंगे; इसलिए प्रतिबन्धकके मिटानेकेलिए किया गया भजन दोषान्तररूप बन जायेगा. अतः उन फलोंकी नियतताका प्रतिपादन करनेकेलिए पहले पूर्वके तत्त्वविचारके साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है; इसको बतानेके लिए पूर्व प्रसंगका यहां उपसंहार कर देते हैं.

श्रीशुक उवाच

एवम् एतद् निगदितं पृष्टवान् यद् भवान् मम।
नृणां यन् म्रियमाणानां मनुष्येषु मनीषिणाम्।।१।।

श्लोकार्थः हे राजन्! तुमने जो मरनेवाले मनुष्योंकेलिए और समझदारों के कर्तव्यकेलिए प्रश्न किये थे उनका उत्तर मैनें दे दिया।। १।।

व्याख्यार्थः तुमने जो मुझसे पूछा था मनुष्योंमें जो मरनेवाले हैं; उनकेलिए तथा मनुष्योंमें जो समझदार हैं; उन दोनों ही के लिए श्रवणादिक तुम्हें कह दिये।।१।।

ब्रह्मवर्चसकामस्तु यजेत ब्रह्मणस्पतिम्।
इन्द्रम् इन्द्रियकामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन्।।२।।
देवीं मायां तु श्रीकामः तेजस्कामो विभावसुम्।
वसुकामो वसून् रुद्रान् वीर्यकामोऽथ वीर्यवान्।।३।।

श्लोकार्थः ब्रह्मतेजकी इच्छावाला ब्रह्मणस्पतिकी उपासना करे. इन्द्रियोंकी कामनावाला इन्द्रकी, सन्तानकी कामनावाला प्रजापतिकी, सम्पत्तिरूप धनकी कामनावाला तमोधिष्ठात्री देवी मायाकी, तेजकी इच्छावाला अग्निकी, धन मात्रकी कामनावाला द्रोण आदि आठ वसुओंकी, पराक्रमकी कामनावाला वाम आदि ग्यारह रूद्रोंकी उपासना करे तो वह वीर्यवान् हो जाता है।।२-३।।

अन्नाद्यकामस्त्वदितिं स्वर्गकामोऽदितेः सुतान्।
विश्वान् देवान् राज्यकामः साध्यान् संसाधको विशाम्।।४।।

आयुः कामोऽश्विनौ देवौ पुष्टिकाम इलां यजेत्।
प्रतिष्ठाकामः पुरुषो रोदसी लोकमातरौ।।५।।

श्लोकार्थः अन्न आदिकी कामनावाला अदितिकी आराधना करे. स्वर्गकी कामनावाला द्वादश आदित्योंकी, राज्यकी इच्छावाला विश्वदेवोंकी, प्रजाओंको अपने अधीन करनेकी इच्छावाला साध्योंकी, आयुकी कामनावाला अश्विनीकुमारोंकी, पुष्टिकी इच्छावाला पृथिवीकी, प्रतिष्ठाकी इच्छा रखेवाला लोकके माता-पितारूप आकाश और पृथिवी दोनोंकी उपासना करे ।।४-५।।

रूपाभिकामो गन्धर्वान् स्त्रीकामोऽप्सरउर्वशीम्।
आधिपत्यकामः सर्वेषां यजेत परमेष्ठिनम्।।६।।
यज्ञं यजेद् यशस्कामः कोशकामः प्रचेतसम्।
विद्याकामस्तु गिरिशं दाम्पत्यार्थम् उमां सतीम्।।७।।

श्लोकार्थः रूपकी कामनावाला गन्धर्वोंकी, स्त्रीकी कामनावाला ऊवर्शी अप्सराकी, सबके ऊपर आधिपत्य चाहनेवाला परमेष्ठीकी, यशकी कामनावाला यज्ञकी, कोषकी कामनावाला वरुणकी, विद्याकी कामनावाला महादेवकी, दाम्पत्य सुखकी चाह वाला सती पार्वतीकी...।। ६-७।।

धर्मार्थम् उत्तमश्लोकं तन्तुं तन्वन् पितॄन् यजेत्।
रक्षाकामः पुण्यजनान् ओजस्कामो मरुद्गणान्।।८।।
राज्यकामो मनून् देवान् निर्ऋतिं त्वभिचरन् यजेत्।
कामकामो यजेत् सोमम् अकामः पुरुषं परम्।।९।।

श्लोकार्थः धर्मकी इच्छा रखनेवाला भगवान्की, सन्ततिके विस्तारकी इच्छा रखनेवाला पितरोंकी, राज्यकी कामनावाला देव मनुओंकी, अभिचारिक क्रिया(किसीको मारने)की इच्छा हो तो मृत्युकी आराधना करे. कामकी कामनावाला चन्द्रमाकी और निष्काम(कामनारहित) हो तो पर पुरुष पुरुषोत्तमकी आराधना करे।।८-९।।

व्याख्यार्थः पूर्वके कहे गयेका उपसंहार करके अन्य देवताओंका भजन नहीं करना चाहिए, इसकेलिए अपने मतमें तत्त्वरूप २८ देवता हैं. वेदमें जो ३३ देवता वसु(८), रूद्र(११), आदित्य(१२), इन्द्र(१) और प्रजापति(१) वे भी यहां तत्त्वरूपसे कहे गए हैं. अधिक क्या कहें; ये सभी तत्त्वके अन्दर ही आ जाते

हैं. वे तत्त्व तो २८ हैं. ये सब देवता विष्णुकी कला हैं; "**एते देवाः कला विष्णोः**" वे देवता प्रजापतिसे लेकर सोम पर्यन्त हैं. उनमें सर्वप्रथम रजोगुणाभिमानिनी देवता ब्रह्मणस्पति है. जिसने वेद आदिका निर्माण किया तथा जगत्का निर्माण किया. उसके भजनमें ब्रह्मतेज होता है. इसलिए ब्रह्मवर्चस्की कामनावाला उसका भजन करे.

इसके बाद सत्त्वाभिमानिनी देवता इन्द्र है; वह यज्ञादिरूप है. उसके भजनसे इन्द्रियोंकी सिद्धि होती है. इसलिए इन्द्रियोंकी सिद्धिकी कामनावाला इन्द्रका भजन करे. इसी तरह आगे भी समझना.

पुत्रकी कामनावाला मरीचि आदि प्रजापतिका भजन करे. ये तमोधिष्ठात्री देवता है.

देवी माया जो प्रकृतिकी अधिष्ठात्री है; धनकी कामनावालेको उसका भजन करना चाहिए. यहां सम्पत्तिरूप धन लेना.

अपने अन्दर दुर्धर्ष तेज हो, ऐसी जिसकी इच्छा हो वह अग्निकी उपासना करे.

जिसे केवल धनकी ही कामना हो वह द्रोण आदि आठ वसुओंकी उपासना करे.

पराक्रमकी कामना जिसे हो वह वाम आदि ग्यारह रूद्रोंकी उपासना करे. उस उपासनाका विशेष फल यह है कि वह वीर्यवान् होता है.

वाणीकी अभिमानिनी देवता अग्नि है. गन्धकी अभिमानिनी देवता वसु है. रूद्र आकाशकी अभिमानिनी देवता है. अदिति भूमिकी अभिमानिनी देवता है. जो अन्न-भोजनकी कामना रखता है अथवा अन्नभक्षणका सामर्थ्य या अन्न समृद्धि चाहता है वह अदितिकी उपासना करे.

जिसे स्वर्गलोकके प्राप्तिकी इच्छा हो वह अदितिके पुत्र बारह आदित्योंकी उपासना करे. ये आदित्य तेजोभिमानिनी देवता हैं.

विश्वाके पुत्र विश्वेदेव हैं. राज्यकी कामनावालेको इनकी उपासना करनी चाहिए. साध्याके पुत्र साध्य हैं. देशमें रहनेवाली प्रजाको अपने अधीन करनेकी इच्छा हो वह इन साध्योंकी आराधना करे. विश्वेदेव जलाभिमानिनी देवता हैं और साध्य वायुकी अभिमानिनी देवता है.

आयुकी वृद्धि चाहनेवालेको अश्विनीकुमारोंकी आराधना करनी

चाहिए. ये अश्विनीकुमार घ्राणाभिमानिनी देवता हैं.

जिसको पुष्टिकी इच्छा हो, मेरा शरीर हृष्ट-पुष्ट हो या मुझे पोषक पदार्थ मिले; ऐसी जिसकी कामना हो वह भूमिकी उपासना करे. यह भूमि शब्दाधिष्ठात्री देवता है.

जिसे लोकमें सम्मान प्राप्त करनेकी इच्छा हो; ऐसी इच्छा योग्य पुरुषमें ही होती है. अतः 'पुरुषः' ऐसा पद दिया है. अन्य कामनाओंमें भी योग्य पुरुषका ही ग्रहण करना चाहिए. सम्मानकी कामनावालेको आकाश, पृथ्वीकी आराधना करनी चाहिए. ये लोककी माता है. इनमें लोकमातृत्व गुण है अथवा जिनका मातृका पूजनमें विधान है; 'गौरी पद्मा शची मेधा' आदि उनका यहां ग्रहण है. ये हस्ताभिमानिनी देवता हैं.

सौन्दर्यकी कामनावालेको विश्वावसु आदि गन्धर्वोंकी उपासना करनी चाहिए. ये राष्ट्रभृत देवता हैं ऐसा श्रुतिमें कहा है. "**एते वै गन्धर्वाप्सरसो यद् राष्ट्रभृतः**". जिसे सुन्दर स्त्री प्राप्तिकी कामना हो वह ऊर्वशी अप्सराकी आराधना करे. ये अधरारणि देवता हैं. अथवा इसकी गणना देवपत्नीके अन्दर की गई है. गन्धर्व रूपके अभिमानी देवता हैं. अप्सराएं रसकी अभिमानी देवता हैं.

जिसे आधिपत्यकी कामना हो; मैं सबका अधिपति हो जाऊं, उसे परमेष्ठीकी जो गुह्यके अधिष्ठाता हैं; उनकी उपासना करनी चाहिए.

यज्ञका अर्थ है यज्ञपुरुष. ये चरणाधिष्ठात्री देवता हैं. जिन्हें कीर्तिकी इच्छा हो वे इन यज्ञपुरुषकी आराधना करे.

मुझे कोश (खजाना) प्राप्त हो; उसे प्रचेता-वरुणकी उपासना करनी चाहिए. ये वरुण रसनेन्द्रियके अधिष्ठाता देवता हैं.

ब्रह्मविद्या आदि जो विद्या हैं; उसकी जिसे कामना हो वह महादेवकी उपासना करे. ये अहङ्कारके अधिष्ठाता देवता हैं.

दम्पती स्त्री-पुरुषका आपसमें प्रेम रहे इसकी जिसे कामना हो वह उमा-सतीकी उपासना करे जो दोनों ही जन्ममें महादेवजीकी भार्या हुई थी.

धर्मसिद्धिकी यदि कामना हो तो वेदोंसे वेद्य ऐसे उत्तमश्लोक भगवान्‌की आराधना करे.

अपनी सन्ततिका विस्तार चाहे तो अग्निष्वात्त आदि पितरोंकी आराधना करे.

भूतादिकोंसे या शत्रुओंसे अपनी रक्षा चाहता हो उसे यक्षोंकी उपासना करनी चाहिए.

मेरी इन्द्रियां बलवान् हों ऐसी जिसकी कामना हो वह दितिके पुत्र मरुद्गणोंकी उपासना करे.

जिसे राज्यके आधिपत्यकी कामना हो वह स्वायम्भुव आदि मनुओंकी उपासना करे. ये मन्वन्तरके देवता हैं.

यदि शत्रुओंको मारनेकी इच्छा हो तो उसे निर्ऋति (मृत्यु)की उपासना करनी चाहिए.

जिसे कामवृद्धिकी इच्छा हो उसे सोमकी उपासना करनी चाहिए.

ये उन्तीस (२९) देवता सब तत्त्वोंके अधिपति हैं. सोम मनकी अधिष्ठाता देवता हैं. निर्ऋति पायुका अधिष्ठाता देवता है. मनुदेव चक्षुके अधिष्ठाता देवता हैं. मरुद्गण त्वचाके अधिष्ठाता देवता हैं. पुण्यजन जलके, पितर महत्तत्त्वके, उत्तमश्लोक पुरुषके, उमा श्रोत्रकी अधिष्ठाता देवता हैं. इस तरह कामनाके अनुसार प्रकृतमें उपयोगी सब बलोंकी सिद्धिकेलिए उन-उन देवताओंका भजन करना चाहिए यह बताया.

वैराग्यकेलिए भगवान्का भजन करे. ब्रह्मवर्चस् आदि विषय 'कामना' शब्दसे कहे जाते हैं. कामना भेदसे की गई यह भक्ति साक्षात् परब्रह्म वासुदेवकी ही है. जिन परब्रह्म वासुदेवका असाधारण धर्म है स्नेहात्मता. वह असाधारण धर्म आनन्द तभी प्रकाशमें आता है जबकि उसमें वह वर्चस् प्रकाशक होता है. वेद तो केवल ब्रह्ममात्रका ही प्रकाशन कर सकता है किन्तु साक्षात् ब्रह्मधर्मोंका प्रकाशन वेद नहीं कर सकता; और प्रत्यक्ष रूपसे ब्रह्मका प्रकाशन भी वेद नहीं कर सकता. प्रत्यक्षमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले भी अभिव्यञ्जकके अभावमें प्रकाशमें नहीं आते. इसलिए ब्रह्म भगवानमें जो वर्चस् है वह यदि अपनेमें आवे तब दीपहस्तकी तरह सबको देखेगा. इसलिए सर्वप्रथम तो ब्रह्मवर्चस्की कामना करनी चाहिए. अथवा वेदमें स्थित प्रकाशनका सामर्थ्य सम्पादन करना चाहिए. अत्यधिक प्रकाशमें रखा हुआ भी घडा नेत्रोंके बिना दिखाई नहीं देता. ब्रह्ममें स्थित अथवा वेदमें स्थित पदार्थोंको देनेमें कौन समर्थ है? जब इसका विचार करते हैं तो जो ब्रह्माका पति है; वेद और वेदार्थका नियामक है और जिसके द्वारा वह सामर्थ्य उसमें स्थापित है वह ही वैसा सामर्थ्य दे सकता है; इसलिए सभी ब्रह्मधर्मोंको

ग्रहण करके और जगतमें उसके प्रकट करनेके लिए रजोगुणकी अभिमानिनी देवताकी ही उपासना करनी चाहिए. क्योंकि ब्रह्मधर्मोंको प्रकट करनेकेलिए ही ब्रह्मणस्पतिकी प्रवृत्ति है.

कूटस्थकी उपासनासे भी यह कार्य नहीं हो सकता क्योंकि कूटस्थकी प्रवृत्ति इसकेलिए नहीं है. इसी तरह आगे भी समझना. प्रकाशक ब्रह्मवर्चस्के होते हुए भी स्वतः जीवात्मा इन्द्रियोंके अभावमें उसका ज्ञान करनेमें असमर्थ है. इसलिए इन्द्रियोंकी आवश्यकता है. जो इन्द्रियों वाला है वह ही भगवत्शास्त्रमें अधिकारी है. अतः इन्द्रियोंकी कामनावालेकेलिए इन्द्रकी उपासना कही गई है. वे इन्द्रियां स्वतः विद्यमान ज्ञान-क्रियारूप कार्यको जना सकती हैं. परंतु उन इन्द्रियोंमें परमार्थ वस्तुबोधकस्वरूपका अभवा होनेसे अपेक्षित इन्द्रियोंसे ये विद्यमान इन्द्रियां भिन्न हैं. इसको "**को नु राजन्निन्द्रियवान्**" इस वाक्यसे बताया है. जिस तरहकी इन्द्रियोंकी अपेक्षा है; उसकेलिए "**इन्द्रस्य वत्रं जघ्नुष इन्द्रियं वीर्यम्**" इत्यादि श्रुतियोंमें वर्णन है. अन्यथा वृत्रका हनन और प्रजापतिकी शरणमें जाना नहीं होता. इसलिए अलौकिक पदार्थका ज्ञान करानेमें सहायक इन्द्रियोंकी प्राप्तिकेलिए इन्द्रकी उपासना करनी चाहिए. इन्द्रकी उपासनासे ही इन्द्रिय प्राप्त होती है. यद्यपि प्रजापति ही उसमें प्रयोजक हैं; तथापि प्रजापति उन पदार्थोंके रसका अभिज्ञ नहीं है. केवल इन्द्रियां भी रसाभिज्ञ नहीं हैं; इसलिए रसास्वादन केलिए इन्द्र ही सेव्य हैं. यदि इन्द्रिय रसाभिज्ञ न होता तो वह बार-बार प्रजापतिका शरण ग्रहण क्यों करता. इसलिए तृप्ति पर्यन्त उस पदार्थके रसको इन्द्र ही जानता है; इसलिए वह ही सेव्य है.

देव ऋषि और पितृ ऋणसे मुक्त होनेकेलिए अथवा सहायताकेलिए पुत्रादिकी अपेक्षा होती है. अन्यथा भगवान्के भजनमें निश्चिन्तता नहीं होती. उनमें भी अपनेआप होनेवाली सन्तान अपनी अपेक्षित बातका पालन नहीं करतीं इसलिए अपना अभीष्ट जिससे हो सके ऐसी सन्तान प्राप्तिकेलिए मरीचि आदि प्रजापतिकी उपासना करनी चाहिए. क्योंकि मरीचि आदिने ब्रह्माजीकी आज्ञानुसार कार्य किया था. इसलिए उनकी उपासनासे आज्ञाकारी पुत्रकी प्राप्ति होती है.

इस समय भगवान्के भजनमें लक्ष्मीरूप सम्पत्तिकी अपेक्षा रहती है. वह लक्ष्मी ही भगवन्निष्ठ है. उसीका विनियोग भगवान्के लिए किया जा सकता है.

अन्य सम्पत्तिको भगवान् स्वीकार नहीं करते. इसलिए सेवामें उपयोगमें आनेवाली सम्पत्तिकी इच्छा रखनेवालेको मायाका ही भजन करना चाहिए. माया एक तो व्यामोहिका है और एक जगत्की कारणरूपा है. उन दोनोंकी तो उपासना नहीं करनी चाहिए. क्योंकि उस मायाको अन्य अधिकार सौंप रखा है. अतः जो देवतारूपा सात्त्विकी माया है उसकी उपासना करे. मोक्षदाता वासुदेवने मोक्ष देनेकेलिए ही वैसा रूप ग्रहण किया है. उनके उपयोगी साधनोंका सम्पादन करनेवाली जो माया है; वह माया लक्ष्मी ही है. यह लक्ष्मी भगवान् विष्णुकी देहानुरूप है. अतः उसे भगवान् अपने शरीररूपसे ही ग्रहण करते हैं. ''**विष्णोः देहानुरूपां वै करोत्येषात्मनस्तनुम्**'' इस वाक्यसे भगवान्की भार्यारूपसे जिसने मायारूपको ग्रहण किया है; उस मायाकी उपासना करनी चाहिए. भगवान्ने लक्ष्मीको आज्ञा दी कि तुम मेरे साथ आओ. इसलिए लक्ष्मीको माया कहा जाता है. 'मया सह याहीति माया' इसमें निम्नलिखित वाक्य भी प्रमाण है: ''**इत्थं विचिन्त्य परमः स तु वासुदेवनामा बभूव निजकारणमुक्तिदाता, तस्याज्ञयैव नियताथ रमापि रूपं वव्रे द्वितीयमिव यत् प्रवदन्ति मायाम्**''. ''ऐसा विचार करके परब्रह्म वासुदेव जिनका नाम है, ज्ञान ही जिसका कारण है; उस मुक्तिके देनेवाले हैं. उन्हींकी आज्ञासे ही उनकेलिए नियत रमा(लक्ष्मी)ने भी रूपका वरण किया. वह भगवान्का ही दूसरा रूप है जिसे माया कहते **हैं**''. अतएव 'तु' शब्दसे मोहिका और जगत्कारणभूता मायाका ग्रहण नहीं करना.

इन्द्रिय, सम्पत्ति, सहायक और प्रकाशसे भगवद्धर्मोंके उपस्थित होनेपर अपने अन्दर धारणा सामर्थ्यकी सिद्धिकेलिए अपनेमें तेजकी अपेक्षा रहती है. अन्यथा उपस्थित वे भगवद्धर्म उसमें प्रवेश नहीं करेंगे. अथवा प्रवेश करनेपर भी सामर्थ्यके अभावमें अपने आश्रयको ही वे जला देंगे. इसलिए अपनेमें योग्यता सिद्धिकेलिए तेजकी अपेक्षा है. वह तेज सब तेजोंको दबा देनेवाला होनेसे सभी रूपको अपने समान कर देता है. वह तेज भगवन्निष्ठ वह्निसे प्राप्त हुआ है. विशेषरूपसे दीप्ति ही जिसका धन है उसे विभावसु कहते हैं 'विशेषेण वा दीप्तिः वसु धन यस्य स विभावसुः'. अतः तेजकी कामनावालेको विभावसुकी सेवा करनी चाहिए. इसी तरह धन भी भगवद्भक्तोंके उपयोगकेलिए, श्रवणादिकी सिद्धिकेलिए अथवा उपदेशकेलिए देयरूपसे अपेक्षित है. साधनरूप श्रवणादि वैसे ही धनसे हो सकते हैं.

शुकदेवजीके द्वारा होनेवाला श्रवण तो साधनरूप नहीं है. वह तो फलरूप है. अतः उसमें वसुकी अपेक्षा नहीं है. साधनरूप श्रवणादिक तो दृष्टरूप है; अतः उनमें धनकी अपेक्षा है ही. वह वसु (धन) उन-उन नामवाले वसुओंमें ही प्रतिष्ठित हैं. अतएव "**त इमं लोकम् अयजम्**" इस श्रुतिमें भी इसका कथन है.

इसी तरह वीर्य (बल) भी भगवत्सेवामें उपयोगी होनेसे बलकी अधिष्ठान देवता वायु है. उस वायुका स्थान है अन्तरिक्ष और उस अन्तरिक्षके प्रभु रुद्र हैं. इसलिए उसकी अधिष्ठाता देवता भी रुद्रके ही अधीन है. अतः बलकी कामनावालोंको रुद्रका भजन करना चाहिए.

श्रुतिमें कहा है "**ते अन्तरिक्षम् अजयन्**" इसी तरह अन्नादिकी कामनावालेको या अन्न भक्षणकी कामनावालेको भूमिकी अधिष्ठात्री देवता अदितिकी उपासना करनी चाहिए. लोकमें जो इष्टतम हो या जो अपनेको अतिप्रिय हो "**यद्-यद् इष्टतमं लोके यच्चातिप्रियम् आत्मनः**" इस गीतावाक्यसे अन्नादि भी काम्य हैं. यह अन्न भूमिसे प्राप्त होता है. उस भूमिकी अधिष्ठात्री देवता अदिति हैं. यह "**सादितिरब्रवीद् वरं वृणा अथ मयाभिगृह्णीध्वम्**" इस उपाख्यानमें स्पष्ट है.

पृथ्वी पर भगवान्का भजन करके फिर ऐसी इच्छा हो कि पृथ्वी पर तो दिव्य पदार्थ नहीं है; इसलिए स्वर्गमें दिव्य पदार्थोंसे भगवान्की सेवा करनी चाहिए. इसकेलिए यदि स्वर्गकी कामना हो तो स्वर्गके प्रभु आदित्य हैं. '**ते अमुं लोकम् अयजन्**' ऐसी श्रुति यह बताती है.

राज्यके अधिकारी विश्वदेव हैं. ये विश्वदेव सब देवताओंके अधिष्ठातृ देवतारूप हैं. राजा सर्वदेवतामय है. इसलिए सर्वसम्पत्तिसे भजनकी सिद्धिकेलिए राजत्व भी अपेक्षित है. भक्तिमार्ग तो अलौकिक है. इसलिए असाध्य साधक पदार्थोंकी सिद्धिकेलिए उनके अधिकारी साध्योंका भजन करना चाहिए. सभी प्रजा यदि स्वाधीन (मेरे अधीन) हो तो सब जगह भक्तिका प्रचार होगा. इसलिए भक्तिके प्रसारकेलिए उसके साधककी अपेक्षा रहती है.

आयुका भी भक्तोंके सङ्गकेलिए उपयोग होता है, यह तो स्पष्ट ही है. उस आयुके प्रभु अश्विनीकुमार हैं; इसलिए आयुकी कामनाकेलिए अश्विनी-कुमारोंकी सेवा करनी चाहिए.

इसी तरह पुष्टता भी लोकातीत है और भगवान्की सेवामें उपयोगी है.

अतः सबका पोषण करनेवाली पृथ्वीका उसे भजन करना चाहिए. क्योंकि पृथ्वी पर स्थित पदार्थ ही सब अंकुर आदिसे बढते हैं.

भगवद्भक्तकेलिए प्रतिष्ठाकी भी आवश्यकता होती है क्योंकि उसीके आचरणका लोक अनुसरण करते हैं. अतः प्रचारकेलिए प्रतिष्ठाकी भी आवश्यकता है. माहात्म्यसे अथवा विचित्रतासे प्रतिष्ठा होती है. उस प्रतिष्ठाकी यदि कामना है तो द्यावापृथिवीकी उपासना करे. क्योंकि द्यावा पृथिवीमें ही माहात्म्य और वैचित्र्य इन दोनोंमें ही प्रसिद्ध है.

भगवान्के अधिष्ठानोंमें रूपकी अभिव्यक्तिका सामर्थ्य चाहनेवालेको गन्धर्वोंकी सेवा करनी चाहिए; "**रूपम् इति गन्धर्वाः**" ऐसा श्रुतिने कहा है.

नृत्य आदिसे जो भगवान्की आराधना करना चाहें अथवा नृत्योपयोगी स्त्रीकी कामना हो तो अनेक प्रकारके रूप बनानेमें समर्थ ऊर्वशीकी सेवा करनी चाहिए. ऊर्वशी भगवान् नारायणसे उत्पन्न हुई है. ऋषिकी माता होनेसे वैराग्यका बोधन करके मुक्तिदान करती है. पूर्वचित्ति आदि अप्सराएं इस तरहकी नहीं हैं.

आज्ञा देनेका सामर्थ्य यदि प्राप्त करना हो तो सबको आज्ञा देनेवाले परमेष्ठी चतुर्मुख ब्रह्माकी सेवा करनी चाहिए. वे ब्रह्माजी सबको आज्ञा देनेवाले हैं. आज्ञाके द्वारा भक्ति करवाना भी स्पष्ट है.

इसी तरह यश भी भगवत्सेवामें उपयोगी है. लोग कीर्ति सुनकर ही उसके पास आते हैं और उसके आचरणके अनुसार अपना आचरण बनाते हैं. यज्ञने यश प्राप्त किया था. "**देवा वै सत्रम् आसतः द्विपरिमितं यशस्कामाः**" इसमें यज्ञसे ही देवताओंने यश प्राप्त किया था अथवा यश(कीर्ति)की कामना रखनेवालेको यज्ञ करना चाहिए.

प्रचेता(वरुण) निधिपति हैं. उनकी उपासना अलौकिक अर्थ प्राप्ति केलिए करनी चाहिए क्योंकि उस अर्थसे भगवान्के उत्सव आदि होते हैं.

विद्याका उपयोग तो साक्षात् ही भगवान्केलिए है. ज्ञानकी इच्छावालेको शिवकी उपासना करनी चाहिए. "**ईश्वराज् ज्ञानम् इच्छेत्**" ऐसा वाक्य है.

भगवत्सेवाकेलिए पति–पत्नीका परस्पर प्रेम आवश्यक है. नहीं तो फिर पत्नीके प्रतिकूल होनेपर घरका ही त्याग करना लिखा है "**प्रतिकूले गृहं त्यजेत्**". यदि दाम्पत्य प्रेम और अनुकूलता अपेक्षित है तो परमपतिभक्त परमभक्त जो

अपने पति शिव उनमें निष्ठा रखनेवाली अनेक जन्मसिद्ध उमाकी सेवा करनी चाहिए.

धर्मसे ही भक्ति होती है. यह पहले ही सिद्ध किया जा चुका है. उत्तम लोग लोकमें अथवा वेदमें धर्मका प्रतिपादन करनेवालेकी ही सेवा करते हैं.

भक्तिमार्गकी परम्परा बराबर चलती रहे इसकेलिए सन्ततिकी अपेक्षा रहती है. यदि ऐसी अपेक्षा हो तो पितर जो सदा हमारा वंश चलता रहे ऐसी अपेक्षा रखते हैं; उन पितरोंका भजन करना चाहिए.

रक्षाकेलिए क्रूर लोगोंकी आवश्यकता होती है. अतः रक्षाकी कामनाकेलिए यक्षोंका भजन करना चाहिए.

आंखोंमें देखनेकी, कानोंमें सुनने आदिकी जो शक्ति है; उसे ओज कहते हैं. उस ओजकी अर्थात् इन्द्रियोंमें इन्द्रियशक्ति यदि चाहे तो वह मरुद्गणोंकी उपासना करे. वे ही इस प्रकारका सामर्थ्य देनेमें पटु हैं. क्योंकि इन मरुद्गणोंके कितने ही टुकडे इन्द्रने किये तथापि वे मरे नहीं. वे महापुरुषकी पूजासे सिद्ध रहे. परंतु निर्दोष मरुद्गणोंकी ही आराधना करनी चाहिए.

जिन्हें राज्यकी कामना हो उन्हें सबका विनियोग जिनने भगवान्के लिए ही किया है ऐसे सामर्थ्यशाली मन्वन्तरोंके अधिपतियोंकी सेवा करनी चाहिए.

यदि सेवामें किसी प्रकारकी रुकावट न आवे ऐसी कामना हो तो निर्ऋतिकी सेवा करे.

कामनासे सब होता है. इसलिए भगवद्विषयक कामनाकी उत्पत्ति केलिए रासप्रकरणमें निरूपित सोमकी उपासना करनी चाहिए. उस सोमने भगवान्की कामनाको भी पूर्ण किया था. ऐसे कामके पितामह सोमकी उपासना करनी चाहिए।।२-९।।

आभासार्थः इस तरह ऊपर बताये गए भगवद् अंशोंसे उस-उस कार्यके साधकोंका वर्णन किया. अब साधनसहित भक्तिकी सिद्धिकेलिए भी भगवान्की ही आराधना करनी चाहिए इसे कहते हैं.

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन भजेत पुरुषं परम्।।१०।।

श्लोकार्थः जिसे किसी प्रकारकी कामना न हो, अथवा जिसे सब प्रकारकी कामना हो या उदार बुद्धि जो मोक्षकी ही कामनावाला हो उसे तीव्र

भक्तियोगसे परम पुरुषकी सेवा करनी चाहिए।।१०।।

व्याख्यार्थ: वैराग्य ही जिसे अभिलषित हो, या पूर्व अध्यायमें बताये अनुसार स्वतन्त्ररूपसे निष्काम हो; यद्वा इस अध्यायमें बातई गई कामनाएं हों अथवा मोक्षकी जिसे कामना हो; ऐसा उदार बुद्धि या स्वतन्त्र पुरुष शीघ्र भगवान्को प्राप्त करानेवाले भक्तियोगसे प्रथम बताए गए परमपुरुषका भजन करे. उसका साधनसहित साध्य भगवान्के द्वारा ही सिद्ध होगा।।१०।।

आभासार्थ: यदि कामना ही नहीं हो तो फिर बकबन्ध प्रयास (बगुलेकी तरह ध्यानमग्न होनेसे) से भजनकी सिद्धि ही क्या होगी? इस आशंका पर कहते हैं कि यदि कामना की जाए और उसकेलिए साधनकी सिद्धि की जाए तो फिर अन्तरङ्ग साधनको सिद्ध करनेवालेकी ही सेवा की जाए. इस अभिप्रायसे कहते हैं.

एतावानेव यजताम् इह निःश्रेयसोदयः।
भगवत्यचलो भावो यद् भागवतसङ्गमः।।११।।

श्लोकार्थ: आराधना करनेवालोंकेलिए इस लोकमें परम कल्याणका उदय यही है कि भगवद्भक्तोंके संगसे भगवान्में अचल भाव हो जाये।। ११।।

व्याख्यार्थ: सब साधनोंका समावेश दो साधनोंमें हो जाता है: भगवद्भक्तोंके संगको सिद्ध करनेवाले साधनमें या भगवान्में अनुराग सिद्ध करनेवाले साधनमें. यदि इतना प्रयोजन सिद्ध हो जाता है तो फिर अन्य कामना करनेकी आवश्यकता नहीं है. इसलिए आराधना करनेवालोंकेलिए इस भक्तिमार्गमें परम कल्याणका उदय इतना ही है कि या तो भगवद्भक्तोंका संग हो जाए या भगवान्में अनुराग हो जाए।। ११।।

आभासार्थ: भगवद्भक्तोंका संग या भगवान्में अनुराग; इन दोनों साधनोंसे भी बढकर एक साधन ऐसा है जिसके हो जानेपर भी दोनों ही हो जाते हैं; उसे कहते हैं.

ज्ञानं यदाप्रतिनिवृत्तगुणोर्मिचक्रम् आत्मप्रसाद उभयत्र गुणेष्वसङ्गः।
कैवल्यसम्मतपथस्त्वथ भक्तियोगः को निर्वृतो हरिकथासु रतिं न कुर्यात्।।१२।।

श्लोकार्थ: जब हरिकथा श्रवण-कीर्तनसे सत्त्वादि गुणोंकी ऊर्मियों (लहरों)का भंवर एकदम निवृत्त हो जाता है और आत्मामें प्रसन्नताका अनुभव होने लगता है तथा ऐहिक और पारलौकिक विषयोंसे विरक्ति हो जाती है; एवं मोक्षमार्ग सम्मत भक्तियोग भी हो जाता है; तब ऐसा कौन सुख चाहनेवाला होगा

जो भगवान्‌की कथामें अनुराग नहीं करेगा।। १२।।

व्याख्यार्थ: भगवान्‌की कथाओंमें अनुराग होनेसे ही भगवद्भक्तोंका संग एवं भगवान्‌में अनुराग सिद्ध हो जाता है. कथामें अनुराग होनेसे उस कथाको कहनेवाले भी मिल जायेंगे और कथा सुननेसे भगवान्‌में प्रेम भी हो जाता है. और भी बहुतसे कार्य अनायास ही हो जाते हैं. जिन हरिकथाओंके सुननेमें गुणोंकी ऊर्मीरूप उत्पत्ति आदिका चक्र रागादि समुदाय पूर्ण रूपसे नष्ट हो जाए; ऐसा ज्ञान प्राप्त हो जाता है वह ज्ञान सब प्रकारकी अविद्याओंको दूर कर देनेवाला होता है. ऐसा ज्ञान हरिकथाओंके सुननेसे होता है. ऐसे ज्ञानकी साधिका जो अन्तःकरणकी शुद्धि है वह भी हो जाती है. अर्थात् ऐसा ज्ञान अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर ही होता है; किन्तु उस ज्ञानसे अन्तःकरणकी शुद्धि भी हो जाती है. इस लोक और परलोकके पदार्थोंमें वैराग्य होना; यह उसका भी साधन है. इस तरह हरिकथासे साधन सहित ज्ञान भी सिद्ध होता है. इस तरह यह मार्ग उपाययुक्त है.

अब यहांसे क्रम बदलता है; इसे बतानेकेलिए अथ 'शब्द' दिया है. मोक्षमें संमत मार्ग तो भक्तियोग है. यह भक्तियोग स्वतन्त्र है, ज्ञानका साधनरूप नहीं है और न ज्ञानका सहायक है. किन्तु पूर्वोक्त कामनासे सिद्ध साधन साध्य है. जिसमें अनायास ही ज्ञान और भक्ति हो जाती है. भगवान्‌में प्रेम और भक्तोंका संग मुख्यरूपसे होता है. ऐसी भगवान्‌की कथाओंमें जो सन्मार्गका अनुगामी है वह ऐसा कौन होगा; जो अनुराग न करेगा और उसमें भी फिर जो निवृत्तिमार्गका अनुसरण करनेवाला हरिकथामें कैसे प्रेम न करेगा।।१२।।

आभासार्थ: इस तरह साधन सहित भक्तिमार्गका उपदेश देकर उसकी विशेषताके विषयमें आकांक्षा होनेसे अब और भी कुछ कहेंगे; इसलिए राजा चुप हो गया. इसी तरह सूत भी शौनकादिकोंकी विशेष जिज्ञासा है या नहीं; इसलिए चुप हो गए. अर्थात् सूतने यह जाना कि यह बात मैनें गुप्तरूपसे कही है. यह शौनकादिकोंके हृदयमें आ गई हैं या नहीं; ऐसे सन्देहसे चुप हो जानेसे शौनक इसको प्रकट करते हुए गुप्त रूपसे कही हुई को प्रकट करनेकेलिए कहते हैं. इसे 'इत्यभिव्याहृतः'से लेकर तीसरे अध्यायके अन्त तक कहा जाएगा. शौनक इतना ही समझे कि मेरे विद्यमान साधन भक्तिके साधक नहीं हैं. इसलिए ये व्यर्थ हैं. ऐसा समझनेसे ही तो फिर और साधनोंमें प्रवृत्ति हो रही है जो सिद्ध साधन हैं; ऐसा राजा परीक्षित भगवत्सङ्गके सिद्ध होनेपर और कथामें अनुराग होनेपर भी

भगवान्में स्नेह होनेकेलिए अभी प्रयत्न बाकी है; ऐसा जानता है, इसलिए हमारी अपेक्षा राजा महान् है. अतः उसके पूछे हुएके अनुसार ही भक्तिका उपाय जानकर उसे हम करेंगे; इस अभिप्रायसे शौनक प्रश्न पूछता है.

शौनक उवाच

इत्यभिव्याहृतो राजा निशम्य भरतर्षभः।
किमन्यत् पृष्टवान् भूयो वैयासकिम् ऋषिं कविम्।।१३।।

श्लोकार्थः भरतवंशमें श्रेष्ठ राजा परीक्षितने शुकदेवजीसे कहे हुएको सुनकर फिर व्यासपुत्र विद्वान् ऋषिसे और क्या पूछा?।। १३।।

व्याख्यार्थः शुकदेवजीसे उपदेश प्राप्त कर उसका अभिप्राय भी समझ लिया तथा भरतवंशमें श्रेष्ठ होनेके कारण उसे किसी प्रकारका व्यामोह भी नहीं हुआ. इसलिए राजाने पूर्वोक्त बात ही नहीं पूछी, किन्तु उसने अन्य प्रश्न किया. यद्यपि शुकदेवजीने राजाके सब प्रश्नोंका उत्तर दे दिया था; फिर भी राजाने प्रकारान्तरसे अथवा उसके उपपादक रूपसे पुनः क्या प्रश्न किया? यह शौनकका अभिप्राय है. यहां यह आशंका होती है कि शुकदेवजी विरक्त हैं इसलिए अधिक समय तक ठहर नहीं सकते. अतः राजाने कुछ पूछा ही नहीं होगा? इसपर शौनक कहते हैं कि 'वैयासकिं'. सबका विस्तारसे वर्णन करनेवाले व्यासके वे पुत्र हैं. अतः वे भी व्यासजीके समान ही विस्तारपूर्वक कहनेवाले हैं. और उसमें भी भक्तोंके लक्षण तथा मन्त्रके अधिष्ठाता भगवान्के अभिप्रायको जानते हैं. अतः सब कहेंगे इसलिए कीर्तिके अभिप्रायसे 'ऋषि' पद दिया है. विशेष रूपसे कहनेका सामर्थ्य भी उनमें हैं; इसकेलिए 'कवि' पद दिया है।। १३।।

आभासार्थः उसके सुननेसे आपको क्या प्रयोजन? इस अपेक्षा पर कहते हैं.

एतच्छुश्रूषतां विद्वन्! सूत! नोऽर्हसि भाषितुम्।
कथा हरिकथोदर्काः सतां स्युः सदसि ध्रुवम्।।१४।।

श्लोकार्थः हे विद्वन् सूत! सुननेकी इच्छावाले हमारे लिए यह आप कहिए. यह बात निश्चित है कि सत्पुरुषोंकी सभामें जो भी कथा होगी वह भगवान्से सम्बन्ध रखनेवाली ही होगी।।१४।।

व्याख्यार्थः शुकदेवजीने जो कहा उसके सुननेकी हमारी उत्कट इच्छा है. तुम उसे जानते हो. सब जगह कहनेका वैसा अधिकार भी तुम्हें है. इस बातको बतानेकेलिए 'विद्वन्' और 'सूत' ये दो सम्बोधन दिये गए हैं. इसलिए तुम

हमारेलिए कह सकते हो. 'कथा' पदसे श्रोता और वक्तामें उच्च-नीच भाव नहीं है; यह बताया. सज्जनोंकी सभामें अन्य कथा भी भगवत्कथा ही होती है. अर्थात् वह कथा अन्तमें जाकर भगवत्कथाके रूपमें परिणत हो जाती है. 'ध्रुवम्' पदसे यह बताया कि इसमें कोई सन्देह नहीं।। १४।।

आभासार्थः सज्जनोंकी सभामें ही ऐसी कथा होती है. और जहां अपूर्व सत्सङ्ग हो वहां तो निश्चित रूपसे हरिकथा ही होती है. उस सभामें श्रोता और वक्ता दोनों ही सज्जन हैं. अतः उनके मिलनमें सत्कथाका होना आवश्यक है. उस सभामें आनेवालेसे प्रथम प्रश्न करना पूछनेवालेके अधीन है और उस सभामें पूछनेवाला भगवद्भक्त परीक्षित है. उसे कहते हैं.

स वै भागवतो राजा पाण्डवेयो महारथः।
बालक्रीडनकैः क्रीडन् कृष्णक्रीडां य आददे।।१५।।

श्लोकार्थः वह पाण्डव वंशमें उत्पन्न महारथी परीक्षित् भगवद्भक्त था, जो बचपनमें ही बालखेलमें ही कृष्णलीलाका अभिनय करता था।।१५।।

व्याख्यार्थः वह राजा भी निश्चितरूपसे भगवद्भक्त था. अथवा राजा ही बहुत पूछता है. 'भागवत'का अर्थ है भगवदीय. वह परीक्षित राजा भी था और भगवद्भक्त भी था इसलिए बहुत पूछता है. उसके भगवदीय होनेमें साधनभूत दो कारण हैं. एक तो वह भगवदीय पाण्डवोंके वंशमें उत्पन्न हुआ था और दूसरा कारण स्वयं भी भगवद्धर्मनिष्ठ था. उसके चित्तका स्वभाव भगवत्पर था. यह उसका फलमुख अन्तरङ्ग साधन था. जो बचपनमें बालखेलमें भी एकको भगवान् बनाकर या भगवान्की मूर्ति स्थापित कर उसका सेवक बनकर राजलीलाकी तरह खेलता था. अथवा वृन्दावनमें भगवान्ने जो-जो लीलाएं की थी, अभिनयके द्वारा, उनकी नकल करता था।। १५।।

आभासार्थः जिस तरह राजा भगवान्का भक्त था, उसी तरह शुकदेवजी भी भगवान्के भक्त थे; इसे कहते हैं.

वैयासकिश्च भगवान् वासुदेवपरायणः।
उरुगायगुणोदाराः सतां स्युर्हि समागमे।।१६।।

श्लोकार्थः व्यासनन्दन भगवान् शुकदेवजी भी भगवान्में तत्पर थे. सज्जनोंके समागममें भगवान्के उदार गुणोंका ही वर्णन होता है।।१६।।

व्याख्यार्थः श्रोता परीक्षित तो भगवदीय पाण्डवोंके वंशमें उत्पन्न होनेसे

भगवदीय हैं ही और शुकदेवजी भगवान् व्यासजीके पुत्र होनेसे भगवान्. भगवान् होते हुए भी भगवान्में तत्पर हैं. 'च' से और दूसरे भी सभासद वैसे ही थे, इसलिए सभी सज्जन थे. उनका नया ही नया समागम हुआ था. वैसे सम्मेलनमें सब भक्तोंकेलिए कथा ही सम्मत होती है. साधनोंके अभावमें भी स्वतन्त्र रूपसे सब पुरुषार्थोंके देनेवाले जो भगवद्गुण हैं, वे कथाओंमें ही हैं. इस लिए उन कथाओंको कहिए, ऐसा सम्बन्ध है।। १६।।

आभासार्थ: इस समय विद्यमान जितने भी साधन हैं वे भक्तिके साधक न होनेसे निष्फल हैं; ऐसा कहा. इससे कैमुतिकन्याय(बिना कहे ही) से जो भक्तिके साधक हैं वे सफल हैं; इसे कहते हैं.

आयुर्हरति वै पुंसाम् उद्यन्नस्तं च यन्नसौ।
तस्यर्ते यः क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्त्तया।।१७।।

श्लोकार्थ: मनुष्यकी आयुको यह उदय-अस्तको प्राप्त होता हुआ सूर्य हर लेता है. परंतु भगवान्की कथामें जिसने एक क्षण भी बिताया है उसकी आयुको छोडकर अन्यकी आयुका हरण करता है।।१७।।

व्याख्यार्थ:

''**यो असौ तपन् उदेति स सर्वेषां भूतानां प्राणान् आदाय उदेति, मा मे प्रजाया मा पशूनां मा मम प्राणान् आदाय उदगाः. असौ यो अस्तम् एति स सर्वेषां भूतानां प्राणान् आदाय अस्तम् एति. मा मे प्रजाया मा पशूनाम्**''

इस श्रुतिवाक्यमें कहा है कि

''जो यह सूर्य उदय हो रहा है वह सब प्राणियोंके प्राणोंको लेकर उदयको प्राप्त हो रहा है. परंतु यह मेरी प्रजाके, मेरे पशुओंके और मेरे प्राणोंको लेकर उदयको प्राप्त न हो. और जो यह सूर्य अस्त हो रहा है वह सब प्राणियोंके प्राणोंको लेकर अस्त हो रहा है. परंतु मेरी प्रजा मेरे पशुओंके प्राणोंको लेकर अस्त न हो''.

इसी श्रुतिवाक्यके अनुसार यहां श्लोकमें उदय एवं अस्त को प्राप्त होता हुआ सूर्य सब प्राणियोंकी आयुका हरण करता है; ऐसा कहा. इसी श्रुतिमें 'मा मे प्रजाया' ऐसा कहनेसे किसीकी आयुका हरण नहीं भी करता है ऐसा जाना जाता है. ऐसा कौन है जिसकी आयुका यह सूर्य हरण नहीं करता? इस प्रश्नका उत्तर

यह है कि जिस भगवान्ने आयुके हरण करनेकेलिए इसे स्थापित किया है वह सूर्य लोकन्यायसे अधिकार देनेवालेके अन्तरङ्ग(भक्त)की आयुको नहीं हरता है; ऐसा जाना जाता है. और साथ ही यह भी करता है कि जिनकी आयुका हरण किया है; उनकी आयु भी भगवदीयोंको ही दे देता है. क्योंकि हरण की हुई आयुका उपयोग करना भी आवश्यक है. यद्यपि श्रुतिवाक्यमें प्रार्थना करनेवालेकी आयुके हरण न करनेकी ही बात है; तथापि आयु हरणकी अनित्यताके ज्ञापनसे वैसा निश्चय होता है; वह आयुके अतिरिक्त हरता है. '**शतायुर्वै पुरुषः**' इस कथनसे पुरुषकी सौ वर्षकी आयु होती है. एक वर्षसे सर्व ब्रह्माण्डके परिभ्रमणसे एक आयुको हरता है. परंतु जिस आयुमें उसका उत्तमश्लोककी वार्ताका क्षण होता है; उस आयुका हरण नहीं करता है. तात्पर्य यह है कि जो उत्तमश्लोक भगवान्की वार्तासे भगवान्के समीपमें ले जाया जाता है उस आयुको वह ग्रहण नहीं करता है. 'यत्' और 'तत्' का नित्य सम्बन्ध है. इसलिए 'तत्' शब्दसे क्षण ही यहां कहा गया है. सम्बन्धीपन स्वरूपसे ही हुआ करता है. इसलिए जिस आयु (वर्ष)में वह क्षण होता है; ऐसा सिद्ध होता है. पूरे वर्षके अन्दर एक क्षण भी यदि उत्तमश्लोक भगवान्की वार्तासे अपनेलिए अथवा भगवान्केलिए बिताते हैं तो उसका अपना कार्य भी वार्ताके ही द्वारा किया गया है. इसलिए बची हुई आयुको भी वह वार्ता ही हरण करेगी; सूर्य उसका हरण नहीं करता है. यह इसका भाव है।।१७।।

आभासार्थः इस तरह क्षणमात्रमें भी भगवत्कथाका सम्बन्ध होनेपर आयुकी कृतार्थता है; इस दृष्टान्तकी विधिसे सबकी कृतार्थताका निरूपण करके उसके अभावमें अधिक आयु भी प्रार्थनासे प्राप्त की गई भी व्यर्थ है; इसे दृष्टान्तसे बताते हैं.

तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत।
न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे।।१८।।

श्लोकार्थः क्या वृक्ष अधिक समय नहीं जीते हैं? लोहारकी धोंकनी क्या श्वास नहीं लेती? मनुष्योंके अतिरिक्त क्या गांवके पशु खाते या मैथुन नहीं करते हैं? ।।१८।।

व्याख्यार्थः वृक्ष क्या बहुत कालतक जीवित नहीं रहते? परंतु उन वृक्षोंका अपनेलिए क्या उपयोग है? और वे मुक्त भी नहीं होते. इसलिए बहुत

कालका जीवन प्रार्थनासे प्राप्त हुआ भी व्यर्थ ही है. यदि कहो कि उनकी आयु प्राणको धारण करके नहीं रहती है तो लौहारकी धोंकनी क्या श्वास नहीं लेती. मनुष्योंकी नाक भी चमडेकी धोंकनीके समान ही है. उसमें भी उसी मार्गसे वायु आती है जाती है, धोंकनीमें भी यही है. इसलिए प्राणधारणसे भी कोई उपयोग सिद्ध नहीं होता. यदि कहो कि मनुष्यके द्वारा तो अपना और अन्योंका उपकार होता है; इसलिए धोंकनीका दृष्टान्त बराबर नहीं है; इसका उत्तर इससे देते हैं. मनुष्यका वैसा करना भी व्यर्थ है जैसे कोयले धोंकनीके श्वाससे तपते हैं; उसी तरह उन कोयलोंसे सम्बन्ध रखनेवाले लोह आदि भी धोंकनीके श्वाससे तपते हैं. और तपे हुए लोह आदिको आघात(चोट) सहनी पडती है. अतः जैसे उस धोंकनीका श्वास उपद्रवकारी है उसी तरह मनुष्यजीवनका भी उपयोग समझना चाहिए. धोंकनीमें और मनुष्य जीवनमें कोई अन्तर नहीं है. पुरुषार्थ सिद्ध तो दोनोंही में समान है. यदि कहो कि मनुष्यजीवनसे तो भोग होता है; धोंकनीसे तो कोई भोग नहीं होता; इसका उत्तर यह है कि लोगोंको अन्न आदिके खानेमें ही भोगका भ्रम होता है परन्तु देखा जाये तो वास्तवमें इसे भोग नहीं कहते. एक रास्तेसे अन्न आदिका प्रवेश होता है और दूसरे रास्तसे निकल जाता है. जिस तरह अपने शरीरसे निकला हुआ ग्रास सूकरके मुखमें प्रवेश करके फिर निकल जाता है; कोई विशेषता नहीं है! जिनको ग्रामपशुकी समानताका आभास नहीं होता उनकेलिए यह दृष्टान्त है, ब्रह्मवेत्ताकेलिए यह दृष्टान्त नहीं है. क्योंकि सामान्य मनुष्य प्राकृत होते हुए भी अपनेको बहुत मानता है. 'अपरे'का अर्थ है यह मानव भी एक प्रकारका पशु है. श्रुतिमें कहा भी है ''**तस्मात् त्रयः पशूनां हस्तादानाः**''. ''पशुओंमें ये तीन आपसमें सहायक हैं''. वे तीन कौन? इस पर इसी श्रुतिका वाक्यशेष ''**पुरुषो हस्ती मर्कटः**'' है. परंतु ग्रामपशु होनेसे उसमें निन्दनीयता है।।१८।।

आभासार्थः इस तरह पुरुषकी नीचोंके साथ समानता बताकर अब उनसे भी और नीचताका प्रतिपादन करते हैं.

श्व–विड्–वराहोष्ट्र–खरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः।
न यत् कर्ण–पथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः।।१९।।

श्लोकार्थः जिसके कानमें गदाग्रज भगवान्के गुण–नामादि नहीं पडे, वह तो मनुष्य नहीं है किन्तु कुत्ते, ग्राम सूकर, ऊंट, गधे से भी गया बीता है।।१९।।

व्याख्यार्थः कुत्ता, ग्रामसूकर, ऊंट और गधा; ये चार पशु सब लोकोंमें निन्दित हैं. उनकी स्तुति कोई नहीं करता; परंतु भगवद्विमुख पुरुषको जब देखते हैं तो इनचार पशुओंकी ही लोग स्तुति करते हैं. इसलिए ये पशु भगवद्विमुखकी स्तुति करते हैं. आशय इसका यह है कि ये कुत्ते आदि जानते हैं कि भगवद्विमुख पुरुषको देखकर ही तो लोग उससे हमको अच्छा बताते हैं. अतः हमारी स्तुति करानेवाला तो यह भगवद्विमुख पुरुष हैं. अतः वे कुत्ते आदि पशु उस भगवद् विमुख पुरुषकी स्तुति करते हैं. यद्यपि कुत्ते तो पूंछको हिलाकर ग्रासमात्रकेलिए भी अपनी लालसाको जता देते हैं, उसी तरह यह भगवद्विमुख पुरुष भी अपनी लालसाको समझा देता है. यद्यपि कुत्ता तो स्वामीका हित करता है और थोडेसे सन्तोष करता है; परंतु यह प्राकृत पुरुष तो स्वामीका हित भी नहीं करता और न थोडेसे सन्तोष करता है. इसी तरह विड्वराह (ग्रामसूकर) भी गन्दी वस्तुओंमें आसक्त रहता है. जैसे वह मलमूत्रके स्थानमें मस्त रहता है उसी तरह यह प्राकृत पुरुष भी रहता है. तथापि यह सूकर तो जो वस्तु किसीके काम नहीं आती है ऐसी वस्तुसे अपना जीवननिर्वाह करता है. उस वस्तुमें उससे हिस्सा बटानेवाले कोई नहीं है. परंतु यह प्राकृत पुरुष तो सबके भागको स्वयं खा जाता है.

ऊंट यद्यपि कांटे आदि अत्यन्त कठोर पदार्थोंका उपयोग करता है और फिर भी स्वामीका बोझ ढोता है. परंतु यह प्राकृत पुरुष तो उस ऊंटसे भी गया बीता है. यह भगवान्का तो कोई कार्य करता नहीं है और इसे अच्छा-अच्छा खानेको चाहिए. यद्यपि गधा गधीकी लात खाकर चला जाता है; इसलिए वह पुरुषके समान ही है. परंतु वह गधा गधीसे कभी विरुद्ध नहीं चलता, न वह कभी मालिकके काममें हठ करता है. इस प्राकृत पुरुषमें गधेके दोष तो हैं परंतु गधेके गुण इसमें नहीं हैं. अतः इसकी लोग निन्दा करते हैं कि यह गधेसे भी गया-बीता है.

यह बात पुरुषमात्रमें है ऐसा नहीं समझना चाहिये. क्योंकि जिनके अन्नभक्षणका उपयोग ज्ञान-भक्तिमें होता है, उनको इसमें नहीं लिया है. श्रुतिमें भी कहा है "**मोघम् अन्नं विन्दते अप्रचेताः. अन्नेन प्राणाः. अन्नात् प्राणा भवन्ति**" जो भगवद्विमुख पुरुष है वह व्यर्थ ही अन्न खाता है. वह न देवोंका उपकार करता है, और न अपना हित करता है, न मित्रोंका हित करता है. वह तो केवल पापका भार बढाता है. इस तरह जो पुरुष केवल अपने स्त्री-पुत्रोंका पेट भरता है और

अपना पेट भरता है उसकी निन्दा की है. क्योंकि अन्नका उपयोग ज्ञान या भक्ति में होना चाहिए. अर्थात् अन्नसे प्राणलाभ होता है और प्राणोंकी स्थिति होनेपर वह ज्ञान प्राप्ति या भक्ति कर सकता है. परंतु यदि उस अन्नका उपयोग ज्ञान या भक्तिमें न हो तो उसमें और पशुमें कोई अन्तर नहीं है. यदि ज्ञान-भक्तिमें अन्नका उपयोग होता है तो उससे पुरुषार्थकी सिद्धि होती है. अतः उसमें पशु तुल्यता नहीं होती. उसीको '**न यत्कर्णपथोपेतः**' से बताते हैं. जिसके कानोंमें गदाग्रज भगवान्का नाम नहीं पडा, जो भगवान् केवल भक्तिका प्रकाशन करनेकेलिए प्रकट हुए हैं; तो उसका जीवन व्यर्थ है. कहा भी है, '**स्वानां भावसरोरुहम्**' इसलिए जो भगवान्के गुणोंको नहीं सुनता वह भगवदीय नहीं होता यह निश्चित है. और उसे भक्तिमार्ग या ज्ञान प्राप्त नहीं होता. भगवान्को गदाग्रज इसलिए बताया है कि माता-पिताके दुःखोंको दूर करनेके अनन्तर ही गद उत्पन्न हुआ था. अतः जहां भगवान्ने दुःखोंको दूर किया ऐसा कहना होता है, वहां भगवान्को गदाग्रज नामसे कहते हैं।। १९।।

आभासार्थः इस तरह भगवद्विमुखोंकी आयु और भोगका स्थान देह व्यर्थ है इसे कहकर अब उसकी इन्द्रियां भी निष्फल हैं यह कहते हैं.

बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगायगाथाः।।२०।।
भारः परं पट्टकिरीटजुष्टम् अप्युत्तमाङ्गं न नमेद् मुकुन्दम्।
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्या हरेर्लसत् काञ्चनकङ्कणौ वा।।२१।।
बर्हायिते ते नयने नराणां लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये।
पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ।।२२।।
जिवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणून् न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु।
श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम्।।२३।।

श्लोकार्थः जिस मनुष्यके कर्णपुट भगवान्के पराक्रमोंका श्रवण नहीं करते, वे कान नहीं हैं; वे सांपके बिल हैं. हे सूत! जिनकी जीभ भगवान्के चरित्रोंका गान नहीं करती उसे मेंढककी जीभ समझना चाहिए, तथा वह जीभ असती है. पट्ट किरीटसे शोभित मस्तक यदि भगवान्के चरणोंमें नमता नहीं है, तो फिर वह सिर भाररूप है. दोनों हाथ भले ही सोनेके कङ्कणोंसे युक्त हों; परंतु वे हाथ यदि भगवान्की सेवा नहीं करते तो वे शव (मुर्दे)के हाथ हैं. जिन नेत्रोंने

भगवान्‌के स्वरूपोंका दर्शन नहीं किया वे नेत्र नहीं है; किन्तु मोरपंख हैं. जो पैर भगवान्‌के मन्दिरोंमें अथवा भगवत्तीर्थोंमें नहीं जाते उन पैरोंको वृक्षमें उनका जन्म हुआ है ऐसा समझना. जो पुरुष भगवान्‌के चरणारविन्दकी रेणुको प्राप्त नहीं करता, वह जीता हुआ भी मुर्दा है. जिस पुरुषने भगवान्‌के चरणारविन्दमें निवास करनेवाली तुलसीकी गन्धको कभी नहीं सूंघा, वह तो श्वास लेते हुए भी मुर्दा है।।२०-२३।।

व्याख्यार्थ: 'बत'का अर्थ है खेद. अत्यन्त विचित्र जिनके चरित्र हैं उन भगवान्‌के चरित्रोंको जिस पुरुषने नहीं सुना उसके कर्णपुट तो बिल हैं. उन कानोंमें अपनी चाही हुई इन्द्रियका अभाव होनेसे अपना अपकार करनेवाले सर्परूप प्राकृत इन्द्रियके रहनेसे शरीररूप घरमें अपकार करनेवालेके छेद हैं. जैसे घरमें वैसे बिलमें प्रविष्ट सर्प घरके स्वामीको खा जाता है इसी तरह सांसारिक कथा इसके कानरूप बिलमें घुसकर इसका सर्वनाश कर देती है. यह ''**तांस्तान् क्षिपन्ति अशरणेषु तमस्सु हन्त**'' इस वाक्यसे कही गई है. यह जीभ भी असती-असाध्वी है. भगवान्‌ने इस जिह्वा इन्द्रियको सबसे विरल ही बनाया है और इसकी रक्षा भी की है. इसकी दांतोंसे हमेशा रक्षा करते हैं. इतना उपकार करनेपर भी यह भगवत्पर नहीं है किन्तु व्यभिचारिणी स्त्रीकी तरह दूसरोंकी प्रशंसा (स्तुति) करती है, भगवान्‌की नहीं. अतः अन्यगामिनी होनेसे असती है.

उसमें भी फिर विशेष बताते हैं कि वह जीभ मेंढककी जीभकी तरह है. मेंढककी जीभको भगवान्‌ने अलग नहीं बनाई है और न उसकी जीभकी रक्षाके लिए भगवान्‌ने दांत दिये हैं. वह जीभ स्वतः ही कठोर है और कीडे आदिको खाती है. उसी तरह इस पुरुषकी जीभ भी नियामकसे रहित है और स्वतः ही क्रूर है और दूसरेके घातमें लगी रहती है. इतना होनेपर भी यह दुष्ट जीभ विषयोंकेलिए भी यदि भगवद् गाथाको गाती हो तो भी कोई चिन्ता नहीं परंतु इस जीभमें यह भी तो नहीं है.

जिस राजाका पट्टाभिषेक हो जाता है, उसका सिर किसीकेलिए झुकता नहीं. वह सिर भी जो पट्ट और किरीट से प्रीतिसे सेवित मोक्ष देनेवाले (मुकुन्द)के लिए यदि नहीं झुकता है तो वह उत्तमाङ्ग सिर भी भार ही है. उस सिरका अन्य कोई सामान्य उपयोग भी तो नहीं है. भोगका और जीवनका तो पहले ही निषेध किया जा चुका है. उत्तमाङ्ग सिरको भार इसलिए कहा कि भारको वहन

करनेवाला झुक नहीं सकता.

भगवत्सेवामें अनुपयुक्त हाथ अन्तःप्राणरहित शवके हाथकी तरह हैं. जैसे शवके हाथ अन्तःप्राणरहित हैं, उसी तरह भगवत्सेवारहित हाथ भी अन्तःप्राणरहित हैं. हाथोंके ऊपरकी शोभा भी मरे हुएके हाथमें पहनाए गए कंकणोंकी तरह है. यदि भगवत्सेवासे विमुख है तो ऐसे हाथोंमें पहने हुए सोनेके कङ्कणको भी उसी तरह समझना. ऐसे हाथ आदरके पात्र नहीं है. यह 'वा'से सूचित होता है.

नेत्र मनुष्यके मुखकी शोभाको करते हैं. इसके अतिरिक्त उनका और कोई प्रयोजन नहीं है. किन्तु मोरपंखकी आंख जैसी होनेसे भगवान्के वे नेत्र विचित्रताको बताते हैं. अर्थात् वे नेत्र भी मोरपंखकी तरह अचेतन हैं. भगवान्की सृष्टि दो प्रकारकी होती है: चेतन और अचेतन. उनमें अचेतन सृष्टि भगवान्का कार्य नहीं करती और चैतन्य सृष्टि तो भगवद्रूप है. 'बर्हायितम्'का अर्थ मोरपंखकी तरह. 'लिङ्ग'का अर्थ भगवानके भक्त और भगवान्के विराजनेका स्थान. इनको जो नहीं देखते वे नेत्र मोरपंखके समान हैं.

यद्यपि पैर चलने-फिरनेवाले हैं; परंतु वे पैर यदि भगवत्क्षेत्रोंमें गमन नहीं करते तो उन्हें द्रुमजन्मभागी समझना अर्थात् उनका जन्म पेडोंमें हुआ है. यद्यपि वृक्ष तो अपने पैरों(मूल)से जल पीते हैं परंतु इन पैरोंसे तो जल भी नहीं पिया जाता. तथापि पृथ्वी पर ये वृक्ष भी रहते हैं और मनुष्यके पैर भी रहते हैं. इसलिए पृथ्वीपर स्थितिमात्रसे ही इनकी उपयोगिता समानरूपसे है. ये पैर अपने अवयवी शरीरको उच्चरूपसे रखते हैं.

जीता हुआ भी मुर्दा होता है उसे 'जीवन् शवः' कहते हैं. शव दो प्रकारका होता है. एक तो मरनेवाला और एक मरा हुआ; अर्द्धजलमें पडा हुआ. दोनों ही प्रकारसे रहता है. इनमें जो भगवद्भक्तोंकी चरणरजको प्राप्त नहीं करता है; आतिथ्यसे उनकी पूजा नहीं करता है अथवा जिसके घरमें वे भक्त कभी आते नहीं; ऐसा पुरुष तो मरनेकेलिए जी रहा है. और जो भगवत्प्रसादको किसी भी प्रकारसे प्राप्त नहीं करता, उसका तो जीवन भी नहीं है; अर्थात् वह तो मरा हुआ ही है. क्योंकि उसकेलिए जीवनरूप भगवदीय रस प्राप्त नहीं होता है. केवल श्वास ही लेता है. जैसे अर्द्धजलमें चेतनारहित केवल श्वास ही लेता है, दूसरोंके भी कामको रोक देता है, तथा भगवान्के चरणारविन्दमें ही जिसकी एक निष्ठा है ऐसी

तुलसीकी गन्धको भी जिसने कभी सूंघी नहीं; भगवान्‌के चरणारविन्दके प्रसादरूपसे उसे ग्रहण नहीं किया. गन्धको ग्रहण करनेवाला नाक मौजूद है और तुलसीमें भी गन्ध विद्यमान है; फिर भी उस तुलसीकी गन्ध कभी नहीं ली. 'श्वसन् शवः'का अर्थ है श्वास लेते हुए भी मरा हुआ. जैसे सांपकी पूंछ काटदेने पर भी पूंछ हिलती रहती है; परंतु अब उसमें इन्द्रिय और इन्द्रियाधिष्ठातृ देवता तो चला गया है; केवल अब तो इसमें क्रियामात्र ही है; इसीको 'श्रीविष्णुपद्या' आदिसे कहा है।।२०-२३।।

आभासार्थः अब अन्तःकरणकी निष्फलताको कहते हैं.

तद् अश्मसारं हृदयं बतेदं यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः।।२४।।

श्लोकार्थः खेद है कि उस मनुष्यका यह हृदय लोहसारका(फौलादका) बना है. भगवान्‌के नामोंके लेनेपर उसमें किसी प्रकारका विकार नहीं होता. जब विकार हो तो आंखोंमें आंसू आवे एवं शरीरमें रोमाञ्च हो. परंतु ये कुछ भी उसमें नहीं होते।।२४।।

व्याख्यार्थः खेद है कि यद्यपि धैर्य गुण है; भगवच्चरित्रको सुनकर भी वह धीर है. तथापि लौहकी तरह उसका धैर्य है. यह लौह पत्थरोंका सारभूत है. इसलिए भक्तिका आवेश होनेपर भी वह अपने हृदयकी ही निन्दा करता है कि यह मेरा हृदय पत्थरोंका सारभूत लौहा होते हुए भी इसमें भगवद्भक्तिकी स्थापना कैसे हो गई! इससे उस हृदयमें भगवान्‌के चरणारविन्दकी स्थापनाकी सम्भावना ही नहीं है. इसलिए उस हृदयको धोना स्वच्छ करना व्यर्थ है. जो हृदय अपने द्‌वारा लिये गए भगवन्नामोंसे या दूसरोंके द्‌वारा उच्चारण किये गए भगवच्चरित्रोंसे जो दुःख अभिनिवेशको मिटानेवाले हैं; भगवान्‌के वाचक उन पदोंसे जब उसके हृदयमें कोई विकार नहीं होता; उस हृदयको लौहका ही समझना चाहिए. जिस घरमें भगवान्‌के पधारनेकी सम्भावना होती है उस घरको झाड-बुहारकर छिडकाव आदिसे भूषित किया जाता है. परंतु जिस घरमें (हृदयमें) भगवान्‌के पधारनेकी सम्भावना ही नहीं है उस घरमें चाण्डालके घरकी तरह कोई विक्रिया ही उत्पन्न नहीं होती. अब विकार क्या है उनको समझानेकेलिए उनका निरूपण करते हैं. जब अन्तःकरणमें विकार होता है तो वह दो प्रकारसे समझा जाता है. एक तो नेत्रोंमें आंसू आ जाना और दूसरा शरीरमें रोमाञ्च हो जाना. भगवदीय

रूपसे परिणत होनेको विकार कहते हैं. तब भगवदीयोंमें वैष्णवता होती है. रोम वृक्षरूप हैं; अतः वैष्णवताके कारण उनमें उन्नति होना उचित ही है. अथवा रसके अन्दर भर जानेसे वे रोम ऊपर उठते हैं. और रसके अन्दर भर जानेसे ही नेत्र कमलकी तरह सजल हो जाते हैं. अन्यथा जलसे अलग होनेवाले कमल तो सूख जायेंगे।।२४।।

आभासार्थः इसलिए सब इन्द्रियोंको और देहको सफल बनानेकेलिए भगवत्कथा कहनी चाहिए, इसे कहते हैं.

अथाभिधेह्यङ्ग मनोऽनुकूलं प्रभाषसे भागवतप्रधानः।
यदाह वैयासकिरात्मविद्या–विशारदो नृपतिं साधु पृष्टः।।२५।।

श्लोकार्थः हे सूत! तुम भक्तोंमें प्रधान हो और हमारे मनके अनुकूल बोलते हो; अतः भगवच्चरित्रको कहो. आत्मविद्यामें कुशल शुकदेवजीने राजाके पूछे जानेपर जो भगवत्कथा कही वह कथा कहो।।२५।।

व्याख्यार्थः 'अङ्ग' यह कोमल सम्बोधन है. अर्थ और अभिप्रायका विचार न भी करें तो भी केवल तुम्हारे वाक्यके सुनने मात्रसे ही मनोहरताका अनुभव होता है. इसीलिए तुम भक्तोंमें प्रधान हो क्योंकि तुम्हारे वाक्यमें भगवान्का सम्बन्ध है. परंतु वे ही वाक्य तुम हमको कहो जिन्हें श्रीशुकदेवजीने कहा है. वे शुकदेवजी भगवदतिरिक्त बात कभी नहीं करते क्योंकि शुकदेवजी आत्मविद्यामें निपुण हैं और व्यासजीके पुत्र हैं. राजाने जो प्रश्न किया उसके उत्तरमें जो उन्होंने कहा वह ही कहें. इससे यह सिद्ध होता है कि शुकदेवजीका वचन लोक–वेद और भक्तिके विरुद्ध नहीं होता है।। २५।।

श्रीभागवत महापुराणके द्वितीय स्कन्धकी महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी विवृतिका तीसरा अध्याय सम्पूर्ण.

अध्याय ४

द्वितीय साधन: वक्ताका हृत्प्रसाद–श्रद्धा.

राजाका सृष्टि विषयक प्रश्न और शुकदेवजीका कथारम्भ

साधनं द्विविधं प्रोक्तं क्रिया–कर्तृ विभेदतः ।
पूर्वाध्याये क्रियाङ्गानि वर्णितानि द्विरूपतः।।का.१।।
प्रश्नेऽप्युत्तरशेषत्वात् क्रियायाश्च निरूपणात्।
स्वरूपतो ज्ञानतश्च कार्यसिद्धिर्यतो द्विधा।।का.२।।
साधनं श्रोतृवक्त्रोश्च विमर्षाधिक्रिया यतः।
तदुच्यते मुख्ययोहि प्रश्नस्त्वाद्य ससाधनः।।का.३।।
ज्ञात्वाथ नमनं देवे गुरावपि विशेषतः।
सामान्यम् उत्तरं यद्धि तद् वक्तुरधिकारकृत्।।का.४।।
अतोऽध्याये चतुर्थे तु परीक्षिच्छुकयोः क्रमात्।
विमर्षणाधिकारो हि विचाराङ्ग निरूप्यते।।का.५।।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः ममतात्याग एव च।
कथायाः श्रवणे श्रद्धा संन्यासो ज्ञानमेव च।
प्रश्नात् चतुष्टयं पूर्वं श्रोतुरङ्गम् इहोच्यते।।का.६।।

अब चौथे अध्यायकी व्याख्या करते हुए आचार्यचरण संगतिको बतानेकेलिए दो कारिकाओंसे पूर्वाध्यायके अर्थका अनुवाद करते हैं.

कारिकार्थ: क्रिया और कर्ता के भेदसे दो प्रकारका साधन कहा. उसमें श्रवण और कीर्तन रूप दो क्रियाएं हैं. उनके कर्ता भी परीक्षित और श्रीशुकदेवजी हैं. पूर्व अध्यायमें साक्षात् और परम्परा भेदसे दो रूपसे श्रवणादि क्रियाके अङ्ग भगवद्रति और भगवदीय सङ्ग इन दोनोंको सिद्ध करनेवाला भगवान्की कथामें अनुराग है यह कहा. इस तरह यह साक्षात् और परम्परा भेदसे दो प्रकारके अङ्ग हैं. भगवान्में प्रेम और कथामें अनुराग यह श्रवण–कीर्तनका साक्षात् अङ्ग हैं. भगवदीयका सङ्ग तथा उसको प्राप्त करनेकी इच्छा यह परम्परारूप अङ्ग है. यह दोनों ही अङ्ग जैसे परीक्षितके प्रश्नके उत्तरमें हैं उसी तरह शौनकजीके किये गये प्रश्नके उत्तरमें भी समझना चाहिये. इस तरह पूर्व अध्यायके अर्थका अनुवाद करके उत्तरमें भी उनकी हेतुता जिस तरह है उसे समझानेकेलिए चतुर्थ अध्यायके

अर्थको साढे चार कारिकासे कहते हैं. जिसके द्वारा श्रोता और वक्ताका विमर्शमें अधिकार होता है वह साधन कहा जायगा. उसमें प्रथम श्रोता और वक्ता के हैं उनका प्रश्न श्रोतके विषयमें सद्बुद्धि आदि रूप साधन जानकर देवता और गुरुको भी विशेष रूपसे नमन करते हैं. यद्यपि यह उत्तर सामान्य रीतिसे नमनमें आ जाता है इससे वक्ताका अधिकार सिद्ध होता है. इसलिए चतुर्थ अध्यायमें परीक्षित और शुकदेवजीका क्रमसे विमर्षणाधिकार है यह विचारका अङ्ग है इसका निरूपण है. व्यवसायात्मिका बुद्धि और ममताका त्याग, कथाके सुननेमें श्रद्धा, सन्यास (सर्वपरित्याग) और ज्ञान ये चार श्रोताके अङ्ग हैं इनका निरूपण प्रश्नसे यहां किया जायगा।।१-६।।

आभासार्थः इस तरह पूर्व (तृतीय) अध्यायके अन्तमें शौनकने राजा और शुकदेवजीसे सम्बन्ध रखनेवाली कथाको कहनेकेलिए प्रश्न किया था उसका उत्तर यहां चार श्लोकोंसे देते हैं:

सूत उवाच

वैयासकेरिति वचः तत्त्वनिश्चयम् आत्मनः।
उपधार्य मतिं कृष्णे औत्तरेयः सतीं व्यधात्।।१।।

श्लोकार्थः सूतजीने कहा, आत्माके तत्त्वका निश्चय जिसमें है ऐसा व्यासपुत्र श्रीशुकदेवजीका वचन सुनकर और उसका विचार कर हृदयमें स्थापित करनेके अनन्तर उत्तरापुत्र राजा परीक्षितने अपनी श्रेष्ठ बुद्धिको भगवान् कृष्णमें लगा दी।।१।।

व्याख्यार्थः सर्वप्रथम तो राजाको भगवान्में सती(निश्चल) बुद्धि उत्पन्न हुई. यद्यपि राजाकी बुद्धि पहले भी भगवान्में थी ही परन्तु वह श्रद्धाके कारण थी. इसलिए अज्ञान सहित होने वाली भक्ति असतीकी तरह ही होती है. और इस समय तो सामान्य रूपसे भगवान्को जानकर फलरूप भगवान् भी कोई हैं और वे भक्तिसाध्य हैं, श्रवणादिसे सेव्य हैं, सर्वरूप और सबके अन्दर रहने वाला है उसका ध्यान करनेसे सायुज्य फल भी मिलता है. उन भगवान्के भजनकेलिए ही सब कामना करनी चाहिये. साधनोंका विनियोग भी भगवान्में ही करना चाहिये. इस तरह व्यासपुत्र शुकदेवजीके वचनको सुनकर इससे आत्मारूप भगवान्के और स्वयंके तत्त्वको यथावत् निश्चय करके, मनमें फिर विचारकर और उसे हृदयमें

स्थापित कर, सर्वदा भगवान् आराध्य हैं ऐसी सद्बुद्धि की।।१।।

आभासार्थ: पहले सामान्य रूपसे घरका त्याग भी किया था परन्तु ममताके विद्यमान रहनेसे वह नहीं छोड़े हुएके समान होता है. अब शुकदेवजीके वचनसे वास्तविक रूपसे घरको छोड़ा इसे कहते हैं

आत्म–जाया–सुतागार–पशु–द्रविण–बन्धुषु।
राज्ये चाविकले नित्यं निरूढां ममतां जहौ ।।२।।

श्लोकार्थ: राजाने देह, स्त्री, पुत्र, घर, पशु, धन, कुटुम्ब और अविकल राज्यमें जमी हुई ममताका परित्याग किया।।२।।

व्याख्यार्थ: ममता डूबकर भगवान्में प्रविष्ट हो गई. ममताकेलिये अब उत्तम विषय प्राप्त हो गया अतः पहले जो अयोग्य पदार्थोंमें ममता थी उस ममताने उन सबका परित्याग कर दिया. यहां 'आत्मा'से देह लेना. 'जाया–सुतागार'से भार्या पुत्र घर लेना. 'पशु'से गायें लेना. तथा धनकुटुम्बसे ममता त्याग कर और साधन सहित जो राज्य है उससे, सिंहासनके ऊपर जबसे बैठा था तबसे लगाकर आज तक जो ममता जमी हुई थी उसका परित्याग कर दिया।।२।।

आभासार्थ: पहले जिस तरह ममताके विषय देह आदिके भरण–पोषण आदिकी चिन्ता करता था उसी तरह अब ममताके विषय भगवान् हैं उनके विषयमें क्या करना? ऐसी चिन्तारूप सन्देह होने पर भगवान्में ममता कैसे बढे ऐसा प्रश्न पूछा.

पप्रच्छ चेममेवार्थं यन् मां पृच्छथ सत्तमाः।
कृष्णानुभावश्रवणे श्रद्दधानो महामनाः।।३।।

श्लोकार्थ: हे शौनकजी! भगवान् कृष्णके माहात्म्यके विषयमें जिस तरह आपने प्रश्न किया उसी तरह श्रद्धापूर्वक महामना परीक्षितने भी प्रश्न किया था।।३।।

व्याख्यार्थ: यहां 'च'कार पूर्वोक्तके समुच्चयमें है अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन आदिकी ममताका त्याग किया और भगवान्के माहात्म्यके विषयमें पूछा. पूर्वोक्त अर्थकी साधनता सिद्धिकेलिए शुकदेवजीने पहले उत्तर दे दिया था परन्तु फिर भी इस समय राजा पूछता है. सूतजी कहते हैं कि तुम्हारे प्रश्नमें और राजाके प्रश्नमें सरस्वती (वाणी)की एकता है. उसीको हे 'सत्तमाः' इस सम्बोधनसे सूचित

किया. जो तुम पूछ रहे हो उसीका प्रश्न राजाने भी किया था. शुकदेवजीका वचन साधन रूप है अतः राजा तथा आप दोनों हीमें श्रोता होनेसे तुल्यता है इसलिए जिस तरह आपकी प्रश्न करनेकी बुद्धि हुई उसी तरह उसकी भी प्रश्न करनेको बुद्धि हई यह उचित ही है. प्रश्नमें समानता होने पर भी कोई अवान्तर भेद है. आपके प्रश्नमें तो उनके वाक्यके प्रकारसे पदार्थज्ञानकी इच्छा है और राजाको तो भगवान्के माहात्म्यका ज्ञान ही अपेक्षित था. उसीको 'कृष्णानुभाव–श्रवणे श्रद्दधानः' इससे बताया है. भगवान्के माहात्म्यको सुननेसे उसमें दो बातें हो गईं: एक तो श्रद्धा और दूसरी मनकी विपुलता. श्रद्धा होनेसे तो भगवान्के माहात्म्यको ग्रहण किया और मनकी विपुलतासे अतृप्ति रही।।३।।

आभासार्थ: अब जो काम बाकी बचा था उसे उस राजाने किया यह कहते हैं:

संस्थां विज्ञाय संन्यस्य कर्म त्रैवर्गिकं च यत्।
वासुदेवे भगवति आत्मभावं दृढं गतः।।४।।

श्लोकार्थ: राजाने अपनी मृत्युको आई हुई जानकर धर्म–अर्थ–काम सम्बन्धी पुरुषार्थोंका पूर्ण रूपसे परित्याग कर भगवान् वासुदेवमें आत्मभावकी दृढ़ताको प्राप्त की।।४।।

व्याख्यार्थ: सातवें दिन मेरी मृत्यु है यह जानकर धर्म–अर्थ–कामके उपयोगी कर्म तथा उनके साधनोंका भी परित्याग करके मोक्ष देने वाले भगवान् वासुदेवमें अन्तःकरणके स्नेहको दृढ बनाकर पूछा. आत्माकी या स्वरूपकी आगे क्या स्थिति होगी? या आत्मत्व क्या है? यह प्रश्न किया।।४।।

आभासार्थ: इस तरह प्रश्नके साधनोंको कहकर प्रश्न करनेके पूर्व शुकदेवजीका अभिनन्दन करता है:

राजोवाच

समीचीनं वचो ब्रह्मन्! सर्वज्ञस्य तवानघ!।
तमो विशीर्यते मह्यं हरेः कथयतः कथाम्।।५।।

श्लोकार्थ: हे ब्रह्मन्! आप सर्वज्ञ हैं. आपके वचन बहुत सुन्दर हैं. आपके द्वारा कही जाने वाली भगवत्कथासे मेरा सब अज्ञान दूर हो रहा है।।५।।

व्याख्यार्थ: आप सर्वज्ञ हैं अतः आपके वचनोंका अर्थ तो समझमें नहीं

आता है तथापि आपके वचन बहुत सुन्दर लगते हैं. 'ब्रह्मन्' यह सम्बोधन वक्तामें दोषोंके अभावको सूचित करता है और 'अनघ' यह सम्बोधन अभिमान आदिके अभावका सूचक है. अर्थ समझमें न आने पर भी मेरा स्वरूपाज्ञानरूप अज्ञान आपके वचनोंसे नष्ट हो रहा है. वह वचन आपने मेरेलिए ही कहे हैं. मैने तीन बात निश्चित की है. एक तो आपके वाक्यसे मेरा अज्ञान नष्ट हुआ, दूसरा यह वाक्य मेरे ही लिए कहा, और तीसरा आपने मुझे भगवान्की कथा ही कही।।५।।

आभासार्थः अर्थ समझमें न आनेसे सन्देह होता है इसलिए विशेष प्रश्न करता है:

भूय एव विवित्सामि भगवान् आत्ममायया।
यथेदं सृजते विश्वं दुर्विभाव्यम् अनीश्वरैः।
यथा गोपायति विभुः यथा संयच्छते पुनः।।६।।

श्लोकार्थः मैं यह और जानना चाहता हूं कि अल्पज्ञ लोगोंकी समझमें न आनेवाले इस विश्वकी सृष्टि भगवान् अपनी आत्ममायासे जिस तरह करते हैं तथा जिस तरह रक्षा और संहार करते हैं वह आप कहिये।।६।।

व्याख्यार्थः 'विवित्सामि' जानना चाहता हूं. इसमें पांच प्रकारके सन्देह हैं: १. उत्पत्ति २. स्थिति ३. लय ४. आधार और ५. साधन. उसमें उत्पत्तिके विषयमें सन्देह करता है कि जिस तरह इस जगत्की सृष्टि करते हैं. क्या कुम्हार घड़ा आदि बनाता है उस तरह या सिद्धकी तरह वाणी मात्रसे अथवा योगीकी तरह मनसे या कल्पवृक्षकी तरह उत्पन्न करते हैं? अथवा सृष्टिको अपने अन्दरसे ही अभिव्यक्त कर देते हैं? इस तरह उत्पत्तिमें पांच सन्देह हैं. इसी तरह रक्षामें और प्रलयमें भी ये ही पांच प्रश्न हैं. यह बात अनीश्वरों-अल्पज्ञोंकी समझमें नहीं आ सकती. ये मैंने जो पांच प्रश्न किये हैं इन पांचोंकी ही सम्भावना भगवान्में नहीं हो सकती. क्योंकि जो जगत् उत्पन्न किया गया है उसकी कल्पना मनसे भी नहीं कर सकते इसी तरह इसकी रक्षाकी एवं प्रलयकी कल्पना भी नहीं की जा सकती. तो फिर ऐसा ही निश्चय क्यों नहीं कर लेते कि भगवान् इसकी उत्पत्ति, रक्षा एवं प्रलय नहीं करते. इस पर कहते हैं कि भगवान् विभु हैं. नष्टको भी बार-बार नष्ट करते हैं और उत्पन्न हुएको भी फिर उत्पन्न करते है. जैसे लकड़ी आदिको नष्ट कर उससे अग्निको उत्पन्न किया और उस अग्निको नष्ट कर भस्मकी उत्पत्ति फिर उस

भस्मको भी वायुके द्वारा उड़ा कर अथवा जलमें विलीन कर नष्ट कर दिया।।६।।

आभासार्थः अब चौथे प्रश्नको कहते हैं:

यां यां शक्तिम् उपाश्रित्य पुरुशक्तिरयं पुमान्।
आत्मानं क्रीडयन् क्रीडन् करोति विकरोति च।।७।।

श्लोकार्थः अनेक शक्तिवाले ये भगवान् जिस-जिस शक्तिका आश्रय लेकर स्वयंको क्रीड़ा कराते हुए स्वयं अपनेसे ही जगत्को विरुद्ध प्रकारसे या विविध प्रकारसे करते हैं यह कहें।।७।।

व्याख्यार्थः यहां उत्पनन्न किया जाने वाला पदार्थ क्या है. क्या केवल आत्मा है या शक्ति सहित आत्मा है. शक्तिसहित आत्मामें भी क्या आत्मा ही उत्पन्न होता है या शक्ति ही उत्पन्न होती है. इस सन्देहमें उन पक्षोंमें भी कालभेदसे अथवा कृतिभेदसे जो व्यवस्थाएं हैं उनमें एक कृतिमें जिस शक्तिको लेकर, फिर द्वितीय कृतिमें जिस शक्तिको लेकर, इस तरह पांचों ही में(जिस शक्तिका आश्रय लेते हों वह मैं जानना चाहता हूं). और उन पांचों हीमें अवान्तर भेद भी हैं. क्योंकि भगवान् अनन्त शक्ति वाले हैं और कालभेद भी बहुत है, और काल आदिके नियन्ता ये भगवान् हैं. ये भगवान् स्वयंको ही विश्वरूपमें कर देते हैं, विरुद्ध भी कर देते हैं, नहीं भी करते हैं और अनेक प्रकारसे भी करते हैं. अथवा आत्माको ही क्रीड़ा करानेकेलिए अन्य ही कुछ कर देते हैं. अथवा क्रीड़ा करते हुए अपने हीको विश्वरूपमें कर देते हैं. 'च'से अन्य अनेक पक्ष भी स्वयं विचार लेने चाहिये।।७।।

आभासार्थः अनेक सन्देह होने पर तो गुरुसे प्रश्न ही नहीं करना चाहिये! क्योंकि यह तो अतिवाद हो जाता है. अतिवाद तो उपेक्षाका विषय है 'अतिवादान् तितिक्षेत' अतः भगवद्विषयक प्रश्नको छोड़कर तुम्हारा प्रष्टव्य तो अन्य हो गया है इस आशंका पर कहते हैं:

नूनं भगवतो ब्रह्मन् हरेरद्भुत-कर्मणः।
दुर्विभाव्यम् इवाभाति कविभिश्चापि चेष्टितम्।।८।।
तथा गुणांस्तु प्रकृतेः युगपत् क्रमशोऽपि वा।
बिभर्ति भूरिशस्त्वेकः कुर्वन् कर्माणि जन्मभिः।।९।।

श्लोकार्थः हे ब्रह्मन्! अद्भुतकर्मा भगवान्की यह चेष्टा विद्वानोंके भी

समझमें नहीं आ सकती. प्रकृतिके गुणोंको भगवान् एक साथ ही या क्रमशः ग्रहण करते हैं और अकेले ही भगवान्को इन कर्मोंके करनेमें अनेक जन्म ग्रहण करने पड़ते होंगे।।८-९।।

व्याख्यार्थ: मैंने कुछ अधिक प्रश्न कर लिये हैं परन्तु आपको फिर भी क्षोभ नहीं होगा इसको बतानेकेलिए 'ब्रह्मन्' यह सम्बोधन दिया है. 'भगवतः' और 'हरेः' ये पद दुःखाभाव और सुख की सिद्धिकेलिए दिये हैं. ऐसे तो सामान्यरूपसे ही भगवान्के चरित्र दुर्बोध हैं उन्हें भगवान् किन गुणोंसे करते हैं? उसमें भी हरिके! भगवान् हरि हैं अत: वे दुःख निवारणकेलिए ही चरित्र करते हैं. उसमें भी अनन्त लोगोंके दुःख भी अनन्त हैं. वे दुःखे हरि किस प्रकारसे और क्या करनेसे दूर करते होंगे? यह समझमें नहीं आता. उसमें भी फिर भगवान्के कर्म अद्भुत हैं. करते कुछ हैं और होता कुछ और है. इसलिए निपुण लोग भी जो अनेक प्रकारकी कल्पना कर सकते हैं उनकी भी समझमें नहीं आता. समझके बाहर होनेसे प्रश्न भी कोई क्या करे? और यह भी समझमें नहीं आता कि भगवान् किस साधनसे इसे करते हैं? यदि गुणोंसे करते हैं तो उन गुणोंको क्या क्रमश: ग्रहण करते हैं या एक ही साथ ग्रहण करते हैं. सब एक ही साथ उत्पन्न तो हो नहीं सकते और न सब एक ही साथ लयको भी प्राप्त हो सकते हैं. क्या प्रकृतिके बहुतसे गुणोंका ग्रहण करते हैं अर्थात् प्रकृतिके गुणोंको बहुत प्रकारके बनाकर बहुतोंको एक राशिरूप प्रकारसे ग्रहण करत हैं? अथवा स्वयं एक होते हुए भी अनेक होकर एक साथ आदि प्रकासे ग्रहण करते हैं. कर्मोंको जन्मोंसे करते हुए अनेक जन्म लेकर कर्मोंको करनेके प्रकारसे करते हैं. अर्थात् कर्मोंके अधीन होकर कर्म करत हैं क्या?।।८-९।।

आभासार्थ: इस तरह पांच प्रश्नोंका निरूपण करके अब उत्कट इच्छासे प्रश्नोंका उपसंहार करता है:

विचिकित्सितम् एतन् मे ब्रवीतु भगवान् यथा ।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परस्मिंश्च भवान् खलु।।१०।।

श्लोकार्थ: मेरे ये सन्देह जिस प्रकार दूर हो उस तरहसे कहिये. आप शब्दब्रह्म (वेद)के तथा परब्रह्मके पूर्णरूपसे ज्ञाता हैं।।१०।।

व्याख्यार्थ: जिसे मैं जानना चाहता हूं उसे जिस तरह जान सकूं उस तरह

आप मुझे कहिये. उस तरह कहनेमें आपका सामर्थ्य भी है. क्योंकि वेदके तथा परब्रह्मके विषयके जो–जो साधन हैं उनके आप पूर्ण जानकार हैं. यह प्रसिद्ध है यह 'खलु' पदसे बताया है।।१०।।

आभासार्थः शुकदेवजीने भी ससाधन उत्तर दिया इसे कहते हैं

सूत उवाच

इत्युपामन्त्रितो राज्ञा गुणानुकथने हरेः।
हृषीकेशम् अनुस्मृत्य प्रतिवक्तुं प्रचक्रमे।।११।।

श्लोकार्थः सूतजीने कहा, राजाने इस तरह भगवान्के गुणोंको कहनेका प्रश्न किया तब श्रीशकदेवजीने बुद्धिप्रेरक भगवान्के गुणोंका स्मरण करके उत्तर देना आरम्भ किया।।११।।

व्याख्यार्थः 'उपामन्त्रण'का अर्थ है प्रार्थना. श्रीशुकदेवजी जानते हैं कि इस सन्देहका निवारण करनेवाले भगवान् हैं अतः बुद्धिप्रेरक उन्हीं भगवान्का स्मरण करके प्रत्युत्तर देना प्रारम्भ किया. अर्थात् उपक्रम किया. गुरु और देवताओं के नमस्कारको उपक्रम कहते हैं. भगवान्के गुणोंको कहनेकी प्रार्थना की थी इससे यह सिद्ध होता है कि बिना प्रार्थनाके भगवान्के गुण नहीं कहने चाहिये यह भक्तिमार्गका सिद्धान्त है. इसलिए अब देवता और गुरु को नमस्कार करते हैं. स्कन्धके प्रारम्भमें नमस्कार इसलिए नहीं किया कि वहां भगवान्के गुणोंको कहनेका उसने प्रश्न नहीं किया था।।११।।

सर्वशास्त्रार्थनिर्द्धारः सप्तभिर्नमनोक्तिभिः।
पञ्चभिः प्रार्थनावाक्यैः माहात्म्यं तस्य वर्ण्यते।।का.१।।
एकेन व्यासनमनम् एतावच्छुकभाषितम्।
अन्यत् कथाप्रसङ्गेन परोक्त्या वा निरूपितम्।।का.२।।
नमनादेव भगवान् सर्वसंशयवारकः।
प्रार्थितः कामनां दद्यात् नान्यथेति द्वयेरणम्।।का.३।।

कारिकार्थः नमनके सात श्लोकोंमें सब शास्त्रोंका निर्धार है और पांच प्रार्थनाके वाक्योंसे उन भगवान्के माहात्म्यका वर्णन है. एक श्लोकसे व्यासजीको नमस्कार किया है इतना तो श्रीशुकदेवजीका है और जो कहा है वह तो उन्होंने कथा प्रसङ्गसे अथवा अन्यकी उक्तिसे निरूपण किया है. नमनसे ही भगवान् सब

संशयोंका निवारण करते हैं और प्रार्थनासे सब कामनाओंका दान करते हैं. अतः श्रीशुकदेवजीने नमन एवं प्रार्थना दोनों ही किये।।१-३।।

आभासार्थः यद्यपि परीक्षितने पांच प्रश्न किये थे. तथापि सब सन्देहोंके निवारणार्थ भगवान्का स्मरण किया इसलिये उन-उन सन्देहोंकी निवृत्तिपूर्वक भगवान्का अनुवाद करके नमन करते हैं. उनमें पहले उसे सृष्टिके विषयमें सन्देह हुआ था अतः उसकेलिए सृष्टिके प्रकारको कहते हुए नमन करते हैं:

श्रीशुक उवाच

नमः परस्मै पुरुषाय भूयसे सदुद्भवस्थाननिरोधलीलया।
गृहीतशक्तित्रितयाय देहिनाम् अन्तर्भवायानुपलभ्यवर्त्मने ।।१२।।

श्लोकार्थः श्रीशुकदेवजीने कहा, जगत्की उत्पत्ति-स्थिति और लय केलिए मायाके तीन गुणोंकी शक्तिको जिन्होंने ग्रहण की है और जो प्राणी मात्रके हृदयमें स्थित है, एवं जिसका मार्ग किसीकी समझमें नहीं आ सकता, ऐसे सर्वश्रेष्ठ अनन्त पुरुषकेलिए मेरा नमस्कार है।।१२।।

व्याख्यार्थः सबसे पहले नमस्कार करते हुए भगवान्केलिए 'परस्मै'पद दिया जिसका तात्पर्य यह है कि भगवान् असङ्ग, उदासीन और एक ही हैं. उसके अनन्तर उसीको पुरुष कहा. इससे यह बात बताई है कि अशरीर विष्णुने आदिमें पुरुष शरीर स्वीकार किया. तदनन्तर '**बहुस्यां प्रजायेय**' ''मैं प्रकृष्ट रूपसे बहुत हो जाऊं ऐसी इच्छासे वह एक ही बहुत रूपमें हो गया''. तदनन्तर अपनी क्रीड़ाकेलिए जगत्की उत्पत्ति स्थिति और संहार केलिए अपनी माया गुणभूत तीन शक्तिका स्वीकार किया. 'सदुद्भव' आदिमें जो 'सत्' पद दिया है उसका तात्पर्य यह है कि इस जगत्में असत्की सत्ता नहीं है किन्तु यह जगत् सत् (सत्य) है और इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और निरोध ये भगवान्की लीलाकेलिए ही है. अर्थात् सत् रूपसे भगवान् उत्पन्न होते हैं, स्थित रहते हैं और लीन होते हैं. इससे पहले उत्पत्ति, तदनन्तर स्थिति और फिर लय होता है. ऐसा क्रम भी बताया. भगवान्का सदंश व्यापक है अतः सर्जन किये गये जगत्का परिच्छेद हो नहीं सकता इसलिए एक साथ ही देशभेदसे एक जगह क्रमसे जिस तरह लीला सम्पन्न हो वैसा करते हैं. तदनन्तर उसीमें अन्तर्यामी रूपसे उसमें प्रवेश करते हैं. इसको 'देहिनामन्तर्भवाय'से बताया है. बाहर रहकर अन्दर प्रवेश नहीं कर सकता किन्तु

वह अन्दर ही आविर्भूत होता है. नाम और रूपके भेदसे सृष्टि दो रूपवाली है. इसलिए नामसृष्टिकेलिए सबकी सृष्टि करके फिर सबमें प्रवेश करके किसीसे भी जिनकी गति समझमें नहीं आ सकती है ऐसे हो गये. इसका तात्पर्य यह हुआ कि उनका ज्ञान गुरु और वेद आदिसे ही हो सकता है।।१२।।

आभासार्थ: इस तरह सृष्टि-स्थिति-प्रलय और भोग तथा मोक्ष केलिए १.मूलरूप २.समष्टिरूप ३.व्यष्टिरूप ४.अन्तर्यामी रूप और ५.फलरूप इन पांच रूपोंका वर्णन किया. अब अवतारके प्रयोजनके विषयमें जो सन्देह है उसका निवारण करते हुए नमन करते हैं

भूयो नमः सद्वृजिनच्छिदे सताम् असम्भवायाखिलसत्त्वमूर्त्तये ।
पुंसां पुनः पारमहंस्य आश्रमे व्यवस्थितानाम् अनुमृग्यदाशुये।।१३।।

श्लोकार्थ: जो भगवान् सत्पुरुषोंके दुःखोंको दूर करनेकेलिए और सत्पुरुषोंको मोक्ष देनेकेलिए प्रकट होते हैं, जो अखिलसत्त्वमूर्त्ति हैं और जो संन्यास आश्रममें स्थित पुरुषोंकेलिए क्रममुक्ति, साक्षान्मुक्ति आदिके अवान्तर भेदोंसे सामीप्यादि मुक्तिको देने वाले हैं उन भगवान्को मैं फिर नमस्कार करता हूं।।१३।।

व्याख्यार्थ: भगवान् अन्तर्यामी हैं अतः पापादिका नाश करते ही हैं. बाहर रहकर भी पापनाश करते हैं इसकेलिए 'भूयः' पद दिया है. अथवा 'भूयः' यह नमस्कारका विशेषण है. भगवान् अत्यन्त उपकारी हैं इसलिए उन्हें बार-बार नमन है. भगवान्के अवतारका प्रयोजन सज्जनोंके दुःखको दूर करना ही है. यद्यपि प्रकारान्तरसे भी दुःख दूर करना हो सकता है तथापि सर्वात्मरूपसे वह दुःख दूर होता है. वह दुःखोंकी परम्परा भगवान्के विनिर्गमसे लेकर पुनःप्रवेश पर्यन्त उद्भूत और अनुद्भूत रूपसे रहती है. उस दुःख परम्पराको दूर करनेमें भगवत्सम्बन्ध ही समर्थ है इसलिए मध्यमें प्रादुर्भूत भगवान् उस दुःख परम्पराको काट देते हैं. 'सताम् असम्भवाय'का अर्थ यह है कि सज्जनोंमें उन दुःखोंकी पुनः उत्पत्ति ही न हो इसकेलिए. परब्रह्मके देहधारणका अथवा आविर्भावका और कोई कारण नहीं है. सन्त तो भगवद्धर्मके सम्बन्धसे सत्त्वको प्राप्त हो जाते हैं, चिदानन्दको नहीं. और फिर जब उनका जन्म होता है तो फिर उनमें सत्त्वका सन्देह भी नहीं रहता है. साधन तो सत्त्वमें ही उपक्षीण हो जाते हैं. अतः उनके

आविर्भावके अभावकेलिए ही भगवान् स्वयं आविर्भूत हुए हैं. इसलिए उनके दुःख दूर करनेका काम तो अल्प है. उनका भाव भी स्वय भगवान् अङ्गीकार करते हैं. और जितने भी सत्त्वगुणके भेद हैं वे हैं मूर्त्तिमें जिनके अर्थात् जिनमें सत्त्वगुण सर्वांशसे विद्यमान है. इसलिए साधनोंकी यदि आवश्यकता होती है तो सब साधनोंको भी स्वयं (भगवान्) ही करते हैं. अथवा देवोंको प्रकट करते हैं. इसीलिए सत्त्वगुणका आविर्भाव भगवान्में है ऐसी लोक प्रसिद्धि है. अथवा 'अखिलसत्त्वमूर्त्तये'का अर्थ है सभी जीवगण है मूर्त्तिमें जिनके. इससे अनेक जन्म होने पर भी उनके प्रतिनिधि रूप भगवान्ने ही सब प्रकारके जीवोंको उत्पन्न किया. अर्थात् जिनका उद्धार करना है उन सज्जनोंके प्रारब्धवशसे अनन्त जन्मकी सम्भावना होनेसे उनकी मुक्तिमें विलम्ब हो जायगा इसलिए ''**तस्य पुत्रा दायादम् उपयान्ति सुहृदः पुण्यकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्**'' इस श्रुत्युक्तन्यायसे जिनका उद्धार करना है उनके प्रतिनिधिरूपसे भगवान् ही सब प्रकारके उत्पादनोंसे उत्पादित जीवोंका अवतार लेकर उनका सम्मान या वध करके स्वप्रतिनिधि रूपसे उनका जब भोग समाप्त हो जाता है तब उन उद्धार किये जाने वाले जीवोंका प्रारब्धादिका सारा ही भार उतर जानेसे फिर उनकी उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् मुक्ति हो जाती है. इस प्रकारको बतनेकेलिए ही भगवान्को सब जीवोंकी मूर्त्ति कहा है. अतः भगवान्के जैसा भक्तवत्सल अन्य कोई नहीं है इस तरह भगवान्के भजनीय रूपको कहा. भगवान् केवल भक्तोंके उद्धारकेलिए ही अवतार नहीं लेते किन्तु अवतार ग्रहण करके ज्ञानियोंका भी उद्धार करते हैं. इसे 'पुंसाम्' आदिसे कहा है. पारमहंस्य आश्रममें ही जो व्यवस्थित हैं और प्रतिकल्पमें संन्यासीरूपसे ही जन्म ग्रहण करते हैं ऐसे सनकादिकोंको ज्ञानसे मुक्ति देते हैं. उनमें दो प्रकारके ज्ञानी हैं एक तो पूर्ण ज्ञानी और दूसरे अपूर्ण ज्ञानी. उनमें अपूर्ण ज्ञानी तो दयाके पात्र हैं. उनकेलिए क्रम मुक्ति आदिका दान करते हैं. ये सब मुक्तियां मृग्य (ढूंढने योग्य) हैं. ज्ञानी और जीवनमुक्त भी इन मुक्तियोंको ढूंढते हैं. भगवान्के दिये बिना उन्हें भी ये मुक्ति नहीं मिलती. अतः उनको मूक्ति देनेकेलिए ही भगवान् प्रकट होते हैं. 'दाशुषे' इस वैदिक पदका यहां प्रयोग किया है इसलिये ज्ञानियोंकेलिए भगवान् केवल वैदिक फल देते हैं. 'अनुमृग्यं'का अर्थ विचार करना चाहिये ऐसा भी होता है. ज्ञानी लोग इस जन्ममें पूर्ण ज्ञान हो जाने पर

करोड़ों जन्मोंमें विचार ही करते रहते हैं परन्तु उन्हें भगवत्स्वरूपका साक्षात्कार नहीं होता. अतः उनके क्लेशको दूर करनेकेलिए भगवान् स्वयं प्रकट होकर उन्हें अपने आत्माका दान करते हैं. अन्य प्रकारसे अवतारके बिना उन्हें भगवान् आत्मा उपलब्ध नहीं होते. ज्ञानसे भी भगवान् केवल आत्मरूपसे भासित ही होते हैं प्रत्यक्ष नहीं होते. इससे ज्ञानकी व्यर्थता नहीं होती क्योंकि वैसा भान उन्हें हो जाता है. जैसे बच्चोंकेलिए चन्द्र हाथके आगे स्थित है ऐसा भासित होता है प्रत्यक्ष नहीं. 'पुनः'का अर्थ है बार-बार अर्थात् जब-जब ऐसा होता है तब-तब अवतार लेते हैं. प्रत्यङ्निष्ठारूप आश्रमको पारमहंस्य आश्रम कहते हैं. उस पारमहंस्य आश्रममें प्रवेश करनेके अनन्तर वे कभी बहिर्मुख नहीं होते. हंस आश्रममें प्रविष्ट मनमें रमण करते हैं और परमहंस उससे भी अन्तरतम जो आत्मा है उसीमें रमण करते हैं. आत्मा और अनात्म संघात (देह)में आत्माके विचार करनेको भी अनुमृग्य कहते हैं।।१३।।

आभासार्थः इस तरह अवतार विषयक सन्देहका वारण करते हुए सब वर्णोंकेलिए भगवान् अवश्य भजनीय हैं इसका निरूपण किया. अब जो प्रयोजनमें सन्देह है उसको दूर करनेकेलिए भगवान् भक्तिसे ही प्राप्त हो सकते हैं इसको युक्तिसे समझते हुए नमन करते हैं:

नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम् ।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः।।१४।।

श्लोकार्थः भक्तोंके स्वामी और कुयोगियोंको जिसकी दिशाकी भी खबर नहीं है एवं जो भगवान् निरस्तसाम्यातिशय जो 'राधस्' नामकी सिद्धि है उससे अपने ही धाम (अक्षर ब्रह्म)में रमण करते हैं उन भगवान्को बार-बार नमस्कार करता हूं।।१३।।

व्याख्यार्थः भगवान् भक्तिसे ही प्राप्त होते हैं इसलिए भक्तिके उद्रेकसे श्रीशुकदेवजी उन भगवान्को अनेक बार नमन करते हुए उसीकी प्रार्थना करते हैं. जो पूर्ण हैं उन्हें जब भगवान्का दर्शन हो जाय तो उन्हें नमस्कार ही करना चाहिये तथा सत्पुरुष भी ऐसा ही करें इसकी शिक्षा देनेके विचारसे अथवा भगवान्को नमस्कारके सिवाय और कोई कर भी क्या सकता है? जिनका आसन गरुड है उससे बढकर और कौनसा आसन हो सकता है? लक्ष्मी जिसकी पत्नी हो उसको

कोई सम्पत्ति क्या दे सकता है? जैसा कहा भी है **'किमासनं ते गरुडासनाय'**. भगवान् उस तरहके हैं अतः जब भगवान्का साक्षात्कार हो जाय तो नमस्कार ही हो सकता है. प्रार्थनासे भी तो भगवद्दर्शनरूप प्रयोजन ही मांगने योग्य है, और सब साधनोंका फल भी भगवद्दर्शन ही है यह इससे कहा गया. यहां श्रीशुकदेवजी भगवान्के प्रत्यक्ष दर्शन करके ही नमन कर रहे हैं इसलिए 'ते' यह पद दिया है अर्थात् तुम्हारेलिए 'तस्मै'=उसकेलिए ऐसा नहीं कहा. इससे बढ़कर और कोई प्रयोजन उद्देश्य नहीं है यह सब शास्त्रोंका सार है. 'सात्त्वताम्'का अर्थ है सात् प्रत्ययसे युक्त. **'तदधीनवचने सातिः'** इस सूत्रसे साति प्रत्यय होता है, जैसे आत्मसात्. इस तरह व्याकरणके अनुसार 'सात्'का अर्थ है अधीन. अतः 'सात्वताम्'का अर्थ हुआ अधीन, जो कभी भी स्वतन्त्र नहीं है किन्तु सदा भगवान्के ही अधीन हैं उनके भगवान् 'ऋषभ' हैं, पति हैं, स्वामी हैं. ऐसा होनेसे भगवान्का स्वामित्व भी यहां प्रयोजनरूप है. वह स्वामित्व नमन मात्रसे ही तो होता है. और जब भगवदधीनरूप अधिक धर्म उसमें हो जाता है तो भगवान् उससे अपनी सेवा भी कराते हैं, और तदनन्तर दास्यभाव भी प्रदान करते हैं, यह प्रयोजन भी इससे निरूपित होता है. जो ऐसा समझते हैं कि हम तो योग आदिके द्वारा ही उन भगवान्को प्राप्त कर लेंगे वे कुयोगी हैं. 'कु'का अर्थ है पृथिवी अर्थात् वे पृथिवीमें ही योगी हैं. जो पृथिवी पर स्थित हैं वे ब्रह्माण्डसे भी परमें स्थित ऐसी वस्तु(भगवान्)को कैसे प्राप्त कर सकते हैं. 'कु'का अर्थ कुत्सित भी होता है. इसलिए कुत्सित योग कुत्सित फलको ही दे सकता है. अथवा भूमि पर स्थित जो फल है उसीको देगा. इसलिए ऐसे योगियोंको तो अणिमादि सिद्धि ही फलरूपमें प्राप्त होती है, भगवान् प्राप्त नहीं होते. योग तो भगवान्के अधीन है. भगवान् स्वाधीन नहीं है किन्तु योगके ईश्वर हैं. अतः योगमें ही जिनकी बुद्धि निश्चित है ऐसी बुद्धिवालोंकेलिए तो भगवान् जिस दिशामें है वह दिशा भी उनकेलिए दूर है, और उनके साधन तो उन्हें और भी दूर ले जाते हैं जिससे भगवान्की दिशा बहुत ही दूर हो जाती है. इसलिए अन्य साधनोंसे साध्य यह प्रयोजन नहीं है यह कहा गया. एक बार कुयोगी होने पर भी यदि फिर आगे उनमें दिव्य आदि योग हो जाय तब तो प्राप्त हो भी सकते हैं. परन्तु जो बार-बार कुयोगी ही होते हैं उनकेलिए तो भगवत्प्राप्तिकी कोई आशा ही नहीं है इसे 'मुहुः कुयोगिनाम्'से बताया है.

प्राप्तिकी आशाके अभावको बतानेकेलिए ही तो 'विदूरकाष्ठाय' बहुत दूर उनकेलिए दिशा है. 'मुहुः' पदसे उनमें साधनोंका अभाव भी सूचित होता है. इसलिए भगवान् केवल भक्तिसे ही प्राप्त होते हैं यह बात अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा सिद्धकी जा चुकी है. 'अन्वय' कहते हैं उसके होने पर हो, अर्थात् भक्तिके होने पर भगवान्का प्राप्त होना. और 'व्यतिरेक' कहते हैं उसके न होने पर उसका न होना, अर्थात् भक्तिके न होने पर भगवान्की प्राप्तिका न होना.

भगवान्की एक कोई सिद्धि भी है जिसको 'राधस्' शब्दसे कहते हैं. वैसी राधस् सिद्धि कहीं अन्यत्र है नहीं, और उस राधस् शक्तिसे बढ़कर भी कोई अन्य सिद्धि नहीं है. उस सिद्धिसे भगवान् अपने घरमें ही रमण करते हैं. भगवान्का घर है अक्षरब्रह्म. उसीमें राधस् सिद्धिसे भगवान् रमण करते हैं. 'रंस्यन्'का अर्थ है अपने ही अन्दर रहने वाले रसको उस राधस् सिद्धिके सम्बन्धसे अभिव्यक्त प्रकट करते हैं. इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् स्वरूपस्थितिके बिना अन्यत्र रमण नहीं करते. भगवत्सम्बन्धी रस वहीं प्राप्त हो सकता है जहां भगवत्स्वरूपकी स्थिति होती है. घर(अक्षरब्रह्म) भी भगवान्का ही है और उसका साधन है: निरस्तशाम्यातिशय राधस् सिद्धि. इसलिए दूसरों केलिए उस रसकी प्राप्ति सर्वथा दुर्लभ है. परन्तु जो उस घरका सेवक होता है उसकेलिए तो उस रसकी प्राप्ति सुलभ है. वह भगवान् अपने घर(अक्षरब्रह्म)में उस(राधस् सिद्धि)को ले जाकर रमण करते हैं इस युक्तिसे केवल भक्तिके द्वारा ही वह रस प्राप्त हो सकता है. 'स्वधामनि' इस पदसे भगवान्का रमण अपने घरमें ही बताया है अतः अन्य कोई वहां जा नहीं सकता अथवा खड़ा नहीं रह सकता यह सूचित होता है. ब्रह्मत्व होनेसे उसमें अहेयता है. निरन्तर रसके प्रवाहित होनेसे फिर सायुज्य प्राप्तिकी आवश्यकता ही नहीं रहती है. इसलिए ऐसी भक्तिके अभावमें केवल नमन ही करना चाहिये अतः वैसे भगवान्केलिए मेरा नमन है ऐसा कहा. जो अपने ही धाममें 'राधस्' नामकी सिद्धिसे ही रमण करते हैं उन भगवान्केलिए मेरा नमन है. इस तरहसे भगवान्को समझकर नमन करना भी प्रयोजन है इसलिए शुकदेवजी आदिने नमनमें ही उसका पर्यवसान सूचित किया।।१४।।

आभासार्थ: इस तरह प्रेमभक्तिवालेकेलिए अन्य कोई कर्त्तव्य नहीं है यह कहकर अब बाह्यभक्तिके फलका नियमन करते हुए नमस्कार करते हैं:

यत् कीर्त्तनं यत् स्मरणं यद् ईक्षणं यद् वन्दनं यत् श्रवणं यद् अर्हणम् ।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमोनमः।।१५।।

श्लोकार्थः जिस भगवान्का कीर्तन, जिसका स्मरण, दर्शन, वन्दन, श्रवण, पूजन संसारी लोगोंके पापोंको शीघ्र दूर कर देता है उस कल्याणकारी यशवाले भगवान्केलिए बार-बार नमन है।।१५।।

व्याख्यार्थः संसारी लोगोंकेलिए कीर्तनादि बाह्य छः प्रकारकी भक्ति तत्क्षण ही पापका क्षय करती है. ईक्षणं पादसेवन भक्तिसे सिद्ध होता है. यहां पापक्षयके तारतम्यको निरूपण करनेकेलिए भिन्न क्रमका निरूपण है. उनमें कीर्तन अपने और दूसरोंके सब पापोंका निवारण करनेवाला होनेसे श्रवणकी अपेक्षासे भी इसमें श्रेष्ठता है इसको बतानेकेलिए ही इसको यहां प्रथम रखा है. कीर्तनके अनन्तर उस कीर्तनका भी मूलभूत और कीर्तनका निर्वाहक केवल आत्मामें ही रहने वाला होते हुए भी आध्यात्मिक पापोंको दूर करने वाला होनेसे अन्तःकरणको शुद्ध करता है इसलिए स्मरणका निरूपण किया. इस तरह जब स्मरण और कीर्तन इन दोनोंसे प्रेमका उद्गम हो जाता है तब भगवान्के आगमनसे अथवा भगवान्के पास जानेसे भगवान्का ईक्षण भगवान्का पादसेवन होता है. सानुभाव ही है अधिष्ठान जिसका ऐसी भगवान्की प्रतिनिधिरूप प्रीतिके कम होने पर भी वह प्रीति जीवको भगवान्से अलग नहीं होने देती अतः उसे बाहर भगवान्के दर्शन होते हैं या भावनासे अन्दर दर्शन होते हैं. उन भगवान्के दर्शनसे आधिदैविक पापकी निवृत्ति होती है. ''**यद् देवानां चक्षुष्यागो अस्ति**'' इस श्रुतिमें उस आधिदैविक पापका निरूपण किया है. भगवान्के दर्शनसे उनकी क्रूर दृष्टि मिट जाती है अतः वह पाप दूर हो जाता है. ईक्षण-पादसेवनके अनन्तर जो वन्दन भक्ति है उससे भगवदीयापराधरूप दोष दूर होते हैं. वास्तवमें तो जीव भगवान्का सेवक होकर बहुत समय तक उनकी सेवा नहीं करता है इसलिए उसको सेवक धर्मके परित्यागसे अधर्म होता है. वह दोष दर्शनके अनन्तर भगवान्को वन्दन करनेसे दूर हो जाता है. तदनन्तर भगवदीयोंके मुखसे जो भगवान्का माहात्म्य सुनते हैं उससे सब वस्तुओंका यथार्थ ज्ञान हो जाता है जिससे अज्ञानकृत पाप जो उसका मूलभूत है वह मिट जाता है. तदनन्तर भगवान्का माहात्म्य जानकर प्रतिक्षण जो भगवान्की पूजा करता है, सत्कार करता है वह भगवान्का पूजन या सत्कार भगवान्के मायारूप या व्यामोहनरूप पापको दूर करता है. भगवान्की

पूजा प्रपत्तिरूप है. इस प्रपत्ति(आश्रय)में अनन्यताका अभाव होनेसे इसे प्रपत्तिरूपसे कहा. अतः जो जीव भक्तिमार्गमें निविष्ट नहीं है, अन्यमार्गीय है उनकेलिए भी इस प्रकारसे करने पर उन-उन पापोंके दूर हो जानेसे सर्वपाप-निवृत्तिरूप फल हो जाता है. यह भगवत्कीर्त्ति ही सबका मूल है इसलिए यह भगवत्कीर्त्ति सुभद्रा कल्याणकारिणी कही गई है. भद्र और अभद्र दोनों ही समान हैं. उन दोनोंके अभद्रका नाश करने वाली होनेसे इसे सुभद्र कहते हैं. प्रथम श्रवण तो उस समय अन्दर प्रवेश करके आलोडनके द्वारा पाञ्चभौतिक देहादिसे पापोंको दूर करनेमें असमर्थ है इसलिए पहले श्रवणका निर्देशन करके कीर्त्तनका निर्देश किया. कीर्त्तन तो उन पापोंको दूर करनेमें समर्थ है अतः उसे प्रथम कहा ऐसा समझना चाहिये।।१५।।

आभासार्थः इस तरह छः प्रकारकी भक्ति छः प्रकारके पापोंका नाश करती है यह कहकर यदि कीर्त्तिका प्रयोजन इतना ही हो और उसका फल यदि मोक्ष न हो तो शास्त्रविरोध आयेगा इसलिए कीर्त्तिका फल मुक्ति है इसे अन्य प्रकारसे कहते हैं:

विचक्षणा यत् चरणावसादनात् सङ्गं व्युदस्योभयतोऽन्तरात्मनः ।
विन्दन्ति हि ब्रह्मगतिं गतक्लमाः तस्मै सुभद्रश्रवसे नमोनमः।।१६।।

श्लोकार्थः विचक्षण लोग जिन भगवान्के चरणारविन्दमें ही निश्चल हो जानेसे अन्तःकरणसे ऐहिक और पारलौकिक संगका परित्याग कर बिना किसी क्लेशके ब्रह्मगतिको प्राप्त करते हैं उन सुकीर्त्ति वाले भगवान्को मैं बार-बार नमस्कार करता हूं।।१६।।

व्याख्यार्थः पूर्व श्लोकमें बताई गई छः प्रकारकी भक्ति अकुशल लोगोंकेलिए है. इस तरह जब छः प्रकारकी भक्तिके करनेसे उनमें चातुर्य (कुशलता) आ जाता है तो वे विचक्षण चतुर(कुशल) हो जाते हैं. तब वे भगवान्के चरणारविन्दमें ही अनुरक्त हो जाते हैं. वे भगवान्के चरणारविन्दको छोड़कर अन्य पदार्थोंके उपयुक्त नहीं रहते. तब भगवच्चरणारविन्दमें अनुरागके कारण ऐहिक और पारलौकिक सङ्गसे निवृत्त हो जाते हैं. भगवच्चरणोंमें अनुरागके कारण सङ्गमें शिथिलताका होना उपयुक्त ही है. उसमें भी फिर अन्तःकरणसे जब भगवच्चरणोंमें अनुराग होता है तो अन्तःकरणसे ऐहिक और पारलौकिक सङ्ग छूट जाते हैं. तब उनको पीछेकी ओर आकर्षित करनेवाला कोई रहता नहीं है इसलिए

उनका भगवान्‌के साथ गमन करनेका सामर्थ्य हो जाता है. जो भगवच्चरणमें लीन होते हैं वे भगवान्‌के चरणके साथ ही गमनमें समर्थ हो जाते हैं. इसलिए ब्रह्मगतिको प्राप्त होते हैं. ब्रह्मगतिका अर्थ है ब्रह्मके साथ गति अथवा ब्रह्ममें गति. अक्षरब्रह्म भगवान्‌का चरणारविन्द अथवा घर है इसलिए दोनों प्रकारकी ब्रह्मगति बताई है. अन्यमार्गसे भी इस प्रकारके साधनसे पूर्वमें बताये गयेके साथ समानता होती है इसलिए 'दोनोंका एक ही अर्थ है' यह जो आगे कहा जायेगा यह सङ्गत होता है. ब्रह्मगतिमें 'गति' शब्दका अर्थ है ज्ञान. इसीलिए ज्ञानमें क्रियात्व और धात्वर्थत्व दोनों ही युक्त होते हैं. ज्ञानके द्‌वारा भगवत्सम्बन्धी क्रिया होनेसे ज्ञानमें क्रियात्व हो जाता है. भगवान्‌में इन्द्रियोंका अभाव होनेसे इन्द्रियजन्य क्रियाओंकी सम्भावना नहीं हो सकती और नित्यक्रिया प्रसिद्ध नहीं है. यज्ञोंके द्‌वारा क्रियारूपसे भगवान्‌का आविर्भाव होनेसे अन्य पदार्थोंको तरह क्रिया भी होती है और वह क्रिया भगवद्रूप है. ''**तदेजति तन्नैजति**'' इससे जो भगवान्‌में क्रिया बताई है वह तो भगवान्‌के विरुद्धधर्माश्रय होनेसे धर्मरूपसे आविर्भूत रूपका प्रतिपादन है. इसलिये सच्चिदानन्दकी तरह क्रिया भगवान्‌की स्वरूपभूत नहीं है. इसलिये ज्ञान ही तेजः स्वभावको प्राप्त होते हुएकी तरह दिखाई देता है. जैसे किसीके स्मरणसे मन उधर जाता हुआसा दीखता है उसी तरह भगवान्‌का ज्ञान ही क्रियारूप है. इसलिए भगवद्गतिको प्राप्त होनेका तात्पर्य है भगवान्‌के चैतन्यरूपको प्राप्त करना. अलभ्यलाभकी तरह उसे प्राप्त करते हैं. इसीको ''**चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वात्**'' इस ब्रह्मसूत्रसे बताया है. इसीलिए मुख्य सिद्धान्तसे फलमें भी भेद है. 'हि'का अर्थ है यह अर्थ उचित है. क्योंकि कीर्त्तिका अन्तिम फल मुक्ति है. 'गतक्लमाः'का अर्थ है बिना किसी क्लेशके. यद्यपि अन्यमार्गसे ज्ञानादिके द्‌वारा अथवा अक्षरोपासनासे उसी स्वरूपको प्राप्त करते हैं किन्तु उन मार्गोंमें उनको अधिक क्लेश होता है इसीको ''**क्लेशो अधिकतरः तेषाम्**''से बताया है. और जो कीर्त्तनकी प्रणालिकासे भगवान्‌को प्राप्त करते है उसमें उनको किसी प्रकारका क्लेश नहीं होता. अन्य साधनोंमें और इस साधनमें इतना ही अन्तर है. इसीलिए श्रीशकदेवजी कीर्त्तिको ही मुख्य रखकर उनको नमस्कार करते हैं. 'सुभद्रश्रवसे'का तात्पर्य भी पूर्ववत् समझना. भगवान् बाह्यभक्ति होने पर भी इतना अनुग्रह करते हैं इसलिए आदरसे बारबार नमन करते हैं।।१६।।

आभासार्थ: इस तरह ज्ञानमार्ग एवं भक्तिमार्गका ठीक तरहसे उपपादन करके कर्ममार्गमें भी भगवद्भजनकी आवश्यकताको कहते हुए उनमें स्वरूपके विषयमें जो सन्देह है उसका वारण करते हैं:

तपस्विनो दानपरा यशस्विनो मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः।
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमोनमः।।१७।।

श्लोकार्थ: तपस्वी, दानी, यशका कार्य करने वाले, मनको वशमें रखने वाले, मन्त्रकी उपासना करने वाले, सदाचारी आदि जो कर्म करने वाले हैं वे भी जब तक अपने कर्मका अर्पण भगवान्के चरणारविन्दमें नहीं करते तब तक उन्हें सत्फल नहीं मिलता. अतः उन सुभद्रश्रवा सत्कीर्त्ति वाले भगवान्को मैं वारम्वार नमन करता हूं।।१७।।

व्याख्यार्थ: जो कुआ, बगीचा आदि जनहितके लिये बनवाते हैं उन्हें यशस्वी कहते हैं. मन्त्रकी उपासना करने वाले मन्त्रविद् कहे जाते हैं. अथवा याज्ञिक भी मन्त्रविद् कहलाते हैं. सदाचारी सुमङ्गल कहे जाते हैं. इस तरह कर्ममार्गमें ये छः प्रकारके पुरुष कहे गये हैं. तप संतापात्मक है. वह तो पाकक्रिया (रसोई)की तरह साधनसे हो सकता है अतः वह तप संताप जनक होनेसे सुख नहीं दे सकता. जो देह तथा इन्द्रियां कष्टमें होती है वे सुख नहीं दे सकती हैं. तपमें विधि(आज्ञा) है किन्तु फल देनेवालेका उसमें सम्बन्ध नहीं होनेसे फल नहीं देता है. आज्ञामात्रसे ही वैसा करने पर भी उस आज्ञाका भी यही अभिप्राय है कि जो कुछ भी करो वह भगवान्को अर्पण करो. यदि ऐसा कोई कहता है कि अदृष्टके द्वारा फल हो जायगा तो उसमें कोई प्रमाण नहीं है. शरीरमें स्थित पञ्चमहाभूतोंको कर्षण करनेका निषेध भी है. ''**मत्त एव पृथग्विधाः**'' इसमें 'मत्तः' में हेतुका निर्देश है. अर्थात् फल मेरेसे ही प्राप्त होता है. तब फिर अदृष्ट आदि परम्पराकी कल्पना अनुचित है और उसमें कोई प्रमाण नहीं है. भगवान् अपने भक्तके देहको भगवान्के उपयोगमें आये ऐसा बनाते हैं अर्थात् भगवद्योग्य उस देहको करते हैं. भगवान् सर्वात्मक हैं इसलिए क्लेशको देखकर फल देते हैं अथवा अन्य क्लेश इसका दूर हो जाय इसकेलिए फल देते हैं परन्तु वह फल क्षेमात्मक नहीं होता. भगवान्के द्वारा दिया गया फल स्पर्धा (होड़) असूया सहित नहीं हो सकता. इस तरह अनेक मार्गवालोंको स्वयं ओरोंको देते हुए शोषणसे वस्तु शोधनकी तरह जो

बाकी बचते हैं उनका शोधन करता है. दिये हुए द्रव्यका तो अनेकमें विनियोग ही होता है अतः उसकी फलसाधकता निश्चित नही है. इसलिए यदि वह दान भगवत्सेवाकेलिए प्राप्त हुआ हो और उसका उपयोग उनकीसेवाकेलिए नहीं किया जाता है, उनको अर्पित नहीं किया जाता है, और उसको अपने ही उपयोगमें लाते हैं तो यह चोरी है. इसलिए उससे कभी कल्याण नहीं हो सकता. कुआ, बगीचा आदिका बनवाना भी सबकेलिए विश्रामजनक होनेसे यह कार्य भगवच्चिकीर्षित किया है इसलिए उसे दानकी तरह ही फल होता है यह निर्णय है. मनको वशमें रखने वाले मनस्वी तो योगी ही हैं. कुयोगियोंके विचारसे ही इन योगियोंका भी विचार हो जाता है. योगी सब इन्द्रियोंका निरोध करते हैं अतः उन-उन इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंका द्रोह होता ही है. परन्तु भगवान्को समर्पण करनेमें तो भगवान्के वचनका पालन होता है इसलिए भगवदुक्तको करनेसे दोषकी सम्भावना नहीं रहती. धर्ममार्गमें भी धर्मको कहनेसे अपनी बड़ाई करनेसे उसका विनाश हो जाता है '**धर्मः क्षरति कीर्त्तनात्**' इसलिए धर्मका समर्पण करना भी उचित है. लोकमें भी महाराजको किसी वस्तुका समर्पण आदि किया जायगा तो या तो उसका भोग होगा या समयसे उसका विनाश होगा. परन्तु भगवदीयोंकेलिए तो समर्पित वस्तुका कालसे विनाश होगा नही और भगवान्के उपयोगमें आने पर समर्पणकर्त्ता भगवदीय होता है अथवा उसके ऊपर भगवत्कृपा होगी और पूर्वकी तरह ही उसका ज्ञानमार्गमें या भक्तिमार्गमें प्रवेश हो जायेगा. इसलिए 'सुभद्रश्रवसे' ऐसा कहा. ज्ञान, योग और भक्ति इन तीनों ही मार्गका आश्रय ग्रहण करने वाले भगवदीय हैं यह भगवत्कीर्त्ति है. अन्य लोगोंका तो वहां प्रवेश ही नहीं होता इसलिए आदरसे बारम्बार नमन किया।।१७।।

आभासार्थः इस तरह साक्षात् जिनका भगवत्सम्बन्ध होता है उनका भगवान्में प्रवेश होता है यह कहकर जिनका साक्षात् भगवत्सम्बन्ध नहीं है उनका भी भगवान्में प्रवेश किस प्रकारसे होता है इसे तृतीय गतिकी व्यावत्तिकेलिए कहते हैं. उसे भगवान् स्वयं कहेंगे '**उदासीनो अरिवद् वर्ज्यः**' जो उदासीन है उसे शत्रुकी तरह वर्जित किया है. अतः यहां दो कोटि हो जाती हैः १.पहली कोटि तो भगवदाश्रित तथा भगवदीयाश्रित ओर २.दूसरी कोटिमें उदासीन अथवा भगवान्से शत्रुता रखने वाले. इनमें प्रथम कोटिवालोंका वर्णन करते हैं:

किरात–हूणान्ध्र–पुलिन्द–पुल्कसा आभीर–कङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः।।१८।।

श्लोकार्थः किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन, खस आदि अन्त्यज जातिके तथा अन्य भी पापी भगवदाश्रित भक्तोंके आश्रयसे शुद्ध हो जाते हैं ऐसे समर्थ भगवान्को मैं नमस्कार करता हूं।।१८।।

व्याख्यार्थः किरात आदि उन–उन देश तथा पर्वतोंके निवासी जातिसे अन्त्यज और कार्यसे दुष्ट मनुष्य भगवद्भक्तोंका आश्रय लेने मात्रसे शुद्ध हो जाते हैं. अर्थात् भक्तोंकी तरह भगवान्की सेवाके योग्य होते हैं. और भी जो ऐसे पापी हैं जिनका प्रायश्चित्त भी नहीं हो सकता वे भी शुद्ध हो जाते हैं. ये नौ प्रकारके हैं. अर्थात् आठों दिशाओंके तथा मध्य भागके इनकी शुद्धि भक्तोंके द्वारा बतानेका तात्पर्य यह है कि भक्त ही जब इनको शुद्ध कर सकते हैं तो भगवान्केलिए तो कहना ही क्या? इससे भगवान्का माहात्म्य बोधित होता है. इसीलिए यहां भगवान्को 'प्रभविष्णु' कहा है. 'यद्'अप'ाश्रयाश्रया'में जो 'अप' उपसर्ग है उसका अतिशय अर्थ है. ऐसा अर्थ 'अपपरी वर्जने' इस पाणिनीय व्याकरणसूत्रसे ज्ञापित होता है. अथवा 'अप'का अर्थ व्याप्ति है; अथवा सब ओरसे ऐसा भी अर्थ है. इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् सारे विश्वके आधार हैं परन्तु दुष्ट और दैत्योंके आश्रय नहीं है अर्थात् उनकी शुद्धि नहीं होती।।१८।।

आभासार्थः इस तरह स्वरूपसे और प्रमाणसे सभी सन्देहका वारण करके फलसे और साधनसे भगवान्का माहात्म्य कहते हैं:

स एष आत्मात्मवताम् अधीश्वरः त्रयीमयो धर्ममयस्तपोमयः।
गतव्यलीकैरजशङ्करादिभिः वितर्क्यलिङ्गो भगवान् प्रसीदताम्।।१९।।

श्लोकार्थः वह यह भगवान् आत्मनिष्ठ पुरुषोंका सर्वेश्वर, वेदमय, धर्ममय और तपोमय है. निष्कपट ब्रह्मा शिव आदिसे जिनका स्वरूप अभी तक विचारणीय ही है वे भगवान् मेरे ऊपर कृपा करें ऐसी प्रार्थना है।।१९।।

व्याख्यार्थः उनमें पहले साधनका निर्धारण करते हैं. यहां साधन और फल भगवत्कृपा ही है. दोनोंकेलिए ये ही निश्चय है. इसीलिए 'भगवान् प्रसीदताम्' ऐसा कहा है. कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि सभी साधन भगवान्की प्रसन्नता कराकर ही कृतकृत्य हो जाते हैं. सब शास्त्र लोकके द्वारा या अपने

अनुभवके द्वारा प्रवृत्त हुए हैं. वेद भी भगवत्परक होनेसे उसी अर्थका निरूपण करते हैं:

अधिकारी प्रमाणं च सन्तश्च प्रीतिहेतवः।
एतेऽप्यापाततः प्रोक्तास्तस्मात्सम्प्रार्थनं वरम्।।का.।।
सम्प्रार्थने हि सुमहान्साधनं फलमेव वा।
कार्यादिभिः करोत्येव तस्मात्साधननिश्चयः।।का.।।

कारिकार्थ: अधिकारी, प्रमाण और सन्त ये तीन भगवान्की प्रीतिके कारण हैं. परन्तु यह बात भी ऊपर-ऊपरसे ही है. अतः प्रार्थना करना ही श्रेष्ठ है. सम्यक् प्रार्थनासे ही महान् साधनकी सिद्धि अथवा फलकी सिद्धि होती है. शरीर आदिके द्वारा ही साधनकी सिद्धि होती है यह निश्चित है.

वहां अधिकारी दो प्रकारके हैं. जो भगवान्की कृपाके योग्य हैं वे आत्मनिष्ठ हैं. यहां 'आत्मा' शब्दसे आत्मा और अन्तःकरण दोनोंका ग्रहण है. उनमें जो आत्मनिष्ठ हैं उनकेलिए भगवान् आत्मत्वरूपसे प्रकाशित होते हैं. जो अन्त:करणनिष्ठ हैं वे अपने अन्तःकरणको सुखानुसारी कर सकते हैं उनके वे अधीश्वर स्वामी हैं. अथवा अन्तःकरणके प्रेरक हैं. भगवान् उनसे अपनी सेवा करवाते हैं अथवा सेवाके योग्य करते हैं. प्रमाण तीन प्रकारके हैं: १. श्रुति २.स्मृति और ३.पुराण. उनमें भी मुख्यरूपसे प्रमाण तो वेद है. वेदने भी यज्ञका प्रतिपादन किया है. इसलिए वेदत्रयीका प्रामाण्य यज्ञप्रतिपादकरूपसे है. इसी तरह स्मृतियां धर्मका प्रतिपादन करती हैं. उसमें अर्थकी प्रधानता होनेसे धर्मका प्रयोग किया गया है. पुराण तपका प्रतिपादन करते हैं. पुराणोंमें जितने भी फलोंका निरूपण किया है वे फल तपके द्वारा ही होते हैं. वेद, स्मृति और पुराण रूप उनके अर्थसे और स्वरूपसे भी भगवान् ही हैं फिर अधिकार अथवा प्रमाणकी चर्चा व्यर्थ है. दोनोंका प्रवेश तो फल कोटिमें ही है. सज्जनोंका आश्रय लेने पर भी यही बात समझना. क्योंकि ब्रह्मा और शिव भी उनका अनुमान ही करते रहते हैं. सज्जनोंमें सबसे यदि कोई श्रेष्ठ है तो वो ब्रह्मा अथवा शिव है. और अन्य भी हैं तो उनके शिष्य या उनके पुत्र हैं. वे भी विशेषरूपसे अनुमान ही लगा सकते हैं. 'भगवान् ऐसे ही हैं' ऐसा निर्णय नहीं कर सकते. अनुमान कभी सत्य होता है कभी झूठा भी हो सकता है. वे भी अपना माहात्म्य देखकर ही यह समझते हैं कि यह हमारा माहात्म्य भगवान्की कृपासे हुआ है. इस तरह भगवान्के साक्षात्कारसे

भगवान्के स्वरूपको और भगवान्की कृपाका निर्णय कल्पनासे करते हैं. अर्थात् भगवान् ऐसे हैं और इस तरहसे प्रसन्न होत हैं. वहां प्रमाणमें नाना प्रकारसे वर्णन किया है इसलिए लोकसे वैसी प्रतीति होनेसे उतने मात्र ही भगवान् हैं ऐसा निश्चय होता है. वे तो शब्दसे प्रत्यक्ष बलवान् हैं 'शब्दात् प्रत्यक्षं बलीयः' इस विशेषसे तर्क(अनुमान) करते हैं. इससे यह जाना जाता है कि कृपाकेलिए भगवान्की ही प्रार्थना करनी चाहिये. कृपाके अतिरिक्त और किसीकी प्रार्थना न करे और न भगवान्के अतिरिक्त किसीसे याचना करे।।१९।।

आभासार्थः जब तक प्रार्थनाकी सम्भावना हो तब तक और कुछ नहीं करना चाहिये यह सिद्ध हुआ. परन्तु प्रार्थना करने पर यदि भगवान्को क्रोध न आये तो प्रार्थना ठीक होती है. लोकमें भी यदि अनधिकारी प्रार्थना करता है तो क्रोध उत्पन्न कर देता है. यद्यपि आप मेरे पर प्रसन्न हो यह प्रार्थना साधारण है तथा अन्यसे प्रार्थना भी नहीं की है इसलिए क्रोधकी सम्भावना तो नहीं है तथापि सामान्य बात पर भी अनधिकारीके ऊपर क्रोध हो ही जाता है. इसलिए उसके निर्णयकेलिए प्रार्थनाके योग्य भगवान्के रूपको कहते हैं:

श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिः धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः ।
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्त्वतां प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः।।२०।।

श्लोकार्थः लक्ष्मीपति, यज्ञपति, प्रजाओंके पति, बुद्धियोंके पति, लोकपति और पृथ्वीके पति तथा जो अन्धक, वृष्णि, सात्त्वत यादवोंके पति एवं भगवद्भक्तोंके पति भगवान् श्रीकृष्ण मुझ पर कृपा करें।।२०।।

व्याख्यार्थः पति(स्वामी)से प्रार्थना करनी चाहिये यह तो निर्विवाद है, चाहे पति (स्वामी) प्रसन्न हो या क्रोध करे. इसलिए भगवान् जिनके पति हैं उन्हें भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये. उनमें भगवान् सर्वप्रथम तो छः प्रकारके लोगोंके पति हैं उसका निरूपण करते हैं. पहले तो भगवान् लक्ष्मीके पति हैं. अतः लक्ष्मीकी अंशभूत स्त्रियां यदि प्रार्थना करती हैं तो भगवान् क्रोध नहीं करते. इसलिए स्नेहमार्गका अनुसरण करने वाले ओरोंके ऊपर भी भगवान् क्रोध नहीं करते. इसीलिए '**यज्ञे यः कामयेत्**' इस तरहके बहुत प्रकारके वचन भगवान् पति हैं इसके ज्ञापक हैं. भगवान् प्रजाके पति हैं. जो केवल लौकिक है, मात्र प्रजारूप है अथवा प्रकृष्ट रूपसे भगवान्से उत्पन्न हुए हैं उनके पति भगवान् हैं. इससे साधारण प्रजाको भी भगवान्की प्रार्थना करनेका अधिकार है. जिनमें अल्प

विशेषता हो वे भी प्रार्थना कर सकते हैं. भगवान् बद्धियोंके पति हैं इसलिए जो कोई किसी बुद्धिको जानते हैं, क्रिया विषयक या ज्ञान विषयक अथवा शब्दसे या अर्थसे, वे भी प्रार्थना कर सकते हैं. भगवान् स्वर्ग आदि लोकोंके पति हैं. अतः जो स्वर्ग आदि लोकोंमें चले गये हैं वे भी प्रार्थना कर सकते हैं. भगवान् धरा अर्थात् पृथ्वीके भी पति हैं. अतः जो पृथ्वी पर रहते हैं उनको भी प्रार्थना करनी चाहिये.

स्त्रीभिश्च याज्ञिकैर्लोकैः बुद्धिमद्भिः स्थितैः क्वचित्।
असाधनैरपि ह्येतैः प्रार्थनीयो हरिः पतिः ।।का.।।

कारिकार्थ: स्त्रियोंसे, याज्ञिक लोगोंसे, लोकमें निवास करने वालोंसे और बुद्धिमानोंसे तथा लोकमें जो रहते हैं उनसे तथा असाधनोंसे भी भगवान् प्रार्थनाके योग्य हैं.

अन्धक, वृष्णि और सात्त्वत यादवोंके भगवान् स्वामी हैं और उनकी गति भी भगवान् हैं. पूर्वमें तो भगवान्की प्रार्थना करनेकी योग्यताका निरूपण किया था और अब फलमुखताका निरूपण करते हैं. पति फलरूप है और गति अपने ही अन्दर रहने वाला साधन है. वह फल यदि अपने ही अन्दर रहते हुए साधनताको प्राप्त करता है तो फलका उपभोग होता है. दूर रहनेवाला फल अथवा असाधन या स्वतन्त्र अपने सुखमें उस क्रियामें हेतु नहीं हो सकता. इसलिए यादवोंने जब भगवान्की प्रार्थनाकी तो उनके स्वामी होते हुए भी क्रियारूप भी हो गये. इसलिए भगवान्की कृपाके बलसे जितना वह कर सकते हैं उतना उनकेलिए हो जाता है. इसलिए भगवान्की फलमुखसे स्वामिता सिद्ध होती है. अतः क्रोधकी तो सम्भावना ही नहीं है. और 'गतिश्च'में जो 'च' दिया है उससे वे भगवान् क्रियासाध्यरूप भी हैं.

यादव तीन तरहके गिने गये हैं अतः भगवान् तीनों तरहके तामस–राजस और सात्त्विकों से भजनीय हैं. इसका निरूपण करनेकेलिए हैं. जहां गुणोंसे व्याप्त लोगोंसे भी भगवान् प्राप्त किये जा सकते हैं, प्रार्थना किये जा सकते हैं तो फिर वहां हमारे (शुकदेवजी) जैसोंको क्या चिन्ता है! इसे बतानेकेलिए 'प्रसीदतां मे' ऐसा कहा है. और सज्जनोंके भगवान् स्वामी हैं. जो भगवान्में ही स्थित हैं एवं जिन गुणोंमें प्रविष्ट होकर गुणोंके द्वारा भगवान्का आश्रय ग्रहण किया है उनके तो भगवान् पति(स्वामी) ही हैं. अन्योंके प्रति भगवान्का स्वामित्व औपचारिक

भी हो सकता है. युक्ति और शास्त्र से तो भगवान् सज्जनोंके ही स्वामी हैं. इस कारणसे भी मेरे(श्रीशुकदेवजी के) ऊपर प्रसन्न हों।।२०।।

आभासार्थ: शंका होती है कि राजा परीक्षित्ने तो भगवान्के गुणोंके विषयमें प्रश्न किया था, उसे छोड़कर शुकदेवजी भगवान्की प्रार्थना करने लग गये इसका उपयोग कहां होगा? उस पर कहते हैं:

यदङ्घ्र्यनुध्यानसमाधिधौतया धिया नु पश्यन्ति हि तत्त्वमात्मनः।
वदन्ति चैतत् कवयो यथारुचं स मे मुकुन्दो भगवान् प्रसीदताम्।।२१।।

श्लोकार्थ: जिन भगवान्के चरणोंका समाधिमें ध्यान करने मात्रसे पवित्र हो गई है बुद्धि जिनकी ऐसे ज्ञानी अपनी बुद्धिसे आत्मतत्त्वका दर्शन करते हैं और फिर अपनी रुचिके अनुसार भगवान्का वर्णन करते हैं वे मोक्ष देनेवाले भगवान् मेरे ऊपर प्रसन्न हो।।२१।।

व्याख्यार्थ: भगवान्की प्रार्थनाके बिना भी केवल भगवान्के चरणोंके अनुध्यान मात्रसे ही आतप आदि अवस्थानमें भी समाधिमें बुद्धिको धोने मात्रसे ही, जिसका प्रमाणोंसे भी ज्ञान नहीं हो सकता इस तरहके आत्मतत्त्व भगवत्स्वरूपकी वास्तविकताको जान लेते हैं. बुद्धि स्वभावसे ही वस्तुका प्रकाशन करने वाली है. परन्तु उस बुद्धि पर आवरण हो या विषयों पर आवरण हो जाय तो उत्पन्न बुद्धि भी विषयको प्रकाशित नहीं करती. इन्द्रियोंके ऊपर आवरण आ जाय तब तो बुद्धि उत्पन्न ही नहीं होती है. बुद्धिकी उत्पत्तिमें विषयको ही कारण मानते हैं. ऐसा नहीं है कि जिस प्रकारकी बुद्धि होती है तद्विशिष्ट ही कारण होता है. ऐसा मानने पर सीपमें जो चांदीका भ्रम होता है उसकी उत्पत्ति नहीं होगी. इसलिए विषयमात्रको ही पुरस्कृत करके सहयोगी उचित एवं अनुचित सामग्रियोंके वशसे बुद्धि यथार्थ अथवा अयथार्थ ज्ञान करा देती है. उसमें शुद्ध बुद्धि वस्तुकी यथार्थताको ग्रहण करती है. यहां भगवत् शास्त्रमें सब पदार्थ नित्य हैं अतः कारणरूपसे माने गये ध्यानादिके द्वारा वे पदार्थ अभिव्यक्त (आविर्भूत) किये जाते हैं. पदार्थ एक ही है, उसमें जाति–व्यक्तिके भेदकी कल्पना नहीं है. एक ही घट पदार्थ अनेक प्रकारसे आविर्भूत होता है और तिरोभूत भी होता है. पदार्थ सब भगवद्रूप हैं. अतः नित्य हैं. शब्दोंकी नित्यताको तो कात्यायन आदि प्राचीन विद्वानोंने ही व्यवस्थापित कर दी है अतः उसकेलिए तो हमको अधिक निरूपण करनेकी आवश्यकता नहीं है. उन्होंने '**नित्ये शब्दार्थसम्बन्धः**' ऐसा कहा

है और उसकी व्याख्या भी उन्होंने इस तरहकी है 'नित्यशब्दमें अर्थका सम्बन्ध भी नित्य है'. अनित्य मानने पर जब आश्रय(पदार्थ)का ही अभाव होगा तो फिर उसमें जाति और सम्बन्धकी कल्पना ही अत्यन्त अप्रामाणिक होगी. जो पदार्थ देखा जाता है उसकी यथार्थताका ज्ञान शास्त्रके द्वारा जाना जाता है. अतः भगवद्रूप होनेसे एक ही घड़ा अनेक प्रकारवाला हो जाता है. जैसा कि छान्दोग्योपनिषद्में कहा है **'स एकधा भवति त्रिधा च नवधा'** इत्यादि श्रुतिके बलसे अनुपपत्तिका निवारण हो जाता है. अर्थात् घट नित्य है फिर भी जो अपनी बुद्धिके दोषसे जाति-व्यक्तिकी अन्यथा कल्पना करते हैं वे अप्रामाणिक हैं. केवल जाति व्यक्तिकी ही कल्पना नहीं करनी पड़ेगी किन्तु बहुत प्रकारकी कल्पनाकी आपत्ति हो जायेगी. इसलिए बद्धि एक ही है, उसको बहुत बार शुद्ध करने पर शोधक द्रव्यका अच्छी तरहसे संयोग करनेसे जैसे दर्पण स्वच्छ हो जाता है बुद्धि भी उसी तरह भगवान्के दोनों चरणारविन्दको बुद्धिमें संयोजित करके सङ्घर्षण करनेसे शुद्धि विशेषको प्राप्त होती है. शोधक द्रव्योंके तारतम्यसे मलका निराकरण भी कम-अधिक हो सकता है यह बात शास्त्रसिद्ध है. अञ्जन आदिमें यह प्रसिद्ध है. जैसे अञ्जन विशेषका चक्षु गोलकोंके साथ संयोग करने पर उससे निकलने वाली दृष्टि देवताओंको भी देखती है. उसी तरह शुद्ध बुद्धि भगवतत्त्वको देख सकती है. इसमें किसी प्रकारका अनौचित्य नहीं है. अशुद्ध बुद्धि तो वस्तुकी यथार्थताको नहीं समझा सकती. क्योंकि उस बुद्धिमें दोषोंका आवरण है. जैसे-जैसे बुद्धिमेंसे दोषोंकी निवृत्ति होती जायगी वैसे-वैसे वस्तुकी वास्तविकता स्फुरित होती जायेगी. इसलिए अभ्यास, सूक्ष्मदृष्टि आदिका उपयोग होता है. दोष विषयमें तो है ही नहीं और विशेष रूपसे भगवान्के विषयमें और आत्मविषयमें तो दोष है ही नहीं. श्रुतिमें भगवान्को निष्पाप बताया है 'अपहतपाप्मत्वादि'.

'नु'=निश्चय. 'अनुध्यानका' अर्थ है तत्परतासे चिन्तन करना. वैसे चिन्तनसे भी तदात्मकता हो जाती है. इसे ही समाधि कहते हैं. यह समाधि योगसे सम्बन्ध नहीं रखती है. इस आत्मतत्त्वको विद्वान् लोग अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार वर्णन करते हैं. 'कवि' पद इस बातको सूचित करता है कि उनमें उत्प्रेक्षा (तर्क)का सामर्थ्य है. कोई आत्मतत्त्वकी किसी प्रकारसे उत्प्रेक्षा करते हैं और वैसा ही कहते भी हैं. अतः लौकिक वाक्यसे वस्तुकी यथार्थता स्फुरित नहीं होती. और एक बात यह भी है कि भगवान् 'मुकुन्द' हैं, मोक्ष देने वाले हैं.

वस्तुको यथार्थरूपसे समझना ही मोक्षका अङ्ग है. वह तब ही हो सकता है जब भगवान् मोक्ष देना चाहते हैं. भगवान्की इच्छा भगवान्के चरणारविन्दका ध्यान करनेसे ही होती है. इसलिए जो कोई जिस किसीको जानना चाहता है उसकी सिद्धिकेलिए भगवान्की प्रार्थना करनी चाहिये. उन्हीं गुणोंको कहना चाहिये जिन्हें हमने जाना है और गुणोंके जाननेका साधन उनके चरणारविन्दका अनुध्यान है. केवल चरणारविन्दका अनुध्यान ही पर्याप्त नहीं है उसके साथ प्रार्थना भी होनी चाहिये. क्योंकि भगवान् स्वतन्त्र हैं. अतः अनुध्यान मात्रसे ही वैसा नहीं करना चाहते. इसलिए श्रीशुकदेवजी कहते हैं 'प्रसीदताम्' प्रसन्न होईये. यद्यपि भागवतके निर्माणमें विषयका प्रचार हो तदर्थ कृपा हो ही गई थी तथापि हमारेलिए वह कृपा पुनः हो और अपनेको भी रसकी सिद्धि हो इसकेलिए 'प्रसीदताम्' यह कहा।।२१।।

आभासार्थः इस समय सामान्य रूपसे कृपाकेलिए प्रार्थना करके प्रकृतमें उपयोगी कृपाकी प्रार्थनाकेलिए इस कृपाकी आवश्यकताको बताते हैं:

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि।
स्वलक्षणा प्रादुरभूत् किलास्यतः स मे ऋषीणाम् ऋषभः प्रसीदताम्।।२२।।

श्लोकार्थः जिस भगवान्ने सर्वतः प्रथम ब्रह्माके हृदयमें पूर्वकी सत्यस्मृतिको प्रेरितकी जिससे स्वस्वरूपभूत वेदात्मक वाणी ब्रह्माके मुखसे प्रकट हुई उन उपनिषदोंके आदि गुरु भगवान् मेरे ऊपर प्रसन्न हों।।२२।।

व्याख्यार्थः इन्द्रियोंके द्वारा कोई भी कार्य करना हो तो भगवान्की प्रार्थना अवश्य करनी चाहिये. उसमें भी यदि वाणीका व्यापार(कार्य) करना हो तो भगवान्की प्रार्थना अत्यन्त ही आवश्यक है और उसमें भी यदि भगवदीय पदार्थ वाचक हो तो भगवत्प्रार्थना अत्यन्त ही आवश्यक है. क्योंकि ब्रह्माजीने भी पहले भगवान्का ध्यान करके उनकी प्रार्थनाकी तब भगवान्ने ब्रह्माके हृदयमें प्रवेश करके अपने(भगवान्)को प्रकाशित करनेवाली वेदरूप वाणीको ब्रह्माके मुखसे निकाली. अतः भगवद्गुणोंका वर्णन करना हो तो वह वर्णन नित्यवाणीके द्वारा ही होता है इसलिए प्रकृतमें भगवान्की प्रार्थना आवश्यक है. यदि यह शंका हो कि योगके द्वारा पदार्थोंका स्मरण करके तद्वाचक पदोंका उपनिबन्धन जब सम्भव है तो फिर भगवद्ध्यानकी क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि स्वयं ब्रह्माजीने भी जब भगवान्का ध्यान कर प्रार्थना की तब उनके हृदयमें

सत्य स्मृति निकली तब अन्य कोई योगके द्वारा पदार्थोंके स्मरणसे पदोंका उपनिबन्धन कैसे कर सकता है. यद्यपि वाक्यार्थ और वाक्य दोनों ही नित्य हैं, पूर्वमें उनका अनुभव भी है, तथापि उसका स्मरण आवश्यक है. केवल स्मरण मात्र ही प्रमाण नहीं है किन्तु स्मरण किये हुए पदार्थोंके अनुभव सहित वह बुद्धि भी अपेक्षित है. योगकी तरह भगवान्के ध्यानकी भी उसमें प्रत्यासत्ति है. अतः अन्तःकरणमें पहले विद्यमान भगवान्के अनुभवके सहित स्मृतिको पूर्वमें अनुभूत भगवदीय पदार्थोंके निर्माणकेलिए और पीछे भगवान्के द्वारा प्रेरित उसी हृदयमें अन्तःवेदका प्रादुर्भाव होनेसे फिर भगवान्की प्रेरणासे वह हृदयकी वाणी मुखसे निकली. भगवान्की भार्या(सरस्वती) स्वतः बाहर नहीं निकल सकती. इस तरहकी बात कहना शुकदेवजीको अयुक्त लगा इस आशङ्कासे उन्होंने 'किल' यह पद दिया. अर्थात् यह बात प्रसिद्ध है. प्रसिद्धका प्रकाशन अनुचित नहीं है. स्वलक्षणाका अर्थ है अपने लक्षणोंकी तरह है लक्षण जिसके. अर्थात् नित्यत्व, ब्रह्मशब्द वाच्यत्व, अनन्तत्व आदिरूप लक्षण जो ब्रह्मके हैं वे ही लक्षण उस वाणीके हैं. अथवा स्वयं ही है लक्षण जिसका, वेदोंका असाधारण लक्षण है भगवान् ही जिसका वाच्य हो. इसलिए पूर्वमें जिसका अनुभव किया उसके स्मरणमें और मुखके द्वारा वेदरूप वाणीके निकलनेमें भी सब इन्द्रियोंके प्रेरक भगवान् प्रसन्न हों।।२२।।

आभासार्थः इस तरह शब्दोंके भगवदधीन होनेसे उसके प्रादुर्भावकेलिए भगवान्की प्रार्थनाको कहकर, अब शब्दोंका अर्थ भी भगवान्के अधीन है इसलिए हमारे मुखसे निकली हुई वाणीमें वाणीके पति भगवान् अलङ्काररूपसे प्रवेश करें ऐसी प्रार्थना करते हैं:

भूतैर्महद्भिर्य इमाः पुरो विभुः निर्माय शेते यद् अमूषु पूरुषः ।
भुङ्क्ते गुणान् षोडश षोडशात्मकः सोऽलङ्कृषीष्ट भगवान् वचांसि मे।।२३।।

श्लोकार्थः जो भगवान् पञ्चमहाभूतोंसे अनेक प्रकारके पुरोंका निर्माण करके उनमें स्वयं शयन करता है और सोलह रूपोंको धारण कर सोलह रूप-रसादिका भोग करता है वह पुरुषरूप भगवान् मेरे वचनोंको अलंकृत करें।।२३।।

स्थितिर्भोगश्च सर्वत्र भगवत्कर्तृकौ यतः ।
अतो वाचि स्थितः कृष्णस्तां भुङ्ताम् इति कामना।।का.।।

कारिकार्थः स्थिति और भोग सब देहोंमें भगवान् ही करते हैं. इसलिए

मेरी वाणीमें स्थित कृष्ण मेरी वाणीका भोग करें.

व्याख्यार्थ: यद्यपि सर्वत्र विराट् पुरुष ही है यह प्रक्रिया श्रुति और पुराणों में प्रसिद्ध है. तथापि पुरुषत्वमें विशेषताका अभाव होनेसे शुकदेवजीमें भी भगवत्व भगवान्ने ही सिद्ध किया है इसको बतानेकेलिए, शुकदेवजीका शरीर भगवान्का ही शरीर है अथवा यह शरीर भगवान्का ही शरीर है ऐसा अभिमान न हो इसलिए व्यष्टि (प्रत्येक)में भी समष्टिकी तरह प्रक्रिया कहते हैं. अपने ही द्वारा निर्मित पञ्चमहाभूतोंसे 'इमाः' ये देव, पशु-पक्षी-मनुष्यरूप इन पुरोंमें(शरीरोंमें) स्वयं ही शयन करते हैं, निवास करते हैं. 'पुरुष' शब्दकी व्युत्पत्ति है ''पूर्षु शेते इति पुरुषः''. अतः यदि भगवान् देव-तिर्यङ्-मनुष्यरूप पुरोंमें शयन(निवास) न करें तो वे 'पुरुष' ही नहीं कहे जा सकते. पुरुष(भगवान्)का यह शयन निद्रारूप नहीं है, किन्तु सम्भोगकेलिए है. अतएव '**दक्षिणेऽक्षिण इन्द्र इतरत्रेन्द्राणी**' इस उपाख्यानमें इसीका प्रतिपादन किया है. इन देव, पशु-पक्षी, मनुष्य रूप पुरोंमें सोकर केवल स्पर्शमात्रका ही उपभोग नहीं करता है किन्तु सोलह गुणोंका भी उपभोग करता है, और सोलह गुणोंको षोडशात्मक होकर भोग करता है. षोडश गुणोंमें पञ्चमहाभूत, दस इन्द्रियां एवं मन इनकी गणना है. किन्तु इन शुष्क जड़में रसका अभाव है. भगवान् तो व्यापक और आनन्दमय हैं. अत: उन-उन इन्द्रियोंमें वैसा ही रूप बनाकर अपने भोगके अनुकूल स्थिति कर लेता है. इस तरह अपने प्रवेशसे उन नीरसोंको सरस बनाकर षोडश गुणोंका उपभोग करता है. स्त्री तथा पुरुष अपने ही अवयवोंसे स्वयं ही रसको प्राप्त नहीं कर सकते किन्तु उन अवयवोंके रसको प्राप्त करनेकेलिए स्त्री और पुरुषको एक-दूसरेकी अपेक्षा रहती है. अतः भगवान् भी अपनेमें स्थित रसका आविर्भाव कर उस रसका स्पष्ट भोग करनेकेलिए भेदरूपसे अपनेको ही रूपान्तरसे भिन्न बनाकर फिर उनमें स्वयं प्रवेश करके अनेक रूपोंमें भिन्न होकर एक दूसरेके रसका अनुभव करता है. अर्थात् भगवान् स्वयं ही अपने रसको इन्द्रियादिमें स्थापित करते हैं और उन्हें अपनेसे भिन्न रखकर फिर उनके रसको भगवान् ग्रहण करते हैं. क्योंकि स्वतन्त्ररूपसे तो उनमें रस है नहीं. भगवान् ही जब उनमें प्रवेश करते हैं तब वे इन्द्रियादि षोडश रसमय हो जाते हैं. भगवान् भी षोडशात्मक होकर उस रसका उपभोग करते हैं. जाग्रत अवस्थामें तो देहधारणका प्रयत्न भी रहता है इसलिए भोगमें (रसानुभव में) बाधा होगी इसलिए सोकर उनके रसका अनुभव करते हैं ऐसा कहा. यद्यपि

रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–शब्द ये पांच विषय हैं तो फिर पांच न कहकर सोलह क्यों कहा? इसका तात्पर्य यह है कि सब इन्द्रियोंमें जो त्वचा है उसीके द्वारा स्थान विशेषमें सुख विशेषके जननसे इन्द्रियोंके द्वारा ही उन विषयोंका उपभोग होता है. अतः इन्द्रियोंके भेदको लेकर ही षोडशत्व कथन है. परन्तु जहां इन्द्रियोंका गौणत्व है वहां विषयोंकी प्रधानता रहेगी. विषय केवल पांच है तो वहां पांचका उपभोग होगा. भोगमें कहीं इन्द्रियोकी अप्रधानता होती है और कही इन्द्रियोंकी ही प्रधानता रहती है. महाराजके शरीरकी तरह इन्द्रियोंकी प्रधानता और अप्रधानता होती है. जैसे उष्णकाल हो तो उस समय बहुतसे अलङ्कार आदिके पहननेमें इन्द्रियोंको अरुचि होती है परन्तु राज्य सुखके अनुभवकेलिए महाराजको उन्हें सभामें पहनना पड़ता है और सभाके अतिरिक्त समयमें इन्द्रियोंकी रुचिके अनुसार उपयोग किया जाता है. भगवान्केलिए भी यही बात है. वे कभी इन्द्रियोंको प्रधानता देते हैं तो वहां ग्यारह प्रकारका भोग होता है और विषयोंको प्रधानता देते हैं वहां पांच प्रकारका भोग होता है. इसको कहनेकेलिए ही, अर्थात् दोनोंहीका समावेश करनेकेलिए सोलहका कथन है. इस तरह भगवान्का माहात्म्य सब जगह पूर्ण ही है यह जाना जाता है. वे भगवान् मेरे वचनोंको अलंकृत करें. 'अलंकृषीष्ट'में व्याकरणके नियमानुसार दीर्घ नहीं हो सकता अतः इसे छान्दस प्रयोग समझना चाहिये. यदि यह शंका हो कि नानात्मताको प्राप्त भगवान्से वाणीको अलंकृत करनेकी प्रार्थना क्योंकी गई? इसका समाधान करनेकेलिए ही 'भगवान्' पद दिया है अर्थात् वह भगवान् इन्द्रियरूपसे नाना होने पर भी वाणीको अलंकृत करनेमें समर्थ हैं. 'वचांसि'में बहुवचन इस बातका द्योतक है कि भागवतमें जो सात प्रकारके अर्थ हैं उन सब अर्थोमें मेरी वाणीको शोभित करे. 'मे' पदसे यह सूचित किया है कि अन्यत्र सात अर्थ नहीं है क्योंकि सात अर्थ भागवत हीमें हैं।।२३।।

आभासार्थः इस तरह प्रार्थना करके अपने गुरु व्यासरूप भगवान्को नमस्कार करते हैं:

नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय वेधसे।
पपुर्ज्ञानमयं सौम्या यन् मुखाम्बुरुहासवम्।।२४।।

श्लोकार्थः उन भगवान् वासुदेवको मैं नमस्कार करता हूं जिनके मुखारविन्दसे निकले हुए मकरन्दका ज्ञानियोंने पान किया।।२४।।

व्याख्यार्थ: सबको मोक्ष देनेकेलिए ही भगवान् व्यासका अवतार है. व्यासजी शब्दरूप सृष्टि करते हैं इसलिए उन्हें वेधा(ब्रह्मा) कहा है, इन्होंने मोक्षके उपायको कहा है. श्लोकके उत्तरार्धसे व्यासजीके नमस्कारको बोधित किया है. सब वस्तुओंकी यथार्थताको प्रकाशित करनेवाला भारत आदि ज्ञानमय है. 'सौम्याः' पदसे शान्तिके द्वारा ज्ञाननिष्ठ ही इस आसवके पानके अधिकारी हैं यह सूचित किया. जिन व्यासजीका मुख ही कमल है उसमें रहने वाला मकरन्द (पुष्परस) ही प्रपञ्चका विस्मारक होनेसे 'आसव' शब्दसे कहा गया है. मोक्ष फलरूप है और वक्ता भगवद्रूप है. इसलिए मुख और आसव इन दो पदोंसे पीनेकी इच्छामें कोई रुकावट भी हो तो भी उसका पान होता है यह सूचित होता है. कामिनीके मुखामोद(मुखकी सुगन्ध)में इच्छा न रहते भी इसकी उपलब्धि होती है. व्यासजी सबके गुरु हैं और भगवान् हैं इसलिए सभामें भी व्यासजीको नमस्कार करना उचित है।।२४।।

आभासार्थ: इस तरह देवता और गुरुको नमस्कार करके भागवत जैसे महाप्रबन्धसे उसका निरूपण करनेकेलिए पूर्व प्रश्नका उत्तर देते हैं:

एतदेवात्मभू राजन् नारदाय विपृच्छते।
वेदगर्भोऽभ्यधात् साक्षाद् यद् आह हरिरात्मने।।२५।।

श्लोकार्थ: हे राजन्! नारदजीने यही बात ब्रह्माजीसे पूछी थी. ब्रह्माजीने नारदजीको यह भागवत कही थी. इस भागवतको भगवान्ने ब्रह्माजीसे कही थी।।२५।।

व्याख्यार्थ: हे राजन्! जो बात तुमने पूछी वही बात नारदजीने ब्रह्माजीसे पूछी थी. ब्रह्माजी प्रमेयबलसे पुष्ट हैं अतः उनको यहां 'आत्मभूः' शब्दसे कहा. ब्रह्माजी आत्मभू होनेसे जैसे प्रमेयबलसे पुष्ट थे उसी तरह प्रमाण बलसे भी पुष्ट थे इसको बतानेकेलिए 'वेदगर्भः' यह पद दिया. प्रमेय भगवान् ही प्रमाणरूप (वेदरूप) है. अतः ब्रह्माजी प्रमेय और प्रमाण रूप होनेसे विशेष बलसे पुष्ट भी हैं. 'यदाह हरिरात्मने' इससे यह सूचित होता है कि भगवान्के सदृश मुखसे ही उस प्रश्नका उत्तर देनेसे सन्देह निवृत्ति होगी इसलिए अब तुम्हें पूर्वकी तरह कोई सन्देह ही नहीं होगा जिससे कोई प्रश्न ही नहीं होगा. अर्थात् इसका निरूपण मैं स्वतः नहीं कर रहा हूं. प्रत्येकके अन्तःकरणोंमें दोषोंका तारतम्य होता है यह पहले कह चुके हैं. अतः अब उसे पुनः कहनेकी आवश्यकता नहीं है. 'साक्षात्' पदका सम्बन्ध

।हरि(भगवान्) और वेदगर्भ ब्रह्मा दोनोंके साथ है. 'आत्मने'का अर्थ है ब्रह्माकेलिए. ब्रह्माजीको साक्षात् भगवान्ने ही भागवत कही अन्यथा यदि परम्परा होती तो इसमें वक्ताके दोष भी मिल जाते. इसीलिए शुकदेवजी भी स्वत: अपनी ओरसे कुछ नहीं कह रहे हैं. अर्थात् शुकदेवजी तो भगवान्ने जो भागवत ब्रह्माजीको कही उसे ही कह रहे हैं. प्रार्थना और ज्ञानके कारण शुकदेवजीमें किसी प्रकारका दोष भी नहीं है यह भी सूचित किया. यदि दोष होता तो भगवान्की प्रार्थना न करते और यदि किसी तरह प्रार्थना भी कर देते तो भी ज्ञान तो होता ही नहीं. इस तरह ब्रह्माकी उक्ति और भगवान्की उक्तिके कथनसे उत्पत्ति और उपपत्ति से दो विचार इस भागवतमें कहे जायेंगे ऐसी प्रतिज्ञाकी ऐसा सूचित किया है।।२५।।

श्रीभागवत महापुराणके द्वितीय स्कन्धकी महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी विवृतिका चौथा अध्याय सम्पूर्ण.

अध्याय ५

तृतीय श्रवणाङ्ग साधन: मनन. उत्पत्ति अ.५-७

ब्रह्माजीका अन्तर्यामीके प्राकट्यके प्रकारका कहना

विमर्श: षड्भिरध्यायै: क्रियते स द्विधा मत:।
उत्पत्त्या चोपपत्त्या च तत्राद्योऽपि द्विधा मत:।।का.१।।

कारिकार्थ: अब पंचम अध्यायसे प्रारंभ कर स्कन्ध समाप्ति-पर्यन्त छः अध्यायोंमें भागवत-विचार किया जाता है. 'वस्तुतत्त्वविचार' नामक इस तृतीय प्रकरणमें 'उत्पत्ति-विमर्श' प्रथम प्रकरण है. यह प्रकरण दो प्रकारका है. (१) उत्पत्ति और (२) उपपत्ति. भगवान्के स्वरूप, लीला, गुणों का विचार ही भागवत है, उसे यहां 'वस्तुतत्त्वविचार' नामसे कहा गया है. उद्देश कथन मात्र अर्थात् वस्तुका पहिले-पहिले प्रारम्भ 'उत्पत्ति' कही जाती है, और फिर उसका प्रश्न, सिद्धान्तफल, दृष्टान्त, हेतु प्रभृतिके द्वारा विचार ही 'उपपत्ति' कही गई है. ये बातें (५से १०) ६ अध्यायोंमें कही गई हैं. इस विमर्श प्रकरणमें उत्पत्ति विमर्श भी १.स्थूल और २.अन्तर्यामी के भेदसे दो तरहका है. स्थूल भी १.मूर्त और २.अमूर्त भेदसे दो प्रकारका है. इन दो प्रकरणोंमेंसे स्थूल मूर्त पदार्थ जो पचास करोड़ प्रमाणका ब्रह्माण्ड है, उसका उपपत्ति सहित उत्पत्तिका निरूपण करने वाला यह पंचम अध्याय है।।१।।

स्थूलान्तर्यामिभेदेन मूर्तामूर्त्त-विभेदत:।
स्थूलोऽपि द्विविधस्तत्र स्थूलमूर्तविमर्शने।।का.२।।

कारिकार्थ: सूक्ष्म और अमूर्त पदार्थ अन्तर्यामी है, और स्थूल और मूर्त पदार्थ यह ब्रह्माण्ड है. ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति है, अन्तर्यामीकी उत्पत्ति नहीं होती. साधक प्रमाणोंसे ही विचार हो सकता है, अतएव इस पञ्चमाध्यायमें साधक प्रमाणोंके द्वारा स्थूलमूर्त पदार्थ ब्रह्माण्डका उत्पत्तिक्रमसे निरूपण है।।२।।

उत्पत्त्या पञ्चमाध्याय: सोपपत्त्या निरूपक:।
पुरुष: क्रमत: शक्तित्रयं गृह्णन् भवादिकृत्।।का.३।।

कारिकार्थ: इस स्कन्धमें श्रीभागवत (वस्तुतत्त्व)के विचार श्रवणकर्ता प्रथम नारदजी हैं और वक्ता ब्रह्मा हैं, और फिर श्रवणकर्ता ब्रह्मा है और नारायण वक्ता हैं. पर वास्तवमें इससे उलटा क्रम है,पहिले श्रोता वक्ता ब्रह्मा और भगवान्

हैं और दूसरे नारद-ब्रह्मा हैं।।३।।

इत्युक्त्वा नारदाजाभ्यां जन्मभिर्नेति गद्यते।
एकीभूते प्रवेशेन निर्गमादपि विह्वलः।।का.४।।

कारिकार्थः उन दोनों क्रमोंमें नारद और ब्रह्माके प्रश्नोत्तर द्वारा पञ्चमाध्यायमें यह निर्णय किया गया है कि पुरुषोत्तम भगवान् क्रमसे उत्पत्ति (रजःशक्ति) स्थिति(सत्व-शक्ति) और प्रलय(तमःशक्ति) तीनों शक्तियोंका ग्रहण कर इस जगत्की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय कर्ता हैं. किसी प्रदार्थको अलग रह कर पैदा कर देना यह कर्ताका काम है, पर यहां भगवान् इस प्रकारके लौकिककर्ता नहीं है, किन्तु अलौलिक कर्ता हैं, यह कहा गया है. अर्थात् वह भगवान् अपने स्वरूपको आप ही करता है. क्रिया-कर्ता भी आप हैं और क्रियाका आश्रय भी आप ही हैं. घट क्रियाका कर्ता कुम्हार है पर क्रियाका आश्रय मिट्टी है, एक निमित्त कारण है दूसरा उपादान कारण है, पर भगवान् ही निमित्त और भगवान् ही उपादान कारण हैं. यह इस उत्पत्ति प्रकरणमें कहा गया है।।४।।

अथवा दार्ढ्यतासिद्ध्यै नारदः पृच्छति स्फुटम्।
प्रश्नत्रयं नारदेन क्रियते तत्त्वनिर्णये।।का.५।।
आत्मनो जगतश्चापि निर्धारो भजनस्य च।
द्वयोनिर्धारशेषत्वं तेन प्रत्युत्तरं ततम्।।का.६।।

कारिकार्थः यहां यह प्रश्न होता है कि राजा परीक्षित् भगवत्तत्त्वसे अनजान है, इसलिये उसका प्रश्न करना ठीक है. पर नारद तो ज्ञानी हैं, फिर उन्होंने ऐसा प्रश्न क्यों किया? इसका उत्तर देते हैं कि नारदको भी उतना ही ज्ञान था जितना भगवान्ने उन्हें दिया था, अतएव प्रश्न उचित है. जब सारा जगत् भगवान्में मिलकर एक हो जाता है, पर उत्पत्तिके समय यह पृथक्-पृथक् कैसे निकल पड़ता है? यह व्याकुलता नारदके हृदयमें भी रहती है, इसलिये उन्होंने प्रश्न किया है. अथवा समझ बूझकर भी भगवन्माहात्म्यमें मेरी बुद्धि दृढ़ बनी रहे इस हेतुसे भी नारदने 'वस्तुतत्त्वनिर्णय' करनेकेलिए ब्रह्माजीसे तीन प्रश्न किये: १.आत्म-निर्धारका, २.जगन्निर्धारका और ३.भजन निर्धारका. इनमेंसे आत्मा और जगत् का निर्धार, भजन-निर्धारका शेष है. अर्थात् जगत् और आत्मा दोनों भगवत्सेवाकेलिये हैं. यही सारे भागवतका-वस्तुतत्त्वनिर्धारका सिद्धान्त और फल है।।५-६।।

द्वितीयस्य द्विरूपत्वं बहिरन्तर्व्यवस्थया।

विराजोऽन्तर्मुखत्वाद्धि विपरीतेन वर्ण्यते।।का.७।।

कारिकार्थ: भगवान्का द्वितीय रूप जगत् या ब्रह्माण्ड दो रूप वाला है: १.बहिर्ब्रह्माण्ड और २.अन्तर्ब्रह्माण्ड. व्यष्टि(पिण्ड) और समष्टि(विराट). दोनोंमें भी यह व्यवस्था है ही. इसे ही स्थूल शरीर और लिंग(सूक्ष्म शरीर) कहते हैं. इसलिये जगत्के निरूपणमें दो अध्याय कहे गये हैं: पंचम और षष्ठ. इस विराट्में व्यापक होकर रहने वाला शरीरी लिंग, अशरीरी भगवान् अन्तर्यामी है. यद्यपि वह प्रथम है तथापि उसका निरूपण पीछे–जहां उसके अवतारोंका निरूपण होगा–वहीं उसका निरूपण संभव है. यह विराट् भगवान् अन्तर्मुख होने पर प्रकट होता है, इसलिए इसका निरूपण पहिले न होकर पीछे किया गया है।।७।।

स्थूललिङ्गविभेदो वा तेनाध्यायद्वयं मतम्।
प्रथमस्योत्तरं पश्चात् तदन्तर्यामिसम्भवे।।का.८।।

कारिकार्थ: कहनेका तात्पर्य यह कि जगत्में दो वस्तु हैं, चेतन(जीव) और अचेतन(जड़). पर मायाके सम्बन्धसे दोनों आत्मा(भगवान्) रहते भी अनात्मा हो रहे हैं. इनका भी वस्तुतत्त्व–ज्ञान करना है पर इनका यथार्थ ज्ञान अन्तर्यामि ज्ञानसापेक्ष है. उसके ज्ञानसे इन दोनोंका ज्ञान होता है क्योंकि वह भगवान् ही तत्तद्रूप होकर उनमें प्रवेश करता है. इसके ज्ञानकेलिए दोनों अनात्म पदार्थोंका पृथक्करण करना होता है. यह पृथक्करण पंचम और षष्ठ अध्यायोंमें किया गया है, उनके यथार्थ स्वरूपको समझाया गया है. इसके बाद सप्तमाध्याय अन्तर्यामीका सम्भव है. अर्थात् उसके अवतारोंका वर्णन कर उसके स्वरूपको समझाया गया है।।८।।

आभासार्थ: इस तरह चतुर्थ अध्यायमें परीक्षित और शुकदेवजीके फलमुखसाधनका निरूपण करके पूर्वमें कहे हुए सब सिद्धान्तका और उसके साधनका भी विचार करनेकेलिये अब छः अध्यायोंका प्रारम्भ है. इन छः अध्यायोंके प्रतिपाद्यमें पहले इस पांचवें अध्यायमें साधनरूप और श्रोतव्य विषय भगवान्के स्थूल रूपका उत्पत्तिसे निर्णय करते हैं. उसके भी पहिले वह तत्त्व दुर्ज्ञेय है यह दिखानेकेलिए उसके वक्ता ब्रह्माजीकी विशिष्टता दिखाते हैं:

श्रीनारद उवाच

देव देव! नमस्तेऽस्तु भूतभावन पूर्वज।

तद् विजानीहि यज् ज्ञानम् आत्मतत्त्वविमर्शनम्।।१।।

श्लोकार्थ: हे देव-देव ब्रह्माजी! आपको नमस्कार है. आप प्राणियोंको उत्पन्न करते हो और सबके पहिले पैदा होते हो. मुझे वह ज्ञान दो जिस ज्ञानके द्वारा आत्मतत्त्वकी समझ हो जावे.

व्याख्यार्थ: जिससे प्रश्न किया जाय उसे पहिले नमस्कार करना चाहिये. इसलिए यह नमस्कार प्रश्नके संतोषार्थ है. यहां कोई यह पूछे कि नारद जिस भगवान्को समझनेकेलिए प्रश्न कर रहे हैं उस भगवान्को भी नमस्कार क्यों न किया? इसके उत्तरमें 'देवदेव' शब्द कहा है. अर्थात् मेरे हृदयमें तो देवता और गुरु दोनों आप ही हो, इसलिए ब्रह्माको पृथक् नमस्कार न किया. प्रमेयकी समाप्ति पर्यन्त मङ्गल रहा आवे इसकेलिये 'अस्तु' कहा. अर्थात् मंगलरूप नमस्कार वहां तक बना रहे.

कोई नारदसे पूछे कि ब्रह्माजी अवश्य आत्माका उपदेश कर सकेंगे यह तुमने कैसे जाना? तो कहते हैं कि 'हे भूतभावन!' आप सब प्राणीमात्रके उत्पादक हो इसलिए मुझे निश्चय है, और इसीलिए प्रश्नमें प्रवृत्ति हुई है. अथवा प्राणियोंको जो भगवद्भावना द्वारा विशुद्ध करे वह भूतभावन. ब्रह्माजीके उदरमें दिव्याग्नि रूपवेद निवास करते हैं, इसलिए उसी उदरमें सब जीवोंको निवास करा कर शुद्ध बनाकर वे फिर बाहिर निकालते हैं, इसलिए ब्रह्माजी शोधक भी हैं. और 'हे पूर्वज!'(पिता) कहनेका भी यही आशय है कि हृदयका सन्देह अपने पिताजीसे ही पूछा जाता है. अथवा सारी सृष्टिकी अपेक्षासे आप ही पहले प्रकट हुए हो, इसलिए आपसे बड़ा कोई और दीखता नहीं इसलिए पुरानी बात आपसे ही पूछना उचित है. इस तरह ब्रह्माजीकी स्तुति करनेके बाद अब जाननेकी बात पूछते हैं. 'तद्विजानीहि' जो ज्ञान ज्ञातव्य है उसे आप जानते हो. उसे मुझे समझाओ वह ज्ञान कौनसा है? सब ही लोग 'ज्ञान-ज्ञान' जो कह रहे हैं, यह ज्ञान क्या आत्मा है? किंवा आत्माका साक्षात्कार है? वह भी प्रतिबोध सहित है या केवल है? और वह ज्ञान भगवत्प्रवेशमें हेतु है? किंवा भक्तिको उत्पन्न करने वाला है? किंवा यह परोक्ष ज्ञान है? किंवा स्मृति रूप है? इन सब बातोंका निर्धार करके आप कहें. मैं उस ज्ञानको समझना चाहता हूं जिसमें आत्म तत्त्वका विचार होता हो. इससे कहनेका यह आशय है कि इस ज्ञानके जो आत्मा और तत्त्व दो अङ्ग हैं उनका भी प्रश्न इसीमें आ गया, इसका भी उत्तर आप दें. यह तो स्पष्ट है कि वह

ज्ञान लोकमें प्रसिद्ध है नहीं. तब विचारके द्वारा ही उसे समझ सकूंगा इसलिए उसका विचार किस प्रकार किया जाता है सो भी कहिये. इस तरह इस एक ही प्रश्नमें चार प्रश्न हुए: वस्तु तत्त्व, ज्ञान, आत्मा और विचार।।१।।

आभासार्थ: अब पहिले तत्वके भेदोंको पूछते हैं:

यद् रूपं यद् अधिष्ठानं यतः सृष्टम् इदं प्रभो।
यत् संस्थं यत् परं यच्च तत् तत्त्वं वद तत्त्वतः।।२।।

श्लोकार्थ: तत्त्वका रूप क्या है? तत्त्वका आधार क्या है? तत्त्व कहांसे पैदा होता है. हे सर्व समर्थ! वह तत्त्व किसमें मिला हुआ रहता है? उस तत्त्वका नियमनकर्त्ता कौन है? और वह तत्त्व वस्तु क्या है? यह मुझे खूब समझाकर सत्य-सत्य कहिये।।२।।

व्याख्यार्थ: जिसका रूप आरोपित न हो वह तत्त्व है. यह सारा जगत् अपूर्व रूपसे पैदा होता है और आत्मा भी उसके साथ ही प्रकट होता है इसलिये दुनियाके सब ही पदार्थ आरोपित रूप होने प्रभृति कारणोंसे तत्त्व नहीं कहे जा सकते. अतएव पहिले तत्त्वका रूप कहिये उसका क्या स्वरूप है. आरोपित या अनारोपित कोई भी पदार्थ किसी अधिष्ठान (आधार)में हो सकता है तो फिर इसका आधार क्या है सो भी कहिये 'यदधिष्ठानं'.

लोकमें भी जगत्का 'तत्त्व'नामसे व्यवहार करते हैं और जगत्के मूल तत्त्वोंको भी 'तत्त्व' शब्दसे ही कहते हैं तो अब वास्तविक मूल तत्त्व कौन है यह प्रश्न रहा ही आता है. कोई न कोई तत्त्व, जब-तक सब तत्त्वोंका मूल कारण न माना जाय या न बताया जाय तब-तक यह सब व्यवहार ही कैसे बन सकता है, इसलिए सबका जो कारणतत्त्व है उसका निरूपण कीजिये. 'यतः सृष्टम्'. वादियोंको भी यह विप्रत्तिपत्ति(अड़चन) रहती ही है कि यह जगत् किस तत्त्वमेंसे पैदा हुआ है. इसलिये भी मूल कारणका पता लगाना उचित है. और एक बात यह भी है कि 'यत्संस्थं' सृष्टि अवस्थामें जिसमें यह जगत् ठहरा रहता है उसका भी निरूपण करिये. अथवा 'संस्था' शब्दका मृत्यु अर्थ भी कर लेना चाहिये. अर्थात् 'यत्संस्थं' जहां पहुंचकर जगत् समाप्त हो जाता है. जगत्का मृत्यु कौन है? यहां केवल तत्त्वका ही प्रश्न नहीं है पर विचारका विषय होनेसे जगत्का भी प्रश्न है. ऐसी अवस्थामें अब तत्त्वके विषयमें तो दो प्रश्न हुए. तत्त्वका स्वरूप क्या है और मूल तत्त्व कौन है. और सृष्टिके विषयमें चार प्रश्न हैं. उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और

सृष्टिका वस्तुस्वरूप. तस्य भावस्तत्त्वं. भगवान्का भाव अनारोपितरूप, यह व्युत्पत्ति करनेसे जगत् ही तत्त्व कहा जायगा. आत्मा(जीवात्मा आदि) तो तत्(भगवान्)में ही आ जाते हैं, इसलिये उसका पृथक् प्रश्न करनेकी जरूरत नहीं है. अथवा यहां 'तत्त्व' शब्दसे साधारण तत्त्वमात्रका प्रश्न है उसमें कारण और कार्यरूप दोनों तत्त्व आ जाते हैं. कारणतत्त्व एक और कार्यतत्त्व अनेक, अपने आप 'तत्त्व' शब्दसे आ सकते हैं.

'यत् परम्'का भी प्रश्न है. जो 'पर' नामका पदार्थ सबको नियममें रखने वाला हो, उसे भी कहिये. इससे जगत्की स्थितिका प्रश्न किया है और जब एक ही तत्त्व माननेका पक्ष है, तब अर्थ दूसरा होता है. वह तत्त्व किसके पर है अर्थात् उस तत्त्वका ग्राहक कौन है किसकेलिए यह तत्त्व बनाया गया है? यह भी कहिये.

रूप दो प्रकारका होता है, १.प्रमाणके द्वारा ग्रहीत और २.स्वरूपसे ही ग्रहीत. यहां 'यद्रूप' शब्दसे प्रमाणप्राप्त तत्त्वका प्रश्न है और 'यच्च' शब्दसे स्वरूपग्रहीत तत्त्वका प्रश्न है. 'तत्त्व' शब्दसे चाहे जगत् समझो या तत्त्व समझो पर उसका प्रश्न छः अंग सहित किया है. इन पूछे हुए सब भेदोंका मुझे जैसे वास्तविक ज्ञान हो जाय वैसे कहिये यह तात्पर्य है।।२।।

आभासार्थः आप इस विषयमें जिस प्रकारसे जानते हैं उसी प्रकारका ज्ञान हमें भी करा दें इस अभिप्रायसे नारदजी ब्रह्माजीकी सर्वज्ञता बताते हैं:

सर्वं ह्येतद् भवान् वेद भूत–भव्य–भवत् प्रभुः।
करामलकवद् विश्वं विज्ञानावसितं तव।।३।।

श्लोकार्थः जिस विषयमें मैंने आपसे पूछा है उस विषयमें आप सब कुछ जानते हैं, इतना ही नहीं हाथ पर धरे हुए आंवलेकी तरह, हो चुका, होने वाला और वर्तमान् सारा जगत् आपके योगप्राप्त ज्ञानमें समा रहा है।।३।।

व्याख्यार्थः जो पदार्थ हो चुका है और जो आगे होने वाला है उसका ज्ञान सर्व सामान्यको हो नहीं सकता, क्योंकि वह ज्ञान कालसाध्य है. काल ही उसका ज्ञान करा सकता है पर आप तो स्वयं कालरूप किंवा कालको भी नियममें रखने वाले हैं, यह बात इस श्लोकमें कही गई है. जैसे रहॅटके पात्रोंमेंसे कितने ही पानीसे ऊपर आकर फिर डूबते हैं और डूबे हुए ऊपर भी आते हैं इसी तरह यह जगत् भी कालमें डूबता है और फिर कभी ऊपर भी आता है. अब ऐसी अवस्थामें जो कालमें डूबते–तिरते रहते हैं वे तो अपनी सब अवस्थाओंको कहांसे जान

सकते हैं पर जो कालके बाहर भी रहता है, भीतर भी रहता है वह अवश्य उसकी सब गतिविधिको जानता है. जैसे जलके बाहर-भीतर स्थिति रखने वाला डूबने-तैरनेवाले पात्रोंकी सब गतिविधिको जानता है. इस तरह आप कालके भीतर और बाहर रहने वाले हो इसलिये सब कुछ जानते हो.

योगसे सिद्ध हुए विज्ञानके द्वारा भी आपके ज्ञानमें सारा जगत् समा रहा है. विज्ञानसे आपने सारे जगत्के स्वरूपको निश्चित कर रखा है. यदि 'आवेशित' पाठ हो तो उसका अर्थ यह समझना कि आगेके कार्यकेलिये आपने सब जगत्को अपने विज्ञानमें भर रखा है. हस्तस्थित आंवलेमें जिस तरह किसीको कुछ भी सन्देह नहीं रहता इसी तरह आपको विश्वके विषयमें कुछ भी सन्देह नहीं है।।३।।

आभासार्थ: एक मेरी यह भी प्रार्थना है कि आपको अपने स्वरूपका भी निरूपण करना चाहिये, यह कहते हैं:

यद् विज्ञानो यदाधारो यत् परस्त्वं यदात्मकः।
एकः सृजसि भूतानि भूतैरेवात्ममायया।।४।।
आत्मन् भावयसे तान्येव पराभावयन् स्वयम्।
आत्मशक्तिम् अवष्टभ्य ऊर्णनाभिरिवाक्लमः।।५।।

श्लोकार्थ: जिसके विज्ञानसे, जिसके आधारसे, जिसकी श्रेष्ठतासे और जिस रूपसे आप एक ही अपनी सामर्थ्यसे, भूतोंसे भूतोंको पैदा करते हो यह भी कहो. और यह भी कहो कि फिर अपने स्वरूपमें उनका पालन किस तरह करते हो तथा फिर आप ही उन्हें मिटा भी देते हो. जैसे मकड़ी अपनी शक्तिका ही आश्रय लेकर जाला बनाती है, उसका रक्षण करती है और उसको खाकर भी आप निक्लेश रहती है इसी तरह आप भी अपनी शक्तिसे ही जगत्की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय सब कुछ करके भी अपरिश्रम रहते हो यह क्या बात है?।।४-५।।

व्याख्यार्थ: १.'यद्विज्ञानः' जिससे आपकी समझ तैयार हुई है अर्थात् आपको ऐसी समझ देने वाला कौन है? २.'यदाधारः'(य आधारो यस्य) आपका आधार अर्थात् आप किसके आधारसे रह कर यह सब कुछ करते हो और ३.फिर आपको भी कोई नियममें रखने वाला है क्या? और ४.आप भी किन मूल पदार्थोंसे बने हुए हो, इस तरह नारदने चार प्रश्न किये. जैसे और लोग होते हैं वैसा मैं भी हूं यह साधारणता ब्रह्माजीमें नहीं हैं यह कहते हैं 'एकः सृजसि'. आप एक ही देव मनुष्य पशु आदि भूतोंको उन्हींके द्वारा पैदा करते रहते हो अथवा

पंचमहाभूतोंसे पूर्व प्राणियोंको पैदा करते हो. इसलिए मैंने आपके विषयमें पूर्वोक्त चार प्रश्न किये हैं.

'आत्ममायया' पद सहित आगेका यह पांचवा श्लोक ब्रह्माजीको सब कार्यमें स्वतन्त्र कर्त्ता कहने वाला है. अथवा ब्रह्माजीके माहात्म्यको जताने वाला है अतएव पूर्वश्लोकका शेष है. 'आत्ममायया' पदका यह तात्पर्य है कि सर्वभवनरूप अपनी शक्तिसे ही सबको पैदा करते हो. और अपने आपमें ही उनका पालन भी करते रहते हो. तथा उन्हींका नाश भी करते हुए 'न पराभावयन्' ऐसा पाठ हो तो फिर यह अर्थ करना कि आप अपनी ही शक्तिसे (किसी दूसरेका सहारा लिये बिना ही) जगत्की उत्पत्ति स्थिति और नाश करते रहते हो. अथवा अपने स्वरूपमें कुछ भी न्यूनता या अपूर्णता आये बिना ही जगत्को पैदा करते हो. 'उत्पत्ति और स्थिति' ये दो ही ब्रह्माजीके कार्य हैं नारदजीके कहनेका तात्पर्य यह है कि उत्पत्ति स्थिति ही मेरे देखनेमें आती है संहार नहीं.

ब्रह्माजी किसीकी सहायता लिये बिना ही सब कार्य करते हैं इस बातको दृष्टान्त देकर समझाते हैं 'आत्मशक्तिम्' इत्यादि. अपनी ही शक्तिका सहारा लेकर पक्षिगण जैसे आकाशमें फिरते हैं इस तरह आप भी अपनी सामर्थ्यसे सब जगत्को पैदा करते हो. इसमें दृष्टान्त मकड़ी है. यह कीड़ा अपने मुखमेंसे सैकड़ों गजका सूत निकाल कर जाल बनाता है और उसमें खूब क्रीड़ा करता है और जब खेल चुकता है तब उस सबको अपने पास समेट भी लेता है पर जरा भी थकता नहीं है. इसी तरह आप भी अपनी सामर्थ्यसे सब विश्वको बनाकर उसमें क्रीड़ा कर फिर उसे समेट लेते हो और कभी थकते नहीं।।४-५।।

आभासार्थ: इस तरहका यह आपका सामर्थ्य दूसरेका नहीं है पर अपना ही है यह मेरी समझ है, सो कहते हैं:

नाहं वेद परं त्वस्मिन् नापरं न समं विभो।
नामरूपगुणैर्भाव्यं सदसत् किञ्चिद् अन्यतः।।६।।

श्लोकार्थ: हे ब्रह्मन्! इस जगत्में मैं तो यह मान रहा हूं कि बड़ा छोटा और समान जो कुछ भी नाम और रूप वाला है और होगा वह सब आपसे ही होगा और हुआ है चाहे वह अच्छा हो या बुरा हो।।६।।

व्याख्यार्थ: इस संसारमें सब कुछ आपसे ही होता है यह जान रहा हूं. जो उत्तम हैं जो कुछ हीन हैं और जो पदार्थ आपसमें समान हैं वे भी. इस तरह बनानेमें

सामर्थ्य कहते हैं: हे विभो! सर्वसमर्थ! नाम=वेदादि शास्त्र, रूप=जगत्, गुण=ब्राह्मण्य आदि, और उनसे पैदा होनेवाले किंवा उत्कृष्ट अपकृष्ट, किंवा कार्य-कारण जो कुछ भी है वह सब आपसे ही होता है, दूसरेसे होता है यह मैं नहीं जानता।।६।।

आभासार्थ: यह ठीक है ऐसा तुम समझ भी रहे हो तो इससे क्या कहना है? इसके उत्तरमें नारद कहते हैं कि:

स भवान् अचरद् घोरं यत् तपः सुसमाहितः।
तेन खेदयसे नस्त्वं पराशङ्कां प्रयच्छसि।।७।।

श्लोकार्थ: वह सर्वकर्ता आप, जब सावधान रहकर घोर तपस्या करते हो तब हमें बड़ा दुःख होता है आपके विषयमें अनेक तरहकी शङ्कायें होने लगती हैं।।७।।

व्याख्यार्थ: जो स्वतन्त्र है वह घोर तप क्यों करने लगा? यहां 'घोर' शब्दसे भगवत्कृत और भगवत्संबन्धी तप नहीं समझना. नरनारायणादि भगवान् किंवा भगवदीयगण जो तपस्या करते हैं वे शान्त हैं. 'सावधान'का अर्थ है खूब खबरदारी रखकर करना. इससे ज्ञात होता है कि शरीरेन्द्रियका स्वाभाविक तप नहीं, पर इनका विशेष क्लेश(तप) ही यहां कहना है. ''**तपो मे हृदयं**'' ''**यस्य ज्ञानमयं तपः**'' इत्यादि वाक्योंमें जो कायिक-मानसिक तप कहा है वह स्वभावसे ही होता है. ऐसा तप सावधानान्तःकरण होकर नहीं किया जाता. इससे स्पष्ट होता है कि इससे भी बड़ा कोई अन्य है जिसे प्रसन्न रखनेकेलिए यह परिश्रम किया जाता है. मुझे अभी तक यही निश्चय है कि हमारा पिता(ब्रह्मा) सबसे बड़ा है. पर जब आप तप करते हो तब यह भाव चला जाता है. इसलिए हमें बड़ा कष्ट होता है और कोई दूसरा इनसे भी महान् है यह शंका भी होने लगती है. अब मुझे यह सन्देह हो रहा है कि क्या आपसे भी बड़ा कोई है या नहीं?।।७।।

आभासार्थ: यह सब मुझे स्पष्ट कहिये:

एतन् मे पृच्छतः सर्वं सर्वज्ञ सकलेश्वर!।
विजानीहि यथा चेदम् अहं बुद्ध्येऽनुशासितः।।८।।

श्लोकार्थ: हे सकलेश्वर! हे सर्वज्ञ! ये जो कुछ भी मैंने पूछा है वह सब कुछ इस प्रकारसे मुझे समझाइये कि मैं फिर आपकी आज्ञानुसार उसे अच्छी तरह जान जाऊं।।८।।

व्याख्यार्थ: यहां तेरह प्रश्न हुए हैं. १.ज्ञानका प्रश्न, २.आत्माका प्रश्न, ३-८.तत्त्वके छः प्रश्न, ९-१२.ब्रह्मके विषयमें चार प्रश्न, और यह १३.ब्रह्माजीके विषयमें तेरहवां प्रश्न. सब कुछ खूब अच्छी तरह विचार कर कहिये. जिस प्रकारसे शिक्षा देने पर मैं समझ जाऊं. आप सर्वज्ञ हैं इसलिए समझा सकते हैं. सबके ईश्वर हो इसलिये मुझे भी समझा सकते हो. प्रश्न मात्र करनेसे ही कदाचित् कुछ न कहें इसलिए ब्रह्माजीमें भगवद्भाव (सर्वज्ञता और सकलेश्वरता)का बोधन किया गया है. नारदने यह प्रश्न बेसमझीसे नहीं किया है किन्तु जिस प्रकार पुत्रके प्रश्न करनेसे पिता कहे इसलिए उसी प्रक्रियासे प्रश्न किया है. यह बात ब्रह्माजीने उत्तरके प्रारम्भमें 'कारुणिक' शब्दसे कह दी है. (मैं जिस प्रकारसे समझ लूं) इसके कहनेका यह तात्पर्य है कि सब पदार्थोंका तत्त्व किंवा स्वरूप मेरे आगे उत्पत्तिसे लेकर सब ही कहिये. जो इस तरहसे नारदजी प्रश्न करते तो भगवान्ने उत्पत्तिपूर्वक कहा ही नही था, ब्रह्मा भी न कहते. ब्रह्माका अधिकार वैसा था अतः भगवान्ने उनसे उतना ही कहा, पर मेरा अधिकार दूसरा है, इसलिये मेरे अधिकारके अनुसार पदार्थ कहिये यह नारदका तात्पर्य है।।८।।

आभासार्थ: अब नारदके अन्तिम प्रश्नका उत्तर देते हैं, और साथमें यह भी कहते हैं कि नारदके सब प्रश्नोंका एक भगवान्में ही समन्वय है:

ब्रह्मोवाच

सम्यक् कारुणिकस्येदं वत्स ते विचिकित्सितम्।
यद् अहं चोदितः सौम्य! भगवद्वीर्यदर्शने।।९।।

श्लोकार्थ: हे नारद! जगत् पर दया रखने वाले! तुम्हारा यह प्रश्न करना बहुत अच्छा हुआ है, क्योंकि हे सैम्य! इस प्रश्नसे मुझे तुमने भगवत्पराक्रमके प्रकाश करनेकेलिए प्रेरणाकी है।।९।।

व्याख्यार्थ: तुम्हारे सब प्रश्नोंका उत्तर एक भगवान् ही हैं, क्योंकि तुमने जिनके विषयमें प्रश्न किये हैं वे सब ज्ञान आदि पदार्थ भगवान् ही हैं. उस ज्ञानादि रूप भगवान्में ही बारह अवान्तर(भीतरी) भेद हो जाते हैं. और वे ही ज्ञानादि भगवान् बारह स्कन्धोंके अर्थ हैं यह सिद्धान्त है. यदि पूछो कि सो कैसे? तो कहना होगा कि तुमने मुझे भगवत्पराक्रमको समझनेकेलिए जो प्रेरणाकी है, इसलिए. जो सब ही तुम्हारे प्रश्नोंसे भगवान् ही उत्तर रूपमें कहना उचित हो तब

यह भगवत्पराक्रमका प्रश्नोत्तर संगत हो सकता है, अन्यथा प्रश्नोत्तर हो ही नहीं सकता. क्योंकि भगवान् अनतिप्रश्न्य हैं (प्रश्नके बाहरकी बात है). किन्तु तुम्हारे सब प्रश्नोंका एक उत्तर भगवान् ही हो सकता है, इसलिए यह दोनों समञ्जस हो सकते हैं. यद्यपि सबका उत्तर भगवान् ही हैं यह ठीक है, पर रूप भेदोंसे हैं. किसी प्रश्नका उत्तर किसी रूपसे और किसी प्रश्नका किसी रूपभेदसे भगवान् उत्तर है. ये सब रूप आगे कहे जावेंगे. तुमने मुझे भगवद्गुणके कथनमें उत्साहित किया है इसीलिए तुम्हारे प्रश्नका अभिनन्दन है. जो ऐसा न होता अर्थात् भगवद्वीर्य प्रकाशन करनेमें मुझे आनन्द न होता, तो अतिवाद करनेसे और अनतिप्रश्न्य देवका प्रश्न करनेसे मुझे तुम पर क्रोध होता('अति देवतां मा प्राक्षीः मूर्धा ते व्यय लिष्यति' छान्दोग्यके अनुसार. –सम्पादक पो. कं. शा.). किन्तु मुझे उत्साह है और (इस निमित्त) भगवान्के चरित्रका वर्णन करने मिलता है इसलिए क्रोध न हुआ. तुम्हारे हृदयमें भी करुणा है इसलिए यह प्रश्न किया है. तुम यह चाहते हो कि इस प्रश्नोत्तरको सुनकर इसके बहाने गरीब दुनिया संसारसे मुक्त हो. और मुझ पर भी करुणा होनेसे मुझे भी कृतार्थ करना चाहते हो. जो ऐसा न होता तो परम भगवदीय, प्रधान भगवत्पार्षद्, तुम्हारे हृदयमें इतना अज्ञान होना संभव नहीं है. वत्स(बेटे) यह स्नेहका सम्बोधन है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि गोमाताके स्तनोंमेंसे जैसे बछड़ेको देखकर दूध निकलने लगता है उसी तरह नारदजीको देखकर ब्रह्माजीके हृदयमेंसे भगवच्चरित्र निकलने लगा. 'विचिकित्सितम्'का यहां विचारित किंवा समझने योग्य अर्थ है।।९।।

आभासार्थः इस तरह प्रश्नकी बड़ाई और अपने सन्तोषसे अपना कहनेका अधिकार भी कहकर अन्तिम प्रश्नका उत्तर देते हैं:

नानृतं तव तच्चापि यथा मां प्रब्रवीषि भोः।
अविज्ञाय परं मत्त एतावत्त्वं यतो हि मे।।१०।।

श्लोकार्थः हे नारद! तुमने मेरे विषयमें जिस प्रकार कहा है वह एक तरहसे झूठा नहीं है क्योंकि मुझसे भी जो श्रेष्ठ है उसे न जानने वालेकेलिये मेरा यह माहात्म्य ठीक ही है. मेरा माहात्म्य उस भगवान्से ही है।।१०।।

व्याख्यार्थः जो तुमने कहा कि आपसे बडा और कोई नहीं है, यह झूठा नहीं है. कुछ समझकर कुछका–कुछ बोलना झूठा कहा जाता है. पर तुम तो कुछ जानते ही नहीं हो. कुछ न जान कर कुछ कहे वह लोकमें 'अज्ञवाक्य' नामसे

प्रसिद्ध है, झूठ नहीं. यद्यपि प्रामाण्य दोनोंमें नहीं है तथापि अज्ञवचनमें झूठापन नहीं है. जो तुम मेरे लिये कह रहे हो, 'आपसे बड़ा कोई नहीं है' यह प्रमाण नहीं है तथापि झूठा नहीं है. पर सत्य भी नहीं है क्योंकि समझकर नहीं कहा है. यही कहते हैं 'अविज्ञाय परं मत्तः'. मुझे भी नियममें चलाने वाले भगवान्को न जान कर यह तुम्हारा वचन है. यदि पूछो कि वह कौन है? तो कहना पड़ेगा कि जिसके प्रतापसे मेरा यह माहात्म्य फैल रहा है, वह भगवान् है. मुझमें जितने उत्कृष्ट धर्म दीख रहे हैं वे सब भगवान्के सम्बन्धसे हैं।।१०।।

आभासार्थः इस तरह अन्तिम प्रश्नका उत्तर देकर प्रथम प्रश्नका उत्तर देते हैं:

येन स्वरोचिषा विश्वं रोचितं रोचयाम्यहम्।
यथार्कोऽग्निर्यथा सोमो यथर्क्षग्रहतारकाः।।११।।

श्लोकार्थः जिस भगवान्ने अपने प्रकाशसे इस विश्वको पहिलेसे ही प्रकाशित कर रखा है. और जैसे सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा और नक्षत्र ग्रह और तारागण, उसीके प्रकाशित विश्वको ही प्रकाशित करते हैं. इसी तरह मैं भी भगवान्के प्रकाशित विश्वको ही प्रकाशित करता हूं।।११।।

व्याख्यार्थः जिस रूपसे भगवान् ज्ञानरूप हो जाते हैं उस रूपका इस श्लोकमें निरूपण करते हैं. भगवान्का यह ज्ञानरूप अंश(ज्ञान पुरुष) स्वप्रकाश है (इसका प्रकाश किसी दूसरेसे नहीं होता). यह ज्ञान सारे जगत्का प्रकाश करता है. दीपादि प्रकाशक पदार्थोंका भी यही प्रकाश करता है. इसलिए सर्व प्रकाशक और स्वप्रकाश भगवद्रूप जो चैतन्य पदार्थ है वही 'ज्ञान' कहा जाता है. उस स्वप्रकाश ज्ञानरूप भगवान्ने ही विश्वको प्रकाशित कर रखा है. अपने तेजसे ही जो प्रकाशित रहे वह 'स्वरोचिः'. अथवा अपने आपको जो प्रकाशित करे वह 'स्वरोचिः'. प्रलय समयमें यह विश्व अव्यक्त (जिसे तम भी कहते हैं)में समाया रहता है. और उसके बाद सृष्टि अवस्थामें यह ज्ञान ही उस विश्वको बाहिर प्रकाशित करता है. उस समय यह जगत्रूप ब्रह्म स्थूल रूपसे बाहिर प्रकट हो जाता है. यही कहते हैं कि 'रोचयाम्यहम्'. जैसे मंथन करनेसे महाकाष्ठादिमें समाया हुआ अग्नि कुछ बाहिर प्रकट हो जाता है और फिर घास आदिसे खूब जलने लगता है, केवल तृणादिसे जलने नहीं लगता, इस तरह इस विश्वको पहिले भगवद्रूपज्ञान प्रकाशित कर देता है तब फिर हम लोग सब दृष्टिमें उसको ही प्रकट

कर देते हैं. इसमें श्रुतिसिद्ध द्रष्टान्त देते हैं 'यथार्कोऽग्निः' पृथ्वी आदि पदार्थ जड होनेसे अपने आप प्रकाशित होने वाले नहीं हैं, परन्तु, तेज तो अपने आप चमकने वाला है. पर यह तेज भी जहां तक भगवान् चमकाना नहीं चाहते वहां तक नहीं चमक सकता. भगवान्के प्रकाशसे ही प्रकाशित होता है. तब फिर अन्य सब पदार्थ भगवान्के प्रकाशसे प्रकाशित रहें इसमें सन्देह ही क्या है. इसमें श्रुति भी प्रमाण है "**न तत्र सूर्यः**" इत्यादि. उस भगवान्के प्रकाशके सामने सूर्य, चन्द्र, तारा, बिजली आदि प्रकाश नहीं कर सकते तो फिर इस अग्निकी तो प्रभा ही क्या है. वह ज्ञान अपना प्रकाश सर्वत्र फैला रहा है इसलिए उसके प्रकाशसे प्रकाशित यह सूर्य चन्द्रादि भी प्रकाशित होकर प्रकाश कर रहे हैं. इसलिये सिद्ध है कि उसके तेजसे सारा विश्व प्रकाशित हो रहा है.

इस श्लोकमें बिजलीका नाम नहीं है क्योंकि वह कभी-कभी चमकती है. सूर्य उस ज्ञानसे प्रकाशित होकर ही प्रकाश फैलाता है. "**यदादित्यगतं तेजः**" इत्यादि वाक्योंसे भी स्पष्ट है कि भगवान्का तेज ही सर्वत्र प्रकाशक है, इसी तरह मुझ (ब्रह्मा)में भी भगवानका ही तेज है. इसी तरह अग्नि आदि, इसी तरह अश्विनी आदि नक्षत्र, इसी तरह बुध आदि ग्रह और इसी तरह सामान्य तारा भी समझ लो।।११।।

आभासार्थ: इस तरह ज्ञानस्वरूप भगवान्का प्रतिपादन करके अब उसमें अपना कोई कर्तव्य बन नहीं सकता इसलिए नमस्कार करते हैं:

तस्मै नमो भगवते वासुदेवाय धीमहि।
यन् मायया दुर्जयया मां ब्रुवन्ति जगद्गुरुम्।।१२।।

श्लोकार्थ: उस भगवान् वासुदेव (ज्ञान पुरुष)को मैं नमस्कार करता हूं और उसीका ध्यान भी रखता हूं कि जिसकी अजेय मायाके मोहमें पड़ कर लोक मुझे भी जगद्गुरु कहने लगते हैं।।१२।।

व्याख्यार्थ: 'तस्मै'(तत्) शब्दका लोकवेद प्रसिद्ध अर्थ है. अर्थात् वह वासुदेव (तत्) (ज्ञानरूप) भगवान् लोकमें भी और वेदमें भी प्रसिद्ध है. 'भगवते' कहनेका तात्पर्य है कि वह ज्ञान भगवान्का न धर्म है और न अंश है किन्तु स्वरूप ही है, धर्मरूप ज्ञान तो पृथक् है. इस नमस्कारका किंवा स्वरूपका प्रयोजन मोक्ष है. यहां नमस्कारसे भक्ति कही है और 'धीमहि' से ध्यान. यह निदिध्यासन भक्तिका अन्तरङ्ग साधन है.

इस तरह ज्ञानरूप भगवान्का वर्णन करके कहते हैं कि उस भगवान्की किसीको भी खबर नहीं होती यह उचित ही है क्योंकि 'यन्माययया' इस भगवान्की एक माया(शक्ति) है जो इस ज्ञानरूप भगवान्के ही सदा वशमें रहती है. यह मायाशक्ति, जगत्कर्त्ता भगवान्की मायाशक्तिसे जुदी है. इसका काम जगत्को भुलावा देना है. और उस मायाका काम जगत्के कार्यको सहारा देना है अथवा कभी-कभी भगवान्की आज्ञासे ही जगत्को बना देना भी है.

इस मायाका सामर्थ्य दिखाते हैं 'दुर्जयया'. किसीके भी जीतनेमें नहीं आती. कोई प्राणी इसका जय नहीं कर सकता. इसी मायाको वेदोंने वेदस्तुतिमें मारने लायक कही है. वेद भगवान्का बोध कराते हैं और यह माया उस ज्ञानको भुलावा देती है इसलिए मारणीय है. बड़े-बड़े ज्ञानियों (तुम सरीखों)में भी उसका प्रभाव दिखता है यह कहते हैं कि 'मां ब्रुवन्ति' मुझे ज्ञानदाता कहते हैं. क्रियाशक्ति तो भगवान्के ही हाथमें रहती है, केवल कुछ ज्ञानांश हम लोगोंको देते हैं इसलिए हम भी जगद्गुरू कहे जाते हैं, पर स्वतन्त्रतया कुछ भी नहीं कर सकते।।१२।।

आभासार्थः तो फिर मोहक शक्ति होनेसे यह माया अपने आश्रय भगवान्को भी भुलावा देती होगी यह आशंका करके उत्तर देते हैं:

विलज्जमानया यस्य स्थातुम् ईक्षापथेऽमुया।
विमोहिता विकत्थन्ते ममाहम् इति दुर्धियः।।१३।।

श्लोकार्थः यह माया जिस भगवान्की दृष्टिपथमें आनेसे भी लजाती है, पर इसका सामर्थ्य फिर भी इतना है कि इसके मोहमें आकर अच्छे-अच्छे पुरुष कुबुद्धि होकर 'मैं-मेरा' करने लग जाते हैं।।१३।।

व्याख्यार्थः यह माया भगवान्की भार्या है (स्वतन्त्र कुछ कर नहीं सकती और पालनीया है). भगवान्के साथ निरन्तर रमण करनेकेलिए यह अन्य भोले जीवोंको भुलावेमें डालती रहती है. पर इसकी इस चालाकीको भगवान् जानते हैं. इसलिये यह भगवान्की दृष्टिपथमें आनेकेलिए भी शरमाती है. इसलिए ही भगवत्सन्मुख रहने वाले जीवोंको मोहित नहीं करती पर जो लोग भगवान्को पीठ देकर अपना व्यवहार चलाते हैं उन्हें ही मोह (भूल) करा देती है. यही बात 'अमुया विमोहिताः' इत्यादि वाक्यसे कही हैं. मोह पहुंचानेमें द्वार बुद्धि है. बुद्धिके द्वारा मोह पहुंचता है।।१३।।

आभासार्थ: इस तरह परिकर सहित ज्ञानका निरूपण करके अब आत्माकी समझ बैठानेकेलिए तत्त्वका निरूपण करते हैं:

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
वासुदेवात् परो ब्रह्मन् न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः।।१४।।

श्लोकार्थ: इस जगत्में द्रव्य कर्म काल स्वभाव और जीव भी हैं ही. अनेक पदार्थ हैं, पर ये सब वासुदेव भगवान्से जुदे नहीं है. यह सब भी वासुदेव ही हैं. हे ब्रह्मन्! वास्तवमें देखा जाय तो दुसरा पदार्थ ही तत्त्वरूपसे नहीं है एक ही तत्त्व (ज्ञानपुरूष ही) अनेक रूपमें है।।१४।।

व्याख्यार्थ: यह सारा जगत् कुछ भी नाना तत्त्व नहीं है पर सब पदार्थोंका एक ही तत्त्व है. जगद्वर्ती सब ही पदार्थोंमें द्रव्य कर्म काल स्वभाव और जीव, ये पांच पदार्थ देखे जाते हैं, इसलिये ये सब कुछ पंचांग कहा जाता है. अब यदि इन पांचों वस्तुओंका भी तत्त्व भगवान् वासुदेव ही है, तो फिर इनसे बने हुए सब ही पदार्थोंका वस्तुतत्त्व भी वही भगवान् होता है. उन पांचों वस्तुओंको गिनाते हैं:

पहिला पदार्थ द्रव्य है. यह अधिभूत पदार्थ है और सबका अवान्तर समवायि कारण है. इसे ही हम पंचमहाभूतादि कहते हैं.

दूसरा कर्म. यह साधारण भगवत्क्रिया है जो जगत्के जन्ममें निमित्त कारण होता हैं. यहां कर्मके साथ 'च' भी दिया है उसका तात्पर्य यह है कि भूतसंस्कार रूप कर्म भी. कर्म दो तरहका है: प्रत्यक्ष क्रियाको ही(रूपान्तर हो जाने पर) 'अतिशय' 'अदृष्ट' 'संस्कार' 'वासना' या 'संचित' नामोंसे कहा गया है.

तीसरा पदार्थ काल है. यह सत्वादि गुणोंमें खलबली मचाने वाला है. यहां 'च' कहा है इसलिये इसके साथ सबका निमित्तकारण काल भी लेना चाहिये. काल सब पदार्थोंका आधार समझा जाता है.

परिणामका कारण स्वभाव है, यह चौथा पदार्थ है. पानीका बर्फ हो जाना, दूधका दही हो जाना परिणाम. और इसका कारण स्वभाव है. सबके साथ स्वभाव लगा हुआ है.

पांचवा पदार्थ जीव है. जो सबका भोक्ता है और भगवान्का अंश है. यहां भी 'च' कहा है इसलिये इसीमें इन्द्रियदेहादिके अभिमानी देवता भी समझ लिये जावें. मुख्य जीव ही रूपान्तरोंसे इन्द्रियादिमें जाता है.

इन पांचों वस्तुओंमेंसे काल, कर्म, स्वभाव और जीव इनका तो पृथक्-पृथक् निरूपण तत्त्वदीपनिबन्धमें हो चुका है. पर द्रव्य जो प्रकृतिका कार्य है, उसका निरूपण इस सुबोधिनी टीकामें ही मूलके सहारेसे करनेमें आवेगा. यह पांचों वस्तुएं वस्तुतत्त्व नहीं हैं, वस्तुतत्त्व तो एक भगवान् वासुदेव ही है. इसलिये ये सब वासुदेवसे अन्य नहीं है. तत्त्वनिरूपणमें इन सबका मूल देवता सत्त्वमूर्ति भगवान् वासुदेव (ज्ञान पुरुष) कहा गया है. 'तत्त्वतः' कहनेका तात्पर्य ही यह है कि वस्तुरूपसे ये सब अन्य मालूम हो रहे हैं पर वास्तव तत्त्वरूपसे अन्य नहीं हैं. क्योकि 'अस्ति' शब्द वाच्य वासुदेव ही है. उसीका अस्तित्त्व इनमें बढ रहा है. 'ब्रह्मन्' यह संबोधन इस विषयमें आती हुई असंभावनाको दूर करनेकेलिए है. अर्थात् नारद तू भी तो ब्रह्म है. 'ब्रह्मन्' शब्द ही शब्दार्थके नित्य सम्बन्धको मानकर दिया गया है. इससे पदार्थ मात्रके ब्रह्म होनेमें सन्देह नहीं हो सकता. यहां भी 'च' दिया है इससे स्पष्ट होता है कि वासुदेवसे इनका धर्मभेद भी नहीं है. 'अन्य' शब्द देकर स्वरूप भेदका भी निराकरण किया है. 'पर' शब्द देकर अधिष्ठातृ भेद तो कर दिया है. अर्थात् यह पदार्थ जात 'पर' नहीं है किन्तु अवर है. इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि सब कुछ वासुदेव ही है. एक होते हुए भी ये सब भगवान् वासुदेवके नियममें ही रहते हैं.

'अर्थ' शब्दसे युक्ति कही है. लोकमें जैसे कहीं मनुष्यकेलिए कहे 'नरसिंह' आदि शब्दोंमें शब्द-अर्थका नित्य संबन्ध नहीं रहता, इस तरह भगवच्छास्त्रमें नहीं है. यहां तो शब्दोंका अर्थके साथ वाच्य-वाचकादि सम्बन्ध नित्य है. यहां जो 'द्रव्य आदि' शब्द हैं उनका भी द्रव्य आदि पदार्थोंके साथ संबंध भी नित्य ही है. अतएव ये पदार्थ और यह शब्द उन लौकिक शब्दार्थोंसे भिन्न ही मानने होंगे. ये शब्दार्थ भगवद्वासुदेवात्मक हैं क्योंकि नित्य सिद्ध हैं, अस्तिरूप हैं. यह सब शास्त्रार्थ '**सदेव सौम्येदमग्र आसीत्**' श्रुतिमें स्पष्ट है. जितना पदार्थ है सब सदात्मक है उस सत्के ही अनेक विकल्प कर दिये गये हैं. वास्तवमें सब पदार्थ भगवद्रूप हैं अतएव यहां एकरूप और नित्य कहे गये हैं. यहांके शब्द और अर्थ दोनों नित्य हैं।।१४।।

आभासार्थ: इस तरह सब पदार्थोंका वस्तुतत्त्व भगवान् हैं यह संक्षेपमें कह कर अब उसके विचारके प्रश्नका उत्तर देते हैं:

नारायणपरा वेदा देवा नारायणाङ्गजाः।

नारायणपरा लोका नारायणपरा मखाः।।१५।।

नारायणपरा योगा नारायणपरं तपः।

नारायणपरं ज्ञानं नारायणपरा गतिः।।१६।।

श्लोकार्थः चारों वेद नारायणका प्रतिपादन करते हैं. सब देवगण नारायणके अंगोंसे प्रकट हुए हैं. सारे लोक नारायणमें समा रहे हैं. सब यज्ञ(धर्म) नारायणका पूजन करनेकेलिये कहते हैं. अष्टाङ्गादियोग भी भगवत्प्राप्तिका ही उपाय बताता है. तप भी नारायणके लिये ही है. ज्ञान भी नारायणकी समझ कराता है और परमगतिरूप फल भी नारायणमें ही जाकर सम्पूर्ण होता है ।।१५-१६।।

व्याख्यार्थः यदि पदार्थोंका तत्त्व भगवान्से पृथक् होता तो वेदोंको बहुत सा विचार करना पड़ता. पर सो कुछ मालुम देता नहीं इसलिए सबका वस्तुतत्त्व भगवान् ही है. वेदोंमें पूर्वकाण्ड पर जब दृष्टि डालते हैं तब वहां स्वरूप(ऋक् आदि) अर्थ(प्रतिपाद्य), फल(प्रयोजन किंवा परिणाम), साधन(यज्ञादि) और परम्परासे विचार किया है. और उपनिषद्भागमें भी साधन(ज्ञान भक्ति आदि) कार्य(प्रीति), फल(भगवत्प्राप्ति) आदिके द्वारा विचार किया है पर कहीं भी विवाद न करके स्पष्ट ही सब अंशमें भगवान्का ही निरूपण है इसलिये स्पष्ट होता है कि सबका तत्त्व भगवान् है.

वेदोंका स्वरूप भगवान् है क्योंकि ये भगवान्के निःश्वाससे पैदा होते हैं और अन्तमें भगवान्में ही समा जाते हैं, इसलिये वे भगवद्रूप हैं, यह निःसन्देह है. मध्यमें भी वे जब अपने प्रतिपाद्यको स्पष्टता करते हैं तब मालुम होता है कि भगवद्रूप अर्थ ही वे कहते हैं इसलिए वे नारायण पर हैं.

एक बात यह भी है कि वेदस्थित नाम(राम आदि) क्रिया(अस्ति भवति) निपात(च, वा, ह) और उपसर्ग(प्र) आदि चारों पद भगवद्बुद्ध्युपस्थित पदार्थोंको कहने वाले हैं. परलोकमें भगवदिच्छासे ही पुरूषप्रयत्नसे प्रकट होनेवाले और अस्त होनेवाले पदार्थोंको कहकर कृतकार्य हो जाते हैं. वास्तवमें तो भगवद्बुद्धिस्थित पदार्थोंको लोग जानें, बस इसीकेलिये उनका प्रयास है. कहनेका तात्पर्य यह है कि वैदिक पदार्थ जुदे हैं और लौकिक पदार्थ पृथक् हैं. 'घट' शब्दका जो लौकिक अर्थ है वही वैदिक घट शब्दका अर्थ नहीं है. अतएव वे दोनों शब्द भी जुदे-जुदे हैं. भगवान्की बुद्धिमें स्थित पदार्थ नित्य हैं और हमारी बुद्धिमें स्थित पदार्थ उत्पत्ति-विनाशशील और पुरूष प्रयत्न-साध्य हैं, अतएव

अनित्य हैं. वेदोक्त चारों पदोंका वास्तव अर्थ नित्य पदार्थमें है और यही भगवान्‌की गूढ़ इच्छा है. किन्तु जीवको भी रमण करानेकी जब इच्छा होती है तब उन्हीं पदार्थोंको लौकिकरूपसे प्रकाशित करते हैं पर प्रयास तो स्वबुद्धिस्थ पदार्थोंके समझानेमें ही है. इसलिए यह मानना पड़ेगा कि चारों वेद भगवान्‌के इच्छित प्रयोजनकी सिद्धिकेलिये हैं और इसीलिए वे नारायण पर हैं. अर्थ और नाम दोनों तरहसे शब्द भगवत्परक है.

यहां एक यह विचार होता है कि संसर्ग(सम्बन्ध)रूप वाक्यार्थ ही तो वेदोंका इच्छित अर्थ है. वह चार प्रकारका है, विधि, अर्थवाद, मंत्र और नामधेय. उनमें पुरूषको प्रयत्न करनेकेलिए प्रेरणा करना यह 'विधि' है. इसका तात्पर्य पुरूष प्रयत्नमें है अथवा पुरूष प्रयत्नसे स्पष्ट होने वाले भावमें तात्पर्य है. विधेय(यज्ञादि) पदार्थकी स्तुति करनेमें 'अर्थवादों'का तात्पर्य है. याज्याओंको छोड़कर मंत्रभाग भी देवताका प्रतिपादन किंवा स्तुति आदिमें उपयोगी होते हैं. याज्या भी देवताका उद्‌देश रखकर द्रव्यका त्याग करनेमें उपयोगी हैं. 'नामधेय' भी धातु (प्रकृति)के अर्थका स्पष्टार्थ करनेमें तात्पर्य वाले हैं. इस तरह चारोंके चारों जब अपने अपने नियत अर्थमें तात्पर्ययुक्त हो चुके हैं तब फिर ये सब भगवान्‌को कहते हैं यह कैसे कह सकते हैं? इसका उत्तर देते हैं: 'देवा नारायणाङ्गजाः' इत्यादि. विधि, अर्थवाद, मंत्र, नामधेय आदि सब ही वेद यागके उपयोगमें आता है क्योंकि सब वेदके महावाक्यका समेट कर तात्पर्य–अर्थ यज्ञ ही होता है. इसमें याग करण है और उससे स्वर्गादि साध्य है. इसमें यह मानना पड़ेगा कि पुरुषके प्रयत्नसे प्रकाशित याग ही अपने व्यापार रूपसे देवताकी प्रीतिको पैदा करते हैं. जहां साधन(करण) है वहां व्यापार रहता ही है. याग करण है तो देवताका प्रसाद व्यापार है. यदि व्यापार न मानोगे तो यागकी करणता ही सिद्ध न होगी. कितने ही देवताप्रीतिको व्यापार न मान कर अदृष्ट किंवा अपूर्वको व्यापार मानते हैं और उसमें अनुमानको प्रमाण बताते हैं पर यह ठीक नहीं है. अदृष्ट अथवा अपूर्व यागसे पैदा नहीं होता. अनुमानके द्‌वारा जो उसकी कल्पना करते हो, उसमें कोई दृष्टप्रमाण नहीं है और देवताप्रीतिको व्यापार माननेमें तो दृष्ट व्यवहार विद्यमान है. जो कोई किसीको कुछ देता है तो लोकमें यह देखा गया है कि वह भी उसका उपकार करता ही है. लोकमें ऐसा देखा जाता है इसीलिए मानना पडेगा. ग्रहण करनेके बाद प्रीतिरूप उपकार देवता करती है. यागकर्ता

लोग देवताको घृतादि द्रव्य भेंट करते हैं, और स्वर्गकी सिद्धि करते हैं, और देवता उनके द्रव्यको विधिके द्वारा ग्रहण कर अपनी प्रसन्नतासे उनका उपकार करती है यह लोकानुसारी औचित्य है. अन्यथा देवतोद्देशसे द्रव्यका देना 'याग', यह यागका अर्थ व्यर्थ हो जायगा. यागका अर्थ व्यर्थ कैसे हो जायगा इसका कारण बताते हैं कि द्रव्यका संस्कार कर देना यह भी देवताका उपयोग है यह कह सकते हैं. निर्नायसे प्रारम्भ कर, प्रोक्षणादिकी तरह द्रव्यके साथ प्रसन्न देवताका सम्बन्ध भी सर्वत्र लगा ही हुआ है. ऐसी अवस्थामें यदि प्रसन्न हुई देवताको ही व्यापारस्थानीय न मानोगे तो संस्कारका उद्देश्य ही न रहनेसे याग व्यर्थ हो जायगा.

यद्यपि 'इन्द्राय स्वाहा' इत्यादि देवता पदोंमें जो चतुर्थी विभक्ति हुई है वह तादर्थ्य अर्थमें नहीं हुई है क्योंकि 'स्वाहा' पदको मानकर हुई है. अतएव देवतोद्देश सिद्ध नहीं होता. देवता प्रीति भी अनित्य है फल पर्यन्त रहने वाली नहीं है. कालान्तरमें उसका स्मरण हो सकता है यह भी नहीं कह सकते क्योंकि स्मारक कारण कोई है नहीं. उसकी कल्पना करनेमें भी गौरव होगा. तथापि चतुर्थीका अर्थ तो कुछ न कुछ मानना ही पड़ेगा. ''नमः स्वस्ति स्वाहा'' सूत्रसे 'इन्द्र' शब्दमें चतुर्थी हो गई है यह ठीक है पर उस चतुर्थीका अर्थ क्या करना यह प्रश्न बना ही रहता है. अब ''**यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्**'' ''**अग्नये जुष्टं निर्वयामि**'' इत्यादि स्थलमें सम्प्रदानमें चतुर्थी श्रुतिसिद्ध है इसलिये इस दृष्टान्तसे यहां भी चतुर्थी तादर्थ्य (देवताके लिये) अर्थमें ही माननी पडेगी. देवताके उद्देशसे हवन किया जाता है वह सर्व याज्ञिकोंमें प्रसिद्धि भी मौजूद है ही. ''**यस्यै देवतायै, अग्नयं जुष्टं**'' इत्यादि श्रुतियोंमें 'नमः स्वस्ति' आदि पद नहीं है इसलिये वहां चतुर्थीका अर्थ तादर्थ्य स्पष्ट ही है. यदि कहो कि सब जगह ही चतुर्थी तादर्थ्यमें होगी तो 'नमः स्वस्ति' आदि सूत्र ही व्यर्थ हो जायगा! इसके उत्तरमें कहते हैं कि जहां यागका प्रकरण है वहां तो केवल देवताका उद्देश तो है नहीं किन्तु मुख्य स्वर्गफलकी ही इच्छा है. अवान्तर व्यापारमें देवताका भी उद्देश्य है ही इसलिये ''**अग्नये स्वाहा**'' ''**अग्नये जुष्ट निर्वयामि**'' आदिमें तादर्थ्य अर्थ है. किन्तु सामान्य प्रकरणमें ''**विष्णवे नमः**'' ''**अग्नये स्वाहा**'' आदि स्थलमें केवल देवताका उद्देश्य है वहां 'नमः स्वस्ति' आदि सूत्रसे ही चतुर्थी होती है इसलिए उपपद विभक्तिके अनुशासनको व्यर्थता नहीं है.

केवल प्रीति ही व्यापार नहीं है क्योंकि प्रीति अनित्य हो सकती है पर द्रव्यसे प्रसन्नकी हुई देवता ही व्यापार है. वह भगवदवयव होनेसे नित्य और चेतन भी है. केवल प्रीति अन्य धर्म है, वह यज्ञका व्यापार नहीं हो सकती अन्यका धर्म अन्यका व्यापार नहीं हो सकता. पर देवता तो स्वर्ग पर अधिकृत है इसलिये अवान्तर फल देनेको समर्थ है. जो उसके स्वरूपमें है उस फलको वश करानेमें समर्थ है. पर केवल देवता ही पुरूषार्थ(इच्छित) नहीं है इसलिए यज्ञकर्ताको केवल यही अभीष्ट नहीं है इसलिये यागको अन्यथासिद्ध भी नहीं कह सकते. इसलिये मध्यमें व्यापाररूप देवताको कहते हैं. तथापि यज्ञ भगवत्परक ही है. कारण कि देवतागण भी नारायणके बाहु आदि अङ्गोंसे पैदा हुए हैं. याग यद्यपि अङ्गसेवाकेलिए प्रवृत्त हुए हैं यह ठीक है पर उनका तात्पर्य अङ्गी नारायणसे ही है. ''इन्द्राय स्वाहा''में यद्यपि भगवदङ्ग ही वक्तव्य है तथापि देवोंके विग्रह ही भगवान्के अङ्ग हैं और उससे ही देवता बने हैं तो देवगण नारायणाङ्गज ही होते हैं. कदाचित कोई प्रीति व्यापार पक्षको भी स्वीकार कर ले तथापि दोष नहीं है. प्रीति होनेसे फल मिलता है अतः दृष्ट है और प्रामाणिक भी है इसलिए उस पक्षमें दोष नहीं है. वहां उस उपकारके स्मरण करनेकी कल्पना भी कर ली जाय तो गौरव नहीं कहा जा सकता.

जिसमें प्रसन्न देवता ही व्यापार(अवान्तर फल)रूपसे ग्रहणकी गई है वह स्वर्गादि महाफल ही याग करनेका उद्देश्य है. अब उस स्वर्गको चाहे लोक मानो किंवा सुखविशेष मानो, दोनों तरहसे फल भी भगवद्रूप होनेसे यागके भगवदीयत्व होनेमें कोई व्यभिचार नहीं है. क्योंकि ''**हृदास्वर्गादिलोकः**'' इस वाक्यमें स्पष्ट ही स्वर्गलोकको भगवान्का अवयव कहा है और ''**अस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति**'' अर्थात् ''इस भगवान्के आनन्दकी मात्राको ग्रहण करके अन्य प्राणी अपने जीवनकी रक्षा करते हैं''. इत्यादि वाक्योंमें स्वर्गादिको भगवान्के आनन्दका अंश कहा है इसलिये यागकर्त्ता स्वर्गसम्पादन करनेके विषयमें भगवदानन्दका उपजीवक कहा हो जायगा और फलदाता भगवान्की फल पहुंचानेकी क्रियाका निष्पादन करनेसे भी सुख(स्वर्ग)को भगवत्परता आ ही जाती है. इस तरहका महाफल(लोक किंवा सुख) स्वर्ग और अवान्तर फल(प्रसन्न देव किंवा उनकी प्रीति) देवता प्रीति, दोनों ही जब भगवद्रूप ठहर जाते हैं, तब फिर याग भी नारायण पर हैं इसमें किसी तरहका विवाद रहता

ही नहीं है. इसीलिए वेदवाक्यका सामूहिक एक अर्थ क्या है, यह सब चाहना हो तब महावाक्य भी भगवत्पर है यह कहनेमें संकोच नहीं है. इसलिए यहां भगवत्परक सिद्ध हो जाता है.

अब इसके आगे पुराण भी भगवत्पर हैं यह विचार कर्त्तव्य है. क्योंकि पाक्षिक दोष भी न रहना चाहिये. वास्तवमें तो पुराणोंमें वेदातिदेश है इसलिए वे भी वेद हैं. पर एक पक्षमें वे पुराण भी हैं तो उस पक्षमें भी भगवत्परता सिद्ध होनी चाहिये. पुराणोंमें चार पदार्थोंका निरूपण है: सांख्य, योग, पशुपति(शैव) मत और वैष्णव सिद्धांत. उनमें अन्तिम वैष्णव सिद्धांत तो वैदिक सिद्धांतमें ही समा जाता है इसलिये उसके विषयमें कोई विरोधकी शङ्का ही नहीं है.

योगशास्त्रमें चित्तवृत्तियोंके रोकनेका उपाय कहा है. इसलिए मनको रोकना यह स्वस्वरूपसे तो पुरुषार्थ कहा ही नहीं जा सकता. पर किसी पुरुषार्थका साधन हो सकता है. वह पुरुषार्थ मोक्ष ही हो सकता है. क्योंकि वेदमें मोक्षको ही पुरुषार्थ कहा गया है. योगशास्त्र भी वेदसे विरुद्ध फलकी कल्पना तो कर नहीं सकता, क्योंकि वैसा करने पर अप्रामाणिक हो जायगा. वास्तवमें अणिमादिक सिद्धियां योगका मुख्यफल है भी नहीं, मोक्ष ही मुख्यफल है. यदि योगरूप साधन मोक्ष पर्यन्त न पहुंचावे तो वह कोई शास्त्र ही न कहा जाय. जो अलौकिक फलका शासन करे वही शास्त्र. ये अणिमादि सिद्धियां तो भगवत्प्राप्तिमें विघ्न(बाधा)रूप हैं. जिनको फलप्राप्तिमें कुछ विलम्ब कराना है किंवा मुख्यफल नहीं देना है उन्हें ऐसी सिद्धि देकर टाल दिया जाता है, यह बात आगे कहेंगे. इसलिये योगशास्त्र मोक्षको सिद्ध करता है पर वह भी भगवान्में चित्तको स्थिर कराकर ही मोक्ष सिद्ध करता है. योगमें जो सबीज और निर्बीज ध्यान करनेमें आता है वह भगवान्के चरणारविन्दोंका ही किया जाता है.

इसके भी अवान्तर फलको कहना होता है तब वह अवान्तर व्यापाररूपा भगवान्की प्रीति ही हो सकती है. अब यदि योगको चित्तका संस्कार(शुद्ध) करने वाला ही माना जाय तो इस पक्षमें भी वह चित्त शुद्धि भी भगवद्ध्यानके द्वारा होती है इसलिये भगवान्के अधीन ही रहती है. तो योगको भगवन्मुखनिरीक्षक (परतंत्र) कह सकते हैं. योगमार्गके अनेक भेद हैं, वे सब भगवत्परक ही हैं यह कहनेकेलिए यहां 'योगाः' यह बहुवचन है. यह योग भगवत्पर ही है यह आगे विस्तारसे निरूपण करेंगे. यहां तो यह सामान्यतः 'भगवत्पर' है यह कह दिया है.

और इसमें किसीको विवाद नहीं है.

तप भी भगवान्में उपयोगमें आनेवाले देहेन्द्रियादिको शुद्ध तैयार करता है इसलिए भगवत्पर है. अन्यथा कायक्लेश रूप तपकी पुरुषार्थमें गणना ही नहीं की जा सकती. पशुपति(शैव) मत तो एक तपका ही प्रकारान्तर है, इसलिये उसका तपमें ही समावेश हो जाता है.

अब सांख्य(ज्ञान)मार्ग है. यह ज्ञान भी दो तरहका है: औपनिषद और सांख्यसिद्ध. यद्यपि यह दोनों देखनेमें परस्पर विरुद्ध दीखते हैं. औपनिषद ज्ञान कहता है कि सब ही जगत् आत्मा(भगवान्) है. अतएव यह ज्ञान आत्मरूपसे सबका विषय होता है. और सांख्य कहता है कि आत्मा लौकिक धर्माकार क्रिया रहित है इसलिये सब पदार्थोंका व्यावर्तन करते-करते परिशेषमें आत्माको ग्रहण कर लेता है. तथापि जो साधक इस ज्ञानमार्गमें पहले ही प्रवृत्त हुआ है उसे आत्माका मुख्य ज्ञान तो कर लेना ही आवश्यक है. क्योंकि 'सब ही पदार्थ आत्मा है' यह समझ सम्पादन करनेवालेको आत्मा और अनात्मा पदार्थोंकी जुदे-जुदे करके ही आत्मज्ञान करना मुख्य हो सकता है. अन्यथा आत्माका मुख्य ज्ञान न होनेसे सब कुछ आत्मा है यह ज्ञान होना भी अशक्य हो जायगा.

वास्तवमें तो सार्विक ज्ञानका ज्ञेयमें ही पर्यवसान है और वैसा ज्ञेय तो नारायण ही है क्योंकि वह सबका आत्मा है और सर्वव्यापक है. पूर्वमें जिसका निरूपण हो चुका वह गति भी भगवत्परा ही है. गति ही ब्रह्मज्ञानका फल है अर्थात् ब्रह्ममें सायुज्यप्राप्ति. यह 'विदन्ति हि' श्लोकमें कह चुके हैं।।१५-१६।।

आभासार्थ: 'सब तत्त्व भगवान् हैं' इसका विचार करके अब 'यद्रूपं' इत्यादिसे जो छः प्रश्न किये थे उनका आगे विस्तारसे निरूपण करेंगे पर उसके पहले 'यद्विज्ञानं' इत्यादि द्वारा जो चार प्रश्न किये उनका उत्तर चार श्लोकोंमें देते हैं:

तस्यापि द्रष्टुरीशस्य कूटस्थस्याखिलात्मनः ।
सृज्यं सृजामि सृष्टोऽहम् ईक्षयैवाभिचोदितः।।१७।।

श्लोकार्थ: सब तरहके ज्ञानसे सम्पन्न सर्वसमर्थ निर्विकार और सबके आत्मारूप उन नारायण भगवान्की दृष्टिसे प्रेरित मैं उनका ही पैदा किया हुआ इस सारे जगत्को पैदा करता हूं।।१७।।

व्याख्यार्थ: सब प्रश्नोंमें पहले 'यद्विज्ञानः' इस प्रश्नका उत्तर देते हैं.

ब्रह्माजी कहते हैं कि जगत्के बनानेमें जो कुछ और जैसे कुछ ज्ञानकी अपेक्षा है वह मुझमें है पर वह भगवान्का दिया हुआ और भगवान्का ही है, मेरा कुछ नहीं है. यह ज्ञान जगत्के बनानेके उपयोगमें आनेवाला है. मोक्षोपयोगी ज्ञान तो पहले कह चुके इसलिये उस ज्ञानमें इसकी गतार्थता नहीं हो सकती. ''यो विज्ञानं, यतः विज्ञानं'' इसके कहनेमें पहले जगत्कर्ताका मूलज्ञान बतानेकी अपेक्षा है सो कहते हैं. किस उपादान कारणसे कौनसा पदार्थ तैयार होगा यह साक्षात्काररूप ज्ञान होना चाहिये सो मुझमें भगवान्का दिया हुआ है. क्योंकि मुख्यकर्त्ता भगवान् ही हैं. भगवान्ने मुझे साधक प्रकारसे सब साधनोंका विज्ञान करा दिया है. भगवान्को जो बनाना है उसको उनका सिखाया हुआ मैं ही बना लेता हूं. भगवान्से ही विश्व बन सकता है दूसरेसे नहीं इसमें कारण कहते हैं 'दृष्टः'. भगवान् ही सब विश्वको बना सकते हैं क्योंकि वे सर्वज्ञ द्रष्टा हैं. जिस विषयको जो जानता है वही उस कार्यको कर सकता है.

समझ मात्र होनेसे भी काम नहीं हो सकता, इसकेलिये कहते हैं कि 'ईशस्य'. वह केवल समझदार है ऐसा नहीं पर वह क्रियाशक्ति सम्पन्न भी है, वह सब कुछ कर सकता है. यहां एक यह प्रश्न होता है कि भले कोई क्रिया और ज्ञानशक्ति रखता हो तथापि जहां तक काम करनेका आवेश(आसक्ति) न हो वहां तक कार्य अच्छा नहीं होता. यदि भगवान्में भी वह आवेश होता है तो सम्भव है भगवान्को भी लौकिक कर्त्ताओंकी तरह क्लेश और विकार होते होंगे पर यह दोष है इसलिये भगवान् जगत्कर्त्ता नहीं हो सकते. इसका उत्तर देते हैं 'कूटस्थस्य'. वह भगवान् सब कुछ करता है पर सर्वदा निर्विकार रहता है. कामधेनु, कल्पवृक्ष और चिन्तामणि से सब पदार्थ पैदा होते हैं पर वे सदा वैसेके वैसे ही रहते हैं. योगी लोग अपने मनसे पदार्थोंकी सृष्टि करते हैं, पर उनमें विकार नहीं आता. इसलिये भगवान् निर्विकार रह कर ही सृष्टि करते हैं, यह हो सकता है: तब किसी तरहकी आशंका नहीं रहती.

यहां एक यह भी आशंका हो सकती है कि भगवान्को सृष्टिकी रचना करनेसे क्या प्रयोजन है? प्रयोजन कुछ है नहीं इसलिये भगवान् सृष्टि नहीं करता. प्रयोजन मान भी लिया जाय तो उसमें अनेक विरोध आते हैं. भगवान् इस सृष्टिको अपने लिये बनाता है या जीवोंकेलिये? यदि अपने लिये कहो तो जीवोंको क्यों बनाया? और अपने लिये बनानेमें भक्तिमार्गकी किंवा सब ही जीवोद्धारके

उपायोंके बनानेकी क्या आवश्यकता थी? सब मार्गोंका विरोध आता है. अपने लिये सृष्टि रचना करनेमें बन्ध, मोक्ष, विचित्रता और अज्ञान आदिकी रचना करनेकी क्या जरूरत थी? इसलिये मानना पड़ेगा कि भगवान् यह जगत् अपने लिये नहीं, पर जीवोंकेलिये अथवा दोनोंकेलिये बनाता है. अपने लिये सृष्टि मानने पर भगवान्में आनन्दकी न्यूनता माननी पड़ेगी, पूर्णानन्द नहीं कहा जा सकता. और जीवार्थ सृष्टि मानने पर विषमता और निर्दयता दोष भगवान्में मानने पड़ेंगे. कोई दरिद्री कोई निर्बुद्धि, कोई धनी कोई बुद्धिमान यह विषमता भगवान्ने ही फैलाई है. रोग–मृत्यु आदि बनानेसे भगवान् निर्दय भी है इसलिये उभयार्थ सृष्टि बनानेमें भी विरोध आता है. इसको दूर करनेकेलिए कहते हैं कि 'अखिलात्मनः'. सबका मूल उपादान वही है सबका आत्मा तत्तत् रूपसे वही तो सब जगह फैल रहा है. वही मृत्यु है वही ग्रास है, वही दरिद्री है वही धनी है. हम अपने हाथसे दूध पीते हैं, मुहसे चने चबाते हैं पर पेटको दुख देते हैं पर हमें कोई विषम या निर्दय नहीं कहता क्योंकि हम ही तो हाथ पैर पेट हैं. यदि आनन्दके विरोधकी बात कहते हो तो भी ठीक नहीं. क्योंकि 'अखिलात्मा' है. भगवान्का स्वरूप न्यून नहीं पर सर्वदा पूर्ण ही रहता है यही ब्रह्मकी ब्रह्मता है. खिलता–न्यूनता दो तरहसे होती है. एक सर्वरूप न हो सकनेसे और दूसरी आनन्दके अभावसे. वहां दोनों तरहकी न्यूनता 'अखिलात्मा' एक पदसे ही निषेध कर दी गई है.

किसी अंशमें भी जिसके अंशोंमें न्यूनता न आवे वह 'अखिलात्मा' उपयोगी वस्तुके अंशमें भी न्यूनता नहीं है क्योंकि द्वितीय सृष्टिमें इनकेलिये ही सृष्टि बनाई जाती है. उपभोग भी सब तरहसे सम्पादन कराया जाता है. अब रहा अपना आनन्द वह भी उनके भोग करनेसे भगवान्का अपना आनन्द भी पूर्णका पूर्ण ही रहता है. अपनी आनन्दपूर्णताके भी भगवान् ही आत्मा हैं. क्योंकि अपने एवं जीव, दोनोंके भोगसे उसका उपचय होता रहता है. इतने पर भी स्वरूपकी अनित्यता किंवा न्यूनता नहीं आ सकती. इसलिये आधिदैविकी और आध्यात्मिकी दोनों सृष्टि भगवान्से हो सकती है. तथापि सर्वेश्वर होनेसे भक्तिमार्गकी व्यवस्था रखनेकेलिए मुझे पैदा करके और अपने अन्तः इच्छासे ही सब आज्ञा करके मेरे रूपसे ही सृष्टिका निर्माण करके आप तो निर्विकार ही रहे आते हैं. ब्रह्मकल्पमें ब्रह्मस्वरूपसे ही ब्रह्ममयी सृष्टि की जाती है यह आगे मूलमें भी है. मैं भी भगवान्से ही ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति प्राप्त करके उन्हींसे सृज्य

जगत्को पैदा करता हूं. 'ईक्षयैवाभिचोदितः'. भगवान्ने अपनी द्रष्टिसे सृष्टिकी प्रेरणा की इससे मैं निर्भय हूं।।१७।।

आभासार्थः इस तरह सामान्य रीतिसे भगवान् ही सबका आधार एवं नियन्ता है यह तथा मैं भी भगवदात्मक हूं, यह कह चुके. पर इसका कारण व प्रकार पूछना है. किस प्रकारसे भगवान् ब्रह्माको और अन्य पदार्थोंको बनाता है. अथवा एक ही स्वरूपमें शास्य और शासक भाव कैसे हो जाता है यह पूछता है. इसका उत्तर देते हैं कि:

सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः।
स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीता मायया विभोः।।१८।।
कार्यकारणकर्तृत्वे द्रव्यज्ञानक्रियाश्रयाः।
बध्नन्ति नित्यदा मुक्तं मायिनं पुरुषं गुणाः।।१९।।

श्लोकार्थः सत्त्व-रजस्-तमस् ये तीन गुण, निर्गुण भगवान्के हैं. स्थिति, सर्ग और प्रलय अवस्थामें भगवान् इन तीनोंको मायासे ग्रहण करते हैं, मायाको करण बनाते हैं. द्रव्य, ज्ञान और क्रिया में स्थित रहकर ये तीनों गुणोंसे मुक्त भी मायासे मोहित पुरुषको देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण में सर्वदा आसक्त करते रहते हैं।।१८-१९।।

व्याख्यार्थः यहां काशकृत्स्न आचार्यके मतको सहारा दिया है. भगवान् उन-उन पदार्थोंके रूपको धारण करके इस जगत्के रूपमें स्थित है, यह मत काशकृत्स्न आचार्यका भी है. जैसे जाला बनाते समय मकड़ी अपने मुंहसे ऊन निकालती है इसी तरह भगवान् भी तीन तरहकी सृष्टि बनानेके लिये तीन गुणोंको अपने स्वरूपमेंसे निकालता है. रस्सीकी तरह गुण मनुष्यको अपनी तरफ खेंचते हैं, बांधते हैं इसलिये इन्हें व्यवहारमें 'गुण' शब्दसे कहा गया है. जो सत् रूपसे बाहर हुआ उसे 'सत्त्व' कहा है. जो केवल चित् रूपसे निकला, सत्-आनन्द जिसमें नहीं है, ऐसे क्रियाशक्ति प्रधानको 'रज' कहा जाता है. और आनन्दांशसे तमस् हुआ. ये भगवान्ने स्वरूपमय ही पैदा किये हैं. पर भगवान्में यह पहले नहीं थे. यदि ये पहले भी भगवान्में होते तो भगवन्मय भगवद्रूप न होते. कपासमें पहले सूत नहीं होता पर यही कपास पीछे अपने अवयवोंका पूर्वापरभाव हो जानेसे सूत्र (डोराके) रूपको धारण करता है. अतएव भगवान् निर्गुण ही है. पर ऐसे गुणोंसे बना हुआ जगत् कार्यक्षम नहीं हो सकता. अतएव गुणोंको कार्यक्षम बनानेकेलिये

भगवान् उन्हें मायासे ग्रहण करते हैं. स्थितिके समय सत्त्वको ग्रहण करते हैं. सर्ग अवस्थामें रजस्को और प्रलयके समय तमस्को ग्रहण करते हैं. जैसे चरखे परसे उतारा हुआ सूत कार्यक्षम हो जाता है इसी तरह मायामें होकर निकाले हुए सत्त्वादि भगवदीय गुण स्थित्यादि कार्यके योग्य हो जाते हैं. यह माया व्यामोहिका नहीं पर जगत्को अपने रूपमें तैयार करने वाली है. यही बात 'विभोः' शब्दसे कही है. सर्वसमर्थ जगत्कर्त्ता भगवान्की शक्ति है. भगवान् सर्वरूप हैं अतएव भगवान्के सम्बन्धसे यह भी सब आकारोंकी प्रतिकृति रूप होती है. जगत्को बनाते समय भगवान् इसका करणरूपसे उपयोग करते हैं, जैसे काटनेके कार्यमें करोतीका. जैसे सांचेमें होकर सोना-चांदी सांचेका ही रूप धर लेता है इसी तरह मायामें होकर निकले हुए गुण भी भगवद्रूप होते हुए भी करणरूप ही हो जाते हैं, अतएव वे मायागृहीत कहे जाते हैं. ये फिर मायाके वशमें रहते हैं, पुत्रोंकी तरह. इसीलिये भगवान्का जो अंश(जीव) मायामें रमना चाहता है, अथवा मायाके कार्यभूत इस आधिभौतिक जगत्में रमना चाहता है उसको ये गुण बांध लेते हैं. 'कार्यकारणकर्तृत्वे' इत्यादि. कार्य=अधिभूत-देह कहा जाता है. कारण=अध्यात्म जगत् इन्द्रियादि. और कर्ता=आधिदैविक अन्तःकरण कहा गया है. इन भावों(कार्य-कारण-कर्तृत्व)की सर्वदा सत्ता यही देह है. जीवके संघातमें आ जानेका निमित्त ये तीनों होते हैं. शुद्ध जीव भी सृष्टिमें संघातरूप हो जाता है, वैसा रूप धारण कर लेता है .

अब इन्हें माया अपने कार्यकेलिये अपने पास ही रखती है. यही 'द्रव्यज्ञानक्रियाश्रयाः'से कहा है. द्रव्य=अधिभूत पदार्थ. ज्ञान ही अधिदैव पदार्थ है और क्रिया आध्यात्मिकी पदार्थ है. द्रव्य-ज्ञान-क्रिया ही प्रत्येक तमः-सत्त्व-रजस्के आश्रय हैं. इसलिये जो-जो जीव उन तीन पदार्थोंका आसरा लेता है उनको ये सत्त्वादि बांध लेते हैं. द्रव्यका अभिमान आने पर तमस् बांधता है. ज्ञानकी आसक्ति होने पर सत्त्व बांध लेता है, और क्रियाका अभिमान होने पर रजोगुण बांधता है. जीव आध्यात्मिकादि भावको छोड़कर शुद्ध चैतन्य स्वरूपमें आ जावें, बस गुण ये होने नहीं देते. सर्वदा उन्हें आध्यात्मिकादि भावोंमें ही फंसाये रहते हैं. मायासे सम्बन्ध रखने मात्रसे यह उनका बन्धन होता है. यद्यपि मायासे सम्बन्ध भगवान् भी करते हैं पर भगवान्का बन्धन नहीं होता. भगवान् मायाको कार्यमात्रकेलिए करणरूपसे ग्रहण कर उसे स्वतन्त्र नहीं होने देते. और

यह जोव उसके मोहमें फंसकर उसके स्वातन्त्र्यका अभिमान करता है कि मैं इसका पति हूं और यह मेरी पत्नी है. यही बात 'पुरुष' शब्दसे कही है. सबका तात्पर्य यह है कि जो पुरुष मायाको केवल कार्यके समय करणरूपसे ग्रहण कर उसके गुणोंमें नहीं फंसता, उनका कर्त्ता रहता है, वह नियोजक रहता है और जो मायाके गुणोंमें फसकर उसे अपनी स्वतन्त्र गृहस्वामिनीवत् समझ कर बंध जाता है वह नियोज्य हो जाता है. इस तरह एक शुद्ध ब्रह्मचैतन्यमें ही नियोज्य-नियोजकभाव हो जाता है. जो अंश माया ओर मायाके कार्यके अभिमानमें फंस जाता है वह 'बद्ध' और जो उन दोनोंके अभिमानसे मुक्त रहता है वह नियोजक, गुणकर्ता, 'मुक्त' कहा जाता है. एक हीके ये दो रूप हैं।।१८-१९।।

आभासार्थ: इस तरह जीवभाव और ब्रह्मभाव के भेदका निरूपण करके यद्यपि 'यदाधार:' इत्यादि प्रश्नका सामान्य उत्तर दे दिया है तथापि विशेषाकारसे देनेके लिये कहते हैं:

स एष भगवान् लिङ्गैः त्रिभिरेतैरधोक्षजः।
स्वलक्षितगतिर्ब्रह्मन् सर्वेषां मम चेश्वरः।।२०।।

श्लोकार्थ: वह ये भगवान् जिसकी गति इन चिह्नरूप गुणोंसे भी नहीं जानी जाती और इन्द्रियजन्य ज्ञान और क्रिया जिसके स्वरूप तक पहुंच नहीं सकती, वह हे ब्रह्मन्! मेरा और सारे जगत्का ईश्वर है।।२०।।

व्याख्यार्थ: भगवान् सारे जीवसमूहोंका सामान्य आधार है और माया और मायाके कार्य द्रव्यादि उनके विशेष आधार हैं, जैसे गृहस्थ पीठ. मनुष्यका सामान्य आधार घर है और विशेषाधार कुर्सी है, और उस पर भी यदि गद्दी हो तो वह और भी विशेषाधार है. इसी तरह भगवान् आधार माया का, माया गुणोंका आधार और गुण कार्योंका आधार हैं. उन गुणकार्योंसे यह जीव बद्ध है. तो जीवोंका सामान्य आधार तो भगवान् हुए, और विशेषाधार माया-गुण-कार्यादि. पर मुक्त जीवोंके तो भगवान् ही साक्षात् आधार हैं यह बात साधारण रीतिसे कह चुके हैं इसलिये उसका उत्तर न देकर विशेषात्मत्वका ही उत्तर देते हैं. मायी दोनों हैं फिर एक दूसरेका विशेष(फरक) क्या और क्यों? यह प्रश्न बाकी ही रह जाता है. इसलिये इस विशेषात्मत्वका ही उत्तर देते हैं: 'स्वलक्षित'.

नियामक भगवान्के दर्शन(समझ) करनेमें पहले तो दोनों एक ही हैं इसलिये नियमन हो नहीं सकता. पर अब जो नियमन ज्ञानदशामें भी अभेदज्ञान हो

जाय तो नियमन ही न हो सके क्योंकि अभेदमें नियम्य-नियामक भाव कैसा? इसलिये भगवान्ने अपने ज्ञापक इन तीन गुणोंके द्वारा ही अपने ज्ञानको तिरोहित कर लिया. अर्थात् उसका ही एक अंश उन अपने ज्ञापक गुणोंमें ऐसा फंस गया कि अपनेपनका ज्ञान ठीक न रहा. जिसको ज्ञान न रहा वह नियम्य, और जिसे अपनेपनका ज्ञान रहता है वह नियामक, यही भगवान्का विशेषात्मत्व है. और यही 'मत्पर'का उत्तर भी है. जिसका ज्ञानधर्म तिरोहित नहीं हुआ वह पर और दूसरा अवर.

यद्यपि जो स्रष्टा है वही बद्ध भी हुआ है तथापि एकात्मकता रहने पर भी भगवान् गुणोंके स्रष्टा हैं. और तिरोहित ज्ञानधर्म होनेसे जीवात्मा बद्ध है. यहां एक यह प्रश्न होता है कि चाहे स्रष्टत्वेन किंवा भोग्यत्वेन हो, गुणोंका माया सम्बन्ध तो दोनोंके साथ होता है तो फिर वह भी बद्ध क्यों नहीं? गुण उसे क्यों नहीं बांधते? तो इसका उत्तर यह है कि यद्यपि ये सत्त्वादि गुण भगवान्मेंसे ही आविर्भूत हुए हैं अतएव भगवान्के लिङ्ग-चिन्ह हैं, ज्ञापक हैं. पर धूमकी तरह भगवान्को लपेट नहीं सकते. किन्तु दूरसे ही ज्ञापन कराते हैं कि इनका पैदा करनेवाला भगवान् है. धुआं अग्निको लपेटे रहता है और ज्ञापक भी है पर सत्त्वादि गुण तो उसका स्पर्श नहीं करते पर दूरसे ही उसका ज्ञापन कराते हैं. क्योंकि वह अपने स्वरूपको जानता है.

अन्यसे इस आत्माका भी बन्धन क्यों नहीं होता तो कहते हैं 'एतैः'. अर्थात् वे इतने ही हैं कि उनसे उस आत्माका बन्धन हो सकता है किन्तु इसका नहीं. अस्तु भले ही जीवांश ही गुणोंसे बंधे, पर गुणबद्ध जीव तो इसे(शुद्धको) बांध सकते हैं! गुणबद्ध इसका बन्धन क्यों नहीं करते? दुनियामें तो यह रीति है कि जो संसारमें फसे हुए हैं वे अपने बाल-बच्चोंको भी फंसाते जाते हैं. इसका उत्तर 'अधोक्षजः'से देते हैं. वह विशेषात्मा ऐसा है कि वहां तक बद्धात्माके ज्ञानेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष और कर्मेन्द्रियजन्या क्रिया पहुंचती ही नहीं. गुणबद्ध लोग यदि उसे देख सकें या क्रियाके द्वारा उसे पा सकें तब न बांधे! यह कार्य उनसे होता नहीं इसलिये वह इनसे बंधता नहीं. इसी कारणसे भगवान् 'सुष्ठु अलक्षिता गतिर्यस्य' है.

'अधोक्षज' शब्दसे ही जब स्पष्ट हो जाता है कि भगवान्की समझ संसारियोंको अच्छी तरह नहीं हो सकती तो फिर 'स्वलक्षितगतिः' यह पद देनेकी

क्या आवश्यकता है? यह प्रश्न हो तो इसका दूसरा अर्थ करते हैं कि भगवान्की समझ भगवदीयोंको किंवा मुक्तोंको ही होती है. इस पर एक प्रश्न और होता है कि केवल अपने स्वरूपका जिन्हें ज्ञान हुआ है वे जीवन्मुक्त हैं पर उन्हें भगवान्का ज्ञान कहां हुआ है? और जो परममुक्त हैं, भगवत्प्राप्ति कर चुके हैं, उनका विषय-विषयी द्वैतभाव ही जाता रहा है इसलिये दोनोंको ही भगवान्की गतिकी समझ होना असम्भव है. इसलिये पूर्व अर्थको ही नियत रखते हुए कहते हैं कि वास्तवमें तो भगवद्भक्त ही भगवान्की वास्तव गतिको जानते हैं. क्योंकि भक्त ही भगवान्के साथ अथवा उनकी इच्छासे पीछे भी अवतार लेते हैं यह भगवच्छास्त्रोंका निर्णय है. इसलिये हे नारद! तुम भी उसकी चेष्टाको जाननेवाले हो तथापि वह सर्वेश्वर है इसलिये वह भगवान् तुम्हारा, हमारा और सबका मालिक है।।२०।।

आभासार्थ: इस तरह चार प्रश्नोंका उत्तर देकर अब छः प्रश्नोंका उत्तर देना प्रारम्भ करते हैं.

कालं कर्म स्वभावं च मायेशो मायया स्वया।
आत्मन् यदृच्छया प्राप्तं विबुभूषुरुपाददे।।२१।।

श्लोकार्थ: मायाके अधीश भगवान्ने जब इस जगत्के रूपमें फैलनेकी इच्छा की तब अपने तरफ अपने आप आते हुए काल, कर्म और स्वभाव को भी मायाके साथ ही ग्रहण किया।।२१।।

व्याख्यार्थ: तीन प्रश्नोंका उत्तर इस अध्यायमें देते हैं और तीन प्रश्नोंका आगेके अध्याय में. उनमें पहले 'यद्रूपं' इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं. स्वभावसे जो कुछ होता है उसे आगे कहेंगे. पर अभी तो जो चारों तरफ देखनेमें आ रहा है वह काल-कर्म-स्वभावरूप है यह दिखाना है. तत्त्वरूप इस जगत्का अवान्तर अधिष्ठान(आधार) मूल तत्त्व है. काल-कर्म-स्वभाव सहित भगवान्से तत्त्वोंकी सृष्टि होती है. यह सारा जगत् हमें कालकर्मस्वभावरूप दीखता है. इसमें सबसे पहले भगवान्ने मायाके साथ उन तीनोंको भी जगद्रचनामें ग्रहण किया है यह कारण है. ये काल, कर्म और स्वभाव तीनों भगवद्रूप हैं. अक्षरब्रह्मके ही विशेष हैं, अतएव नित्य है इसलिये सर्वत्र भ्रमण करते रहते हैं. भगवदिच्छासे ये भगवान्के समीप आये तब भगवान्ने इनको मायाके द्वारा ग्रहण किया. मायाकी तरह इन्हें भी करण(साधन) कोटिमें ही रखा. यहांकी यह माया करणरूपा है,

कर्त्री नहीं. (क्योंकि यह प्रथम सृष्टि है). और न यह माया व्यामोहिका ही है, पर अपनी सामर्थ्य है. यह भगवान् भी वह है जो मायाका भी नियामक होकर रहता है. वह नहीं जो मायाके रूपमें मिल गया है. इस सृष्टिमें अपने स्वरूपको नाना बननेमें सत्त्वादि गुणोंका उपयोग नहीं है, पर जीवोंके बन्धन करनेमें तथा उनके उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय करनेमें सत्त्वादिका उपयोग करते हैं. स्वस्वरूपको अनेक बनानेमें तो अपनी सर्वभवन शक्ति तथा अक्षरविशेषों (काल, कर्म. स्वभावों)का ही उपयोग करते हैं. अर्थात् अपने आप ही सब कुछ हो जाते हैं. अतएव जब भगवान् किसी विशेषके द्वारा बहुत होना चाहता है तब उन काल-कर्म-स्वभाव अक्षरविशेषोंका ग्रहण करते हैं. स्वशक्ति माया भगवान्की आज्ञाकारिणी है और मायाके द्वारा उनका ग्रहण करते हैं. अतएव वे भी भगवान्के नियोज्य हो जाते हैं. अर्थात् आप ही अपना नियोज्य हो जाता है।।२१।।

आभासार्थः इसीलिये अब उनका कर्त्तव्य बताते हैं:

कालाद् गुणव्यतिकरः परिणामः स्वभावतः।
कर्मणो जन्म महतः पुरुषाधिष्ठिताद् अभूत्।।२२।।

श्लोकार्थः कालका, कुछ अंशमें गुणोंके साथ सम्बन्ध हुआ. फिर स्वभावके साथ सम्बन्ध होनेसे उनका परिणाम(परिवर्तन) हुआ, फिर कर्मका सम्बन्ध होनेसे महत् तत्त्वका जन्म हुआ. पर सबके समयमें पुरुष(जीव)का आधार तो था ही।।२२।।

व्याख्यार्थः भगवान्ने पहले मायाके द्वारा गुणोंका ग्रहण किया और फिर काल-कर्म-स्वभावका ग्रहण किया, यह अनुपद कह चुके हैं. ऐसी दशामें वे कालादि गुणोंमें घुसे. पहले गुणोंके साथ कालका सम्बन्ध हुआ. इसके अनन्तर जब उनका स्वभावके साथ भी सम्बन्ध हुआ तब उनमें कुछ परिवर्तन (बदल जाना) हुआ. फिर जब उनमें जन्मका निमित्त कर्म मिला तब वह बदला हुआ त्रिगुण कार्य, कर्मके सम्बन्धसे जन्मरूप हो गया. तात्पर्य यह है: कालका जब गुणोंके साथ सम्बन्ध होता है तब वह काल भूत-भविष्य-वर्तमानको दिखाने वाला संवत्सर रूप हो जाता है. और जब काल संबद्ध गुणोंमें स्वभाव भी घुस बैठता है तब वह गुणत्रय बदल कर जडादिरूप, घटादिकी तरह धारण कर लेता है. और जब उसमें जन्मका निमित्त कर्म-अधिकार घुस जाता है, तब उसी पदार्थका, वह रूप पाता है, कि जीवसंयुक्त देहादि पिण्डका जन्म होता है. यह

बात 'जन्म महतः पुरुषाधिष्ठितादभूत्' वाक्यसे कही है. पुरुष(जीव) तो सर्वत्र आधारभूत रहता ही है. पुरुषके आधारसे ही वह गुणत्रयात्मक परिणत वस्तु, महत्तत्त्वका जन्म देनेवाला हुआ. अर्थात् वही पदार्थ महत्तत्त्वके रूपमें पैदा हो गया. महत्तत्त्व अर्थात् समष्टि बुद्धिपिण्ड, किंवा अन्तर्गुप्त इन्द्रियान्तःकरण-तन्मात्रा-महाभूतोंका सचेतन पिण्ड. उस समय उसका कुछ दूसरा नाम हुआ नहीं था इसलिये उसे स्वरूपानुसार 'महत्' कहने लगे।।२२।।

आभासार्थः इस तरह एक जीवको काल-कर्म-स्वभावोंके द्वारा संघातात्मक देह मिला यह कहा. अब बाकी रहे गुण, भगवत्प्रेरणासे केवल महत्तत्त्वमें ही जा लगे यह कहते हैं:

महतस्तु विकुर्वाणाद् रजः सत्त्वोपबृंहितात्।
तमः प्रधानात् त्वभवद् द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः।।२३।।

श्लोकार्थः वह महत्तत्त्व भी जब बदलने लगा तव वह पुनः रजोगुण-सत्त्वगुणसे युक्त और तमोगुण प्रधान हुआ अतएव वह द्रव्य, ज्ञान और क्रिया का समूह एक पदार्थ और ही तैयार हुआ।।२३।।

व्याख्यार्थः उस महत्तत्त्व-पदार्थमें जब काल, कर्म, स्वभाव ने, अपना गुणव्यतिकरादि कार्य कर दिया, तब वही मूल पदार्थ दूसरे रूपमें पैदा होनेको तैयार हो गया. थोड़े कालमें ही वह रजोगुण-सत्त्वगुणसे युक्त और तमस् जिसमें विशेष है ऐसा द्रव्यज्ञानक्रियाका पिण्ड हो गया. इसमें रजोगुण-सत्त्वगुणने सहायक रूपसे प्रवेश किया और तम प्रधान रहा. यही बात 'रजः सत्त्वोपबृंहितात्' आदि वाक्यसे कही है. कुछ गुणभाग पहले, कुछ गुणभाग पीछे इकठ्ठा हो इस तरह सबके अनुरूप मेलसे एक द्रव्य ज्ञानक्रियात्मक त्रिगुण पदार्थ पैदा हुआ।।२३।।

आभासार्थः उसका नाम क्या हुआ सो कहते हैं:

सोऽहङ्कार इति प्रोक्तो विकुर्वन् समभूत् त्रिधा।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेति यद् भिदा।
द्रव्यशक्तिः क्रियाशक्तिः ज्ञानशक्तिरिति प्रभो।।२४।।

श्लोकार्थः उसे 'अहंकार' कहते हैं. यह अहंकार भी जब काल, कर्म, स्वभाव और गुणके पूर्वापरभावसे आधिक्य होने पर पदार्थान्तर पैदा करनेके रूपमें आया तब वही अहंकार वैकारिक, तैजस और तामस इन तीन रूपोंमें आ गया. हे

राजा परीक्षित्! तामसाहंकार द्रव्यशक्ति, राजसाहंकार क्रियाशक्ति और सात्त्विक अहंकार ज्ञानशक्ति हुआ।।२४।।

व्याख्यार्थ: पहले तो एक स्थूल तत्त्वरूप कार्य(पदार्थ) पैदा हुआ उसका नाम भगवान्ने 'महान्' रखा. इस दूसरे कार्यरूप पदार्थका वह 'महान्' पिता-उत्पादक था. किसी विशेषके द्वारा जब अपने नामका निर्णय न कर पाया, तब अपने स्वरूप और अपनी स्वाभाविक कृति(काम)को देखकर दोनोंका मिलकर नाम कहा गया है: 'अहंकार' इति. इसका यह नाम इसके पिता(महत् समष्टिबुद्धि)ने ही कहा था.

इस अहंकारके साथ जब काल, कर्म और स्वभाव का सम्बन्ध हुआ तब यह भी अपनेमेंसे दूसरा पदार्थ पैदा करनेको तैयार हो गया. इसके भीतर सत्त्वादिगुण थे ही पर कौन नीचा और कौन ऊंचा इसका नियम करनेवाला कोई न होनेसे तीनों गुणोंने स्वतन्त्र होकर अपने आधार अहंकारको तीन तरहका कर दिया. यही बात 'समभूत् त्रिधा' इस वाक्यसे कही है. उनके भेद बताते हैं 'वैकारिक' इति. वैकारिक=सात्त्विक अहंकार, तैजस=राजस अहंकार और तामस अहंकार. 'च'कार कहनेसे मालुम होता है कि फिर इनके भी कई अवान्तर भेद और भी हैं. इसी तरह तामसके भी अनेक भेद हैं. ये तीन अहंकारके भेद हैं. इन तीनोंकी अपने-अपने कार्य करनेमें सामर्थ्य बताते हैं 'द्रव्यशक्तिः'. इन तीनोंमें तामस अहंकारकी द्रव्य पैदा करनेमें सामर्थ्य है, इसलिये ये पृथिव्यादि द्रव्योंको पैदा करता है. इसलिये इसका 'द्रव्यशक्ति' यह नाम गुणप्रयुक्त है. द्रव्यमें है शक्ति जिसकी. इस तरह राजस अहंकार क्रियाको पैदा करनेमें समर्थ है और सात्त्विक अहंकारसे ज्ञानका प्रकाश होता है. यहां नारदकेलिए 'प्रभो' यह सम्बोधन, तुम्हारा अहंकार ज्ञानशक्तिरूप है यह दिखानेकेलिये दिया गया है।।२४।।

आभासार्थ: तीनों अहंकारोंके साथ काल-कर्म-स्वभावका सम्बन्ध है, अतएव वे तीनों ही सृष्टि करनेवाले हैं पर अभी तीनोंमेंसे पहले तामसाहंकारकी सृष्टिशक्तिका निरूपण करते हैं:

तामसादपि भूतादेः विकुर्वाणाद् अभूद् नभः।
तस्य मात्रा गुणः शब्दो लिङ्गं यद् द्रष्टृदृश्ययोः।।२५।।

श्लोकार्थ: भूतादि नामक तामसाहंकार भी कालादि द्वारा जब सृष्टि

करनेको उद्यत हुआ तब उससे पहले आकाश पैदा हुआ. जिसकी मात्रा और गुण 'शब्द' है. यह शब्द ही दृष्टा और दृश्य की पहचान कराता है।।२५।।

व्याख्यार्थ: तामसाहंकारका ही 'भूतादि' यह एक दूसरा यौगिक नाम है. भूतादि अर्थात् पंच महाभूतोंका आदि. पृथ्वीसे लेकर आकाश पर्यन्त पदार्थोंका नाम है 'भूत'. पैदा होने मात्रसे यह इसका सामान्य नाम 'भूत' है. भूत जितने हैं वे सब तामस होते हैं. इसलिए तामस रूपसे जो भी पैदा होता है उसे 'भूत' कहा जाता है. उन भूतोंका आदि अवान्तरकारण अहंकार है इसलिए उसे भूतादि कहते हैं.

यह भूतादि अहंकार भी जब काल–कर्म–स्वभावके सम्बन्धसे सृष्टि करनेकेलिये तैयार हुआ तब कालादिके सहारेसे 'नभ' नामका आकाश पदार्थ पैदा हुआ. तामस भाग विशेष होनेसे इसमें प्रकाश और प्रवृत्ति नहीं है इसलिये इसे 'नभ' कहते हैं. न विद्यते भा यस्य. जिसको कोई अच्छी तरह पहचान न सके. 'भा दीप्तौ' धातुसे 'अस्' प्रत्यय कर लेनेसे और 'आ'कारका लोप कर देनेसे 'नभ' शब्द हो जाता है. यहां यह प्रश्न होता है कि जब न समझमें आवे वह नभ, तो फिर इसकी प्रतीति कैसे हो रही है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि आकाशका गुण और मात्रा 'शब्द' है. शब्द गुणसे वह पहचाना जाता है, स्वरूपसे नहीं. और यह शब्द मात्रा भी है. जिस मायाके पालन करनेका वेदादि शास्त्र निषेध करते हैं उसको भी यह पालन करता है इसलिये इसे 'मात्रा' भी कहते हैं. ''मां मायां त्रायते असौ मात्रा''. दो तरहकी माया है: एक व्यामोहिका दूसरी आवरणात्मिका. यह शब्द भगवान्को भी ढक देनेवाली मायाका भी पालन करता है इसलिये 'मात्रा' कहा जाता है. इसीलिये यह जीव मायामोहित होकर (शब्द रूप रसादिमें मोहित आसक्त) भगवान्को नहीं पहुंचता. इससे यह भी स्पष्ट होता है कि वर्णात्मक शब्द आकाशका गुण नहीं है वह तो स्वर और व्यञ्जन रूप भगवदात्मक है और नित्य पृथक् ही है (यह बात सर्वनिर्णयादि ग्रंथोंमें स्पष्ट है).

'गुण' शब्दका अर्थ आत्मबन्धक भी होता है. गुण बन्धक होते हैं यह पहले कह आये हैं. शब्द भी आत्माका बन्धनकर्त्ता है यह अनुभवियोंको स्पष्ट है. मात्रा शब्दका भावार्थ परिणाम विशेष है. अर्थात् अपने उपादान कारणके समान सत्तावाला कार्यरूप हो जाना यह परिणाम. यद्यपि रूपरसादि भी मात्रा हैं, पर उस शब्दका अन्यत्र प्रयोग न कर केवल शब्दमें ही किया इसका तात्पर्य यह है कि व्यवहारके समय, आकाश सबका सब केवल शब्द हो जाता है. इतना

विरलावयव है कि उसकी पृथक् सत्ता मालुम ही नहीं होती. और इसीलिये शब्द मात्रसे आकाशका व्यवहार होता है. मकानकी छत पर पैर पटकनेसे जो एक शब्द होता है उससे ही लोग कह देते हैं कि इसके नीचे शून्य है, पोल है, अवकाश है इत्यादि. यह बात रूप, रस आदिमें इतनी स्पष्ट नहीं है.

एक बात शब्दमें और भी है. यह दृष्टा और दृश्यका ज्ञापक भी है. मात्रापन और गुणत्व ये दोनों शब्दके धर्म हैं, यह ठीक है पर यह असाधारण धर्म नहीं है. इसलिये 'आकाश गुणत्वं शब्द' यह जो लक्षण करते हैं वे भूल करते हैं. वास्तवमें तो 'द्रष्ट्र-दृश्यलिङ्गत्वं शब्दत्वं' यह कहना ठीक होगा. क्योंकि द्रष्टा और दृश्य का ज्ञापन करना शब्दका असाधारण धर्म है. और यही लक्षण कहा जाता है. हम मकानके भीतर बैठे हैं और बाहरसे किसीने कहा कि देखो हाथी देखो हाथी. तो अब 'गजः गजः' इस शब्दने हमें समझा दिया कि कोई मनुष्य हाथीको देख रहा है. देवदत्त द्रष्टा है और हाथी दृश्य है. शब्दने द्रष्टा और दृश्य दोनोंका हमें ज्ञान करा दिया. देवदत्त गजको देख रहा है, यह मालुम हो गया।।२५।।

आभासार्थः इस तरह तामसाहंकारसे आकाशकी उत्पत्ति बताकर अब आकाशसे वायु आदि भूतोंकी उत्पत्तिका क्रम बताते हैं:

नभसोऽथ विकुर्वाणाद् अभूत् स्पर्शगुणोऽनिलः।
परान्वयात् शब्दवांश्च प्राण ओजः सहो बलम्।।२६।।

श्लोकार्थः आकाश भी जब कालकर्मस्वभावके सम्बन्धसे विकारको प्राप्त हुआ तब उससे स्पर्श गुणवाला वायु पैदा हुआ. अनन्त आकाशका ही कुछ भाग वायुके रूपमें बदल गया. पर आकाशकी भी उसमें सत्ता रहनेसे उसमें शब्द भी रहा. दशविधप्राण, इन्द्रिय शक्ति ओज, मनकी शक्ति सह और शरीर शक्ति बल ये सब इस वायुके ही दिये हुए हैं।।२६।।

व्याख्यार्थः स्पर्श है गुण जिसका ऐसा वायु है. वायुके दो गुण हैं: इसमें अपने स्वभावसे तो स्पर्श है और आकाशका भी अन्वय रहनेसे शब्द गुण भी है. यह वायु देह किंवा ब्रह्माण्डके उन-उन स्थानोंमें दश रूपसे रहता है इसलिए दशविध कहा जाता है. यह प्राण ही उन-उन स्थानोंमें जाकर अनेक हो जाता है. इसके तीन कार्य विशेष हैं: १.इन्द्रियोंको शक्ति पहुंचाना, २.मनको सामर्थ्य देना और ३.शरीरको बल पहुंचाना. यद्यपि प्राणको राजस अहंकारका कार्य आगे कहेंगे, तथापि वायुके गुणमें प्राणेन्द्रियका सहकारी, गन्धको ग्रहण कराने वाला,

प्राण लिया गया है. अथवा 'बुद्धि प्राणश्च तैजसात्' यह आगेका वचन किसी दूसरे ऋषिका मत है, यह समझना. यहां काल-कर्म-स्वभावका सम्बन्ध नहीं कहा है पर सब जगह इनका सम्बन्ध तो अनुक्त ही समझ लेना चाहिये. अथवा जैसे अहंकार और आकाश में काल-कर्मका कोई कार्य प्रतीत नहीं होता, इसलिये लोकप्रतीतिको लेकर यहां भी उस तरह नहीं कहा।।२६।।

आभासार्थ: वायुसे तेज(अग्नि प्रभृति) पैदा होता है. पर इसके स्वरूपको देखते हुए साधन विजातीय(विरुद्ध) कार्य पैदा हुआ मालुम देता है. अतएव वायुको कोई अग्निका निमित्त मात्र न समझ ले, इसलिये कुछ विशेषरूपसे निरूपण करना पड़ा:

वायोरपि विकुर्वाणात् कालकर्मस्वभावतः।
उदपद्यत तेजो वै रूपवत् स्पर्शशब्दवत्।।२७।।
तेजसस्तु विकुर्वाणाद् आसीद् अम्भो रसात्मकम्।
रूपवत् स्पर्शवच्चाम्भो घोषवच्च परान्वयात्।।२८।।
विशेषस्तु विकुर्वाणाद् अम्भसो गन्धवान् अभूत्।
परान्वयाद् रसस्पर्श-शब्दरूपगुणान्वितः।।२९।।

श्लोकार्थ: काल-कर्म-स्वभावके द्वारा सृष्टिकार्यकेलिये उद्यत हुए वायुसे भी तेज उत्पन्न हुआ. इसमें रूप, स्पर्श और शब्द तीन गुण रहे. तेज भी जब उसी तरह विकारको प्राप्त हुआ तब उससे रस और उपादानके सम्बन्धसे स्पर्श और शब्द गुणवाला जल पैदा हुआ. फिर जल भी उसी तरह जब सृष्टि करनेको तैयार हुआ तब उससे पृथ्वी पैदा हुई. इसका गन्ध गुण है पर उपादानोंका भी सम्बन्ध रहनेसे रस, स्पर्श, शब्द और रूप गुण भी इसमें रहते हैं. पूर्वमें और यहां सर्वत्र चेतनका सहयोग तो समझ लेना ही चाहिये।।२७-२९।।

व्याख्यार्थ: वायुसे तेज उत्पन्न हुआ इससे सन्देह नहीं. वायु और अग्नि में जो विलक्षणता(ज्यादा फरक) मालुम होता है वह वायुसे अग्निमें गुण अधिक होनेसे. इससे यह न समझ लेना चाहिये कि वह वायुका कार्य नहीं है. क्योंकि श्रुतिने स्पष्ट कहा है कि "**वायोरग्नि**" वायुसे अग्नि होता है. इस तेजमें तीन गुण हैं, रूप, स्पर्श और शब्द. और ये तीनों गुण अग्निमें मालूम दे रहे हैं.

अर्धनास्तिक नैयायिक प्रभृतियोंके मतमें पंच महाभूतोंका परस्पर कार्य-कारणभाव नहीं है. और किसी किसीके यहां विवादास्पद है. पर वे सब मत

वेदविरुद्ध होनेसे परवाह करने योग्य नहीं है. नैयायिक लोग इस श्रौतसिद्धांतके विरोधमें यह युक्ति देते हैं कि विजातीय पदार्थका आरम्भक(उपादान) विजातीय पदार्थको कैसे माना जाय. वायु कुछ और है और अग्नि कुछ और है. वायुसे अग्नि बनाया गया है, यह कैसे मान लें. पर यह उनका आक्षेप तो तन्तुपटके विषयमें भी हो सकता है. तन्तु विजातीय पदार्थ है और पट विजातीय है. तन्तु और पट की एक जाति नहीं है. तन्तुत्व और पटत्व कभी एक नहीं हो सकता. जाति कोई पदार्थ ही नहीं है इसलिये यहां पृथिवीत्व आदि जाति कहनेका आशय ही नहीं है. क्योंकि जाति माननेमें कोई नियामक नहीं है. क्योंकि पृथिवीत्व तो घटमें भी है तो क्या घट और पृथ्वी एक हो गई! जिनके यहां भी इनको एक मानते हैं वे भी सजातीयतासे नहीं, पर कार्य-कारणभावके ऐक्यको लेकर एकता मानते हैं. पर इन बुद्धिके अजीर्णियोंसे पूछो कि गोबर और बीछू एक जातिता कहां है, सजातीयारम्भकता कहां है. सूक्ष्म अग्निसे स्थूल अग्निके पैदा होनेमें कारण वायु है ही. यह भी नहीं कह सकते कि पटमें तन्तुकी तरह वायुमें सूक्ष्म अग्निके अवयव हैं. यदि होते तो मिलते, मिलते नहीं इसलिये नहीं है यह मानना पड़ेगा. इसलिये प्रत्यक्ष और श्रुति दोनोंके मतसे नैयायिक आदिका मत बाधित(विरुद्ध) है इसलिए इस शास्त्रकी परवाह ही नहीं करनी चाहिए (इसकी चर्चा ही हानिकारक है. ये सब मोहशास्त्र हैं).

जल रसात्मक है इसका अर्थ यह है कि जलमें रसकी तन्मात्रा रहती है. तेज वायु और आकाश का भी सम्बन्ध रहनेसे जलमें रूप, स्पर्श और शब्द भी मिलते हैं. यहां ध्वनिरूप शब्द लिया गया है. 'विकुर्वाणात्' जलसे विशेष पैदा हुआ. विशेष शब्दका अर्थ पृथ्वी है. 'तु' शब्दसे यह स्पष्ट है कि पृथ्वी सबसे जुदी ही है. इसका मुख्य गुण गन्ध है पर अन्योंकी भी सूक्ष्म सत्ता इसमें रहती है इसलिये इसमें शब्द आदि चार गुण और भी हैं. काल कर्म स्वभावकी कारणता सर्वत्र है।।२७-२९।।

आभासार्थ: इस तरह तामस अहंकारको सृष्टिको कहकर अब सात्विक अहंकारकी सृष्टिका निरूपण करते हैं:

वैकारिकात् मनो जज्ञे देवा वैकारिका दश।
दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः।।३०।।

श्लोकार्थ: सात्त्विक अहंकारसे मन और दश सात्विक देवगण पैदा हुए.

उनके नाम ये हैं: दिशा, वायु, सूर्य, प्रचेता अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मित्र और प्रजापति।।३०।।

व्याख्यार्थ: सद्रूप भगवान् अस्ति स्वरूप गुण, जब मायाके द्वारा ग्रहण किया जाता है, तब यह प्रथम विकार हो जाता है. इसलिए उसका वैकारिक यह प्राकृत नाम कहा है. इस वैकारिक सात्विक अहंकारसे मन और दश इन्द्रियाधिष्ठाता देवगण पैदा हुए. पूर्वोक्त काशकृत्स्नमतमें मनको देवताकी अपेक्षा नहीं है. क्योंकि मनके अति समीप आत्मा होनेसे वही उसका प्रकाशक हो जाता है. आगे श्रोत्र आदि इन्द्रियोंको गिनावेंगे. क्रमसे ये देव उनके अधिष्ठाता हैं, प्रकाशक हैं. श्रोत्रका दिशा, त्वचाका वायु, घ्राणके अश्विनीकुमार दोनों, दृष्टिका सूर्य, जिह्वाका प्रचेता, वाणीका वह्नि, हस्तका इन्द्र, चरणका विष्णु, मेंढ्र (जननेन्द्रिय)का प्रजापति और गुदाका मित्र देवता है।।३०।।

आभासार्थ: राजसाहंकारका कार्य कहते हैं:

तैजसात् तु विकुर्वाणाद् इन्द्रियाणि दशाभवन्।
ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिः बुद्धिः प्राणश्च तैजसौ।
श्रोत्रं त्वग्घ्राणदृग्जिह्वा वाग्–दोर्मेण्ढ्राङ्घ्रिपायवः।।३१।।

श्लोकार्थ: राजसाहंकार भी जब काल–कर्म–स्वभावके द्वारा विकारको प्राप्त हुआ तब इससे दश इन्द्रियां पैदा हुईं. इन इन्द्रियोंके दो वर्ग हैं: एक ज्ञान शक्तिका साधन और दूसरा क्रिया शक्तिको सहारा देने वाला. बुद्धि और प्राण जो बाकी रहे वे भी इस राजसअहंकारके ही कार्य हैं. वे दश इन्द्रियां हैं: कर्ण, त्वचा, घ्राण(नाक), दृष्टि, जिह्वा, वाणी, हाथ, पांव, जनन और गुदा।।३१।।

व्याख्यार्थ: इन्द्र–आत्मा जिसके द्वारा अपना कार्य करें वह इन्द्रिय. आत्माको न तो हम चक्षुसे पहचानते हैं, और न वह अन्य इन्द्रियोंसे भी ग्रहण करनेमें आता है. पर ''आप देवदत्त हैं'', ''यह यज्ञदत्त है'' इत्यादि रूपसे सब ही आत्माको व्यवहारमें लाते तो हैं. और वह आत्मा देखता है, सुनता है, इत्यादि ज्ञान भी सबको ही हो रहा है. यह जिसके द्वारा हो रहा है वह इन्द्रिय है.

प्रश्न होता है कि जिह्वा आदि ज्ञानेन्द्रिय ज्ञानका प्रकाश करने वाली हैं, अतएव सात्विक होनी चाहिये. और हस्त आदि कर्मेन्द्रिय पर्यवसानमें जड़ मिलती हैं, इसलिये तामस कार्य होनी चाहिये. यह दोनों बात छोड़कर दशों

इन्द्रियोंको राजस क्यों कहा? और एक प्रश्न यह भी है कि बुद्धि और प्राण को राजसाहंकारका कार्य कहा सो भी ठीक नहीं है. क्योंकि "**सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्**" इस वाक्यके अनुसार ज्ञानरूपा बुद्धि सात्विकी होना चाहिये.

उत्तर: इस सबका उत्तर 'ज्ञानशक्ति' इत्यादिसे देते हैं. यहां इन्द्रियोंको राजस कहनेका कारण कुछ और ही है. इस मतमें बुद्धि और ज्ञान एक नहीं है. किन्तु बुद्धि ज्ञान होनेकी शक्ति रखती है. ज्ञान पैदा करनेकी जिसकी शक्ति है वह बुद्धि. जो बुद्धिमान् होता है उसे ही पदार्थका यथार्थ ज्ञान होता है. "यह अच्छा बुद्धिमान है, सब पदार्थोंको जानता है" यहां बुद्धिको ज्ञानका कारण कहा है. इसके विरुद्धमें, बुद्धि होनेसे बालकको पदार्थोंका अच्छा ज्ञान नहीं होता. ज्ञानका कारण बुद्धिको न माननेसे यह न होगा. कार्य(ज्ञान) और कारण(बुद्धि)के ऐक्यको लेकर कहीं-कहीं उपचारसे बुद्धि और ज्ञान को पर्याय मान लिया गया है. प्राण भी वायुसे पृथक ही है. "**अथ हैनम् आसन्यं प्राणम् ऊचुः**" इस श्रुतिमें प्राणरूप देवताको वायुसे विलक्षण ही कहा गया है. "**यो वायुः स प्राणः**" यह वाक्य तो भगवान्के प्राणको वायु कह रहा है. इसलिये ज्ञानको पैदा करनेकी शक्ति रखने वाली बुद्धि ज्ञानसे भिन्न है. और यह सात्विक पदार्थ नहीं है, राजस ही है. वह ज्ञानेन्द्रिय मात्रसे तैयार नहीं होती. हा, ज्ञानेन्द्रियोंको सहारा देनेकेलिये इसकी अपेक्षा अवश्य रहती है. जो सात्विक पदार्थ द्रव्य नहीं है वही इन्द्रियोंसे तैयार किया जा सकता है. सो बुद्धि अद्रव्य नहीं है, द्रव्य है. इसलिये ज्ञान पैदा करनेमें और क्रिया पैदा करनेमें बुद्धि और प्राणकी सामर्थ्य है, अतएव उनका कार्य(धर्म) ही जुदा होनेसे ये दोनों राजसाहंकारके ही कार्य हैं. और इसीलिये बुद्धि और प्राणने जिन्हें पकड़ रखा है वे ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों राजसाहंकारके ही कार्य हैं. इस विषयके पूर्वपक्षका खण्डन करनेकेलिये ही श्लोकमें 'तु' शब्द दिया है. उन इन्द्रियोंको गिनाते हैं: मेंढ्र और चरण के देवता प्रजापति और विष्णु हैं. और सब क्रमसे ही हैं. घ्राण और दृष्टि के देवता सूर्य और प्रचेता आगे-पीछे कह दिये हैं. इन्द्र बाहुका देवता है. वाणीका अग्नि देवता है. अश्विनीकुमार नासिकाके दोनों छिद्रोंके. प्रचेता जिह्वाके इस तरह क्रम है।।३१।।

आभासार्थ: इस तरह सबकी उत्पत्ति कह कर इन सबको रहनेका स्थान कहते हुए तत्त्वोंसे जो कार्यसृष्टि हुई उसे कहते हैं:

यदैतेऽसंहता भावा भूतेन्द्रियमनोगुणाः।

यदायतननिर्माणे न शेकुर्ब्रह्मवित्तम।।३२।।
तदा संहृत्य चान्योन्यं भगवच्छक्तिचोदिताः।
सदसत्त्वम् उपादाय चोभयं ससृजुर्ह्यदः।।३३।।

श्लोकार्थः भूत, इन्द्रिय, मन और शब्दादि गुण किंवा देवगणमें सब तत्त्व जब पृथक्-पृथक् रहनेसे जिस भगवान्के स्थान(ब्रह्माण्ड) बनानेमें असमर्थ हो गये तब, हे ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ नारद!, भगवान्की आज्ञासे ये सब आपसमें एक-दूसरेसे मिले और कार्य-कारणभावको किंवा उच्च-नीच भावको प्राप्त होकर इन सबने समष्टि-व्यष्टि (पिण्डब्रह्माण्ड) दोनों तरहका घर यह ब्रह्माण्ड बनाया ।।३२-३३।।

व्याख्यार्थः जहां तक ये चारों पदार्थ बे मेलके रहे. क्योंकि तीन भिन्न स्वभावके गुणोंसे बने हुए थे. सत्त्व-रज-तम जो अलग-अलग स्वभावके हैं वे एक कैसे हो सकते हैं? इसीलिये जब उनकी घर बनानेकी सामर्थ्य न हुई तब भगवान्ने उन्होंमें प्रवेश कर प्रेरणाकी. उस प्रेरणासे इन्होंने इस ब्रह्माण्डको तैयार किया ऐसा श्लोकका अन्वय है. पंचमहाभूत, इन्द्रिय, मन और देवगण ये चारों अथवा 'गुण' शब्दसे रूप, रस, स्पर्श, गंध और शब्द ही लेने. भूत तामस आदिमें, और शब्दादि तामस पदार्थ अन्तमें कहे, इसका कारण उनकी बहुलता होनेसे ऐसा समझना. 'आयतन'का अर्थ भगवान्का शरीर यह ब्रह्माण्ड. 'ब्रह्मवित्तम' सम्बोधन इसलिये दिया है कि तुम सर्वज्ञ हो इस विषयको समझ सके होगे, यह संमति मिलानेकेलिये. 'तमस्' प्रत्यय भी भगवान्के उत्कर्षसे तुम्हारी श्रेष्ठता है यह दिखानेकेलिये कहा है. पूर्वोक्त सब पदार्थ भगवच्छक्तिसे आपसमें मिले. और 'च'कारसे यह भी सूचित किया है कि इन्हीं पदार्थोंमेंसे कोई द्रव्य तो कोई उसका गुण भी बन गया. 'भगवच्छक्ति' शब्दसे यहां भगवान्की आज्ञाशक्ति समझना. उस आज्ञाशक्तिने तत्त्वोंको प्रेरणा की तब उन्होंने सदसत्पनेको स्वीकार किया. अर्थात् कोई ऊंचा तो कोई नीचा बना, कोई कार्य हुआ तो कोई कारण हुआ, कोई सद्ब्रह्म रहा तो कोई असत् जगत् हो गया. अथवा कोई प्रकाशित रहा तो कोई छिप गया. इस तरह अनेक प्रकारकी अवस्थाओंको स्वीकार करके, किसी मतमें इसको पञ्चीकरण भी कहा है. 'च' शब्दसे भिन्न जीवोंको, उनके अदृष्टोंको अथवा शुद्ध महाभूतोंको भी साथ लेकर इस समष्टि-व्यष्टि ब्रह्माण्ड किंवा स्थूल शरीर और लिंग शरीर का निर्माण किया.

ब्रह्माण्डकी प्रसिद्धि स्पष्ट करनेलिये 'अदः' शब्दका प्रयोग किया है और यह ठीक भी है. इसकी युक्ति तृतीय स्कंधमें कहेंगे ।।३२-३३।

आभासार्थः इन तत्त्वोंने ब्रह्माण्ड तैयार किया. वह भगवान्का घर हो जावे इसलिये भगवान्ने उसमें प्रवेश किया, कहना चाहिये. पर यह प्रवेश क्यों किया, इसका कारण कहते हैं:

वर्षपूगसहस्रान्ते तद् अण्डम् उदकेशयम् ।
कालकर्मस्वभावस्थोऽजीवोऽजीवम् अजीवयत् ।। ३४ ।।
स एव पुरुषस्तस्माद् अण्डं निर्भिद्य निर्गतः ।
सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षः सहस्रानन-शीर्षवान् ।। ३५ ।।

श्लोकार्थः दिव्य वर्षसमूहोंके भी जब हजारों आवर्तन हो चुके तब उस जलमें सोते हुए ब्रह्माण्डको निर्जीव देखकर अक्षरब्रह्म भगवान्ने काल, कर्म और स्वभाव में स्थित रहकर जीवयुक्त कर दिया. तब वही पुरुष होकर और उस जलमय अण्डको फोड़कर बाहिर निकला. यह पुरुष हजारो जांघ, चरण, बाहु, नेत्र वाला और हजारों मुख-मस्तकवाला हुआ. अर्थात् इसके अवयव हजारों ही थे।३४-३५।।

व्याख्यार्थः वत्सर, संवत्सर, अनुवत्सर, परिवत्सर और इडावत्सर ये पांचों वर्ष जब हजारों हो चुके तो उसके अंतमें अर्थात् कई हजार वर्ष पर्यन्त यह ब्रह्माण्ड जलमें ही स्थित रहा और अजीवित रहा. यहां दो मत देखे गये हैं, हजारों वर्ष यह अण्ड जलमय रहा यह और पूर्वोक्त सब सृष्टि क्रमसृष्टि है. इस ब्रह्माण्डका भोक्ता जीव कोई इसमें घुसा नहीं था. यह तत्त्वगण इसे जीवयुक्त कर सकते हैं या नहीं यह देखनेकेलिये ही भगवान्ने विलम्ब किया था. पर जब भगवान्ने देखा कि अब इससे आगे भी यदि इसे जलमें रखा जायगा तो इसके तत्त्व भी जलमें लीन हो जायेंगे. यों समझकर जिस भगवान्ने जीवका रूप नहीं लिया था उस भगवान्ने इस निर्जीव ब्रह्माण्डको जीवयुक्त कर दिया. अर्थात् अपने एक स्वरूपसे उसमें घुसकर प्राण आदिको भी ब्रह्माण्डमें लगा दिया. तब ये अण्डा(विराट्) भगवान् और प्राणों से युक्त होकर 'पुरुष' शब्दसे कहने लायक हो गया.

तब उस पुरुष ने, अण्डेके जलको, किंवा जल भाव को, किंवा अण्ड कटाहको फोड़कर अपने आपको और उस अण्डेको पृथक्-पृथक् कर दिया. वास्तवमें अण्डावस्थाको छोड़ पुरुष होकर अपनी अवस्थाके अनुकूल व्यवहार

करने लगा. इसका वह पुरुषरूप वर्णन करते हैं: 'सहस्रोर्वङ्घ्रि' इत्यादि. जिसके हजारों ही जांघ, चरण, बाहु, आंख आदि अवयव थे. और हजारों ही मुख थे और उनमें उसीके अनुरूप हजारों मस्तक भी थे "**सहस्रशीर्षा पुरुषः**" इस वेदवाक्यके अर्थभागमें जो स्वरूप कहा है वैसा भगवान् हो गया, सर्व जगत् रूप हो गया।।३४-३५।।

आभासार्थ: यही भगवान् सबका आधार है सो कहते हैं:

यस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः।
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः।।३६।।

श्लोकार्थ: जिसके अवयवोंकी योगी लोग लोकरूपसे कल्पना करते हैं. कटि आदिको लेकर सात लोक नीचे और जघन भागको लेकर सात लोक ऊपरके तरफ।।३६।।

व्याख्यार्थ: इतने पर्यन्त 'यतः सृष्टं' और 'यद्रूपं' इन दोनों प्रश्नोंका उत्तर दिया. जिस भगवान्के चरणादि अवयवोंसे पाताल आदि लोकोंकी कल्पना करते हैं. 'मनीषिणः' कहनेसे मालुम पड़ता है कि योगियोंने ध्यान करनेकेलिये यह कल्पना की है. कटि आदिमें पीछेके भागसे व्यवस्था समझनी और अग्रिम भागका आरम्भ जघन आदिसे है. अधोभाग ऊपरके भागसे विरुद्ध है इसलिये कटि और जघनका भाग एक है यह विरोध नहीं आता।।३६।।

आभासार्थ: इस तरह अपने उद्देशको साधारणरूपसे कह कर भगवान्के बाहु, मुख आदि उत्तम अवयव सामान्य अवयवोंके मध्यमें ही आ चुके हैं तथापि वे मुख्य हैं इसलिये उन्हें गिनाते हैं:

पुरुषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रम् एतस्य बाहवः।
ऊर्वोर्वैश्यो भगवतः पद्भ्यां शूद्रोऽव्यजायत।।३७।।

श्लोकार्थ: ब्राह्मण भगवान्का मुख है, क्षत्रिय इनकी बाहु है और वैश्य भगवान्के ऊरू-दोनों जांघ हैं. तथा शूद्र भगवान्के चरणसे पैदा हुए हैं।।३७।।

व्याख्यार्थ: 'ऊर्वोः' यह जांघकेलिये द्विवचन देकर जो भेद बताया है, और 'पद्भ्यां'में जो भेद कर दिया है इसका तात्पर्य यह है कि मर्यादामार्गमें वैश्य और शूद्र की प्रत्यापत्ति नहीं होती. क्योंकि उनकी मुक्ति होना उस मार्गसे सम्भव नही. 'पद्भ्यां' यह पञ्चमी है. ये ब्राह्मण आदि चारों वर्ण उन कार्यके अधिकारी पुरुष हैं, और मानी हुई जातियोंके अधिष्ठाता देवतारूप हैं।।३७।।

आभासार्थः अब योगियोंने किस प्रकार भगवान्के अवयवोंमें लोक कल्पना कर रखी है सो कहते हैं:

भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः।
हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लोको महात्मनः।।३८।।
ग्रीवायां जनलोकश्च तपोलोकः स्तनद्वयात्।
मूर्धभिः सत्यलोकस्तु ब्रह्मलोकः सनातनः।।३९।।

श्लोकार्थः विराट् भगवान्के चरणोंसे भूलोककी कल्पनाकी है, नाभिसे भुवर्लोककी, हृदयसे स्वर्ग लोककी, छातीसे महर्लोककी, ग्रीवामें जन लोककी कल्पना, नासिकाके दोनों छिद्रोंसे तपोलोककी और विराट् भगवान्के मस्तकोंसे सत्यलोककी कल्पनाकी गई है. यही ब्रह्मलोक है और सनातन है।।३८-३९।।

व्याख्यार्थः 'पद्भ्यां' इत्यादि श्लोकोंसे सप्त लोक वाला पक्ष कहा जाता है. चरणसे कमर तकका भाग भूलोक है. नाभिवाला भाग इस विराट्का भुवर्लोक है. हृदयका अधो भाग स्वर्ग लोक है. और ऊपर छातीका भाग महर्लोक है. यह हृदयके ऊपर ऊंचा-ऊंचा भाग है. मध्यमें यहां 'महात्मनः' शब्द कहनेका तात्पर्य यह है कि यहांके ऊपरके स्थानोंमें ज्ञानियोंका निवास है. बड़े श्रेष्ठ आत्मा जहां रहते हों वह महात्मा कहा जाय. स्तनद्वयका अर्थ नासिकाद्वय है. 'स्तन शब्दे' इस धातुसे स्तन शब्दकी व्युत्पत्ति है. मूर्धासे सत्यलोक माना गया है. 'तु' शब्द इसलिये दिया गया है कि अन्य मतमें जो लोक कहे गये हैं वे यहां नहीं समझने चाहिये।।३८-३९।।

आभासार्थः अब चतुर्दश लोक पक्ष कहना है इसलिये पूर्वोक्त लोकोंको ऊपरके ही मान कर नीचेके सात लोक और भी हैं यह गिनाते हैं:

तत्कट्यां चातलं क्लृप्तम् ऊरुभ्यां वितलं विभोः।
जानुभ्यां सुतलं शुद्धं जङ्घाभ्यां तु तलातलम्।।४०।।
महातलं तु गुल्फाभ्यां प्रपदाभ्यां रसातलम्।
पातालं पादतलत इति लोकमयः पुमान्।।४१।।

श्लोकार्थः भगवान्की कटिमें अतल लोक माना है. जांघोंसे वितलकी कल्पना और भगवान्के घुटनोंसे शुद्ध सुतल माना गया है. और घुटनोंके नीचेके भागसे तलातल माना गया है. टकनोंसे महातल तथा चरणके आगे वाले भागसे रसातल माना है तथा चरणके तल भागसे पाताल समझा गया है. इस तरह यह

भगवान् लोकमय है।।४०-४१।।

व्याख्यार्थ: ऊपरके सब लोक उत्तम थे इसलिये उनकी कल्पनामें भगवान्के अयवयोंको कारण कहा. पर अतलमें मय दानव रहता है और वहां मोहक पदार्थ बहुत हैं इसलिये सप्तमी विभक्तिके द्वारा उनको भगवदवयवोंके आधार मात्र कहा. 'क्लृप्तं' यह पहलेसे ही आधार है, यह कहनेके लिये. यह लोक तामस है इसलिये इसका विशेष ध्यानमें उपयोग नहीं है. वितलमें श्रीमहादेव रहते हैं इसलिये भगवान्का महत्व कहते हैं. विभोः! अर्थात् उस लोक रूपसे भगवान् श्रीमहादेवको भी सुख देते हैं. सुतल भी शुद्ध है क्योंकि वहां भी भगवान् निवास करते हैं. अवयवोंसे माने गये लोक भगवदवयवोंमें ही विद्यमान हैं इसलिये भगवान्को लोकमय कहा. और 'पुमान्' कहनेका तात्पर्य यह है कि यह सब कुछ उपासनाकेलिये नहीं कहा है, पर वह पुरुष ही वास्तवमें वैसा है।।४०-४१।।

आभासार्थ: अब तीन लोक वाला पक्ष कहते हैं:

भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः।
स्वर्लोकः कल्पितो मूर्ध्ना इति वा लोककल्पना।।४२।।

श्लोकार्थ: अथवा लोकोंकी कल्पना इस तरह भी करते हैं कि चरणोंसे भूलोककी कल्पना और भगवान्की नाभिसे भुवर्लोककी और श्रीमस्तकसे स्वर्ग लोककी कल्पनाकी गई है।।४२।।

व्याख्यार्थ: कटि पर्यन्त चरणोंसे भूलोक. नाभिसे ग्रीवा पर्यन्त भूवर्लोक. और ग्रीवासे ब्रह्म छिद्र पर्यन्त स्वर्ग लोककी मान्यता है. कल्पना तीन प्रकारसे की गई है: गुणसे, विद्यासे और यज्ञसे. गुण तीन हैं इसलिये तामसोंका त्रिलोक पक्ष है. यज्ञ सप्तसंस्थ है इसलिये राजसोंका सप्तलोक पक्ष है. और विद्या चौदह हैं इसलिये सात्विकोंका चतुर्दश लोक पक्ष है. अपने अपने अधिकारानुसार यह व्यवस्था है।।४२।।

श्रीभागवत महापुराणके द्वितीय स्कन्धकी महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित
सुबोधिनी विवृतिका पांचवां अध्याय सम्पूर्ण.

अध्याय ६

तृतीय श्रवणाङ्ग साधन: मनन

पुरुषसूक्तमें कहे गये भगवान्‌के विराट् देहका वर्णन

अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमः।
नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं चेति सा त्रिधा।।का.१।।

कारिकार्थ: घट-पट आदि अनित्य पदार्थोंमें जनन ही उत्पत्ति कही जाती है. नित्य किन्तु परिच्छिन्न पदार्थोंमें समागम(आकर मिल जाना) ही उत्पत्ति है. और नित्य तथा अपरिच्छिन्न पदार्थमें प्रकट हो जाना ही उत्पत्ति मानी जाती है।।१।।

उत्पत्तिः स्थानसम्बन्धरूपा षष्ठे निरूप्यते।
स्थूलस्यामूर्त्तरूपस्य तदभेददृशिः फलम्।।का.२।।
''नारायणपरा वेदा'' इत्यनेन निरूपितम्।
सामान्येन तदेवात्र विस्तरेण निरूप्यते।।का.३।।

कारिकार्थ: इस छठे अध्यायमें प्रधानतया स्थान समागम(संयोग)रूपा उत्पत्तिका निरूपण है. स्थूल अमूर्त पदार्थका स्थानके साथ सम्बन्ध हो जाना ही उत्पत्ति है, उसका वर्णन इस छठे अध्यायमें है. स्थूल और मूर्त पदार्थ जड़ माने गये हैं. जिन्हें आधिभौतिक और क्षर भी कहते हैं. यही स्थान भी है.

स्थूल अमूर्त पदार्थ शक्तिरूप हैं. भगवान्‌के अवयव हैं, जो आधेय कहे गये हैं, और ये ही आध्यात्मिक पदार्थ कहा जाता है. तीसरा एक और पदार्थ है, जो सूक्ष्म है; पर मूर्तामूर्त है, विरुद्धधर्माश्रय है. उसे आधिदैविक कहते हैं. वो स्वयं भगवान् हैं. इस छठे अध्यायमें स्थूल अमूर्त भगवदवयव पदार्थके साथ आधेय लौकिक इन्द्रिय तथा उनके देवता वह्नि आदिका सम्बन्ध बताते हैं. इस निरूपणका फल यह है कि आधार और आधेय दोनों पदार्थोंका अभेद सम्बन्ध समझमें आ जाय. पहले अध्यायमें ''नारायण परा वेदाः'' इत्यादि श्लोकोंमें संक्षेपमें यह आधाराधेयका अभेद निरूपण कर चुके हैं. वही अभेद इस अध्यायमें विस्तारसे कह रहे हैं।।२-३।।

पौरुषेण च सूक्तेन निर्धारितम् इहोदितम्।
कार्यस्य वस्त्वभेदोऽपि माहात्म्यं परतस्तथा।।का.४।।

कारिकार्थः ''सहस्र शीर्षा पुरुषः'' इत्यादि पुरुष सूक्त और छांदोग्य आदि उपनिषदोंमें आधाराधेय विश्व–विश्वपति, दोनोंका अभेद निश्चित कर दिया है. उसे ही इस षष्ठाध्यायमें कहा है. और कार्य पदार्थोंका कारण वस्तुके साथ वस्त्वभेद भी कहा है. और कारणरूप भगवान् सर्व श्रेष्ठ हैं इसलिये उनका माहात्म्य भी कह दिया है।।४।।

अमूर्त्तरूपं साधर्म्यं सर्वत्रैव हरेर्बृहत्।
तेन सिद्धो वस्त्वभेदः स्थूलं ध्यानं च सिध्यति।।का.५।।

कारिकार्थः जहां कहीं भी भगवान्के साथ अविच्युत सम्बन्ध रखनेवाले अवयवरूप पदार्थोंका निरूपण किया गया है, वहां (भागवत, गीता, उपनिषदादि में) सब ही जगह उनका अक्षरब्रह्मरूप भगवान्के साथ बहुत सा अमूर्त रूप एकता किंवा साधर्म्य(समानता) प्रतिपादन किया जाता है. उस समानधर्मतारूप ऐक्यसे ही वस्तुका भगवान्के साथ अभेद सिद्ध हो जाता है. इन्द्रियातीत रहते भी जो केवल मनसे ही देखा जाता हो वह अमूर्त पदार्थ है. आध्यात्मिक और आधिदैविक पदार्थ अमूर्त हैं. आधिदैविक पदार्थमें इतनी शक्ति अधिक है कि वह अपने सामर्थ्यसे ही मूर्त हो सकता है. कितने ही पदार्थ आज्ञासिद्ध होते हैं. जहां मनुष्येन्द्रिय और लौकिक मन भी न पहुंचता हो वे पदार्थ वेदवाक्य और अलौकिक पुरुषोंकी आज्ञासे ही मानने पड़ते हैं. जैसे ब्रह्म पदार्थमें इन्द्रिय और लौकिक मन नहीं पहुंचता किन्तु ''**सदेव सोम्य! इदम्**'' ''**अस्तीत्येवोपलब्धव्यः**'' आदि वेदवाक्य और गीता पुराणादि अलौकिक पुरुषोंके कथनसे वैसा ही मानना ही पड़ा है. इसी तरह वह अतीन्द्रिय एवं लौकिक मनसे भी आध्यात्मिक स्थानरूप पदार्थके साथ जो आधिदैविक आधेयका अभेद सम्बन्ध है, अगम्य है. अतएव वह उपनिषदादि और इस अध्यायमें कहे गये अलौकिक पुरुषके कथनसे माननीय हैं.

ब्रह्माजी और श्रीशुक दोनों ही आलौकिक पुरुष हैं. भगवान्की और स्थानरूप पदार्थोंकी समानधर्मता ब्रह्माने उत्पत्तिरूपसे कही है. और श्रीशुकदेवजीने प्रथमाध्यायमें कहे गये स्थूल ध्यानको भगवत्व सिद्ध करनेकेलिये वस्त्वभेदका निरूपण किया है, इससे भगवान्का स्थूल ध्यान सिद्ध होता है।।५।।

आभासार्थः पूर्व अध्यायमें उद्देश(कथन) मात्रसे मूर्त पदार्थोंका

निरूपण किया गया था, पर संदेह रह गया कि ये पदार्थ कहांसे आये? तब पंचमाध्यायमें उन सबकी ब्रह्मसे जन्मरूपा उत्पत्ति कही. जिन कालादि पदार्थोंका कुछ भी निरूपण पूर्वाध्यायमें नहीं आया था उनको पंचमाध्यायमें स्पष्ट ही भगवान् कह दिया. अतएव उनकी उत्पत्ति कहनेकी अपेक्षा न रही. अब इस षष्ठ अध्यायमें अमूर्त पदार्थ जीवोंकी मूर्त पदार्थोंके साथ सम्बन्धरूप उत्पत्ति कही जाती है. पहले देव आदि उत्पन्न हुवे ऐसा कह चुके हैं. पर वे भी स्थानसम्बद्ध ही हुये, ऐसा समझ रखना चाहिये. उनका देह मूर्त और वे स्वयं अमूर्त पदार्थ थे ऐसा समझ लेना चाहिये. अब इस षष्ठाध्यायमें भी उन देवगणोंका कुछ निरूपण आया है, इसलिये यहां उनके अमूर्त अंशका भगवान्के अमूर्त अंशके साथ सम्बन्ध कहा गया है, यह समझना.

देवगणोंमें मूर्त और अमूर्त दोनों अंश हैं और उनका अवयवी विराट् भगवान् है. उसमें भी मूर्तामूर्त दोनों अंश हैं. अब इस षष्ठाध्यायमें विराट्के स्वरूपमें सर्वत्र समा रहे अमूर्त अंशमें देवादिके अमूर्त अंशका अभेद सम्बन्ध किंवा आधाराधेय सम्बन्ध निरूपण किया जाता है. यह अमूर्तत्त्व और आधाराधेय सम्बन्ध रहते भी अभेद ही भगवान्का माहात्म्य है.

यह प्रकरण जीवका है इसलिये इसके साधन और फल का भी उत्पत्तिके द्वारा निरूपण होना ही चाहिये, और भगवान्का माहत्म्य अमूर्त है, उसे भी यहां कहा गया है, इसलिये इस अध्यायमें उत्पत्तिके द्वारा ही सम्बन्ध, साधन, फल और माहात्म्य ये चार पदार्थ कहते हैं. इन चारोंका अमूर्तत्वरूप समानधर्मता समाई हुई है, इसलिये इन चारोंका एक ही अध्यायमें निरूपण किया है. अब सबसे पहले यह कहा जाता है कि विराट् भगवान्की लिंग(सूक्ष्म) शरीर सामग्रीमें जीवोंकी लिंग शरीर सामग्री समाई हुई है:

ब्रह्मोवाच

वाचां वह्नेर्मुखं क्षेत्रं छन्दसां सप्त धातवः।
हव्यकव्यामृतान्नानां जिह्वा सर्वरसस्य च।।१।।

श्लोकार्थ: विराट् भगवान्का मुख, जीव, वाणी और अग्निका स्थान है, और उसकी सप्तधातु त्रिष्टुप् आदि छन्दोंका स्थान है और हव्य कव्य अमृत और सब रसोंका स्थान विराट् भगवान्की जिह्वा है।।१।।

व्याख्यार्थ: मनुष्य आदि सब ही जीवोंकी वाक्इन्द्रियों(वाणी)का और

वागधिष्ठाता अग्निका भी स्थान भगवान्का मुख है. विवर(छिद्र)रूप आध्यात्मिक भगवान्के मुखमें मनुष्यादि जीवोंकी वाग् इन्द्रिय और वह्नि रहता है. दोनों आध्यात्मिक होनेसे उनका अभेद सम्बन्ध है. भगवान्के दो मुख हैं: १.गोलकरूप और २.इन्द्रियरूप. उनमें पहले अध्यायोंमें ब्राह्मणोंको भगवान्का मुख कह चुके हैं. वहां ब्राह्मणोंको गोलकरूप मुख समझना. और अग्नि किंवा जीवोंकी वागिन्द्रियोंको भगवद्वागिन्द्रिय समझना चाहिये. ''**पुरुषस्य मुखं**''(२।५।३७) में और ''**ब्रह्माननं**''(२।१।३७)में गोलकको ब्राह्मण कह आये और यहां अग्नि इन्द्रियोंको भगवन्मुख कहा है. गोलकरूप भगवन्मुख भी तत्त्व हैं और ब्राह्मणत्व भी तत्त्व है. तत्त्वसे तत्त्व पैदा हुआ यह दिखानेकेलिये ही गोलकको ब्राह्मण कहा. इसी तरह पूर्व अध्यायोंमें पातालादि पदार्थोंकी उत्पत्ति भगवान्के पादमूलादि भगवान्के अवयवोंसे हुई तथा उनकी स्थिति भी उन्हीं भगवदवयवोंमें ही है, यह कह चुके हैं. इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् ही पातालादिरूप हो गये. जैसे मृत्तिका ही घट है. यहां उससे विपरीत निरूपण है. वाग् इन्द्रिय अग्नि आदि आध्यात्मिक जगत्को कहकर उसे भगवान् कह रहे हैं और '**पुरुषस्य मुखं ब्रह्म**' वहां भगवान्को कह कर जगत् बता रहे हैं. ये दोनों वाक्य भगवान्को विरुद्धधर्माश्रय कह रहे हैं. आध्यात्मिक जगत्का और आधिदैविक भगवदवयवोंका आधाराधेय भाव भी कहा गया है, इसलिये कहते हैं कि 'छन्दसां' अमूर्तरूप जो गायत्री आदि सात प्रधान छंद हैं वे आध्यात्मिक भगवद्रूप हैं. वे अमूर्त भगवद्रूप आधिदैविक स्थानोंमें रहते हैं. अर्थात् गायत्री जगती उष्णिक् त्रिष्टुप् अनुष्टुप् पंक्ति और बृहती इन आध्यात्मिक अमूर्त पदार्थोंके स्थान भगवान्के आधिदैविक अमूर्त त्वक्, मांस, रुधिर, मेद, मज्जा, अस्थि और स्नायु हैं. ये सब देवतारूप हैं. हमारे पार्थिव धातुरूप हैं, पर भगवान्के ये सब देवतारूप हैं.

इस तरह शब्दार्थरूप मुखसम्बन्धी सब ही पदार्थोंका भगवन्मुखके साथ सम्बन्ध बताकर अब वहां विद्यमान रसना इन्द्रियके सम्बन्धी पदार्थोंका भी भगवान्में ही सम्बन्ध है यह कहते हैं. 'हव्य कव्येति'. देवोंकेलिये दिया जाता अन्न 'हव्य' कहा जाता है. इसी अन्नमें जब भगवदवयवरूप हव्यका मंत्रोंके द्वारा समावेश किया जाता है तब ही वह हव्य, 'हव्य' कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं. इसी तरह पितृओंको दिये जाते अन्नमें जब भगवदवयवरूप कव्यका मंत्रोंसे आवेश कराया जाता है तब वह 'कव्य' कहा जाता है. अतिथि आदिकेलिये दिया जाता

अन्न 'अमृत' कहा जाता है, अथवा ब्रह्मकेलिये बिना मांगे आये हुए अन्नको भी अमृत कहते हैं. और ब्राह्मणभोजन करानेके अनन्तर बाकी रहे अन्नको, 'अन्न' कहते हैं. अथवा प्राणादि द्वारा ज्ञानका साधन होने वाला अन्न, 'अन्न' कहा जाता है. इस सब हव्य, कव्य, अमृत और अन्नों का स्थान भगवान्की जिह्वा है. यहां सर्वत्र आध्यात्मिक-आधिदैविकोंका अभेद सम्बन्ध समझ लेना चाहिये. कटु-अम्ल आदि छः प्रकारके रसोंका स्थान भी भगवान्की जिह्वा है. मूलमें 'च' कहा है उसका स्वारस्य यह है कि हमारी रसनेन्द्रिय और उसके अधिष्ठाता देवताओंका स्थान भी भगवदवयव जिह्वा है. आधिभौतिकादि तीनों पदार्थोंका गत्या-अगत्या अभेद है यह तात्पर्य है. इससे यह ज्ञात होता है कि हव्यकव्यादिको छोड़कर जो अन्य स्थित रस हैं उनका स्थान जिह्वा नहीं है. यह परिसंख्या यहां समझना चाहिये. कितने ही कहते हैं कि 'सर्व' पदका अर्थ यहां संकुचित नहीं करना चाहिये. क्योंकि जब सारे जगत्के साथ ही ब्रह्मका अभेद है तब लौकिक अन्नादिका भी स्थान भगवज्जिह्वा हो सकती है।।१।।

सर्वासूनां च वायोश्च तन्नासे परमायने।
अश्विनोरोषधीनां च घ्राणे मोदप्रमोदयोः।।२।।

श्लोकार्थः विराट्के नासिका छिद्र, जीव मात्रके प्राणोंका और वायुका श्रेष्ठ स्थान है. और भगवान्का घ्राण इन्द्रिय अश्विनीकुमारका औषधियोंका और मोद-प्रमोद (हर्ष-प्रहर्ष)का स्थान है।।२।।

व्याख्यार्थः हम सब जीव मात्रोंके प्राण और प्राणाधिष्ठाता वायुका भी उत्पत्ति और स्थिति का स्थान भगवान्के नासिका छिद्र हैं. भगवान्की अमूर्त और आधिदैविक नासिकामें जगत्के प्राण और दोनों तरहके वायु रहते हैं, अभेद है. 'परम अयन' कहनेसे आधिदैविकता स्पष्ट दिखाई है. उसमें भी अश्विनीकुमार आदि देवगण प्रभृति तथा धान प्रभृति औषधिसमूहोंका रहनेका स्थान भगवान् घ्राणेन्द्रिय है "**तस्माल्लोमशा अन्तरतः प्राणा**" यह श्रुति भगवदवयवोंसे सब पदार्थोंका अभेद है इसमें प्रमाण है. कुश भी औषधियोंके समान हैं. इसलिये इनका भी स्थान भगवान्की घ्राणेन्द्रिय है. घ्राणं एकवचन कहना था पर 'घ्राणे' द्विवचन कहा है. इसका तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिक घ्राणको भी साथ ले लिया है. पूर्वोक्त सब पदार्थोंका स्थिति स्थान भगवान्के द्विविध इन्द्रिय हैं. दूरसे भी जो सुगन्ध सब जगह फैल जाती है वह मोद, और जो गन्ध सब गन्धोंको दबा

देती है वह प्रमोद. इन दोनों तरहकी सुगन्धोंकी भी स्थिति भगवान् आध्यात्मिक आधिदैविक घ्राण इन्द्रिय है।।२।।

रूपाणां तेजसां चक्षुः दिवः सूर्यस्य चाक्षिणी।
कर्णौ दिशां च तीर्थानां श्रोत्रम् आकाशशब्दयोः।।३।।
तद्गात्रं वस्तुसाराणां सौभगस्य च भाजनम्।
त्वगस्य स्पर्शवायोश्च सर्वमेधस्य चैव हि।।४।।

श्लोकार्थः भगवान्के नेत्रगोलक श्वेतादि रूपोंके और तेजके स्थान हैं और भगवान्के चक्षु इन्द्रियां, स्वर्ग सूर्य और तत्सम्बन्धी सब पदार्थोंका स्थान है. भगवान्के कर्णगोलक दिशाओंका और तीर्थोंका स्थान है एवं उनके श्रोत्र इन्द्रिय आकाश और शब्द का स्थिति स्थान है. भगवान् विराट्का श्रीअंग पदार्थसार सुवर्ण आदिका एवं सुन्दरता भाजन है और इनकी त्वक् (गोलक और इन्द्रिय) स्पर्शगुण और वायुका तथा सब तरहकी पवित्रताका स्थान है।।३-४।।

व्याख्यार्थः श्वेत हरित आदि सभी तरहके रंगोंका, नक्षत्र आदि सब ताराओंका स्थिति स्थान भगवान्के नेत्र गोलक हैं. 'स्थिति' शब्दसे ठहरना और उत्पत्ति सर्वत्र समझ लेना चाहिये. और 'भगवान्'का अर्थ भी आध्यात्म-आधिदैव सर्वत्र ही जान लेना चाहिये. और आधेय पदार्थोंमें आधिभौतिक और आध्यात्मिक भी सर्वत्र समझ लेना चाहिये. जैसे कहा है कि रूपोंका स्थान भगवान्के नेत्रगोलक हैं यह कहा है वहां यह समझ लेना चाहिये कि आधिभौतिक आध्यात्मिक रूपोंका ठहरनेका और उत्पत्तिका स्थान आध्यात्मिक आधिदैविक भगवान्के नेत्र गोलक हैं.

स्वर्गका और सूर्यका एवं उनके सम्बन्ध रखनेवाले सब ही पदार्थोंका स्थिति स्थान भगवान्के नेत्र इन्द्रिय हैं. यहां भी द्विवचन कहा है सो दो गोलक होनेसे किंवा इन्द्रियके अंश भेदको लेकर कहा है. हमारे कानके देवगणोंका और हमारे इन्द्रियोंका तथा गङ्गादि तीर्थोंका भी स्थितिस्थान भगवान्के कर्णगोलक हैं. और आकाश तथा शब्दका स्थितिस्थान भगवान्के कर्णेन्द्रिय हैं. कानके गोलकमें जो अवकाश है उसमें शब्दकी उत्पत्ति होती है. खबर भी वहां ही पडती है, इसलिये शब्द और आकाश दोनोंका स्थान भगवदिन्द्रिय कहा है. पदार्थ मात्रके सार सुवर्ण आदि पदार्थोंका किंवा सर्वोत्तम देवतारूप उत्कृष्ट पदार्थोंका, और सुन्दरताका एवं उनसे सम्बन्ध रखने वाले सब ही पदार्थोंका स्थितिस्थान

भगवान्का ही अंग है. 'भाजन' शब्दसे यह दिखाया है कि सर्वदा व्यवहार दशामें भी वही स्थान है. स्पर्श, मृदु, काठिन्य आदिका वायुका और सर्व प्रकारकी पवित्रताका भी स्थितिस्थान भगवान्की त्वचा(गोलक इन्द्रिय) दोनों हैं. सबकी पवित्रता भगवान्की त्वगिन्द्रियमें है. लोकमें जलसे भी शुद्धि होती है सो यहां पसीना समझना चाहिये. इसलिये भगवत्त्वचामें पवित्रता रहती है इस विषयमें सन्देह न होना चाहिये यह कहते हैं 'चैव हि'. 'च'कारसे पवित्रतासे सम्बन्ध रखने वाले सब पदार्थ ले लिये गये हैं. 'एव'कारसे त्वचा ही स्थान है, अन्य नहीं यह निश्चय किया है. और 'हि' शब्दसे इस बातकी प्रामाणिकता कही है।।३-४।।

लोमान्युद्भिज्जजातीनां यैर्वा यज्ञः सुसम्भृतः।
केशश्मश्रुनखान्यस्य शिलालोहाभ्रविद्युताम्।
बाहवो लोकपालानां प्रायशः क्षेमकर्मणाम्।।५।।

श्लोकार्थः विराट् भगवान् रोम, वृक्षादि उद्भिज्जजाति पदार्थोंका स्थान है. जिन कुशादि उद्भिज्ज पदार्थोंसे यज्ञकी सामग्री तैयारकी जाती है और उनसे केशश्मश्रु और नख, शिला, लोह, मेघ और विद्युत का स्थितिस्थान है और विराट्के बाहु (बहुत करके) प्रजारक्षक लोकपालोंका स्थान है।।५।।

व्याख्यार्थः भगवत्त्वचामें जो लोम(रोम) हैं वे वृक्षोंके स्थितिस्थान हैं. ऊपरकी तरफ फूटकर जो बाहर निकलते हैं वे सब अंकुर वृक्ष आदि उद्भिज्ज हैं. उनकी जाति द्यौ, खेरसार आदि अनेक हैं. इन सबका स्थान भगवद्रोम हैं. अथवा भिलावा आदि पापवृक्षोंका स्थान भगवद्रोम नहीं हैं वह दिखानेके लिये विशेषण देते हैं 'यैर्वा' जिन पलाश आदि पवित्र वृक्षोंसे यज्ञोंका सम्पादन होता है अथवा जिन पीपल आदि पुण्य वृक्षोंसे यज्ञकी सामग्री तैयार करनेमें आती है वे ही वृक्ष भगवद्रोमोंमें रहते हैं. यद्यपि जाति कोई पदार्थ नहीं है, तथापि लोकमें ऐसा व्यवहार होता है इसलिये 'जातीनां' ऐसा शब्दप्रयोग कर दिया है. और शिलालोह अभ्र(मेघ) और बिजली का स्थितिस्थान भगवान्के केश, दाढ़ी, मूंछ, नख हैं. लोह और शिलाओंका स्थान नख, मेघोंका केश और बिजलियोंका स्थान भगवान्की दाढ़ी-मूंछ हैं. श्रुतिमें भगवान्को हिरण्यश्मश्रू (चमकती दाढ़ी मूछ वाला) कहा भी है. भगवान्के इन्द्रियरूप बाहु, इन्द्र आदि पालनकर्ताओंके स्थिति स्थान हैं. और भी जो कोई निष्काम धर्म करने वाले हैं, उन सबके भी भगवद्भुजा ही स्थान हैं, क्योंकि भगवान् ही अनेक रूपोंसे जगत्की रक्षा करते हैं.

मूलमें 'प्रायशः' शब्द इसलिये दिया है कि कामना रखकर जो धर्म करते हैं उनका स्थान भगवद्बाहु नहीं है।।५।।

विक्रमो भूर्भुवः स्वश्च क्षेमस्य शरणस्य च।
सर्वकामवरस्यापि हरेश्चरण आस्पदम्।।६।।

श्लोकार्थः भगवान्का विक्रम भूः, भुवः और स्वः है. क्षेम और शरण का भी स्थान वही है, सब काम और वरका स्थान भगवान्का चरण है।।६।।

व्याख्यार्थः भूः(भूलोक), भुवः(लोक) और स्वः(लोक) पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग इस त्रिलोकीका स्थिति–स्थान भगवान्का चरणनिक्षेप है. भूः आदि शब्द अव्यय हैं, इसलिये षष्ठी विभक्तिमें भी इनके यही रूप होते हैं. क्षेम और शरणका भी स्थितिस्थान भगवच्चरण पराक्रम ही स्थान है. प्राप्तकी रक्षाको 'क्षेम' कहते हैं. और आश्रितकी रक्षाको 'शरण' कहते हैं.

मूलमें 'च' कहा है इसलिये भक्ति और प्रपत्ति(आत्मसमर्पण–आत्मनिक्षेपका भी स्थान भगवच्चरण विक्रम है. यद्यपि इन सबका स्थितिस्थान भगवच्चरणारविन्द ही है, किन्तु चरण क्रिया सहित हैं इसलिये 'विक्रम' शब्दसे पृथक् कहा है. सब तरहके सुख, इच्छाएं और देवप्रसादके चिह्नभूत वरोंका भी स्थितिस्थान भगवान्का चरण है. 'अपि' शब्दसे अणिमादि सिद्धियोंका भी स्थान भगवच्चरणारविन्द ही है।।६।।

अपां वीर्यस्य सर्गस्य पर्जन्यस्य प्रजापतेः।
पुंसः शिश्न उपस्थस्तु प्रजात्यानन्दनिर्वृतेः।।७।।

श्लोकार्थः जल, वीर्य, सर्ग, वृष्टि, प्रजापति इन सबका स्थान पुरूषका शिश्न है, प्रजा और आनन्दके सुखका स्थान उसमें रहा हुआ उपस्थ इन्द्रिय है ।।७।।

व्याख्यार्थः जलोंका, वीर्य(धातु)का, सृष्टिका, बरसने वाले मेघोंका, इस संवादके वक्ता ब्रह्माका स्थितिस्थान भगवान्का शिश्न(जननेन्द्रिय गोलक) है. इस समय ब्रह्माजी सृष्टिके आवेशमें हैं इसलिये 'मम' मेरा न कहकर अपने आपको 'प्रजापति' शब्दसे कहा है. 'तु' शब्द पूर्वव्यावृत्तिकेलिये किंवा प्राकृत इन्द्रियकी व्यावृत्तिकेलिये कहा है. और प्रजाति, आनन्द और निर्वृतिका स्थितिस्थान भगवान्का उपस्थ(जननेन्द्रिय) है. पुत्रोत्पत्तिकेलिये ही अपनी विवाहिता स्त्रीमें ही और ऋतुकालमें ही सम्भोग करनेसे जो प्रजात्यानन्द निर्वृति

होती है वही यहां लिये गये हैं. वीर्यके छोड़नेको प्रजाति कहते हैं. स्पर्श सुखको आनन्द कहा है और स्त्री-पुरुष दोनोंको जो कामशान्ति होती है उसे निर्वृति कहते हैं. इन तीनोंका स्थान भगवान्की उपस्थि इन्द्रिय है।।७।।

पायुर्यमस्य मित्रस्य परिमोक्षस्य नारद!।
हिंसाया निर्ऋतेर्मृत्योः निरयस्य गुदः स्मृतः।।८।।

श्लोकार्थः हे नारदजी! यम, मित्र और मलत्यागका स्थान भगवान्की पायु इन्द्रिय है. हिंसा, निर्ऋति, मृत्यु और नरक का स्थान गुदा है।।८।।

व्याख्यार्थः पितृराज यम आदिका स्थान भगवान्की पायु इन्द्रिय है. मित्र नामक देवताका और मलत्यागरूप व्यापारवाले गुदेन्द्रियोंका स्थितिस्थान भगवान्की 'पायु' नामक इन्द्रिय है. यहां नारद! यह सम्बोधन इसलिये दिया है कि जो-जो कलह करानेवाले हैं उनका भी स्थान भगवत्पायू इन्द्रिय है. अथवा, नारद शब्दसे यहां हरीतकी तथा तत्सदृश पदार्थोंको लेना, क्योंकि ये पदार्थ अनुद्भूत कलहोंके यहां भी कलह(गड़बड़ी) पैदा कराके उस कलहके द्वारा ही कलहादि की निवृत्ति करा देते हैं. प्राणिवधरूप हिंसाका, दिशापति निर्ऋतिका, सबको मारने वाले मृत्य और नरक का स्थितिस्थान भगवान्का गोलक रूप गुदा इन्द्रिय है. भगवान्का अंग और अनुचित पदार्थोंका स्थान हो यह ठीक नहीं, यह मनमें कुछ डरते हुये कह रहे हैं, इसलिये 'स्मृतः' कहा है. अर्थात् यह मेरा कहना नहीं है, किन्तु ऋषि लोगोंका स्मरण ही ऐसा है. पायु और गुदा ये इन्द्रिय और गोलकके नाम हैं।।८।।

पराभूतेरधर्मस्य तमसश्चापि पश्चिमः।
नाड्यो नदनदीनां च गोत्राणाम् अस्थिसंहतिः।।९।।

श्लोकार्थः पराजय, अधर्म, अज्ञान अथवा अंधकार इन सबका आश्रय विराट् पुरुषके पीछेका भाग है, भगवान्की नसें नद और नदियों का स्थानरूप हैं. पर्वत भगवान्की अस्थि(हड्डी)रूप हैं।।९।।

व्याख्यार्थः हार जानेका, अधर्मका और अज्ञानका किंवा अन्धकारका भी स्थितिस्थान भगवान्का पृष्ठ भाग है. 'च' कहनेसे अहंता-ममता आदि संसारका भी स्थान भगवान्का पृष्ठ है. बड़े नद और नदियों का स्थान भगवान्की नसें हैं. शोणभद्र आदि नद और यमुना आदि नदी. पर्वतोंका स्थितिस्थान भगवान्के अस्थि समूह हैं।।९।।

अव्यक्तरससिन्धूनां भूतानां निधनस्य च।
उदरं विदितं पुंसो हृदयं मनसः पदम्।।१०।।
धर्मस्य मम तुभ्यं च कुमाराणां भवस्य च।
विज्ञानस्य च तत्त्वस्य परमात्मा परायणम्।।११।।

श्लोकार्थः प्रकृति सार आदि समुद्र पंचमहाभूत और प्रलयमें प्रवेश करनेका स्थान भगवान्का उदर(पेट) है. मनका स्थान भगवान्का हृदय है. धर्मका, मेरा, तेरा, सनकादि कुमारोंका, शिवका और विज्ञानका स्थान परमात्मा स्वयं हैं।।१०-११।।

व्याख्यार्थः त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका, क्षार समुद्र आदि सप्त समुद्रोंका, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन पांच महाभूतोंको हम सब देहियोंका प्रलयमें सबके प्रवेशका, 'च'से प्रलयोंका भी स्थितिस्थान भगवान्का उदर है और हम लोगोंके मनोंका स्थान भगवान्का हृदय है .

ब्रह्माके स्तनसे पैदा हुये धर्मका वर्णन करनेवाले मेरा, तेरा(नारदका) अथवा भक्तिजनक तेरे प्रयोजनका, 'च'से अन्य भक्तोंका भी, सनकादि कुमारोंका, श्रीमहादेवका, 'च'से श्रीशुक आदि ज्ञानियोंका भी, त्रिविधात्मक ज्ञानका, और महत्तत्त्वका, 'च'से सूत्र(प्रथम कार्य)का भी, स्थितिस्थान भगवान्का अन्तःकरण है।।११।।

आभासार्थः जिनका पूरा वर्णन आ चुका है उन सबकी उत्पत्ति कहकर जिसलिये यह कहा गया है वह अब अगले साढे तीन श्लोकोंमें कहते हैं:

अहं भवान् भवश्चैव य इमे मुनयोऽग्रजाः।
सुरासुरनगा नागाः खगा मृगसरीसृपाः।।१२।।
गन्धर्वाप्सरसो यक्षा रक्षोभूतगणोरगाः।
पशवः पितरः सिद्धा विद्याध्राश्चारणा द्रुमाः।।१३।।

आभासार्थः अब तामस प्रकृति वालोंका वर्णन करते हैं:

अन्ये च विविधा जीवा जल-स्थलनभौकसः।
ग्रहर्क्षकेतवस्तारा तडितः स्तनयित्नवः।।१४।।

श्लोकार्थः मैं, तुम, शिवजी और दूसरे यह तुम्हारे बड़े भाई सनकादिक तथा मरिच्यादि, सुर, असुर, नाग, नग, पक्षी, मृग, सर्प, गन्धर्व, अप्सराएं, वृक्ष, राक्षस, भूतगण, उरग, पशु, पितृ, सिद्ध, विद्याधर, चारण द्रुम और दूसरे नाना

प्रकारके जीव, जलचर, स्थलचर और आकाशमें घूमने वाले ग्रह, धूम्रकेतु, तारे, नक्षत्र, बिजलियां, मेघकी गर्जना (ये सब पुरुषरूप हैं ऐसा इस सम्बन्धमें आगेके श्लोकमें अन्वय है)।।१२-१४।।

व्याख्यार्थ: ब्रह्मादि सब भगवत्स्वरूप हैं. समुदाय भगवान् हैं. प्रत्येक भिन्न है, ऐसे कई कहते हैं. अब पीछे फलनिरूपण करनेकेलिए अधिकारी और साधनका निरूपण करते हुए पुरूष सूक्तमें जो कहा गया है उसी प्रकार यहां निरूपण करते हैं. 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इस पुरुष सूक्तके वाक्यमें गुणत्रय कार्य तीन श्लोकसे बताते हैं जिसमें, मैं, अर्थात् ब्रह्मा, भवान्(तुम) नारदजी, महादेवजी, 'चकार' है इसलिये उनके सम्बन्धी गण, 'एवं' कहा है इससे उसमें सन्देह करने जैसा विषय नहीं है ऐसा बतानेमें आया है, क्योंकि विशेष रूपसे भी वे सब भगवद्रूप हैं. वे जो मरिच्यादि मुनि, दूसरे भी मुनि तुमसे बड़े भाई सनकादिक हैं ये सब शुद्धसत्त्वरूपके कार्यरूप हैं. सुर मिश्र सत्त्वके कार्य हैं, असुर रजोगुण मिश्रके कार्य हैं, पर्वत इत्यादि तमोगुणके कार्य हैं, नाग अर्थात् हाथी खग(पक्षी) मृग(हरिण) इत्यादि सरीसृप सर्प ये सब शुद्ध तामस हैं. गन्धर्व और अप्सराएं रजोमिश्र कार्य हैं. यक्ष, रक्ष आदि तमोमिश्र कार्य हैं. उरग=जातिसर्प, पशु सत्त्वादिमिश्र होते हैं. पशुओंमें गाय इत्यादि गिने गये हैं. सिद्ध, विद्याधर और चारण अन्तरिक्षमें रहनेवाले सत्त्वप्रधान होते हैं. द्रुम केवल तामस हैं. दूसरे 'विविध'में मत्स्यादि जलमें रहने वाले, स्थलमें रहने वाले, ग्रह=बुध इत्यादि, वृक्ष=अश्विन्यादि नक्षत्र, धूमकेतु, तारे, उन बिनाके नक्षत्र, बिजली और मेघकी गर्जना यह सब पुरुषरूप है ऐसा आगेके श्लोकमें अन्वय है।।१२-१४।।

आभासार्थ: सबका उद्देश कहकर उनमें पुरुषत्वका विधान करते हैं:

सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत्।
तेनेदम् आवृतं विश्वं वितस्तिम् अधितिष्ठति।।१५।।

श्लोकार्थ: इस विराट् भगवान्ने इस सारे विश्वको एक बिलांदसे भर रखा है. अर्थात् भगवान्के वितस्ति देशमें-अंशमें यह सारा विश्व समा गया है. और यह भगवान् तो अनन्त अधिक है।।१५।।

व्याख्यार्थ: इस तरह पहले श्लोकोंमें परिच्छिन्न पदार्थोंकी उत्पत्ति कह चुके. अब सबका भगवान्के साथ अभेद कहते हैं. क्योंकि यह सब निरूपण ही अभेद कहनेके लिये ही था. वास्तवमें ब्रह्माजीसे लेकर सारी सृष्टि ही भगवान्का

स्वरूप है. किन्तु कितने ही कहते हैं कि समुदायरूपसे सब भगवान् हैं पर पृथक पृथक् तो वे ही है, किन्तु यह उनका कहना सत्य नहीं है क्योंकि ''**अहमेव आसमेव अग्रे**'' चतुश्लोकीमें सारे जगत्को ही भगवान् अपना स्वरूप कहेंगे.

अब इससे आगे त्रिविध सुखका फलतया निरूपण करना है. इसलिये अधिकारी और साधनों का निरूपण भी आवश्यक है. उस सुखका निरूपण ''**सहस्रशीर्षा**'' आदि यजुर्वेदीय पुरुष सूक्तमें आया है. इसलिये वहांके प्रकारके अनुसार ही निरूपण करते हैं. ''**पुरुष एव इदं सर्वं**'' इस वाक्यका जो तात्पर्य है सो ही यहां भी चार श्लोकोंमें कहा गया है.

बारहवें, तेरहवें और चौदहवें इन तीन श्लोकोंमें यह तीन गुणोंका कार्य कह दिया है. पहले सत्त्व कार्यसे आरम्भ करते हैं. उनमें मैं(ब्रह्मा), आप नारद, श्रीमहादेव हैं. 'च'से इन तीनोंसे सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ भी. 'एव' इसलिये कहा है कि इन तीनोंके शुद्धसत्त्वका कार्य होनेमें कुछ भी सन्देह नहीं है, और इनके विशेष रूपके तरफ ध्यान दिया जाय तो भी ये तीनों भगवान् ही हैं. मूलमें 'ये इमे' कहकर यह दिखलाते हैं कि अब आगे कुछ प्रकारान्तर हैं. मरीचि आदि प्रजापति, और भी जो मुनिगण और तुम्हारे बड़े भाई ये सनकादिक चार, ये सब भी शुद्धसत्त्वके कार्य हैं, अर्थात् शुद्धसत्त्वसे बने हैं.

अब आगे मिश्रसत्त्वके कार्य देवतागण, मिश्ररजोगुणके कार्य असुरगण, पर्वत, हाथी, काक आदि पक्षी, हिरण आदि पशु, और सांप बिच्छू आदि रेंगनेवाले ये सब शुद्ध तमोगुणके कार्य हैं. गन्धर्व अप्सरा आदि मिश्र रजोगुणके कार्य हैं. यक्ष, राक्षस आदि मिश्र तमोगुणके कार्य हैं. जाति सर्प भी तामस हैं. गौ आदि पशु मिश्रसत्त्वके कार्य हैं. सिद्ध विद्याधर और चारण ये अन्तरिक्षलोकस्थ क्रमशः सत्त्वप्रधान, रजःप्रधान और तमप्रधान हैं. वृक्ष सब केवल तामस हैं. तामस जीवोंकी और भी गिनती करते हैं कि 'अन्ये च' जलमें रहनेवाले अनेक तरहके मत्स्य आदि, कछुआ प्रभृति स्थलवासी और आकाशमें फिरने वाले बुध, गुरू, मंगल आदि ग्रह, अश्विनी भरणी आदि नक्षत्र, बाकी रहे सब तारागण बिजली और मेघ गर्जना प्रभृति, जिनकी गिनती करा दी वे और न गिनाये हों वे सब भगवान् ही हैं. यह सब दीखता हुआ जड़ जगत् भी पुरुष(भगवान् ही) है. यहां यह आशंका होती है कि जो पदार्थ भूत भविष्य वर्तमान कालके वशमें है वो भगवान् कैसे हो सकता है? इसका समाधान करते हैं कि भूत भविष्य और

वर्तमान सब काल भी भगवान् ही हैं और इन कालोंमें जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं वे सभी पुरुषरूप हैं. यह बात श्रुतिमें भी प्रसिद्ध है, इसलिये इस विषयमें लौकिक युक्ति देनेकी अपेक्षा नहीं रहती. इन साढ़े तीन श्लोकोंमें 'पुरुष एवेदं सर्वं' इत्यादि आधी ऋचाका अर्थ कह दिया है.

जब सारा जगत् भगवान् ही हो गया तो नापतौलकी भी सम्भावनाकी जा सकती है. ऐसी दशामें भगवान् व्यापक हैं 'भगवान् नपा तुला नहीं है' यह जो प्रसिद्ध है उसकी क्षति हुई! इस अंशके उत्तरमें कहते हैं कि ''तेन इदम् आवृतं विश्वं वितस्तिम् अधितिष्ठति'' विश्वसे भरा हुआ या ढका हुया भगवान् नहीं है किन्तु विश्व ही भगवान्से भरा हुआ है. भगवान्ने ही विश्वको चारों तरफसे ढक रखा है. जातिसे व्यक्ति जिस तरह भरी रहती है उस तरह भगवान्से जगत् नहीं भरा है किन्तु और भी विशेष है सो कहते हैं कि 'वितस्ति'. गौ प्रभृति व्यक्तिमें गोत्व आदि जाति उतनी मात्राको भरकर बैठी रहती है, परन्तु भगवान् तो सारे जगत्को भर देते हैं और उससे द्वादशांगुल अधिक भी चारों तरफ रहता है.

(यहां सुबोधिनीमें जाति-व्यक्तिका जो दृष्टांत दिया है वह परमत है. नैयायिकादिके यहां जाति पदार्थ माना है उस प्रसिद्धिको लेकर कह दिया है. वास्तवमें 'जाति व्यक्ति विभागोयं यथा वस्तूनि कल्पितः' तो भागवत् सिद्धान्तमें जाति कोई पदार्थ ही नहीं है.)

''**अत्यतिष्ठद् दशांगुलम्**'' इस पुरुषसूक्तमें दश अंगुल अधिक ब्रह्मव्याप्ति कही है और यहां वितस्ति(१२ अंगुल) कहा है? पतली उंगलियोंसे दशकी द्वादशांगुल भी वितस्ति हो सकती है, अथवा दशांगुल भी वितस्ति माननी उचित है, श्रौत होनेसे. दोनोंमें प्रकारविशेष मानकर समाधान हो सकता है. स्थितिके किसी प्रकारमें द्वादशांगुल और किसी प्रकार विशेषमें दशांगुल. अंगूठा और देशनी(पहली) अंगुलीको छोड़कर उनका मध्य दशांगुल होता है और अंगुष्ठ और कनिष्ठिका अंतिम अंगुलीको छोड़नेसे द्वादशांगुल भी होता है. दोनों ही नाप युक्त हैं.

भगवान् सारे जगत्को अपनेमें भरकर वितस्ति भर और भी बाकी रह जाता है. ऐसा कहनेसे यह भी स्पष्ट होता है कि जो लोग भगवान्के कर्ता होनेमें सन्देह करते हैं वो इन वाक्योंसे नहीं रहता. अधिक बाकी रहनेसे जगत् भी वही और जगत्का कर्ता भी वही हो सकता है. उत्पाद्य और उत्पादक दोनों ब्रह्म है.

इसमें किसी तरहका सन्देह नहीं रहता. विश्वात्मक भगवान् और अधिक भी भगवान् इन दो रूपोंके कहनेसे दोनोंका ध्यान हो सकेगा और उससे भगवान्का सम्पूर्ण रीतिसे ज्ञान भी होगा. अन्यथा भगवान्का एक रूप, ज्ञान और ध्यानमें नहीं आनेसे, ध्यान और ज्ञान की अपूर्णता रह जायगी. विश्वात्मक और अतिरिक्त यह विरुद्धधर्माश्रयता होनेसे विश्वात्मक भगवान् स्थूल हैं और वितस्तिरूप भगवान् सूक्ष्म एवं अतिरिक्त हैं यह स्पष्ट हो गया. अलौकिक शब्दादि प्रमाणसे भी यह समान ही है. विश्वपुरुष सप्तवितस्ति और अतिरिक्त पुरुष वितस्ति, इस तरह सम्पूर्ण पुरुष अष्टवितस्ति है. यह सब नाप समझनेकेलिये है और विरुद्धधर्माश्रय होनेसे सब कुछ सम्भव हैं. सप्तवितस्ति, चारों तरफ अधिक एक वितस्ति और अष्टवितस्ति किंवा इससे भी अधिक हो सकता है.

अब वेदप्रमाणसे ही यह सिद्ध हो गया कि जितना भगवान् है उतना ही सारा जगत् है. अधिक जो भगवान् है वह जगत्से अधिक है. इसलिये ब्रह्मका वास्तव परिच्छेद किसी तरह भी सम्भव नहीं है. भगवान् वितस्तिमात्र ही अधिक नहीं हैं किन्तु उससे भी अधिक होकर स्थित है, इसलिये नापतौलकी किसी तरफ भी खबर नहीं पड़ सकती।।१५।।

आभासार्थ: सारे संसारमें स्थित भगवान् इससे भी अधिक व्याप्त है इसे दृष्टान्तसे बताते हैं:

स्वधिष्ण्यं प्रतपन् प्राणो बहिश्च प्रतपत्यसौ।
एवं विराजं प्रतपन् तपत्यन्तर्बहिः पुमान्।।१६।।

श्लोकार्थ: जैसे सूर्य अपने मंडलको प्रकाश देते हुए बाहर भी प्रकाश फेंकते हैं, इसी प्रकार यह पुरुष भी विराजकर अन्दर और बाहर भी प्रकाश करते हैं ।।१६।।

व्याख्यार्थ: भगवान् सारे जगत्में रहकर भी उससे कहीं अधिक तक भरा रहता है. इसमें दृष्टांत देते हैं 'स्वधिष्ण्यं' इत्यादि. जैसे सबका प्राणरूप सूर्य अपने पार्थिव मण्डलको ताप और प्रकाश पहुंचाता हुआ उससे कहीं अधिक भी ताप और प्रकाश पहुंचाता है, बाहरसे सारे ब्रह्माण्डको ही तपाता है. अथवा यह आसन्य(मुखस्थ) प्राण अपने शरीरको भीतरसे ताप-प्रकाश जीवन पहुंचाता हुआ बाहर भी फूत्कार-निःश्वास आदि द्वारा ताप करता है. काष्ठादिको अग्नियुक्त कर देता है. इसी तरह यह पुरुष भी विराट् शरीरको ताप-प्रकाश

पहुंचाता, अर्थात् सजीव बनाता इसके बाहर भी ताप-प्रकाश पहुंचाता है. पूर्वोक्त प्राणादिक मध्यप्रकाशक स्वभाववाले न होनेसे और सूर्यके मार्त-अण्डेमें छिद्रादि न होनेसे मण्डलके मध्यका प्रकाशयुक्त होना असम्भव है. किन्तु यह पुरुष(भगवान्) तो सर्व प्रकाशक स्वभाव होनेसे ब्रह्मांडके मध्यको भी प्रकाश युक्त करता है. यही बात 'तपत्यन्तर्बहिः पुमान्' इस चतुर्थ चरणमें कही है, अर्थात् यह भगवान् सारे ब्रह्माण्डको बाहर-भीतरसे प्रकाशयुक्त करता है.

पुरुष स्त्रीको सब तरहसे सचेत करता है. नृसिंह पुराणमें कहा है कि "**स एव वासुदेवोऽयं साक्षात् पुरुष उच्यते, स्त्री प्रायमितरत् सर्वं जगद् ब्रह्म पुरःसरम्**" अर्थात् "वेद शास्त्रोक्त यह वासुदेव भगवान् ही एकाकी पुरुष हैं और ब्रह्मासे लेकर जड़ पर्यन्त सारा जगत् तो स्त्री जैसा ही है परतंत्र है". अतएव यह विराट् जड़ासायी-प्राकृत होनेसे स्त्री है इसे यह पुरुष ही सचेतन करता है।।१६।।

आभासार्थः इस तरह पुरुषकी व्यापकता और स्वप्रकाशता बताकर उसे परब्रह्म सिद्ध किया, अब यह पुरुष ही लौकिक और अलौकिक फल देने वाला है यह सिद्ध करनेकेलिये इसको दोनों फलोंका स्वामी कहते हैं:

सोऽमृतस्याभयस्येशो मर्त्यम् अन्नं यद् अत्यगात्।
महिमैष ततो ब्रह्मन् पुरुषस्य दुरत्ययः।।१७।।

श्लोकार्थः यह विराट् पुरुष(अन्तर्यामीरूप) नित्यसुख और दुःखाभाव का स्वामी है. कारणकि यह मर्त्यअन्न-प्राकृतपदार्थोंसे अस्पृष्ट है. हे नारद! इसीलिये यह इस भगवान्की महिमा है जो किसीके भी समझमें नहीं आती।।१७।।

व्याख्यार्थः यह पूर्वोक्त पुरुष(परब्रह्म) ही अमृत-नित्यसुख और अभय-मोक्षसुखका भी ईश है, स्वामी है. अमृत-अभय दोनों फल देनेमें समर्थ हैं. दोनों फल देनेका सामर्थ्य इसमें कैसे है? इसका कारण बताते हैं कि यह भगवान् मर्त्य अन्नको छोड़कर स्थित है. इसलिये. मरणात्मक विराट् शरीर मर्त्य है. प्राणियोंको जो खा जाय अथवा जो भोगा जाय वह 'अन्न' कहा जाता है. कर्मफल भोगा जाता है और मृत्यु सबका भक्षण कर जाता है; इसलिये मृत्यु-अन्न कहे जाते हैं. अथवा ये दोनों ही प्राणियोंको खा जाते हैं. और दोनोंको भगवान् खा जाते हैं. इसलिये 'अत्ति' और 'अद्यते' दोनों व्युत्पत्ति दोनोंमें समान हैं इसलिये दोनों ही अन्न हैं. समष्टिरूप विराट् शरीर मरणधर्मा है, क्षयशील है. यह बात व्यष्टिमें, हमारे शरीरोंमें भी स्पष्ट है.

हमारे शरीर प्रतिपल क्षयशील हैं, इसलिये 'मर्त्य' कहे जाते हैं. इसी तरह विराट् शरीर भी क्षयशील होनेसे मर्त्य है. किन्तु यह पुरुष(भगवान्) मर्त्य और अन्न दोनोंको छोड़कर स्थित है, इसलिये नित्यसुख और मोक्षका स्वामी है. हम सब जीव इस मर्त्य देहका अतिक्रमण नहीं कर रहे हैं. इसमें आसक्त हैं इसीको अपना स्वरूप समझ रहे हैं. कर्मफल भी इस देहको भोगने पड़ते हैं. और मृत्यु भी इसे खाता है. इसलिये मर्त्यके साथ नित्य सम्बद्ध होनेसे यह जीव न तो नित्य सुखका स्वामी है और न मोक्षका ही स्वामी है. वह भगवान् पुरुष विराट् शरीरमें स्थित रहते भी, उस शरीरका स्पर्श भी नहीं करता है. उसे सबका और अपने स्वरूपका यथार्थ ज्ञान है. उसके धर्म इसमें कभी नहीं आते, अतएव यह पुरुष (परब्रह्म) मर्त्य और अन्न दोनोंका अतिक्रम करके स्थित है. शरीरका अध्यास (झूठी समझ) उसे नहीं है. अतएव नित्य सुखस्वरूप है और दुःखोंसे सर्वथा रहित है. कर्मफल और मृत्यु दोनों दुःख देनेवाले हैं और नित्य सुखका व्याघात करते हैं. किन्तु देहमें अनासक्ति और स्वरूपसाक्षात्कार रहनेसे कर्मफल और मृत्यु दोनों उस परम पुरुषका स्पर्श भी नहीं कर सकते. और आनन्दमय एवं निर्दुःख होनेसे ही वह सबको नित्यसुख और मोक्ष दान कर सकता है. क्योंकि उनका स्वामी है.

मूलके आधे श्लोकमें "**उत अमृतत्वस्य ईशानः**" इस पुरुषसूक्तकी आधी ऋचाका अर्थ कह दिया है. पुरुषसूक्तमें "**यद् अन्नेन अतिरोहति**" इस श्रुतिसे यह भी कहा है कि यह पुरुष अन्नके कारण तिरोभावको नहीं प्राप्त होता. अर्थात् जैसे सांसारिक जीव, अन्न(कर्मफल मृत्यु)के कारण, नष्ट हो जाते हैं इस तरह यह पुरुष भगवान् नष्ट नहीं होता. कर्म और मृत्यु दोनोंका स्पर्श न होनेसे इस पुरुषका तिरोधान नहीं होता.

यहां एक यह प्रश्न होता है कि जो पदार्थ सब कुछ होकर फैल गया है वह सबसे अधिक या पृथक् नहीं रह सकता. यह प्रत्यक्ष है और जो सब कुछ नहीं हुआ है किंवा सबसे अधिक या पृथक् है वही सब नहीं कहा जा सकता. यह भी प्रत्यक्ष है; मृद्-घटादिमें. पर आप कहते हो कि भगवान् ही सब कुछ है और भगवान् ही सबसे अलग भी है यह बात कैसे बन सकती है? दोनों धर्म परस्पर विरुद्ध हैं! जो सब है वह सबसे अधिक या अलग नहीं रह सकता और जो अलग या अधिक है वह सब नहीं हो सकता. अतएव अतिक्रम करके स्थित भी नहीं रह सकता. दूसरी बात यह भी है कि जहां पुरुष अधिक हैं उस ऊर्ध्व भूमिकामें प्रपञ्च

नहीं है, यदि वहां भी प्रपञ्च होता है पुरुष निजानन्दका स्वामी न रहता. क्योंकि प्रपञ्च ही तो नित्य सुखका व्याघातक है. अब दोनोंका अभेद कैसे? इसलिये दोनोंके अभेदका किंवा सर्वभवनका अविरोधसे समर्थन नहीं हुआ यही आपके ऐक्यकथनमें अनुपपत्ति रह गई. परस्पर विरुद्ध धर्मोंका आश्रय होनेसे भी अभेद नहीं हो सकता.

उत्तर: इस आशंकाको दूर करनेके लिये कहते हैं 'महिमैष ततो ब्रह्मन्' अर्थात् यही तो भगवान्का माहात्म्य है. परस्पर विरुद्ध धर्मोंका आश्रय भगवान् स्वयं हैं पर वे धर्म भगवान्के स्वरूपकी कुछ भी हानि नहीं कर सकते यही भगवान्की महिमा है. लोकमें देखा जाता है कि जल और अग्नि दोनों प्रपञ्च हैं पर दोनोंके परस्पर विरूद्ध धर्मोंने हठात् उन दोनोंको पृथक्-पृथक् वस्तु बना दिये हैं. एक अग्नि है तो दूसरा जल. किन्तु यह बात ब्रह्म वस्तुमें न हो सकी. अधिक भगवान् और सप्रपञ्च भगवान् दोनों पुरुष ही हैं. दोनोंमें परस्पर विरुद्ध धर्म भी हैं, पर वे आश्रय अपने पैदा होनेके स्थान पुरुषका वस्तुभेद नहीं करा सके. विरुद्ध धर्मोंने दो भगवान् न बनाये, दोनों पुरुष ही रहा. प्रत्युत उन विरुद्ध धर्मोंने भगवान्का माहात्म्य ही बढ़ाया. परस्पर विरुद्ध धर्म, एक-एक पुरुषमें ही पैदा हुए हैं. परस्पर विरुद्ध रहकर भी आश्रय भेद न कर सके. धर्मोंका परस्पर विरोध, लोकमें अपना कार्य (आश्रय भेद) कर रहा है किन्तु ब्रह्ममें जाकर वे अपना कार्य करनेमें असमर्थ हैं. यही भगवान्का माहात्म्य है. प्रपञ्च परिछिन्न पुरुष और प्रपञ्च रहित अधिक पुरुष दोनोंमें धर्म तो है ही. उसमें प्रपञ्च परिछिन्न पुरुषके धर्म, प्रपञ्चके माने हुए पदार्थोंका भेद कर सके पर सबमें रहे हुए पुरुषका भेद न कर सकें यह उस पुरुषका महत्व ही है. धर्म सर्वत्र अपना सामर्थ्य दिखा सके परन्तु पुरुष पर अपना सिक्का न जमा सके तो इससे स्पष्ट होता है कि, पुरुषमें कोई ऐसा महत्व है. स्वाश्रय पुरुषमें जो महिमा है उससे हार खाकर वे परस्पर विरुद्ध धर्म उसका कुछ भी बिगाड नहीं कर सकते, अपना कार्य(आश्रय भेद) करनेमें असमर्थ रहे. कुल्हड़ और सकोरा दोनों मृत्तिका हैं, उनके आकार प्रकारादि परस्पर विरुद्ध हैं, अतएव उन वैसे धर्मोंने उनका वस्तुभेद कर दिया. कुल्हड़ सकोरा नहीं, सकोरा कुल्हड़ नहीं. दोनों पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं. किन्तु वास्तवमें देखा जाय तो वे परस्पर विरुद्ध धर्म भी स्वाश्रय मृत्तिकाका भेद नहीं कर सके. दोनों मृत्तिका ही रही. वे सब ही परस्पर विरुद्ध धर्म, मृत्तिकामें ही पैदा हुए हैं, अतएव मृत्तिकाका

भेद नहीं सकते और अपना कार्य नहीं कर सकते अतएव कोई अनिर्वचनीय महत्व मृत्तिकामें है यह मानना पड़ेगा ही. यही बात पुरुषमें है. ''**एतावान् अस्य महिमा**'' (पु.सू.) 'महिमैष ततो ब्रह्मन् पुरुषस्य'.

इतना ही नहीं इससे विशेष भी भगवान्का माहात्म्य है. प्रपञ्च विलक्षण किंवा 'वितस्तिम् अधितिष्ठति' ('अत्यतिष्ठद् दशांगुलं')के अनुसार अधिक पुरुषमें भी वे ही धर्म हैं किन्तु अपना काम नहीं कर सकते यह उसका माहात्म्य है. प्रपञ्च पुरुषमें भी धर्म कहासे आये? तो कहना पड़ेगा कि पहलेसे ही विद्यमान थे पर पीछे प्रकाशित हुए. मृत्तिकामें घटादिके आकार-प्रकार पहलेसे ही छुपे हुए विद्यमान थे ही पर पीछे प्रकाशित हुए. ''**सदेव सौम्य इदम् अग्र आसीत्**'' ब्रह्मके सब ही धर्म; सर्वदा उसमें रहते हैं ही. क्योंकि 'अनुच्छित्तिधर्मा' ब्रह्म नित्य धर्मवाला है, पर कभी-कभी प्रकाशित करता है, कहीं नहीं भी करता है. तदनुसार अधिक ब्रह्ममें भी वे ही सब धर्म छुपे विद्यमान रहते हैं, पर वह अपने आनन्दका स्वामी है, अपने धर्मोंका मालिक है, आश्रय है, इसलिये प्रकाशित नहीं होने देता. अपने आश्रयका वे धर्म कुछ भी बिगाड़ या सुधार नहीं कर सकते. यही उस पुरुषका माहात्म्य है. परस्पर विरुद्ध धर्म उसमें ही रहते हैं पर अपना कार्य करनेमें असमर्थ रहते हैं. क्या पुरुषका माहात्म्य थोड़ा है? इसलिये पुरुष में, परस्पर विरुद्ध धर्मोंका आश्रय होना ही माहात्म्य है.

प्रपञ्च पुरुषरूप है, इसलिये हम इस बातको इस लोकमें भी पा सकते हैं, पहचान सकते हैं. हम सबमें काम, क्रोध, शान्ति, दया आदि परस्पर विरुद्ध अनेक धर्म सर्वदा रहते हैं. पर हम उनका प्रकाश किसी समय ही होने देते हैं यह हममें सामर्थ्य है. यही लौकिक पुरुषका भी माहात्म्य है ही. जीवन्मुक्त पुरुषोंमें और भी अधिक पुरुष माहात्म्य देखनेमें आता है. वहां भी काम क्रोधादि मनोधर्म रहते हैं किन्तु वे जीवन्मुक्तोंकी महिमासे ही इतने मृतप्राय अर्थात् नहीं जैसे रहते हैं, कि अपना कुछ भी कार्य नहीं कर सकते. प्रत्युत देखने वालोंको यह मालूम देता है कि इन महात्माओंमें तो ये धर्म है ही नहीं. ये माहात्म्य उन महापुरुषोंका ही है कि परस्पर विरुद्ध धर्म भी अपना काम नहीं कर सकते. इसी तरह प्रपञ्च-परिछिन्न पुरुष और प्रपञ्च अधिक पुरुष दोनोंमें परस्पर विरुद्ध धर्म हैं तथापि वे स्वाश्रय भेद नहीं कर सकते, और यह सामर्थ्य, यह माहात्म्य उस पुरुषका ही है. परस्पर विरुद्ध धर्माश्रयत्व ही भगवान्का माहात्म्य है.

पुरुषमें नित्य सिद्ध परस्पर विरुद्ध धर्म अपना कार्य कहीं भी न कर सके, यह सिद्ध हो चुका इसलिये वे भगवन्माहात्म्यको रोक नहीं सकते. माहात्म्यका प्रतिबन्ध नहीं कर सकते. क्योंकि भगवान्के धर्म असम हैं और सर्व श्रेष्ठ हैं. वास्तवमें तो देखने मात्रमें विरुद्ध दीखते हैं उन धर्मोंका अविरोध करनेकी भी अपेक्षा नहीं हैं. क्योंकि यह करने मात्रका विरोध है वास्तविक नहीं है. यदि वास्तविक होता तो उनकी (धर्मों की) एकत्र स्थिति ही न रह सकती थी. विरुद्ध धर्माश्रय होना ही भगवान्का माहात्म्य है. क्योंकि भगवान्का स्वरूप और उनके धर्म दोनों ही अलौकिक हैं, लोकोंके ज्ञानके बाहर है अतएव यह महिमा 'दुरत्यय' कही जाती है. कोई भी लौकिक पुरुष इस भगवान्माहात्म्यका बुद्धिसे या क्रियासे अतिक्रमण नहीं कर सकता. अतिक्रम (पार पा जाना) तीन तरहसे हो सकता है. अविरोध सिद्ध करके, एक तरहके धर्मोंका निराकरण करके या उन धर्मोंकी देशकालादिके द्वारा व्याख्या करके. ये तीनों बात कोई भी नहीं कर सकता.

भगवान् सब कुछ है, यह बात, सद्रूपसे सबकी समझमें आ रही है. ''घटः अस्ति, पटः अस्ति'' इत्यादि रूपसे सब पदार्थोंमें सद्रूप भगवान्का सबको ही अनुभव आ रहा है. इसलिये कहना पड़ेगा कि प्रपञ्चात्मक, प्रपञ्चपरिच्छिन्न भगवान्का सबको अनुभव हो रहा है. और प्रपञ्चसे पृथक् अधिक पुरुषका भी ध्यानादि साधनों द्वारा फलरूप भगवान्का भी अनुभव होता ही है. ध्यानादिके द्वारा जिसका साक्षात्कार होता है, वह फलरूप भगवान् प्रपञ्चातिरिक्त अधिक पुरुष है. इस तरह परस्पर विरुद्ध धर्म वाले पुरुषका सबको ही जब अनुभव हो रहा है तो उसका अविरोध कैसे हो सकता है. वास्तविक होनेसे एक तरहके धर्मका निराकरण भी कैसे हो सकता है. देशकालादिके द्वारा व्यवस्था भी कैसे हो सकती है. क्योंकि जिस समय सर्वसत्त्वका भान हो रहा है उसी समय फलरूपका भी साक्षात्कार होता है. इसलिये परस्पर विरुद्ध धर्मवाला भी भगवान् सब ज्ञानियोंके अनुभवमें आता है तब मानना पड़ेगा कि वह वस्तु ही वैसी है और हम जो उसके रहस्यको नहीं जान सकते हैं यह उसका माहात्म्य है. चुम्बकके सान्निधानमें जड़-लोह भी सक्रिय हो जाता है, यह सबको प्रत्यक्ष है, इसमें क्या युक्ति हो सकती है. जो है सो प्रत्यक्ष है और इसमें अविरोधकी अपेक्षा ही नहीं है तब हारकर मानना ही पड़ता है कि वह वस्तु ही वैसी है और जो कुछ हो रहा है

वह सब उस वस्तुका माहात्म्य है. ब्रह्मन्! यह सम्बोधन भगवान्माहात्म्य समझनेकी शक्ति दिखाने वाला है.

पुरुषसूक्तमें तो ''**एतावान् अस्य महिमा. अतो ज्यायांश्च पूरुषः**'' पुरुषकी महिमाका इतनापन गिनाकर और कहा है कि इसलिये यह पुरुष सबसे श्रेष्ठ है. सबसे अत्यन्त ज्येष्ठ है. अतिशयित ज्येष्ठता या श्रेष्ठता ही दुरत्ययार्थ है. अतिश्रेष्ठका माहात्म्य पार पाने योग्य नहीं होता।।१७।।

आभासार्थः अर्थात् इस तरह 'भगवान् सर्वव्यापक है. सारे लोकोंमें वही समा रहा है और लोकोंसे बाहर भी बहुत अधिक बाकी रहता है' यह उसका माहात्म्य दिखाकर उसे लौकिक-अलौकिक दोनों फलोंका स्वामी कहा. भगवान्के उभयलोकेशपनको यदि अब लोकमें प्रकाशित न करें तो पूर्वोक्त सब वर्णन व्यर्थ हो जावे, इसलिये उसका प्रकाश करनेके लिये अब पुरुषका अवान्तर भेद और फलका भी भेद बताते हैं.

पादेषु सर्वभूतानि पुंसः स्थितिपदो विदुः।
अमृतं क्षेमम् अभयं त्रिमूर्ध्नोऽधायि मूर्द्धसु।।१८।।

श्लोकार्थः पृथ्वी आदि सब लोक, स्थितिपाद भगवान्के चरणोंमें समा रहे हैं और महर्लोकसे ऊपरके लोकोंमें उस भगवान्के अमृत, क्षेम और अभय नामक सुख समा रहे हैं. ऐसा देवर्षि मान रहे हैं।।१८।।

व्याख्यार्थः भगवान्के चरणरूप पृथ्वी आदि लोकोंमें सब ही जगत् समा रहा है, यह पूर्वार्द्धका तात्पर्य है. इससे स्पष्ट होता है कि स्थानोंके भिन्न-भिन्न होनेसे फलोंका भी भेद रहता है.

यहां यह प्रश्न होता है कि पहले भगवान्के सब अङ्गोंमें लोकोंका समावेश कह चुके है, फिर अब चरणोंमें ही सब लोकोंकी स्थिति कैसे हो सकती है? इसका उत्तर यों देते हैं कि जहां सबकी स्थिति होती हो उसे 'स्था' कहते हैं इसलिये पृथ्वी आदि लोक 'स्थिति' शब्दसे कहे जाते हैं क्योंकि वहां लोकोंकी स्थिति रहती है. ये 'स्थिति' शब्दवाच्य सब लोक भगवान्के चरण हैं, इसलिये भगवान् 'स्थितिपात्' कहा जाता है. यद्यपि अवयवावयविभावको लेकर, सब लोक भगवान् ही हो गये हैं, इसलिये भगवान् अवयवी(अङ्गी) है और सब लोक अवयव(अङ्ग) ही रहते हैं तथापि अतिशय महान् भगवान्को देखते हुए तो वे सब लोक भगवान्के चरणोंमें ही समा रहे हैं. इसलिये उन्हें भगवान्के 'पाद' कहे हें.

जिस पर आधार रखकर मनुष्य ठहरा रहता है उसे पैर कहते हैं. इस दृष्टिसे कहा जाता है कि जगद्रूप भगवान् भी सब लोकों पर अपना जमाव रखकर ठहरा हुआ है इसलिये ये लोक उसके पाद(चरण)ही हैं. इस बातमें वेदका प्रमाण बताते हैं "**पादो अस्य विश्वा भूतानि**" इत्यादि. अर्थात् वेद महर्षि भी ऐसा कहते हैं. इस वेदवाक्यमें पादत्व समष्टिको लेकर एकवचन कहा है. अर्थात् भगवान्के एक ही चरणमें सारे लोक समा रहे हैं. ऐसा कहनेसे भगवान्का माहात्म्य प्रकाशित होता है. अथवा यहां 'पाद' शब्दसे पादस्थित जीव लिये गये हैं. (मन्त्र वर्णात्) इस ब्रह्मसूत्रका विषयवाक्य 'पादो अस्य' आदि श्रुति है. अतएव उस सूत्रमें जीवोंको अंश कहनेकेलिये 'पाद' कहा है और यहा तुम पादको लोक कहते हो, यह विरोध आता है इसलिये यहां 'पाद'का, पादस्थितपुरुष अर्थ करते हैं. पैरमें रही हुई रेखायें भी पैरकी तरह देहीकी अंश ही कही जा सकती है इसी तरह पादस्थित पुरुष भी 'तत्स्थित' न्यायसे भगवान्के अंश ही कहे जाते हैं. यह पदार्थ ही लोकदृष्टिसे बाहर है इसलिये परोक्ष कथन है अतएव लक्षणा करनेका दोष भी नहीं आ सकता. तत्स्थित पदार्थको भी वही समझ लेते हैं इस न्यायसे प्राणी भी भगवान्के पाद हैं. यहां भी जाति(समष्टि)की दृष्टिसे एकवचन समझना चाहिये. इस तरह भगवान्के अवयवोंमें सब जीवोंकी स्थिति कहकर अब लोकभोग्य फलकी स्थिति भी भगवान्के अवयवोंमें ही है सो कहते हैं 'अमृत' इत्यादि. भगवान्के स्वरूपमें चार प्रकारका सुख रहता है १.अमृत, २.क्षेम, ३.अभय और ४.लौकिक सुख. इनमेंसे पहले तीन नित्य सुख हैं और चौथा अनित्य है. अमृत-क्षेम-अभय ये तीन नाम नित्य सुखके हैं. जिसका नाश न हो वह अमृत. जो सदा बना रहता हो वह क्षेम, और जिसमें भयकी प्राप्ति न होती हो वह अभय सुख है. इन तीनों सुखोंकी जगह बताते हैं 'त्रिमूर्ध्नः'. भूः भूवः स्वः इन तीनों लोकोंका मस्तक महर्लोक. इस महर्लोकके भी ऊपर जनलोक है, तपोलोक और सत्यलोक है. इन तीनोंमें पूर्वोक्त त्रिविध सुख रहता है. इनकी यह व्यवस्था है : भूर्भुवःस्वः इन तीनों लोकोंमें तो अनित्य ही सुख रहता है. महर्लोकमें भी स्थान छोड़ना पड़ता है इसलिये दुःखका मेल है. कहा भी है कि '**यान्त्यूष्मणा महर्लोकं**' इस वाक्यसे स्पष्ट होता है कि वहां अनित्य जैसा ही सुख है. इसलिये जनलोकमें अमृतसुख है. पर वहां भी कुछ दुःखका छींटा मालूम होता है. क्योंकि महर्लोकमें तपे हुए अतएव वहांसे भाग कर आये हुये दुखियाओंको अक्षेम (दुःख) देखना पडता है,

किन्तु जनलोकमें रहनेवाले तो अपना स्थान छोड़कर तप आदिमें नहीं जाते इसलिये उनका सुख क्षेमरूप है. और सत्य लोकमें अभय सुख रहता है क्योंकि उनके पास ही मोक्ष आ गया है. अब यह सिद्ध हो गया कि इन तीन लोकोंमें ही नित्य सुख है. सर्व त्याग करनेवाले ज्ञानी लोग इस अभय सुखको प्राप्त करते हैं, इस बातको आगे कहेंगे. "**त्रिपाद् अस्य अमृतं दिवि**" इस वेदवाक्यका भी पूर्वोक्त अर्थ है. भगवान्का त्रिपाद सुख ऊपरके लोकोंमें रहता है. जगत्में तीन ही लोक हैं, इस पक्षको लेकर 'दिवि' शब्द कहा है।।१८।।

आभासार्थ: इन सुखोंके भोगनेवालोंका निरूपण करते हैं:

पादास्त्रयो बहिश्चासन् अप्रजानां य आश्रमाः।
अन्तस्त्रिलोक्यास्त्वपरो गृहमेधोऽबृहद्व्रतः।।१९।।

श्लोकार्थ: इस भगवान्के तीन चरण(अंश) त्रिलोकीके बाहिर हैं जिन्हें प्रजाओंके ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम कहते हैं. किन्तु चिर ब्रह्मचर्यादि न रखने वाला गृहस्थी तो त्रिलोकीके अन्दर ही हैं और अश्रेष्ठ (साधारण) है।।१९।।

व्याख्यार्थ: ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये चतुष्पाद ब्रह्मके चार चरण हैं. कारण कि जगद्रूप भगवान् इन पर ठहरा हुआ है. उनमें ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी ये तीन आश्रम त्रिलोकीसे पृथक् हैं, 'च'से ये तीनों चाहें तो त्रिलोकीके अन्दर भी हो सकते हैं. भौतिक शरीरोंका त्याग करनेके अनन्तर ये तीनों समान हो जाते हैं यह कहते हैं 'अप्रजानां'. गृहस्थको छोड़कर ब्रह्मचारी आदि तीन आश्रम अप्रज कहे जाते हैं, क्योंकि ये तीनों पुत्रादिरूपसे फिर इस लोकमें पैदा नहीं होते. ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास तीन आश्रम अप्रजोंके हैं. ये तीनों बांझ ही हैं ऐसा कहनेका तात्पर्य नहीं है किन्तु इनके आश्रमधर्म ही ऐसे हैं कि ये फिर इस लोकमें प्रजारूपसे जन्म नहीं लेते. अतएव ये तीनों नित्य सुखत्रयको भोगते हैं. अनित्य सुख भोगनेवालेका निरूपण करते हैं 'अन्तस्त्रि'. त्रिलोकीके भीतर रहनेवाला और उन तीनोंसे हलका यह गृहस्थी है. जिसकी बुद्धि सदा घरमें रही है वह गृहमेध (गृहस्थ) कहा जाता है. यह बाह्य दोष है और 'अबृहद्व्रत' दोष आन्तर है. "**त्रिपाद् ऊर्ध्वम् उदैत् पुरुषः. पादो अस्य इह अभवत् पुनः**" इन श्रुतियोंका अर्थ है।।१९।।

आभासार्थ: इस तरह चारों वर्णोंका स्वरूप और फल बताकर उनकी

विलक्षणता कहते हैं:

सृती विचक्रमे विष्वङ् साशनानशने उभे।
यदविद्या च विद्या च पुरुषस्तूभयाश्रयः।।२०।।

श्लोकार्थ: यह भगवान् साशन और अनशन दो मार्गोंसे चारों तरफ घूमता है. कारण कि अविद्या और विद्या दो शक्तियोंने इस भगवान्का आश्रय ले रखा है।।२०।।

व्याख्यार्थ: पूर्वोक्त चारों वर्णाश्रमस्थ जीव अपने स्वभावसे अनित्य सुखभोक्ता और नित्य सुखभोक्ता नहीं हुये किन्तु इसका कारण भी भगवान् ही हैं. भगवान् स्वयं दो मार्गोंसे चलते हैं. भगवान्के परवश होकर फिर जीवजातको भी उसी तरह चलना पड़ता है. यही बात कहते हैं 'सृती विचक्रमे' . दोनों मार्गोंको भगवान्ने चारों तरफसे एकदम आक्रमण कर रखा है. किसी एक मार्गका एक भी अंश ऐसा नहीं है जिसे भगवान्ने दबा न रखा हो. ये मार्ग दो क्यों हो गये? इसका कारण बताते हैं 'साशना' एक मार्ग साशन है. अर्थात् इस मार्गमें कर्मफलोंका भोग करना पड़ता है. और दूसरा मार्ग अनशन है. इस मार्गमें कर्मके फल भोगने नहीं पड़ते. इनसे पृथक् मार्गका यहां निरूपण नहीं है.

यहां यह प्रश्न होता है कि भगवान् इन मार्गोंसे क्यों जाता है? इसका उत्तर देते हैं कि 'यदविद्या' भगवान्ने इस तरह गमनमें अविद्या और विद्या अपनी शक्तियोंको आश्रय दे रखा है, यही कारण है. अविद्या साशन (कर्मभोग सहित) मार्गमें ही चलती है. और विद्या अनशन (कर्मभोग रहित) मार्गमें चलती है. दोनों भगवान् (पुरुष)की शक्ति हैं और दोनोंको भगवान्ने आसरा दे रखा है. इसलिये अपनी शक्तियोंका अनुरोध मानकर भगवान्को भी दोनों मार्गोंमें वैसे चलना होता है अन्यथा वे भगवच्छक्ति न कहलावे.

श्लोकमें दो 'च' है उनका यह तात्पर्य है कि दोनों मार्गकी अपनी-अपनी सामग्री और अपने-अपने कार्य एक-दूसरेमें नहीं जाते. पृथक्-पृथक् रहते हैं.

इस श्लोकमें "**ततो विश्वं व्यक्रामत् साशनानशने अभि**" इस श्रुतिका विवरण किया है।।२०।।

आभासार्थ: इस तरह मार्गोंके भेदसे भोक्ताओंका और फलोंका भेद हो जाता है. यह कहकर अब इस भगवान् 'पुरुष'से यह विराट् पुरुष(जगद्रूप) भिन्न है

यह दिखानेकेलिये उस पुरुषसे इस विराट् पुरुषकी उत्पत्ति दिखाते हैं:

तस्माद् अण्डं विराट् जज्ञे भूतेन्द्रियगुणात्मकः।
तद् द्रव्यम् अत्यगाद् विश्वं गोभिः सूर्य इवातपन्।।२१।।

श्लोकार्थ: उस पुरुषसे भूत, इन्द्रिय और गुणवाला यह विराट् जगत्पुरुष पैदा हुआ. इसने भी द्रव्यरूप विश्वका अतिक्रमण कर लिया और सूर्यकी तरह अपने प्रकाशसे सबको तपा दिया।।२१।।

व्याख्यार्थ: उस (परम पुरुष)* नारायणसे यह ब्रह्माण्ड रूप अंडा पैदा हुआ अर्थात् उस आधिदैविक जगद्रूप पुरुषसे यह आध्यात्मिक जगत् रूप अंडा बना और उससे फिर ये भूतेन्द्रिय गुण वाला (आधिभौतिक) विराट्(सृष्टि जगत्) पैदा हुआ. अर्थात् उस आध्यात्मिक अंडमें ही भूत-अधिभूत द्रव्य (पृथ्वी आदि), इन्द्रिय-अध्यात्म(श्रोत्रादि) पदार्थ और गुण दश देवादिक पदार्थ प्रकाशित हुये. अथवा कर्मफल भोक्तृरूपका भी यहां वर्णन करता है, इसलिये रूपान्तर कहनेकेलिये दूसरा अर्थ करते हैं: भूत-पंचमहाभूत (आंखों दीखते आकाशादि), गोलक सहित नेत्र आदि इन्द्रिय और गुण अर्थात् शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये पांच विषय भी इस विराट्में प्रकट हुए. यह विराट्, शरीर-इन्द्रियोंसे विषयभोगका कर्ता हो गया. इस विराट् जगत्के पुरुषने भी अपने पिता (आधिदैविक पुरुष)की तरह इस विराट्का आक्रमण किया सो कहते हैं 'तद्द्रव्यं'. यह पुरुष भी उस विराट् द्रव्यादि अंडरूप अपने शरीरको भरकर बाहर भी निकल गया. अर्थात् भीतरसे सबमें समाकर ब्रह्माण्डके बाहर भी दशांगुल बढ़कर स्थित हुया. केवल व्यापकतामें ही बराबरी की, सो नहीं किन्तु अपने पिताकी प्रकाशताकी भी बराबरी की, सो कहते हैं 'गोभिः सूर्य इव'. जैसे सूर्य अपने किरणोंसे अपने मण्डलको और बाहर भी सब अन्य पदार्थोंको तपाता है इसी तरह इस पुरुषने भी इस अपने शरीररूप विराट्को भीतरसे तपाकर बाहरसे भी प्रकाशित कर दिया. इस श्लोकमें "**तस्माद् विराड् अजायत**" आदि श्रुतिका विवरण किया है।।२१।।

(* यहां 'परमपुरुष' शब्दसे श्रीकृष्ण, पुरुषोत्तम या अक्षर ब्रह्म नहीं लेना किन्तु अक्षरका प्रथम अंश केवल ज्ञानरूप पुरुष लेना है. जिसके सहयोगसे प्रकृति, आध्यात्मिक-आधिभौतिक अंडोंको तैयार करती है. वास्तवमें छः पुरुष हैं. उनमेंसे यह ज्ञान समष्टि पुरुष चतुर्थ हैं. अनुवादक: दे. र. शा.)

आभासार्थ: इस तरह अण्डात्मक(आध्यात्मिक) और विराट्रूप (आधिभौतिक) द्विविध जगत्का निरूपण करके और नियम्य-नियामकभाव स्पष्ट हो जावे इसलिये विराट् पुरुष और अतिरिक्त (बाहर भी फैला हुआ है) पुरुष दोनोंका निरूपण करके नित्यपरिच्छिन्न किन्तु आधिदैविक वाणी आदिके अभिमानी जीवोंका मूर्त-परिच्छिन्न पदार्थोंके साथ समागम भी कह दिया. ऐसी अवस्थामें यज्ञरूप भगवान्का जो सब ही पदार्थोंके साथ सम्बन्ध श्रुतिशास्त्रोंमें सुना जाता है वह, यज्ञसाधन पदार्थोंको भगवान्से भिन्न माननेमें विरुद्ध होता है और पूर्वमें कहा हुआ भगवान्का सर्वरूप हो जाना भी विरुद्ध पड़ता है इसलिये यज्ञीय पदार्थोंका भी वस्तुतत्त्व भगवान् ही है, यह कहते हैं:

यदास्य नाभ्याद् नलिनाद् अहम् आसं महात्मनः ।
नाविदं यज्ञसम्भारान् पुरुषावयवाद् ऋते।।२२।।

श्लोकार्थ: ब्रह्माजी नारदसे कह रहे हैं कि जब मैं इस महात्मा भगवान्के नाभि संभूत कमलमेंसे पैदा हुआ तब मुझे इस भगवान्के अंगोंके सिवा कोई भी यज्ञकी सामग्री न मिली. सब ही यज्ञ संभारोको भगवदवयव पाया।।२२।।

व्याख्यार्थ: जैमिनीके मतमें कुश, सत्तुक आदि वैदिक पदोंका भी दृष्ट ही अर्थ है, अतीन्द्रिय नहीं. ऐसी अवस्थामें यदि यज्ञीय सब ही पदार्थोंका भगवद्रूप न कहा जाय तो वेदमें जो पदार्थोंकी भगवद्रूपता (पुरुष एवेदं सर्वम्) कही गई है उसको मीमांसकोंकी तरह अर्थवाद(केवल स्तुति) ही मानना पड़ेगा, किन्तु यह बात सिद्धान्त नहीं है. ऐसा माननेसे उस वेद भागका अप्रामाण्य हो जायगा. कहनेका तात्पर्य यह है कि इस इष्टिकी द्रष्टिमें कुश, यव, तिल, घृत आदि द्रव्योंसे यज्ञ सिद्ध किया जाता है. ऐसी अवस्थामें यदि उनका प्रोक्षणादि न किया जाय और द्रव्य-देवता स्मारक मन्त्र और प्रोक्षणादिके मन्त्र न बोले जायें तो यज्ञ होनेमें कोई भी हानि नहीं हो सकती, तो फिर वेदमें पदार्थोंका प्रोक्षणादि और उनके मन्त्र क्यों कहे गये? कहे तो गये हैं! इससे सिद्ध है कि उन पदार्थोंके भीतर कोई अतीन्द्रिय अलौकिक पदार्थ है जिनका कि स्मरण मन्त्र कराते हैं. यदि कोई कहे कि जैसे मीमांसक अपूर्वको जन्य(अनित्य) मानते हैं इसी तरह पदार्थोंमें समाया हुआ और तैयार किया जाता पदार्थांतर भी जन्य ही है तो फिर इस युक्तिसे तो यज्ञको भी जन्य-अनित्य मानना पड़ेगा. ऐसी अवस्थामें वेदमें जो यज्ञको विष्णु (अतीन्द्रिय-अलौकिक) कहा है वह झूठा हो जायेगा, सो तो हो नहीं सकता.

वेदने जो अक्षर कहे हैं वे उसी रूपमें सत्य हैं, ठीक हैं. तदनुसार ही हम अपना मत ठहरा सकते हैं, अन्यथा नहीं. इसलिये यज्ञकी विष्णुत्व श्रुतिसे यज्ञ और उसके साधन नित्य और अलौकिक हैं यह सिद्ध होता है. इस वैदिक सिद्धान्तमें, यज्ञ सिद्ध पदार्थ है और क्रिया मंत्रादिके द्वारा उसका आविर्भाव मात्र होता है. अब यदि यज्ञीय पदार्थ भिन्न माने जावें तो ''**सर्वं पुरुष एव इदं यद् भूतं यच्च भव्यम्**' इत्यादि वेदवाक्योंसे कहा गया पुरुषका ही सर्वरूप हो जाना विरुद्ध हो जायगा. बड़े समारोहसे कही बात भी नहीं जैसी हो जाती है.

इसलिये अब ब्रह्माजी यज्ञोपयोगी पदार्थोंको भगवदवयव कह रहे हैं 'यदास्य'. जब मैं इन भगवान्के नाभिस्थ कमलमेंसे पैदा हुआ तब मेरे मनमें आया कि मैं इन भगवान्की आराधना करू क्योंकि यह सबसे बड़ा है. अन्तःकरण किंवा स्वरूप जिसका महान् हो वह महात्मा. अतएव यदि मैं इसकी आराधना करूंगा तो यह मुझे महत्फल देगा. अब मुझे यह जिज्ञासा हई कि कौनसे साधनसे इन भगवान्की आराधना करूं? यह जिज्ञासा होते ही मैंने अपनी योगशक्तिके द्वारा यज्ञका दर्शन किया. अब यज्ञ भी कैसे करना यह जब विचार हुआ तब मैंने भगवद्दत्त वेदोंका विचार किया. वेदोंके द्वारा यह मालूम हुआ कि पशु–पुरोड़ाश–मन्त्र आदि सामग्रियोंसे यज्ञका सम्पादन हो सकता है फिर भी ये पशु–पुरोड़ाशादि सामग्री कहां है, यह जिज्ञासा होने पर मैने अपने योगज प्रत्यक्षसे जो कुछ देखा सो कहता हूं: 'नाविदं यज्ञः'. उस समय मैने सब ही सामग्रियोंको पुरुषके अवयवरूप देखी. भगवान्के अंगोंके सिवाय कहीं भी कुछ भी सामग्री न देखी. वह मूल यज्ञपुरुष ही मेरे सामने यज्ञरूपसे उस समय प्रकट हुआ. इससे स्पष्ट होता है कि पुरुष ही साधनरूप भी है।।२२।।

आभासार्थ: उन भगवान्के अवयवोंमें कौन–कौनसी साधन– सामग्री देखी यह आकांक्षा हुई तो उसकी पूर्तिमें कहते हैं कि:

तेषु यज्ञस्य पशवः सवनस्पतयः कुशाः।
इदं च देवयजनं कालश्चोरुगुणान्वितः।।२३।।
वस्तून्योषधयः स्नेहा रसलोहमृदो जलम्।
ऋचो यजूंषि सामानि चातुर्होत्रं च सत्तम।।२४।।
नामधेयानि मन्त्राश्च दक्षिणाश्च व्रतानि च।
देवतानुक्रमः कल्पः संकल्पः सूत्रमेव च।।२५।।

गतयो मतयश्चैव प्रायश्चित्तं समर्पणम्।
पुरुषावयवैरेते सम्भाराः सम्भृता मया।।२६।।

श्लोकार्थः उसमें यज्ञके पशु, वनस्पतियोंके साथ दर्भ, देवयजनकी भूमि, उत्तम गुण वाला काल, वस्तु, औषधियां स्नेह(घी इत्यादि) रस, पत्थर, मिट्टी, जल, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद हैं. हे सत्तमे! उसके स्वरूपमें चातुर्होत्र, नामधेय, मन्त्र, दक्षिणा-व्रत, देवताओंका अनुक्रम, यज्ञ करनेके कल्पसूत्रादि ग्रन्थ, संकल्प, सूत्र, गति, बुद्धि, प्रायश्चित, समर्पण इन सब यज्ञके उपयोगी पदार्थोंको पुरुषके अवयवोंमेंसे लिए।।२३-२६।।

[यहां कुछ यज्ञीय विषयका परिचय देना उचित मालूम पड़ता है. भगवान्की आराधनाको यज्ञ कहते हैं. सपरिकर भगवान्की आराधना ही यज्ञ है. यह यज्ञ पांच प्रकारका हैः १.अग्निहोत्र, २.दर्शपूर्णमास, ३.चातुर्मास, ४.निरूढ ५.पशु और सोम. इनकी भी तीन संस्थायें हैंः १.पाकयज्ञ संस्था, २.हविर्यज्ञ संस्था और ३.सोमयज्ञ संस्था. इन तीनों संस्थाओंमें फिर सात-सात विभाग हैं. इस तरह यह यज्ञ २१ प्रकारका होता है. इनके सिवाय अग्निचयन आदि और भी हैं. जिन द्रव्योंकी अग्निमें आहुति दी जाती है उनको 'हविः'(होमने योग्य द्रव्य) कहा गया है. इसके तीन विभाग हैंः १.औषधि, २.पशु और ३.सोम. औषधि १२ प्रकारकी, पशु १० प्रकारका और सोम एक प्रकारका. तन्दुल यवागू लाज औषधि. दूध, दही, वसा आदि पशु द्रव्य. कड़छी आदिकी तरह होमके साधन पात्र आदि यज्ञायुद्ध कहे जाते हैं. ये यज्ञायुध दश हैंः सफा, कपाल, अग्निहोत्र-हवणी, शूर्प, कृष्णजिन, शम्या, ऊखल, मुसल, लोढ़ी, सिल. इनके सिवा स्रुक्, स्रुवा, जूहू, उपभृत् और ध्रुवा ये और भी हैं. स्रुवा खदिरकी, जुहू पलाशकी, उपभृत् पीपलकी और ध्रुवा कंकत(वहेणा)की होती है.

आहवनीय, दक्षिणाग्नि और गार्हपत्य ये अग्निवेदी किंवा अग्नि है. पुरोडाशको फैलानेकेलिये घटके टुकड़ोंके कपाल बनाये जाते हैं. ये अष्टाकपाल और एकादश कपाल कहे जाते हैं. इनका निर्माण इस तरहसे किया जाता है कि नीचेकी भूमि दीखने नहीं पाती. अग्निहोत्र यज्ञ, प्रतिदिन सायं-प्रातः करनेमें आता है. दर्शपूर्णमास क्रमसे अमावस्या और पूर्णिमा को किये जाते हैं. चातुर्मास्य याग चार महिनोंमें किया जाता है. निरूढ़ पशु छठे महिने किया जाता है और सोम या अग्निष्टोम प्रति वर्ष करनेमें आता है. अग्निष्टोम आदि यज्ञोंमें सब मिलाकर १६ ऋत्विक् यज्ञकार्यके निर्वाहक वैदिक ब्राह्मण होते हैं. इनमें अध्वर्यु होता उद्गाता और ब्रह्मा ये चार ऋत्विक् प्रधान होते हैं. अध्वर्युके अधीन प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा और उन्नेता ये तीन ऋत्विक् अप्रधान और हैं. होताके अधीन मैत्रावरुण, ऐच्छावाक और ग्रावस्तुत्. उद्गाताके अधीन प्रस्तोता प्रतिहर्ता और

सुब्रह्मण्य. और ब्रह्माके अधीन ब्राह्माणाच्छशी, आग्नीध्र और होता ये तीन ऋत्विक् होते हैं. ऋक् मंत्रोंके द्वारा वेद स्तुति होता करता है उन्हें आह्वान करता है. अध्वर्यु यजुर्वेदसे सर्व कर्म करता है. उद्गाता सामवेदसे गान करता है और ब्रह्मा पूर्वोक्त वेदत्रयीसे सर्व कर्मका निरीक्षण करता है.]

व्याख्यार्थ: भगवान्के उन अवयवों में, मैंने यज्ञसे सम्बन्ध रखनेवाले बकरे, घोडे, प्रभृति पशु, यूप(यज्ञस्तम्भ) सहित अश्वत्थ आदि वृक्ष, तथा असंस्कृत दर्भादि, जहां देवोंकी आराधनाकी जा सकती हो वैसी यह यज्ञभूमि 'इदं' शब्द कहकर ब्रह्माजी भूमिको प्रत्यक्ष दिखा रहे हैं. इससे स्पष्ट होता है कि यज्ञ भूमि पर बैठकर ही नारदको भागवत सुना रहे हैं. 'च'से और भी यज्ञभूमि ले लेनी चाहिये. वसंत आदि काल, 'च'से व्यतीपात आदि योग विशेष भी और वह काल भी यज्ञके अनुकूल गुण सम्पन्न जिसकी स्तुतिमें पूर्वोक्त श्रुति कही गई है. कालके और भी बहुतसे गुण वेदमें कहे गये हैं. उन सब गुणोंसे युक्त कालको भी मैंने भगवान्में ही देखा.

यज्ञ पात्र आदि वस्तु, धान यव आदि औषधियें, घृत आदि स्नेह. दही मधु आदि रस, काटनेकी स्वाधिति आदि लोह, धर्मपात्रादि बनानेकेलिये मृत्तिका, वसतीवरी आदि अभिमंत्रित जल, यजुः–साम आदि तीनों वेदोंके मन्त्र, होता आदि चार प्रधान ऋत्विकोंसे किया जाता यज्ञ सम्बन्धी कर्म अथवा 'पृथिवी होता' इत्यादि चतुर्होतारव्य मन्त्र यज्ञका निदान. यहां 'सत्तम' यह सम्बोधन नारदकी विश्वासयोग्यता दिखानेकेलिये कहा है. अग्निहोत्र, चातुर्मास्य, अग्निष्टोम आदि यज्ञोंके नाम. स्वाहाकारादि सहित विशेषमन्त्र और 'च'कारसे साधारण मन्त्र निगद. गो आदि दक्षिणा(देनेकी). 'च'कारसे और भी वर (मनोरथ दान) दीक्षा आदि व्रत. 'च'कारसे मांसभक्षण आदि निषेध भी. 'देवतानुक्रम' अर्थात् आग्नेय देवताके अनन्तर कृष्णग्रीव इत्यादि पूज्य देवताओंका क्रम. कल्पसूत्र नामक कल्प जो सूत्र यज्ञपद्धतिमें सहायक होते हैं. कामनाके विषय नाना मनोरथ. विचारसूत्र(मीमांसा) अथवा यज्ञ करनेकी पद्धति. गति विष्णुक्रमादि. देवताओंके ध्यानरूप मति. 'च'कारसे कर्मका निरीक्षण. अनाज्ञातादि प्रायश्चित्त. समर्पण अर्थात् समाप्ति किंवा यज्ञकर्मका समर्पण (निवेदन). ये सब यज्ञकी सामग्रियां हैं. ये सब सामग्रियां मैंने यज्ञ भगवान्के अवयव(श्रीअंगों)से ही तैयार की. 'मया' शब्द ब्रह्माजीने इसलिये कहा कि साधारण अधिकारी तो इतना ज्ञानसम्पन्न न होनेसे इस तरह नहीं कर सकता.

केवल मैं ही जान सका कि ये सब पदार्थ तो भगवन्मय हैं. भगवदवयव हैं तो अगत्या अब इनसे यज्ञका सम्पादन करना उचित है. इस तरह करनेमें मेरी ही शक्ति हुई, अन्यकी नहीं हो सकती।।२३-२६।।

आभासार्थः तदनन्तर क्या किया सो कहते हैं:

इति सम्भृतसम्भारः पुरुषावयवैर् अहम्।
तमेव पुरुषं यज्ञं तेनैवायजम् ईश्वरम्।।२७।।

श्लोकार्थः इस प्रकार यज्ञके उपयोगी पदार्थोंको एकत्रित करके जो पुरुषके अंगमेंसे वे पदार्थ लिये वह यज्ञरूप पुरुष ईश्वर है, उसका उन पदार्थोंसे यजन किया।।२७।।

यज्ञ वास्तवमें आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक तीन प्रकारका है. जो यज्ञ विधिपूर्वक भगवद्भक्तिके द्वारा भगवदवयवोंका आविर्भाव करके उन भगवदवयवरूपी कुशादि पदार्थोंसे भगवान्केलिये ही ज्ञान सहित किया जाता है वह आधिदैविक यज्ञ है, उत्तम है. और जो मध्यमाधिकारी ब्रह्मज्ञान रहित सब पदार्थोंको ब्रह्ममय देखता है, यज्ञकेलिये ही यज्ञ करता है, और करनेके बाद भगवान्के अर्पण करता है वह क्रत्वर्थ यज्ञ आध्यात्मिक यज्ञ कहा जाता है. कनिष्ठाधिकारी सब पदार्थोंका यथार्थज्ञान न होनेसे पदार्थोंको भगवदवयव न समझ कर अपनेलिये यज्ञ करता है, यह यज्ञ आधिभौतिक यज्ञ कहलाता है. उसका फल भगवान् नहीं ग्रहण करता. उस यज्ञका फल उस कर्ताको ही स्वर्गादि लोकरूपमें मिलता है.

अब चौथा एक यज्ञ और भी है, जो निकृष्टतम है. लौकिक अधिकारी पदार्थोंको केवल लौकिकाग्नि आदिके रूपमें ग्रहण कर अज्ञानसे कीर्ति आदि लौकिक कामनासे अविधिपूर्वक यज्ञ करता है उसको कुछ भी फल नहीं मिलता है; कदाचित् काकतालीयसे फल हो भी जाय तो वह फल कीर्ति आदि उसीको मिलता है और संसार होनेसे निकृष्ट है.

व्याख्यार्थः इस तरह पुरुषके अवयवोंसे यज्ञकी सब सामग्रियां तैयार करके और उन सामग्रियोंसे उन्हीं यज्ञ भगवान्की मैंने आराधना की. यह यज्ञ मैंने अन्य फलकेलिये नहीं किया था किन्तु ईश्वरार्थ ही किया था. इसलिये पुरुषके साथ 'ईश्वर' विशेषण दिया. आराधन करनेके विचार समयमें यद्यपि फलाकांक्षा हुई थी पर जब मैंने सब कुछ भगवान् ही भगवान् देखा तब आराधन करनेकी

अवस्थामें वह फलाकांक्षा निवृत्त हो गई. इस प्रकार किया हुवा यज्ञ ही मुख्य आधिदैविक यज्ञ होता है. इस बातको स्पष्ट करनेके लिये कहते हैं 'यथा'. जिस प्रकारसे मैने यज्ञ किया उसी प्रकारसे अन्य कर्त्ताओंको भी करना उचित है.

भक्तिके द्वारा भगवान्के श्रीअंगोंका हृदयमें प्रादुर्भाव करके और फिर उनमें यज्ञके काममें आनेवाले सब पदार्थोंकी उत्पत्ति मानकर केवल भगवान्को प्रसन्न करनेकेलिये ही भगवत्कर्मोंको (यज्ञोंको) करना चाहिये. भगवान्को भी अपने लिये कुछ कार्य रहता है. जिस तरह मनुष्यको सब काम अपनेलिये है इसी तरह भगवान्को अपनेलिये सब ही यज्ञ हैं. ऐसी अवस्थामें यदि वे सब यज्ञ भगवान्के ही श्रीअंगोंसे तैयारकी हुई पशु आदि सामग्रीसे ही उत्पन्न करके किये जायें तो फिर उसका फल भगवान्केलिये सम्पन्न हो सकता है, अन्यथा नहीं. यद्यपि लौकिक कुश-काश आदि पदार्थ भी भगवान्के अवयवोंसे ही उत्पन्न हुये हैं तथापि वे सब जगद्वर्ती सब पुरुषोंके काममें आनेकेलिये उत्पन्न किये गये हैं इसलिये उनसे मुख्य यज्ञका फल नहीं हो सकता. यहां तक उत्तमाधिकारीके किये हुये यज्ञका स्वरूप कहा.

अब मध्यमाधिकारिकृत यज्ञका स्वरूप कहते हैं. मध्यमाधिकारीका किया हुआ यज्ञ, यदि यज्ञ कर्मकेलिये ही, उन पदार्थोंको यज्ञरूप समझकर, उस सम्पादित सामग्रीसे यज्ञ किया जाय तो उसका फल होता है, पर उस फलका समर्पण फिर भी भगवान्केलिये ही करना चाहिये.

अब तृतीयाधिकारी यज्ञीय पदार्थोंको भगवदवयव नहीं जानता तथापि उन पदार्थोंसे यज्ञका सम्पादन करता है. तब भगवान् उस यज्ञके फलका ग्रहण नहीं करता. वह यज्ञ-भगवत्कार्य भी भगवत्फलक नहीं होता. और यदि लौकिक चतुर्थाधिकारी, जो पदार्थ यज्ञकेलिए पैदा नहीं किये गये हैं, अर्थात् जो सब दुनियाकेलिये पैदा किये हैं, उन पदार्थोंसे यज्ञ करता है. उन पदार्थोंसे किये यज्ञका तो कोई फल नहीं होता. यदि कभी हो भी जाय तो वे पदार्थ उसकेलिये हुए इसलिये वह फल भी संसाररूपी उसका ही होगा. इस तरह उत्तम-मध्यम-निकृष्ट और निष्फल भेदसे चार प्रकारोंसे यज्ञ तैयार होता है. यज्ञकेलिये ही जो यज्ञ होता है इसका यह तात्पर्य है कि स्वावयवरूप देवगणोंको तृप्त करके सारे जगत्को ही तृप्ति पहुंचाना यह कार्य भगवान्का है. इस भगवत्कार्यकेलिये किया गया यज्ञ ही यज्ञार्थ यज्ञ कहा जाता है. अतएव मीमांसकोंने क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ दो भेद माने हैं.

यज्ञीय पदार्थ, भगवान्‌के अवयवोंमें सम्मिलित हैं और लौकिक पदार्थोंसे भिन्न हैं इस बातकी कुछ दिशा स्पष्ट करते हैं.

भगवान्‌के जांघोंसे यज्ञीय पशुओंका आविर्भाव है, भगवद्रोमोंसे वृक्ष, स्वेद सहित रोमोंसे कुश, चरणोंसे यज्ञभूमि, पलकोंसे काल, ओष्ठ आदिसे और वस्तु. स्नेह (चिकनाई तैलादि) जिह्वासे. घ्राणसे मृत्तिकायें. नसोंसे जल. कर्ण और मस्तक से ऋक्–यजुः–सामवेद. चार होतादि ऋत्विगोंके करनेका कर्म चार बाहुओंसे. मुखसे नामधेय. मस्तकावयवोंसे मन्त्र. दक्षिणारूप गायें वाम जंघासे. मनसे व्रत. अवयवसंन्धिसे देवतानुक्रम. बलसे कल्पसूत्र. बुद्धिसे संकल्प. प्राणसे सूत्र. विहारयोगरूप अथवा विक्रम गतिसे. ज्ञानेन्द्रियोंसे मति. कर्मेन्द्रियोंसे प्रायश्चित. अन्तःकरणसे समर्पण. इसी तरह अन्य यज्ञीय पदार्थोंकी भगवदवयवोंमें ही योग्यतानुसार कल्पना कर लेनी चाहिये. अतएव यज्ञके प्रारम्भमें भगवद्भक्तिमान् अधिकारी सब यज्ञीय पदार्थोंका साक्षात्कार करते हैं. फिर उन भगवदवयवरूपोंसे पदार्थोंको तैयार करते हैं और तदन्तर याग करते हैं. यदि ऐसा न होता तो वेदके यज्ञप्रकरणमें जो 'अपश्यत्' 'आहरत्' 'अयजत्' इत्यादि पद आते हैं वे सब व्यर्थ हो जावें. यज्ञसम्पादन करनेके अर्थमें इन विशिष्ट पदोंके देनेमें कौनसा प्रयोजन था? है, अतएव ये पद दिये गये।।२७।।

ततस्ते भ्रातर इमे प्रजानां पतयो नव।
अयजन् व्यक्तम् अव्यक्तं पुरुषं सुसमाहिताः।।२८।।
ततश्च मनवः काल ईजिरे ऋषयोऽपरे।
पितरो विबुधा दैत्या मनुष्याः क्रतुभिर्विभुम्।।२९।।

श्लोकार्थः इसके बाद तुम्हारे मरीच्यादि नौ भाई कहलाते हैं उन्होंने स्पष्ट और अस्पष्ट रीतिसे यज्ञ पुरुषका यजन किया. अच्छे प्रकारसे चित्तकी एकाग्रतासे वह कार्य किया इसके बाद मनु और दूसरे ऋषियोंने उनके समयमें यज्ञ किये. पितृ, देव, दैत्य और मनुष्योंने यज्ञ करके विभुः यज्ञेश्वरको प्रसन्न किया।।२८–२९।।

व्याख्यार्थः इसके अनन्तर तुम्हारे ये प्रजापति नौ भ्राता दक्ष आदिने भी व्यक्ताव्यक्तरूप पुरुष भगवान्‌का सावधान होकर आराधन किया. सात्त्विक राजसादि गुणसमूहोंका परस्पर सम्मेलन होनेसे नौ गुण हो जाते हैं. इन गुणोंसे तैयार हुई प्रजा(जन सन्तति) भी नौ प्रकारकी हुई. तब ब्रह्माजीने उन सब तरहकी प्रजाओंको वशमें रखनेकेलिये उनके नियामक पति प्रजापति भी नव ही पैदा

किये. मरीचि अत्रि आदि. मैंने जिस प्रकारसे यज्ञार्थ ही यज्ञभगवान्का आराधन किया इसी प्रकार इन दक्ष-मरीचिादि प्रजापतियोंने भी भगवान्का आराधन किया. यद्यपि मरीचि-अंगिरा आदि प्रजापतिगण यह पूरी निगाह रखते थे कि भगवदवयरूप पदार्थोंमें अन्य लौकिक पदार्थोंका मेल न हो जाय, अन्य ज्ञान न घुस जाय और अन्य लौकिक पदार्थका उत्पादन न हो जाय तथापि इतना तो व्यतिकर हो ही गया कि किसीको व्यक्त, किसीको अव्यक्त और किसीको व्यक्ताव्यक्त यज्ञ भगवान्का आराधन करना हुआ.

जो सात्त्विक-सात्त्विक अधिकारी थे उन्हें भगवदवयवोंका स्पष्ट साक्षात्कार हुआ अतएव उन्होंने सब पदार्थोंको भगवदवयवोंमेंसे ही तैयार करके यज्ञकार्यार्थ यज्ञका आराधन किया. राजस-राजस अधिकारीके आगे अवयवरूप भगवान् कुछ व्यक्त और कुछ अव्यक्त रहे. अतएव उन्होंने तदनुसार आराधन किया और तामस-तामस आधिकारीकेलिये भगवान् अव्यक्त ही रहे, अतएव उन्हें तदनुसार आराधन करना पड़ा. सात्त्विक राजसादि जो बाकी रहे अधिकारी, उन्होंने भी स्व-स्व अधिकारके अनुसार भगवान्का आराधन किया, यह इसपरसे स्वयं समझ लेना चाहिये।।२८।।

व्याख्यार्थ: तदनन्तर बहुत सा काल जब बीत गया तब, किसी समय में, स्वायंभू मनु, अन्य ऋषि, पितर लोग, देवगण, दैत्यवर्ग तथा मनुष्य लोकोंने भी उस सर्वसमर्थ यज्ञभगवान्का द्वादशाहादि यज्ञोंके द्वारा आराधन किया. स्वायंभू मनु और कितने ही ऋषिगण ये सात्विकादि प्रकृति वाले पितर लोग, सात्विक प्रकृति वाले देवगण और तामस प्रकृति वाले दैत्यगण हैं. जिस-जिस अधिकारमें रहकर जिन्होंने जैसा-जैसा आराधन किया, उनकी वैसी-वैसी कक्षा होती चली गई. सात्विकादि अधिकारोंके विभिन्न होनेसे पूर्वोक्त ये सब अनेक प्रकारके हैं. किन्तु मनुष्योंकी चतुर्थी कक्षा है. इनका अधिकार सन्निपातरूप है. अतः एक प्रकारका ही है. कहनेका आशय यह मालुम पड़ता है कि पूर्वोक्त देवादिका प्रकृतिमें एक गुणप्रधान रहकर व्यवहारमें सहारा दे सकते हैं. अतएव उनकी कक्षायें और उनके प्रकार भिन्न हो सके किन्तु मनुष्योंकी प्रकृतिमें तीनों गुणोंकी समानता होनेसे परस्परोपमर्द द्वारा उनकी एक ही प्रकृति रही, और वो भी भ्रान्त प्रकृति. यद्यपि इन्होंने अपनी कामनाओंके अनुसार प्रवाहन्यायसे भगवान्का आराधन किया था तथापि यज्ञरूप भगवान् स्वतन्त्र और समर्थ हैं,

अतएव इन्हें भी इनकी कामनानुसार फल मिला ही. और मिलता भी है. इसीलिये मूलमें 'विभुं' पद दिया है।।२९।।

आभासार्थः इस तरहसे जगद्वर्ती सारे पदार्थोंकी उत्पत्ति भगवान्से ही होती है, यह कहकर अब उसकी स्थिति कहते हैं:

नारायणे भगवति तद् इदं विश्वम् आहितम्।
गृहीतमायोरुगुणः सर्गादावगुणः स्वतः।।३०।।

श्लोकार्थः भगवान् नारायणमें यह जगत् रहा है सृष्टि करनेमें मायाके महान् गुणोंको धारण किया है तो भी वह स्वतः निर्गुण है।।३०।।

व्याख्यार्थः इसलिये अब यह कहना होगा, कि यह सारा ही जगत् नारायण भगवान्में स्थित है, और वह भगवान् यद्यपि आप स्वयं प्राकृत गुणोंसे रहित है तथापि जगत्की सृष्टि करते समय अपने स्वरूपभूत गुणोंको मायाके द्वारा ग्रहण करता है.

विश्व तीन प्रकारका है. आधिभौतिक आध्यात्मिक और आधिदैविक. इनमें आधिदैविक जगत् भगवान् हैं. आध्यात्मिक जगत् माया सहित भगवान् हैं और आधिभौतिक जगत् मायारूप[1] भगवान् हैं. आधिदैविक [2]जगत् भगवान् ही भगवान् है. अर्थात् अपने स्वरूपसे ही तन्मय जगत् पैदा करके उसमें अन्तर्याम्यादि रूपसे प्रविष्ट होकर क्रीड़ा करता है. यह भी एक प्रकार है. इस प्रकारका ही यहां बोधन करानेकेलिये भगवान्केलिये नारायण शब्दसे निर्देश किया, यह नारायण अक्षर ब्रह्म है, क्योंकि मूलमें इसको स्वतः अगुण कहा है '**आपो नारा इति प्रोक्ताः**' इस प्रकारसे यह पुरुष ही नारायण रूप है. इस अक्षरात्मक पुरुषका आगे निरूपण आवेगा.

'तदिदं' शब्दसे लौकिक-वैदिक दोनों तरहका जगत् अर्थात् प्रथम-मध्यम जगत्का ग्रहण किया है. ये दोनों जगत्, मिट्टीमें घड़ेकी तरह, भगवान्में ही स्थित है।।३०।।

१. 'माया चाविद्या च स्वयमेव भवति'. श्रुतिः.

२. 'स सर्वभवति' इत्यादि श्रुति और 'अहमेव न भत्तोन्यत्' 'द्रव्यं कर्म च' इत्यादि भागवतके द्वारा केवल भगवद्रूप विश्व भी प्रसिद्ध है, और 'तस्मान्मायी सृजते' श्रुति तथा 'तन्माया फलरूपेण' इत्यादि भागवत तथा 'यावत् सञ्जायते किंचित् सत्वं' इत्यादि गीताके द्वारा मध्यम जगत् भी प्रसिद्ध है. द्वितीय स्कंधमें प्रथम

सर्गका निरूपण है. तृतीय स्कंधमें मध्यम सर्ग का..

आभासार्थः यदि जगत्की उत्पत्ति और स्थिति भगवान् करते हैं तो फिर (ब्रह्म रूप) आपका क्या प्रयोजन है? इस पर कहते हैं:

सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः।
विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक्।।३१।।

श्लोकार्थः उस भगवान्की आज्ञासे मैं जगत्को पैदा करता हूं. उनके परवश होकर महादेवजी जगत्का संहार करते हैं और पुरुषरूप होकर वह त्रिशक्तिधर भगवान् ही इस विश्वका रक्षण करते हैं।।३१।।

व्याख्यार्थः मैं भगवान्की आज्ञासे जगत्की सृष्टि करता हूं, और उस भगवान्के वशमें रहकर महादेव जगत्का संहार करते हैं, और वह भगवान् पुरुषरूप धरकर इस विश्वका पालन करता है. इस तरह तीनों तरहकी शक्तियोंको धारण करने वाला वही है. जगत्के बनानेका प्रकार मुझे दिखानेकेलिये भगवान् एक बार इस जगत्के सब ही पदार्थोंको बना देते हैं, और उनकी परम्परा चलानेके लिये मुझे आज्ञा कर देते हैं. संहार करनेकेलिये महादेवजीसे कह देते हैं. इसीलिये जिन्हें भगवान्ने पैदा किये हैं उन्हें और जो उनके वंशमें पैदा हुए हैं उन्हें मारना महादेवादिकी सामर्थ्यके बाहर है. इसीलिये ऐसोंको मारनेकेलिये भगवान् कभी-कभी अवतार लेते हैं. पालन तो स्वयं भगवान् ही करते हैं पर पुरुषरूप रूपान्तर लेकर महादेवादि भी भगवान्के पालन प्रकारके अनुसार ही संहार कार्य करते हैं. यही 'तद्वशः' शब्दका तात्पर्य है. यद्यपि मैं और महादेव जगत्की उत्पत्ति और प्रलय करते हैं तथापि वह शक्ति भगवान्के अधीन है. यह बात 'त्रिशक्तिधृक्' शब्दसे कही है।।३१।।

आभासार्थः इस तरह भगवान्के तीन अंशोंका निरूपण करके आगे भगवान्का माहात्म्य कहना है, इस अपने वक्तव्यको समेटते हैं:

इति तेऽभिहितं तात यथेदम् अनुपृच्छसि।
नान्यद् भगवतः किञ्चिद् भाव्यं सदसदात्मकम्।।३२।।

श्लोकार्थः जो तुमने पूछा वह सब मैंने तुमसे कहा. हे तात्! भगवान्के बिना कार्य-कारणात्मक जगत् इत्यादि कुछ भी नहीं होता है।।३२।।

व्याख्यार्थः हे नारद! तुमने जैसा मुझे पूछा तदनुसार मैंने तुम्हें यह समझा दिया कि इस जगत्में जो कुछ सत्य और असत्य पदार्थ हैं वे सब भगवान् ही हैं.

भगवान्से पृथक् कुछ नहीं है. नारद! तुमने पूछा तो इतना ही था पर उन प्रश्नोंमेंसे ही भगवान्का माहात्म्य भी निकल आता है सो आगे कहना होगा. जो कुछ मैं कह चुका हूं उसका तात्पर्य यह है कि तुमने कितने ही प्रश्न जगत्के स्वरूपके विषयोंमें किये और कितने ही प्रकारके विषयमें किये उन सबका उत्तर यही है कि जगत्का स्वरूप और प्रकार सब कुछ भगवान् हैं. भगवान्से पृथक् कुछ नहीं है. यहां एक यह प्रश्न होता है कि दूसरे मतवाले भी सबका आधाररूप अथवा वस्तुतत्त्वरूप भगवान्को ही मानते हैं, तो फिर तुम्हारे इस भक्तिमार्गमें क्या विशेष है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'भाव्यम्'. अर्थात् जहां-जहां क्रियाका प्रवेश है वो सब कुछ केवल भगवान् है. कहनेका आशय यह है कि जो लोग भेदभाव मानते हैं उनके यहां जो भगवान्को सब कुछ माना है वह पारिभाषिक (माना हुआ) सर्वत्व है, वास्तविक नहीं. और विशिष्टका अभेद माननेवालोंके यहां भी भगवान्का शरीर मानकर जगत्को ब्रह्मरूप माना है वास्तव नहीं. यहां तो उपादेयके अवयव और उपादानके अवयवी इन सबका भेद बिलकुल न मानकर वस्तुस्वरूपसे दोनों एक ही पदार्थ हैं. इस रूपसे भी सब कुछको भगवान् कहा है; इसलिये उनके मतसे इसमें विशेष है. यदि कहो कि ज्ञानमार्गीय ब्रह्मवादमें ही सब कुछको ब्रह्म माना है फिर इस मार्गमें उससे फरक क्या है? तो उसका भी उत्तर देते हैं कि 'सदसदात्मकम्'. जिसका सत्य रूपसे व्यवहार किया जाता है वह घटपटादि पदार्थ और जिसका असत्य रूपसे व्यवहार किया जाता है वह भ्रमका विषय 'शुक्ति रजत' किंवा 'शशश्रृंगादिक' भी भगवान् ही हैं. जहां झूठापन समझा गया है वह विषय भी भगवान् है यदि वह सब भगवान् न होता तो भ्रम विषयका भान और घटादिका ज्ञान कभी नहीं होता. अनुव्यवसायात्मक(निश्चयात्मक) ज्ञान भी न होता. जहा-जहा ये होते हैं वे सब सद्रूप चिद्रूप भगवान् ही हैं।।३२।।

आभासार्थः इस तरह पूर्वोक्तकी समाप्ति करके अब भगवान्का माहात्म्यका वर्णन करना है अतएव पहले भगवद्धर्मोंका माहात्म्य कहते हैं. भगवत्संबन्धिनी उत्कंठा भी भगवद्धर्म हैः

न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते न वै क्वचिद् मे मनसो मृषा गतिः ।
न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे यन् मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः।।३३।।

श्लोकार्थः हे नारद! मेरी वाणी कभी झूठे अर्थका स्पर्श नहीं करती. मेरा मन कभी झूठे मार्ग पर नही जाता. मेरी इन्द्रिय कभी भी बुरे रास्ते पर नहीं जाना

चाहती. क्योंकि मैंने अपने उत्साहवाले हृदयमें भगवान् हरिको धर रखा है ।।३३।।

व्याख्यार्थ: हृदय स्थित भगवान् जब हृदयमें छिप जाते हैं तब ही बुद्धिमें असत्पदार्थोंकी भावना तैयार होने लगती है. इसलिए मैंने भगवच्चरित कहनेके पूर्व प्रेमप्रवाहवाले हृदयमें श्रीभगवान्की स्थापना करली है. उस हृदयमें सरस्वती रहती है. अब वहां ही भगवान्के पधार जानेसे वह सरस्वती भगवान्का आलिङ्गन करके निकलती है, इसलिए मेरी वाणीका विषय अर्थात् मेरा कहा हुआ कभी असत्य नहीं होता. जो बात कल्पान्तरमें होने वाली है मैं उसे पहले ही कह देता हूं पर ऐसी वाणीका भी विषय कभी असत्य नहीं होता और भगवान्को हृदयमें धारण कर लेनेसे ही मेरे मनका व्यापार भी असत्य पथ पर नहीं जाता. जो बात नहीं होने वाली है, मेरा मन उस बातका विचार ही नहीं करता. हृदयमें भगवान् विराजते हैं उस हृदयमें मन और भारती रहती है उनका सम्बन्ध मेरे साथ अभिमान मात्रका है, वास्तवमें तो सब ही पदार्थ भगवान्के ही हैं, मेरे कुछ नहीं है, तथापि भगवान्का ही यह माहात्म्य है कि इतना परम्परासबन्ध रहते भी, अभिमान मात्रका सबन्ध रहते भी मेरे हृदयस्थ होनेसे मेरी वाणी मृषा नहीं होने पाती, मेरा मन असत्य विषयको ग्रहण नहीं करता और मेरे कोई भी इन्द्रिय असन्मार्गमें नहीं गिरते.

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि कहीं-कहीं ब्रह्माजीने भी राजनीतिका निरूपण करते समय हिंस्र उपायोंका निर्देश किया है, कामशास्त्रका कथन करते समय परदारा सुरत सुखादि वर्णन किया है फिर यहां वाणी और मन का असन्मार्गमें जानेका निषेध कैसे किया? इसका उत्तर इतना ही है कि भगवान्को प्रेम सहित हृदयमें स्थापित न करने पर जहां विषयका वाणी और मनके साथ सबन्ध हुआ है वहां ही ऐसा हुआ है. इसलिये श्रीभागवत कहते समय उसका दोष नहीं दिया जा सकता. अन्य पुराणोंमें कहीं-कहीं लौकिकार्थको भी प्रधानता दी गई है पर श्रीभागवतमें तो समाधि भाषाकी ही प्रधानता है. यहां यह प्रश्न भी हो सकता है कि हृदयस्थित भगवान् किस रीतिसे मेरा हित कर रहे हैं? इसके उत्तरमें 'हरिः' पद दिया है. अर्थात् हरि होनेके कारण वे हृदय, मन, वाणी और इन्द्रियोंके सब दोषोंका हरण करके मेरे हितका संवादन करते हैं! 'औत्कण्ठ्यवता हृदा' 'भगवत प्रेम सहित हृदयसे' इस पदके कहनेका यह तात्पर्य है कि सत्यस्वरूप भगवान् प्रत्येक पदार्थमें निवास करता है. पर भगवान्से रहित चित्तमें उनका ग्रहण

नहीं हो सकता. अतएव साधकको चाहिये कि पहले चित्तमें भगवत्प्रेम भर लें. जब भगवान् भगवान्से चित्त भर जायेगा तब वह हृदय भगवद्रूप पदार्थोंका ग्रहण करेगा, अन्यका नहीं. जैसे जिस जिह्वामें रसनेन्द्रिय होगी वही जिह्वा पदार्थोंमें रहे रसोंका ग्रहण करेगी खाली जिह्वा नहीं.

वाक्यके अथवा शब्दके ज्ञानमें पहले सञ्ज्ञाग्रहण करण है (घटम् आनय) यहां जैसे घट किसे कहते हैं. लाना किसे कहते हैं इत्यादि संज्ञा ग्रहण ही नहीं होगा वह 'घटम् आनय' कहने पर भी कुछ नहीं समझेगा. यह पदार्थ ज्ञानकी अन्यत्र रीति मानी गई है. यह नियम ज्ञानमार्गमें भले रहे, भक्तिमार्गमें नहीं. भक्तिमार्गमें तो जैसे रसनेन्द्रिय सहित जिह्वा अपने आप पदार्थ स्थित रसका ग्रहण कर लेती है, पहले रसज्ञानकी अपेक्षा नहीं रखती इसी तरह भक्तिमार्ग प्रेम सहित चित्त अपने आप भगवान्के स्वरूपका ज्ञान संपादन करता चला जाता है. जैसे मनको विषयज्ञान होते समय चक्षु-रसन इन्द्रियां सहारा दे देती हैं. इसी तरह भक्तका हृदय जब भगवान्का ग्रहण करने लगता है तब भगवत्प्रेम उसे अपने आप सहारा दे देता है।।३३।।

आभासार्थः भगवान् श्रीकृष्ण केवल प्रेमसे ही जाने जा सकते हैं. भगवान्के ग्रहण करनेमें अन्य प्रमाणोंकी अपेक्षा है ही नहीं सो कहते हैं:

सोऽहं समाम्नायमयस्तपोमयः प्रजापतीनाम् अभिवन्दितः पतिः।
आस्थाय योगं निपुणं समाहितः तं नाध्यगच्छं यत आत्मसम्भवः।।३४।।

श्लोकार्थः वह जो (मैं) वेदाभ्यास नियमसे करनेवाला तपोमय प्रजापतियों द्वारा नमस्कार किया जानेवाला पिता, ब्रह्मा, निष्काम योगसे निश्चल चित्तसे भगवान्से मिलनेका मैंने प्रयत्न किया तो भी वे मिले नहीं क्योंकि मैं उनसे ही उत्पन्न हुआ हूं।।३४।।

व्याख्यार्थः वह ब्रह्मा, जो मैं वेदमय और तपस्यामय हूं तथा मरीचि आदि प्रजापतियोंका प्रणम्य स्वामी भी हूं. किन्तु ऐसे भी मैंने खूब योगाभ्यास किया, अच्छी तरह एकाग्र बुद्धि हो गया. इतने साधन कर लेने पर भी मुझे अपने पिता भगवान्की खबर न पड़ी, जहांसे मेरी उत्पत्ति हुई है. मैं भगवान्का ज्ञान-संपादन न कर सका.

ज्ञानमार्गको समझनेकेलिये सबसे पहले वेदोपनिषत् प्रमाण माने गये हैं. उसके बाद तपस्या दूसरा साधन है. पर वेदका तात्पर्यज्ञान मनन और निदिध्यासन

से होता है, इसलिये वे भी करने ही पड़ते हैं. निदिध्यासनको तैयार कर देने वाला साधन अष्टाङ्ग योग भी करना चाहिये. इतना कर लेने पर चित्तका एकाग्र होना फल मिलता है. यह फल मिल जाने पर भी यदि उत्तमाधिकारी हो तो उसे भगवान्का साक्षात्कार होता है, यह बात निश्चित नहीं है. इस बातको ब्रह्माजी अपने दृष्टान्त परसे स्पष्ट कर रहे हैं. 'सोऽहम्' इत्यादि. 'समाम्नाय' शब्दसे पुनः-पुनः आवृति किया हुआ वेद लिया गया है. 'सम्' और 'आङ्' उपसर्गोंसे युक्त 'म्ना' धातु अभ्यासको कहती है. इससे यह स्पष्ट होता है कि ब्रह्माजीने अर्थविचार सहित वेदका वारंवार अभ्यास किया था. यहां तक कि ब्रह्माजीके हृदयमें वेद और वेदार्थ भर गया. 'तपोमय' शब्दसे कहते हैं कि वे साधनानुष्ठान करनेमें भी तत्पर रहते थे. क्योंकि तपस्या ब्रह्माका सहज स्वभाव ही है. कदाचित् कोई कहे कि उन्होंने वेदार्थका बराबर विचार नहीं किया होगा? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'प्रजापतीनां'. मैं प्रजापतियोंका माननीय स्वामी हूं. अतएव खूब विचार कर करके उन्हें वेदार्थका प्रवचन कराता था. 'पति' शब्दसे ज्ञानकी परम्परा भी सूचितकी है. मैं उनका स्वामी हूं, वे मेरेसेवक हैं इसलिये उनकी मैंने वंचना की हो यह भी सम्भावना नहीं हैं. इस तरह भगवान्के ज्ञानसंपादन करनेमें अङ्ग सहित प्रमाणका निरूपण कर दिया. क्योंकि मनसे भगवान्का साक्षात्कार होनेमें प्रमाणज्ञान सहायक होता है. इसका आशय यह है कि भगवान्के ग्रहण करनेमें मनकी भी योग्यता पूर्ण थी. 'निपुण' कहनेका तात्पर्य यही है कि सिद्धि आदिके लोभसे वह ज्ञान भ्रान्त भी न होने पाया. किन्तु इन सब साधनोंसे युक्त होने पर भी ब्रह्माजीको भगवान्का साक्षात्कार न हुआ, सो कहते हैं 'तं नाध्यगच्छं'. मैं भगवान्को न पा सका. 'आत्मसंभव' पदसे यह दिखाया है कि मेरा अधिकार यद्यपि पुत्रका था, उत्कृष्ट था तथापि भगवान्का दर्शन मुझे न हुआ. इसलिये यह स्पष्ट होता है कि भगवान् भक्तिसे ही वशमें होते हैं और भक्तिसे ही जाने जाते हैं. भगवान्के दर्शन होनेका उपाय, भक्तिके सिवाय अन्य नहीं है।।३४।।

आभासार्थः तो फिर भगवान्में भक्ति होनेकेलिये सबको कौनसा उपाय करना चाहिये इसका उत्तर देते हैं कि:

नतोऽस्म्यहं तच्चरणं समीयुषां भवच्छिदं स्वस्त्ययनं सुमङ्गलम् ।
यो ह्यात्ममायाविभवं स्म पर्यगाद् यथा नभः स्वान्तम् अथापरे कुतः।।३५।।

श्लोकार्थः अपने शरण आनेवालेके संसारको हटा देनेवाले सब सुखोंका

एक आधार और मंगलरूप भगवान्के चरणारविन्दकी मैं शरण जाता हूं जिस भगवान्ने अपने ही माहात्म्यके वैभवका पार न पाया. जैसे आकाश अपने अन्तको नहीं जानता, तो फिर हम देवादि और मनुष्यादि तो उसके माहात्म्यको कहांसे जान सकें।।३५।।

व्याख्यार्थ: मैं तो उन भगवान्के चरणोंमें नमस्कार करता हूं, बस इतना ही समझता हूं. उन भगवान्में प्रेम हो, इसकेलिये उनको प्रणाम करते रहना, बस इसके सिवाय जब दूसरा साधन मुझे भी नहीं मालूम है तो फिर अन्य लोग तो कहांसे जानते होंगे? यहां यह प्रश्न होता है कि भगवच्चरणमें नमन करनेसे ही क्या होगा? इसका उत्तर देते हैं 'समीयुषां' इत्यादि. जो लोग भक्तिमार्गीय भगवद्भक्ति सम्बन्धिनी कोई भी क्रिया करते रहकर उनके चरणोंमें नमन करते रहते हैं उस नमन मात्रसे भगवान् उनके दुःखमूल जन्म-मरणके चक्रको ही काट देते हैं जिससे कि उन्हें फिर संसार न मिले. प्रवाह ही जब मूलसे टूट जावेगा तब आगे वह प्रवाह अपने आप बन्द हो जायगा. नमन दुःख दूर कर देता है, इतना ही नहीं किन्तु कल्याण भी करता है. 'स्वस्त्ययनं' भगवान्का यह चरणारविन्द सर्व कल्यारणोंका घर है. 'सुमङ्गलं' कहनेका यह तात्पर्य है कि इहलोककी तरह परलोकमें भी सुख पहुंचाने वाला यह चरण है. इसलिये भगवच्चरणोंमें नमन करना ही मुख्य कर्तव्य है इसीसे अर्थकी सिद्धि होती है. परन्तु भगवान्के गुण इतने हैं, ऐसे हैं, ये हैं इत्यादि ज्ञान हो नहीं सकता है. इसका उत्तर देते हैं कि भगवद्गुणोंकी समझ होना कठिन है. 'यो हि' इति. भगवान् जब स्वयं ही अपने गुण, वैभव और ऐश्वर्य आदिको पूर्ण रोतिसे आज तक नहीं जान सके तब फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या है? 'पर्यगात्' शब्दमें परि उपसर्ग निषेधार्थक है. अतः ऐसा अर्थ होता है यह बात सब ही जानते हैं, प्रसिद्ध है यह 'स्म' शब्द कह रहा है. अतएव भगवद्गुणोंको मैं यथावत नहीं कह सकता. यह मैंने कहा था और इसमें मेरा दोष नहीं है.

यहां एक और भी प्रश्न उठता है कि मायाका वैभव तो सब भगवान्का ही है फिर भगवान् अपनी वस्तुको ही नहीं जानते यह क्यों? इसका दृष्टान्तसे उत्तर देते हैं कि भगवान्की मायाके वैभवका अन्त यदि कहीं जाकर होता और फिर उसे भगवान् न जानते तब तो भगवान्की सर्वज्ञतामें कुछ न्यूनता आती भी पर उसका तो कहीं अन्त है ही नहीं. ऐसी अवस्थामें यदि भगवान् अपने वैभवको आप ही सम्पूर्ण रीतिसे न जानें तो इसमें कोई दोष नहीं है. कोई ससाके सींगको न जाने तो

उसमें उसके ज्ञानकी न्यूनता नहीं. क्योंकि वह कोई वस्तु नहीं है. जैसे आकाश अपने अन्तको नहीं जानता क्योंकि आकाश सर्वव्यापक है उसका अन्त ही नहीं है. ऐसे ही भगवान्।।३५।।

आभासार्थ: इस तरह भगवान्के गुणोंका किसीको भी यथावत् ज्ञान नहीं यह कहकर अब कहते हैं कि उनके स्वरूपका भी यथार्थ ज्ञान किसीको नहीं है:

नाहं न यूयं यदृतां गतिं विदुः न वामदेवः किमुतापरे सुराः ।
यन्माययामोहितबुद्धयस्त्विदं विनिर्मितं चात्मसमं विचक्ष्महे।।३६।।

श्लोकार्थ: मैं और तुम जिनकी सच्ची गतिको नहीं जानते हैं वैसे ही शिवजी बड़े अवश्य हैं तो भी उनकी गतिको नहीं जानते तो दूसरे या अन्य देवता तो उनकी गतिको कैसे जान सकते हैं जिनकी मायामें मोहित हुए बुद्धिवाले हमारे इस भगवानके बनाये हुए जगत्को अपनी बुद्धिके अनुसार जानते हैं।।३६।।

व्याख्यार्थ: भगवान्को कोई जानता होगा यह समझना ही भूल है. कारण कि हम बड़े-बड़े अधिकारी भी जब भगवान्को सब प्रकारसे नहीं जानते, तो फिर कोई और जान सकेगा यह तो हो ही नहीं सकता. यथावत् नहीं जानने वालोंमें सबसे पहला मैं ब्रह्मा, तुम सनकादिक आदि सब मेरे पुत्र, जिस भगवान्की सत्यारूपा गतिको ही नहीं जानते तो उसके स्वरूपका ज्ञान तो दूर है. जिस मार्गसे भगवान् सर्वत्र गमन करते हैं उसे गतिको भी हम जानते नहीं हैं. जैसे मनुष्य लोग देवताओंकी गति जानते नहीं है उसी तरह हम भगवानकी गति जानते नहीं हैं ऐसा अर्थ है.

श्रीमहादेव तो भगवदुणावतार हैं और सबके गुरू हैं और "**ईश्वराज् ज्ञानम् अन्विच्छेत्**" इत्यादि वाक्योंमें ज्ञानके भंडार कहे हैं. इसलिये महादेवजी तो भगवान्के स्वरूपको जरूर जानते होंगे? यदि ऐसा कोई समझता हो तो उत्तर देते हैं कि 'न वामदेवः' वामदेव(महादेव) भी भगवत्स्वरूपको नहीं जानते तो फिर इनसे कनिष्ठ कक्षाके देव लोग तो कहांसे जान सकते हैं?

ये लोग भगवान्के स्वरूप-गुणोंको नहीं जानते इसमें एक युक्ति बताते हैं 'यन्माययां'. पूर्वाध्यायमें जिस मायाका निरूपण कर आये हैं, उस ज्ञान सम्बंधिनी मायाने सबकी बुद्धियोंको मुग्ध कर रखी है. अतएव ये लोग भगवन्माहात्म्यको पूरा-पूरा नहीं जानने पाते. ज्ञानेन्द्रियों पर जब बुद्धि अनुग्रह करती है तब वे किसी भी विषयका ज्ञान करा पाती हैं. परन्तु जब बुद्धि स्वयं

मोहित हो ज्ञान होनेकी बात तो दूर रही! तब तो ज्ञानेन्द्रियोंका बनाना ही व्यर्थ समझा जायगा? ऐसी कोई शंकाका उत्तर देते हैं कि 'इदं विनिर्मितं' इत्यादि. भगवान्के बनाये हुए इस जगद्रूप कार्यको हम सब लोग अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार पहचान रहे हैं. अर्थात् यथार्थ रीतिसे पूरा-पूरा भगवत्स्वरूपको समझनेमें ही माया भूल डाल देती है, पर अपनी बुद्धिके अनुसार उसके किये कार्यके समझनेमें वह विघ्न नहीं करती. इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जब भगवान्का कार्य विद्यमान है तब भगवान् भी है ही इसलिये जो लोग 'भगवान् नहीं है' यह कहते हैं उनका पक्ष अपने आप गिर जाता है. 'आत्मसमं' कहकर यह भी कह दिया कि भगवत्कार्यको पहचाननेमें हम अपने स्वरूपके अनुसार ही पार पाते हैं, विशेष नहीं. भगवान्के प्रायः सब ही गुणोंको प्रसिद्ध कर देनेवाला यह जगत् है. अतएव यदि हममें समझनेकी कुछ विशेष सामर्थ्य होती तो फिर विशेष-विशेष अनुमान कर-करके सब ही विशेषोंको समझ लेते, बाकी क्यों रखते. पर सो नहीं हमारे अपनपेमें ज्ञानका सामर्थ्य ही इतना रखा है कि सब उतना ही समझ सकते हैं जितने हम हैं।।३६।।

आभासार्थः यह अशक्यता ज्ञानमार्गमें है यह कहकर भक्तिमार्गमें भी भगवत्स्वरूप-गुणोंके समझनेका असामर्थ्य है, यह कहते हैं:

यस्यावतारकर्माणि गायन्ति ह्यस्मदादयः।
न यं विदन्ति तत्त्वेन तस्मै भगवते नमः।।३७।।

श्लोकार्थः हम लोग जिन भगवान्की लीलाओंका केवल गान करते हैं किन्तु उन्हें तत्त्वतः नहीं जानते उन भगवान्को नमस्कार है।।३७।।

व्याख्यार्थः भगवान्की प्रेम सहित साक्षात् परिचर्या तो हो ही नहीं सकती, इसलिये ये यदि कोई करे तो परम्परा भक्ति कर सकता है, उस परम्परा भक्तिमें भगवद्गुणोंका कीर्त्तन उत्तम है, इसलिये हम सब उन भगवान्के अवतार चरित्रोंका गान करते हैं. 'अवतार'पद देकर यह भी सूचित कर दिया है कि वास्तवमें देखा जाय तो हम लोग भगवान्के चरित्रोंको भी साक्षाद्रूपसे तो नहीं ही जानते. 'कर्म' पदसे गुणगानकी अशक्यता कह दी है. उत्कर्षको दिखानेवाले कर्मोंको 'गुण' कहते हैं. अतएव वहां भी कौनसे धर्म भगवान्के सर्वोत्तमत्व किंवा उत्कर्षको प्रकट करनेवाले हैं यह समझ दुर्लभ ही रहती है, क्योंकि साक्षात् भक्ति ही नहीं है. 'अवतार' पदसे एक और भी न्यूनता है. अवतार अवस्थाका अर्थ यह

है कि भगवान् अपने स्वरूपको शरीर किंवा आकारके द्वारा छुपाकर बाहर प्रकट होते हैं. इसलिये वह भक्ति भी हमारी सोपाधिका ही गिनी जाती है. तो फिर आप भगवान्का ही वर्णन क्यों करते हो? इस प्रश्नका उत्तर 'गायन्ति' शब्दसे दिया है. गान एक सुखकारक कार्य है, अतएव जब गाने लगते हैं तब यह मान लेते हैं कि जब गाना ही है तो फिर इतर गानकी अपेक्षा तो भगवद्गुणगान करना ही सुख कारक है, और देखी हुई बात है, इसलिये यही किया करते हैं. 'हि' शब्दसे यही कहा है. तात्पर्यकी निश्चितता 'तत्त्वेन' शब्दसे कह दी है, तथापि नमन तो सिद्ध है ही, चाहे उसे समझे या न समझ सके, तथापि ज्ञानाज्ञानका विषय वह भगवान् है तो सही यह निश्चय हो रहा है, अतएव ज्ञान और भक्ति दोनों मार्गोंमें नमन तो कर्त्तव्य है ही , क्योंकि उसका स्वरूप और अपने सामर्थ्यको देखकर अन्य कर्त्तव्य कुछ बन ही नहीं सकता. इसलिये कहा है कि 'तस्मै नमः'. यद्यपि भगवान् सब ही प्रमाणोंसे अगम्य है, तथापि प्रसिद्ध तो हैं ही, यह दिखानेके लिये 'तस्मै' कहा. तात्पर्य यह कि वह जो है, जैसा है, बस उसी और वैसेके ही चरणोंमें दैन्य-प्रेम पूर्वक प्रणाम करता रहे, बस जीवकी इतनी ही शक्ति है.

नमन करते समय कह देना चाहिये कि "**यादृशो असि हरे कृष्ण तादृशाय नमो नमः**". हे कृष्ण, हे हरे! आप जैसे हो वैसेको ही हम नमन करते हैं।।३७।।

आभासार्थः इस तरह अज्ञेयरूपसे भगवान्का माहात्म्य कहकर अब पूर्वोक्त सृष्टिकथनका उपसंहार करना है इसलिये तात्पर्यका संक्षेप करते हैं:

स एष आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः।
आत्मात्मन्यात्मनात्मानं संयच्छति च पाति च।।३८।।

श्लोकार्थः ये ही आद्य पुरुष खुद 'अज' होने पर भी कल्प-कल्पमें इस जगत्को उत्पन्न करते हैं वे स्वयं आत्मा(व्याप्त) हैं उस आत्मामें आत्माको मारते हैं और रक्षा करते हैं।।३८।।

व्याख्यार्थः वो यह आद्य पुरुष अजन्मा रहकर कल्प-कल्पमें अपने आप में, अपने आपसे ही अपने आपको ही पैदा करता है, संहार करता है और पालन भी करता है जो हमारी समझमें नहीं आ रहा है. वही यह पुरुष आजकल हमारी बुद्धिमें समाकर सब कुछ कर रहा है. वही पुरुष सर्ग करता है. इसमें हेतु 'आद्य' शब्द है अर्थात् सबके पहले भी वही है, इसलिये सृष्टा है. वह पुरुष है बस, इसीसे सब साधन कह दिये अर्थात् अन्य साधनरूप भी वही है.

एक बार ही सृष्टि होती है इस पक्षका निवारण करनेके लिये यहां 'कल्पे कल्पे' कहा है. जिस समयमें सृष्टि रचना हो सकती है उस समयके टुकड़ेको कल्प कहते हैं. सृष्टिकर्ता वह अपने आप तो सदा एक रूप ही रहता है, यह 'अजः' शब्दसे कहा है. उपादानकरण, कारण और कर्ता तीनों एक आप ही है यह दिखाते हैं 'आत्मात्मनि' इत्यादिसे. आत्मा अर्थात् जगत्का कर्ता स्वयं पुरुष. आत्मना अर्थात् अपने स्वरूप साधन(करण)से, आत्मनां अपने विश्वरूप स्वरूपको बनाता है. उपलक्षणन्यायसे सम्प्रदान अपादानादि अन्य विभक्तियोंके भी अर्थ भगवान् ही हो जाता है यह समझ लेना चाहिये. केवल पैदा करता है इतना ही नहीं, पर मारता है और पालन भी करता है. यहां दो बार 'चकार' आया है उसका तात्पर्य भिन्न विषय निषेध है. अर्थात् मारनेके समय और पालन करनेके समय भी अपने आपके सिवाय अन्य विषय नहीं है. मारणक्रिया और पालनक्रिया का भी विषय भगवान् आप ही है.

एक बात और, जिस-जिस समय वह संहार करता है उसी समय पैदा भी करता है तथा स्थापन भी करता है. विरुद्धधर्माश्रय है. अथवा अन्य धर्ममें अन्य धर्मोंका सम्बन्ध दिखानेके लिये दो 'च'कार हैं. अर्थात् उत्पादक और मारक रहते भी यह भगवान् स्थितिस्थापक बना रहता है. इस विषयमें युक्ति तो महायोग सिद्धि है. जैसे महायोगी सिद्धपुरुष कोई साधन न रहते भी अपनी इच्छासे ही अनेक रूप हो जाता है इसी तरह भगवान् भी सर्वरूप हो जाता है. योगीको तो योगसिद्धिरूप अन्य साधनका सहारा है भी पर भगवान्को तो इसकी भी अपेक्षा नहीं है. भगवान्का तो स्वरूप ही सर्वसामर्थ्ययुक्त है।।३८।।

आभासार्थः तब यह आशंका होती है कि यह तुम्हारा भगवन्मार्ग बहुत अच्छा नहीं है, इससे तो ब्रह्मका आत्मस्वरूपभूत ज्ञानमार्ग ही उत्तम है, क्योंकि वह समझमें तो आ सकता है. इस तरह ज्ञानमार्गके इस पक्षका अनुवाद करके दो श्लोकोंमें इसका खण्डन करते हैं:

विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यग् अवस्थितम्।
सत्यं पूर्णम् अनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यम् अद्वयम्।।३९।।

श्लोकार्थः (हे ऋषि! जब प्रशान्तात्मा इन्द्रिय और अन्तःकरण वाले मुनिगण) उस विशुद्ध केवल, आन्तर्, सत्य, निर्गुण, नित्य, द्वैत भावसे रहित ज्ञान (प्रधान पुरुषको प्राप्त करते हैं उसी समय वे दुष्ट तर्कोंसे नष्ट होकर तिरोहित

हो जाते हैं) ।।३९।।

व्याख्यार्थ: यह ज्ञानरूप पुरुष निर्मल, निर्दोष है. असहाय शूर है. अतिगूढ़ है. जैसा है वैसा ही उत्तम है. अपने स्वरूपमें ही सर्वदा स्थित रहता है. अतएव सर्वदा एकरूप है, पूर्ण है. उत्पत्ति-प्रलय रहित है. निर्गुण है. नित्य है और सच्चिदानन्दस्वरूप रहते भी अद्वय है. अभिन्न है. ज्ञान प्रधान है.

किंचित् किंवा सच्चिदानन्दस्वरूप इस पुरुषमें ये द्वादश धर्म हैं. इन धर्मोसे ही देह और आत्मा का परस्पर भेद जाना जाता है. इन धर्मोंको जब जीव अच्छी तरह समझ लेता है, तब देहेन्द्रियादिमें भूलसे अहंता-ममतारूप असद्भाव धीरे-धीरे जाता रहता है. देह और आत्माका विवेक (भेद-स्पष्टता) इस तरह होता है:

देह अत्यंत मलिन है. मलमूत्रादिसे भरा हुआ है अतएव अशुद्ध है. किन्तु आत्मा विशेषरूपसे शुद्ध है. शुद्ध और अशुद्ध पदार्थोंका ऐक्य किसी तरह भी नहीं हो सकता. इससे यह भी स्पष्ट हो रहा है कि आत्माको किसी भी तरहके संस्कारोंकी अपेक्षा नहीं. किन्तु देहमें किये जाते सब संस्कार व्यर्थ ही हैं. क्योंकि वह नित्य फिर वैसाका वैसा अशुद्ध हो जाता है. इसलिये ज्ञानमार्गमें पहले सब साधनोंका परित्याग कर देना चाहिये.

आत्मा असहायशूर है अतएव इसे अपनी मुक्तिमें बाह्य साधनोंकी अपेक्षा नहीं है किन्तु देह पुत्र स्त्री आदि सहित हैं, अतएव इसे अपने साथ दूसरोंकी भी चिन्ता लगी रहती है. आत्माकी केवलता यदि समझमें आ जाय तो पुत्रादिकी चिन्ता चली जाती है. अतएव इस मार्गमें स्वाश्रय मुक्ति है और भगवन्मार्गमें पराश्रया मुक्ति है. तो उससे यह मार्ग अच्छा ही है. ज्ञानमार्गमें आत्माके स्वरूपसे ही वैराग्य स्वतःसिद्ध है और देहादिमें तो वैराग्यकेलिए उपाय करने पड़ते हैं. केवल विशेषणसे सर्व परित्याग और वैराग्यका निरूपण हो जाता है.

यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है और देह तो ज्ञेय है. इससे आत्माको जाननेकेलिये श्रम करनेका भी निराकरण हो जाता है. आत्मा ज्ञेय नहीं है. आत्मज्ञान करानेवाले शास्त्र तो दूरसे केवल पहचान करा देने वाले हैं. वेदादि शास्त्र आत्माके प्रकाशसे जब संबद्ध होते हैं तब ही अपनी सत्ता प्रकाशित करनेमें समर्थ होते हैं और प्रमाण भी तब ही होते हैं. इन शास्त्रोंको तो उपचारसे आत्मबोधक कहते हैं. और इस तरह सर्व पदार्थ मात्रका प्रकाश करनेवाले

आत्माका जब यह सामर्थ्य समझमें आ जाय वे तब ज्ञानकेलिये भी प्रयत्न करना छोड़ दें , यह कहनेका तात्पर्य है.

आत्मा प्रत्यक् है, मन बुद्धिको भीतरकी तरफ ले जाकर जानने योग्य है. देह तो बाहरसे मन-इन्द्रियों द्वारा जानने योग्य है, पराक है. ऐसी अवस्थामें यदि आत्माका यह भाव जान लिया जाय तो फिर योग साधन भी व्यर्थ ही है. योगसे तो उलटा अपनी मनोवृत्तिमें आत्माको स्फूर्ति करके उसको पराक् बनाया जाता है, जैसे आन्तर् अग्निको मथनके द्वारा बाह्य बनाया जाता है. इसलिये योग तो सम्यक्को असम्यक् करने वाला है. कदाचित् कोई कहे कि आत्मा गुप्त है अतएव योगके द्वारा उसे प्रकट किया जाता है, इसलिये योगका उपयोग है ही, तो इसका उत्तर देते हैं कि 'सम्यक्'. आत्मा तो जैसा है वैसा ही अच्छा है, बाहर होनेसे अच्छा नहीं, आन्तर रहनेसे ही उसकी अच्छाई है. देह बाह्य होनेसे असम्यक् है. अतएव देहको जैसा है वैसाका वैसा थोड़ी देर भी रखकर सम्यक नहीं रख सकते किन्तु स्नानादि अनेक संस्कार करके उसे अच्छा रखना पड़ता है.

यह आत्मा अवस्थित(अचल) भी है. इसलिये आवाप और उद्वाप द्वारा स्थिर रखनेकेलिये इसके मनन करनेकी भी अपेक्षा नहीं है. कुछ बाधक धर्मोंका निराकरण और सहायक धर्मों का(आवाप)स्थापन करके मनन किया जाता है. आत्मा स्थिर है. जो अनवस्थित है उसको युक्तियोंसे स्थिर किया जाता है. आत्मा तो सर्वदा स्थिर रहनेसे अवस्थित है ही. देह सर्वदा अनवस्थित (अस्थिर) है. इसलिये आत्मा इससे जुदा है. इसलिये नाड़ी शोधनादिसे जो देह शुद्धिका प्रयास करनेमें आता है वह भी व्यर्थ है. क्योंकि आत्माका देहसे कोई विशिष्ट सम्बन्ध नहीं है. यह आत्मा(सत्य) है, सर्वदा एकरूप रहता है. देह ऐसा नहीं है, यह सबको मालुम है ही. इसलिये आत्माको सदा एकरूप रखनेकेलिये योगादिका श्रम करना उचित नहीं है.

यह आत्मा पूर्ण है और देह तो अपूर्ण है. इससे स्पष्ट है कि आत्माकी न्यूनता दूर करनेकेलिये भी यत्न करना निष्फल है. क्योंकि वह स्वतः पूरा है. यहां यह प्रश्न हो सकता है कि जैसे आकाश पूर्ण, सदा एक रूप है, तथापि यदि उसके भीत वगैरहसे आड हो रही हो तो उन्हें हटाकर उसको भी विशाल बनाया ही जाता है. इसी तरह आत्माकी भी उपाधियोंको दूर करनेकेलिये यत्न करें तो क्या हानि है? इसका उत्तर देते हैं कि 'अनाद्यन्तम्'.

जिसके उत्पत्ति-प्रलय होते हों वह अपने सजातीय पदार्थमें रहता है तब उसे उपाधि लगानी संभव है. जैसे घटादिमें घुसनेसे आकाशमें उपाधि होती है. ऐसी उपाधि आत्मामें होनी असंभव है. अन्तःकरण, शरीर किंवा और भी कोई पदार्थ आत्माका आच्छादक नहीं हो सकता. क्योंकि आत्मा स्वयं विकार रहित है, निर्लेप है और व्यवहारमें आने योग्य नहीं है. इसलिये किसी तरह भी आत्मामें उत्पत्ति-प्रलयकी संभावना भी नहीं है. अतः उपाधिके निराकरणकेलिये भी प्रयत्न करना व्यर्थ है. यदि कहो कि देह, अन्तःकरण आदि आत्माकी सत्तासे ही प्रकाशित हो रहे हैं वे उसकी उपाधि नहीं हो सकते? और जब आत्माको सर्व प्रकारसे जान लिया तो फिर देहादि निराकरणार्थ भी यत्न व्यर्थ है.

एक शंका यह है कि सत्व, रज आदि गुणोंके द्वारा आत्माका क्षोभ हो सकता है इसलिये आत्माकी सर्वदा एक स्थिति रखनेकेलिये गुणक्षोभ निराकरण आवश्यक है तो इसकेलिये तो यत्न करना ही चाहिये! इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'निर्गुणम्'. देहादि प्रकृतिके ही गुण हैं. अतएव जो गुण दूसरेके हैं और जिससे आत्माका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है उनके द्वारा आत्मामें क्षोभ हो यह संभव ही नहीं है. इसलिये गुणक्षोभ निराकरणकेलिये भी यत्न करना व्यर्थ है. इस तरहका आत्मा सर्वदा ही रहता है, यह कहनेकेलिये ही 'नित्यः' कहा है. पहले 'सत्य' शब्दसे आत्माकी स्वरूपनित्यता कही, अब यहां नित्य कहकर आत्माके धर्मोंको नित्य कहा है. अभी तक जितने भी स्वरूपपरिचायक आत्मधर्म कहे हैं वे सब सर्वदा वर्तमान हैं और उन सहित आत्मा नित्य है. आत्मामें आत्माके धर्म पैदा नहीं किये जाते. इसलिये उसके धर्मोंको नित्य रखनेकेलिये भी यत्न व्यर्थ है.

एक और भी बात है कि यदि यह आत्मा आनन्दमय न हो केवल चिन्मय ही हो तो फिर आगे भगवत्सायुज्यकी किंवा भगवत्सायुज्य करनेकी अपेक्षा रही आवै. किन्तु वास्तवमें यह आत्मा ही ब्रह्म भी है, भगवान् भी हैं. क्योंकि "**अयम् आत्मा ब्रह्म विज्ञानमयः**" "**अहम् आत्मा गुडाकेशः**" इन श्रुति और भगवद्वाक्यसे आत्मा, भगवान् और ब्रह्म है यह स्पष्ट है इसलिये भगवत्सायुज्यकेलिये और ब्रह्मभावकेलिये भी प्रयत्न करनेकी अपेक्षा नहीं है. सो अब कहते हैं 'अद्वयम्'. यह आत्मा द्वयरूप नहीं है. अर्थात् भगवान् और आत्मा का कोई भेद नहीं है. "**पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यम् अण्वपि**" ज्ञानमार्गमें पुरुष और ईश्वर का कुछ भेद नहीं है. जो कोई इन दोनोंमें फरक समझता है उसकी '**मृत्योः स मृत्युम्**' इत्यादि

और '**अन्यो असौ अन्यो अहं**' इत्यादि श्रुतियोंमें निन्दाकी गई है. आत्मामें नाना रूपता ही नहीं है तो वैलक्षण्य तो कहांसे आवे? यह आत्मा सब पदार्थोंमें एकरूप, सब जगह बिना क्षोभवाला, उत्पत्ति-विनाश धर्मोंसे रहित, सब जगह भेदरहित, सर्वत्र स्थिर, सर्वत्र सुस्थित, सब जगह आन्तर स्फूर्तिवाला, सर्वत्र ज्ञानरूप, सब जगह असङ्ग, उदासीन और शुद्ध है. इस तरह इस आत्माको जब परिचायकरूपोंसे जान लिया जाता है तब ज्ञानी कृतार्थ हो जाता है, फिर इसे कोई कर्तव्य नहीं रहता है।।३९।।

आभासार्थः इस प्रकार उक्त कथनसे आत्मज्ञानके मार्गका निरूपण कर अब उसका खण्डन करते हैं:

ऋषे विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः।
यदा तदैवासत्तर्कैः तिरोधीयेत विप्लुतम्।।४०।।

श्लोकार्थः हे नारद! शान्त मन वाले पुरुष इस पूर्वोक्त अक्षर पुरुषको जानते हैं, यह माना; किन्तु लौकिक असत् तर्कोंसे जब इसे जानना चाहते हैं तब यह अन्धकारमें डूबकर छिप जाता है।।४०।।

व्याख्यार्थः हे ऋषे नारद! तू भी सब वेद मन्त्रोंका जानने वाला है अतएव सब सिद्धान्तोंको जानता है. हमने मान लिया कि ज्ञानमार्गमें आत्माको पूर्वश्लोकोक्तस्वरूप माना है और वह ऐसा ही है पर इससे क्या? आत्मामें अनेक अनर्थ जो मालूम हो रहे हैं उनकी निवृत्ति तो करनी ही चाहिये. घट स्थानीय शब्दज्ञान और दण्ड स्थानीय प्रत्यक्षज्ञान है. घट पैदा होता भी रहे पर यदि उस पर डण्डेकी मार पड़ती रहे तो क्या घट तैयार हो सकेगा? कभी नहीं. इसी युक्तिके अनुसार कहना पड़ता है कि शब्दके द्वारा आत्मा नित्य सत्य ज्ञान शुद्ध स्वरूप सिद्ध होता भी है पर प्रत्यक्षमें तो उसके अनित्यता, अज्ञानता प्रभृति अनेक दोष प्रतीत हो रहे हैं. ये प्रत्यक्षसिद्ध दोष, उसे वैसा सिद्ध होने ही क्यों देंगे. अब यदि उसे वैसा सिद्ध करना है तो उसके इन अनर्थोंकी निवृत्ति करनी होगी. वेदादिशास्त्रोंसे आत्मा विशुद्ध सिद्ध होता है पर प्रत्यक्षसे संसारी. यदि ऐसे आत्माको भी संसार लग सकता है तो फिर उसकी मुक्ति कैसे होगी. क्योंकि संसार तो उससे भी जबर्दस्त ठहरता है. यदि कहो कि आत्माके ऐसे पनको समझनेसे ही सब अनर्थोंकी निवृत्ति हो जायगी, तो भी ठीक नहीं. क्योंकि आत्माका ज्ञान तो प्रमाणके द्वारा ही संपादन करना होगा और उसमें प्रमाण

वेदको ही कहोगे. पर केवल अकेला वेद ही तुम्हारे सिद्धान्तमें प्रमाण हो नहीं सकता. जिस वाक्यसे तुम उसे वैसा सिद्ध करना चाहोगे, दूसरे वादी उसी वाक्यसे या वाक्यान्तरसे उसे दूसरे प्रकारका सिद्ध करेंगे तो बहुवादि अस्वीकृत होनेसे अनर्थोंकी निवृत्ति हो नहीं सकती भले अनर्थ भ्रममें ही मालुम हो रहे हैं पर भ्रम प्रतीत अनर्थोंकी निवृत्ति तो करना ही पड़ेगा. अनुभवसे विरुद्ध प्रमाणकी गति नहीं चलती.

यदि कोई कहे कि प्रमाण(वेदवाक्य) सहित योगसिद्ध मन ही हमारे अभीष्ट आत्माको वैसा सिद्ध कर सकेगा. अतएव सब अनर्थोंकी निवृत्ति हो सकेगी. तो इस पक्षको भी स्वीकार करके खण्डन करते हैं 'मुनयः' इत्यादि. माना कि मननस्वभाव और प्रशान्तइन्द्रिय-मनवाले विद्वान जितेन्द्रिय और शुद्धान्तःकरण होकर मनन करेंगे तब वैसी आत्मा अनुभवमें आ जायगी. मननका अर्थ है 'युक्तिभिः अनुचिन्तनं' युक्तियोंके द्वारा विचार. ऐसी दशामें मनन गुणस्वरूप हुआ. क्योंकि वृत्तिरूप है. सत्वके समय सत्, रज आदिके समय असत् और मिश्रके समय सदसत् तर्क स्फुरित हो सकेंगे. आप जब वेदके द्वारा वैसा सिद्ध करोगे तब ही असत्तर्क-कुयुक्तियां उसे हटा देंगी तो वैसा ज्ञान तिरोभूत हो जायगा. यदि कहो कि हम वेदशास्त्रोंके द्वारा सर्वदा आत्माका वैसा ही अनुसन्धान करते रहेंगे तो आत्मामें संसारकी स्फूर्ति (अनुभव)ही न होगी. किन्तु ऐसा हो नहीं सकता. क्योकि संसार तो प्रत्यक्ष सिद्ध है. उसे मानना ही पड़ेगा. अब यदि उसे संसारी ही मान लेते हैं तो फिर मोक्ष ही न हो सकेगा और तब सभी मोक्षप्रतिपादक शास्त्र निष्फल मानने पड़ेंगे.

अब द्रष्टकी अनुपत्तिके कारण आपको यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जो लोग मुनि हैं और प्रशान्त मन-इन्द्रिय वाले हैं उनको आत्माका जब वैसा (शुद्ध) अनुभव होता है तब संसार नहीं है. और अन्य लोगोंके मनमें आत्माका वैसा अनुभव नहीं होता तो उनके लिये संसार है, इसी तरह प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष चर्चाके समय भी कहना होगा कि सत्तर्क सहित वेदादि प्रमाणके द्वारा आत्मा शुद्ध-बुद्ध स्फुरित होगा और असत्तर्कों सहित वेदादिके द्वारा साधनाभावसे प्रतिहत होकर तिरोभूत हो जायगा. पर ऐसी व्यवस्था करनेकेलिये कोई भी साधन तो अवश्य कहना होगा जिसके स्वीकार करनेसे असत्तर्कादि हट जावें और वैसा ज्ञान जाग जाय. सो कुछ मालुम होता नहीं. शम आदि तो पहलेसे ही होते नहीं. कारण कि

प्रशमके साधन, नित्यानित्यवस्तुविवेक, वैराग्य आदि हैं. वे अभी हुए नहीं हैं इसलिये प्रशमादि भी नहीं हैं. यदि कहो कि साधनोंके न होते हुए भी प्रशमादि हो जाते हैं तो फिर प्रशमादि सबको सर्वदा होने चाहिये. सो कुछ होते नहीं. इसलिये एक कोई ऐसा साधन कहना चाहिये जिसके द्वारा असत्तर्कोंको हटाकर आत्माका वैसा ज्ञानोदय होवे. यदि भगवान्में भक्ति होनेको वैसा साधन कहो तो फिर आत्मज्ञानके ढकोसलेका क्या प्रयोजन है? भक्ति ही स्वतन्त्र रीतिसे मोक्ष दे देगी! भगवान्ने तो भक्तज्ञानीको अपना आत्मा मान ही रखा है. (''ज्ञानीतु आत्मैव मे मतम्'' ज्ञानी भक्त तो मेरी आत्मा है). इसलिये भक्ति रहित कोई भी आत्मज्ञानका मार्ग स्वतन्त्र है ही नहीं. और जब भक्ति सिद्ध हो चुकी तो फिर इस स्वतन्त्र ज्ञानमार्गसे प्रयोजन ही क्या है? इसलिये यह स्वतन्त्र आत्मज्ञानका मार्ग दोनों तरहसे अप्रयोजक है, निष्फल है. तो अब यह सिद्ध हो गया कि पूर्व श्लोकोंमें आत्मा या पुरुष, भगवान् अक्षरब्रह्मका ही एक रूपान्तर है और यह भी एक भगवान्का माहात्म्य है. इस प्रकारके आत्मभूत रूपान्तरसे भगवान्की महत्ता सिद्ध होती है. अथवा यह चित् पुरुष या विशुद्ध आत्मा भगवान्की विभूति है. लोग 'देखो मेरे हाथ पर ही चन्द्रमा बैठा है' ऐसा कहकर बालकोंकी बुद्धिको बहकानेकी तरह अपने इस आत्माको ही कृत्स्न ब्रह्म मान लेते हैं और इसके श्रवणमात्रसे ही मुक्ति भी मान लेते हैं वे सब बालकोंकी बुद्धिवाले हैं, बेसमझ हैं।।४०।।

आभासार्थः इस तरह अन्य मतोंका निराकरण करके अब 'यस्यावतार कर्माणि गायन्ति' इस अपने कथनका समर्थन करनेके लिये वे अवतार कौनसे हैं? सो बताते हैं:

आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य कालः स्वभावः सदसद् मनश्च।
द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि विराट् स्वराट् स्थास्नु चरिष्णु भूम्नः।।४१।।

श्लोकार्थः 'पर' भगवान्का प्रथम अवतार पुरुष है, तदनन्तर काल, स्वभाव, सदसद्भाववाला मन, द्रव्य, पांच महाभूत, अहंकार, तीनों गुण, इन्द्रिय, विराट्-स्वराट्, स्थावर-जंगम यह सब भगवान्के अवतार कहलाते हैं।।४१।।

व्याख्यार्थः परब्रह्म पुरुषोत्तमका पहला अवतार प्रकृतिका भर्ता पुरुष है. द्वितीय अवतार काल है. तृतीय स्वभाव. तदनन्तर कर्म किंवा प्रकृति चतुर्थ अवतार है. फिर मन. यह मन आधिदैविक पदार्थ है जो संकल्पके द्वारा सबसे

पहले कामको पैदा करता है. और फिर उसके द्वारा भौतिक सृष्टि होती है. इसके अनन्तर और भी परम्परासे अवतार होते हैं. पञ्च महाभूत, अहंकार, सत्त्वादि प्राकृत गण अथवा रूप, रस, स्पर्श, गन्ध, शब्द पंचतन्मात्रा, चक्षु आदि दश इन्द्रिय, विराट् रूप ब्रह्मका देह और विराट् देहाभिमानी विराट् ब्रह्म. स्थिर पदार्थ और चर सजीव पदार्थ ये सब सर्वव्यापक समर्थ भगवान्के अवतार हैं. मूलस्थान (अक्षर)से प्रकट लोकमें उतरना ही अवतार कहा जाता है. वास्तवमें तो यह जिसका अवतरण कहा जाता है वह भगवान् अक्षर अव्यक्त रूपसे सर्वत्र ही स्थित है. किन्तु अपनी इच्छासे कभी-कभी वही सब पदार्थोंके रूपोंमें प्रकट होकर यहां आ गया है. इसलिये सब पदार्थ ही भगवान्का अवतार है।।४१।।

आभासार्थः परब्रह्म भगवान् सब पुरुषोंसे उत्तम हैं. अतएव अपने समान जाति वालोंसे उच्च गुण होना ही भगवत्त्व किंवा भगवदवतारत्त्व समझा जाता है, वैसे अवतार ये आगे जो गिनाये जाते हैं वे ये हैं:

अहं भवो यज्ञ इमे प्रजेशा दक्षादयो ये भवदादयश्च ।
भूलोकपाला भुवर्लोकपालाः स्वर्लोकपालास्तललोकपालाः।।४२।।
गन्धर्व-विद्याधर-चारणेशा ये यक्ष-रक्षोरग-नागनाथाः ।
ये वा ऋषीणाम् ऋषभाः पितृणां दैत्येन्द्र-सिद्धेश्वर-दानवेन्द्राः।
अन्ये च ये प्रेत-पिशाच-भूत-कूष्माण्डयादोमृग-पक्ष्यधीशाः।।४३।।
यत् किञ्च लोके भगवन् महस्वदोजः सहस्वद्बलवत्-क्षमावत् ।
श्रीह्रीर्विभूत्यात्मवदद्भुतार्णं तत्त्वं परं रूपवदस्वरूपम्।।४४।।

श्लोकार्थः मैं (ब्रह्मा), महादेव, यज्ञनारायण, यह मरीचि आदि प्रजेश, दक्षादि, (नारद!)तुम्हारे जैसे भक्त, सनकादि तथा च भू भुवः स्वः तल आदि लोकोंके पालक, एवमेव गन्धर्व विद्याधर चारण आदिके ईश और यक्ष रक्ष उरग नागोंके नाथ, और भी ऋषियोंमें श्रेष्ठ, पितृ श्रेष्ठ, दैत्येन्द्र, सिद्धेश्वर, दानवेन्द्र आदि भगवान्के अवतार हैं. इनके अतिरिक्त जो प्रेत, पिशाच, भूत, कूष्माण्ड आदि तथा मृग पक्षी आदिके ईश हैं वे सब भगवदवतार रूप हैं. इन सबके सिवाय लोकमें जो भी उत्कृष्ट धर्म किंवा विभूति युक्त हैं, ओज सह बल क्षमा आदि गुणोंसे युक्त हैं, श्री ह्री विभूति एवं आत्मयुक्त पदार्थ है वे सब परमतत्त्वरूप हैं, मूर्त और अमूर्त सभी भगवत्स्वरूप ही हैं।।४२-४४।।

व्याख्यार्थः जब यह सिद्ध हो चुका कि उत्कृष्ट गुण पुरुषोत्तम और वैसे

ही उसके अवतार, तो फिर हीन गुणवाले स्वसेवकोंसे बहुतसे उत्कृष्ट गुणवाले हैं. ये सब भगवान्‌के अवतार हैं. उनमें पहला मैं(ब्रह्मा), भव-महादेव, यज्ञनारायण, मरीचिसे लेकर ये प्रजाओंके अधीश, उनमें भी किसी कल्पमें दक्ष मुख्य हैं, अतएव दक्षादि, भक्तोंमें हे नारद! तुमसे लेकर भक्तगण, 'च'कारसे सनकादिक ज्ञानी.

स्वभावसे मुख्योंको गिनाकर अधिकारसे उत्कृष्टोंको कहते हैं. पृथ्वी लोकोंके पालन करने वाले पृथ्वीपति, अन्तरिक्षलोकके पालक रुद्रादिक और स्वर्गलोकादिके पालक इन्द्रादिक. फिर नीचे पातालादिके रक्षक, गन्धर्वादिके अधीश, यक्षादिके नाथ, तामस प्रजेश. 'यक्षोरग' यहां ऋषिवचन होनेसे सन्धि हुई है. गन्धर्व आदि राजस जीव हैं. यक्षादि तामस जीव हैं और ऋषिश्रेष्ठ सात्त्विक हैं. पितर लोग मिश्रित हैं. दैत्येन्द्र राजस है, सिद्धेश्वर सात्त्विक हैं और दानवेन्द्र तामस हैं.

अब तामसतामसोंको गिनाते हैं 'प्रेतेति'. प्रेत, पिशाच, भूत, कूष्माण्ड, यादस, मृग और पक्षियोंके अधीश लोग तामस-तामस हैं. इनके स्वरूपोंका निरूपण तृतीय स्कन्धमें कहेंगे.

अब जो उत्कृष्ट गुण या धर्म, किंवा भाग्य ऐश्वर्यादि, किंवा ऐश्वर्यादि युक्त वस्तु किंवा प्राणी, वह सब भगवान्‌का अवतार है. तेज, ओज=इन्द्रिय शक्ति, सह=मनकी शक्ति अथवा ओजः सहित सह तथा बल, शरीर शक्ति. मन और इन्द्रिय दोनों परस्पर उपकार करनेवाले हैं, इसलिये दोनोंको एक पदमें कहे गये हैं. क्षमा, सहन करना ये सब धर्म किंवा इन धर्मोंसे युक्त प्राणी ये सब भगवान्‌के अवतार हैं. ये धर्म कुछ विशेषता लिये हुये हों वे ही अवतार हैं, साधारण नहीं. श्री=शोभा, ह्री=लज्जा, विभूति=लक्ष्मी, आत्मा=बुद्धि. श्रीसे आत्मा पर्यन्तके चारों गुण या धर्म जिसमें हों वह साधारण भी भगवदवतार है. और अद्‌भुत रूपवाला किंवा विचित्र रूपवाली गौ सिंहादि जीव भी. विशेक्या, जो कुछ भी रूपवाला प्रकाशमान हो वह सब परतत्त्व पदार्थ है. अथवा जो भी अरूप-अमूर्त आकाशादि सब भगवत्तत्त्व हैं, क्योंकि इनकी इस रूपसे प्रसिद्धि है।।४२-४४।।

आभासार्थ: इस तरह जो कुछ भी उत्कृष्ट धर्मयुक्त वस्तुयें प्रसिद्ध हैं, वे सब भगवान्‌के अवतार ही हैं यह कहकर अब जो साक्षात् सच्चिदानन्दरूप और

ऐश्वर्य वीर्य आदि सब गुणोंसे सम्पन्न मुख्य भगवान्के अवतार हैं इन्हें मैं तुम्हारे आगे कहता हूं सो सुनिये:

प्राधान्यतो यानृष आमनन्ति लीलावतारान् पुरुषस्य भूम्नः ।
आपीयतां कर्णकषायशोषान् अनुक्रमिष्ये त इमान् सुपेशान् ।४५।।

श्लोकार्थ: हे ऋषि! जो भगवान्के अवतारोंको लोक प्राधान्य देते हैं वे अवतार भूमा अन्तर्यामीरूप द्वितीय ध्यानमें कहे हुए हैं, उनके अवतार कहलाते हैं. उन सुन्दर अवतारोंको क्रमसे मैं कहूंगा. वे कानके मैलको नाश करने वाले हैं. उनका तुम कर्ण (कान) द्वारा पान करो।।४५।।

व्याख्यार्थ: हे नारद! जो भूमा पुरुषके लीलावतार हैं, उनके सुन्दर चरित्रोंको मैं कहता हूं सो सुनिये. नारदको 'ऋषि' शब्दसे जो सम्बोधन किया उससे नारदजीको ही ऐसे भगवच्चरित्रोंका श्रवण करनेका अधिकार है, यह स्पष्ट होता है.

यद्यपि भगवद्रूपा सृष्टिमें सब ही पदार्थ भगवान्के अवतार रूप हैं, यह मुख्य पक्ष है, तथापि इन पदार्थोंको लोकमें अवतार रूपसे प्रसिद्धि नही है, इसलिये जिनको लोक अवताररूपसे समझ रहे हैं और जिन्हें मुख्य अवतार कहते हैं उनका वास्तवमें लीलावतार नाम है. ये लीलावतार किसके हैं? यह प्रश्न यदि किया जाय तो कहना होगा कि जिस भूमा पुरुषका द्वितीय ध्यान "**केचित् स्वदेहान्तः**" में वर्णन किया है. और ब्रह्माण्डसे अधिक पुरुष कहा गया है, उसके ये सब अवतार हैं. देह जीव और अन्तर्यामी ये तीनों पदार्थ सत् चित आनन्द रूप हैं. उनमेंसे सत्–चित्रूप देह–जीवरूप अवतारोंका क्रमसे पूर्वमें निरूपण कर चुके हैं. अब आनन्द पदार्थ अन्तर्यामीरूप अवतारोंका निरूपण करते हैं, सो उनका सुखसे श्रवण करो. ये आनन्द और अन्तर्यामी रूप हैं, इसलिये न बाहर स्थापन करने योग्य हैं और न मध्य में, किन्तु इन्हें तो सबसे भीतर ले जाना उचित है, इसलिये कहा है कि 'आपीयतां' आसमन्तात् पान करो. इनके श्रवण करनेका फल विशेषरूपसे कहते हैं कि 'कर्ण कषाय शोषान्'. कानोंके पापोंको दूर करने वाले चरित्र हैं. यद्यपि भगवान्के सब ही चरित्र पापनाशक हैं तथापि कान तो विशेषकर लौकिक दोषोंसे दुष्ट हो रहे होते हैं, अतएव भगवच्चरित्र सुननेमें इनको स्वाद नहीं आता. ऐसी अवस्थामें यह विशेष चरित्र कानोंकी मलिनता दूर करने वाले हैं, अतएव इनके श्रवण करने पर सब ही भगवच्चरित्रोंके सुननेमें रुचि पैदा हो

जावेगी. और इसीलिये मैं इनका अनुक्रमसे निरूपण करुंगा. तुम ही इसके श्रवण करनेके अधिकारी हो इसलिये तुमसे ही कहता हूं. 'इमान्' कहनेसे यह ज्ञात होता है कि उस समय श्रीब्रह्माकी बुद्धिमें ये सब चरित्र आ चुके थे. इतने आडम्बरसे कहनेका कारण यह है कि ये चरित्र अति मनोहर हैं. यद्यपि भगवच्चरित्रोंका ही निरूपण चल रहा था फिर पुनः कहनेकी प्रतिज्ञा क्यों की? यह प्रश्न हो सकता है पर विशेष होनेसे इनको दूसरे ही क्रमसे कहना पड़ेगा, इसलिये कथनकी प्रतिज्ञाकी है।।४५।।

श्रीभागवत महापुराणके द्वितीय स्कन्धकी महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी विवृतिका छठा अध्याय सम्पूर्ण.

अध्याय ७

तृतीय श्रवणाङ्ग साधन: मनन

अन्तर्यामीके अवतारोंकी कथा

एवम् आत्मातिरिक्तानाम् उत्पत्त्या निर्णय: कृत:।
आत्मनोऽपि हरेरत्र निर्णयो विनिरूप्यते।।का.१।।

कारिकार्थ: सब पदार्थोंमें स्वस्वरूपसे समाये हुये सर्वव्यापक भगवान् पुरुषोत्तमके सिवाय, स्थूल-सूक्ष्म सब ही पदार्थोंका उत्पत्तिसे छः अध्यायोंमें निर्णय कर चुके. अब इस सप्तमाध्यायमें भगवान् पुरुषोत्तमका भी उत्पत्तिसे निर्णय करते हैं. पूर्वोत्तर ग्रन्थकी यही सङ्गति है. मुख्य आत्मा श्रीपुरुषोत्तम हैं, क्योंकि वह अपने अस्ति-भाति-प्रिय निजरूपसे सब ही पदार्थोंमें (अतति)व्याप्त रहता है. इसका उत्पत्तिसे निर्णय करना है, अन्यथा अतिरिक्त परब्रह्मका निर्णय न हो पायेगा. ''**यस्मात् क्षरम् अतीतो अहं**'' आदि गीतोपनिषत्से स्पष्ट है कि अतिरिक्त भगवान् श्रीपुरुषोत्तम भगवान् है. यह भी उत्पन्न होता है. सर्व समर्थ भगवान्में अजत्व और उत्पत्तिका कोई विरोध नहीं होता. मर्यादायुक्त कर्मबद्ध जन्म भगवान्का नहीं होता, अतएव वह उत्पन्न होते भी अजन्मा रहता है ''**अजोपि सम्भवामि**'' (गोपाल.). यह अजन्मा पुरुषोत्तम भगवान् दो तरहसे जन्म लेता है, धर्मरूपोंसे और मूल रूपसे. पुरुषोत्तमके धर्मरूप अन्य सब अवतार हैं और मूलरूप अवतारी श्रीपुरुषोत्तम अतिरिक्त भगवान् हैं. दोनों तरहका निर्णय इस अध्यायमें किया गया है. नारदके प्रश्नका आशय मूल रूपके विषयमें ही था, किन्तु इसके निर्धारार्थ ही ब्रह्माजीने स्थूल-सूक्ष्म प्रकरण कहे. अतएव दोनोंकी शेष-शेषीभाव सम्बन्धरूप संगति है।।१।।

सूक्ष्मध्यानं पूर्वम् उक्तं तस्यात्र विवृति: स्फुटा।
सप्तमे क्रियते येन तद्धर्मा वस्तुतो मता:।।का.२।।

कारिकार्थ: कदाचित् कोई कहे कि स्थूल प्रकरणमें विमर्ष हो चुका है और यहां तो केवल अवतारोंकी ही कथा कही गई है, फिर इस प्रकरणकी गणना विमर्षमें क्यों होनी चाहिये? इसके उत्तरमें कहते हैं 'सूक्ष्मध्यानं' इत्यादि. पहले जो सूक्ष्म भगवान्का ध्यान कह चुके उसका ही इस अध्यायमें वर्णन किया जाता है. इस विवरणसे धर्मोंका स्पष्टीकरण हो गया. फिर भी कदाचित् कोई पूछे कि स्थूल

ध्यानमें उद्दिष्ट विमर्शके स्पष्ट रहते भी जड़ और जीवों की ब्रह्मस्वभावसे जुदाई मालूम देती है. इससे स्पष्ट होता है कि ये दोनों परब्रह्मसे पृथक् होंगे! तो इस भ्रमको दूर करनेके लिये स्थूल प्रकरणका उत्पत्तिसे निर्णय करना उचित था, किन्तु सूक्ष्म ध्यानमें तो भगवान्से अपृथक् गुण और आभरणोंका ही निरूपण आया है तो फिर इस सूक्ष्म ध्यानके विवरणकी क्यों अपेक्षा हुई? इसका उत्तर देते हैं कि 'येन'. इस विवरणसे पुरुषोत्तम भगवान्के अनागन्तुक वास्तव धर्मोंका स्पष्टीकरण होता है इसलिये विवरण आवश्यक है, पुरुषोत्तमके आगन्तुक धर्म जगद्वर्ती पदार्थ हैं और अनागन्तुक धर्म भिन्न-भिन्न अवतार हैं।।२।।

उपासनायां सर्वस्य हरेर्धर्मस्य निर्णयः।
स्वरूप-गुणभेदेन बोधनार्थम् इहोच्यते।।का.३।।

कारिकार्थः यदि कोई कहे कि अवतारकथामात्रसे धर्मोंका कैसे विवरण समझा जाय? तो कहते हैं 'उपासनायां' इत्यादि. केवल कथामात्र ही श्रीमद्भागवत् नहीं है किन्तु सिद्धान्त श्रीमद्भागवत् है. इसकी तो उपासना करनी कही है. ऐसी अवस्थामें मनन-निदिध्यासन करते समय भगवान्के धर्मोंके स्वरूप और गुण के भेदसे विवरणकी अपेक्षा रहती ही है और तब ही यथावस्थित स्वरूपका निर्णय हो सकता है.

''**आत्मा व अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**'' इत्यादि श्रुतियोंमें भी निदिध्यासनपर्यंत साधनका निर्देश किया है।।३।।

मुख्यस्य च फलं त्वत्र निर्णीतं विनिरूप्यते।
माहात्म्यादि तदङ्गं च विशिष्टं तेन सिद्ध्यति।।का.४।।

कारिकार्थः इस विवरण का एक विशेष कारण और भी है. ''**भक्तियोगो यतो भवेत्**'' (भा.२।२।३३) श्लोकमें निर्णीत और ''**भगवान् ब्रह्म कात्स्न्र्येन**'' इस श्लोकमें निर्धारित प्रेम भक्तिरूप फलका भी सोपपत्तिक निर्णय इसी अध्यायमें कहा है. इतना ही नहीं, किन्तु भक्त्यङ्ग माहात्म्यज्ञानादिका भी निरूपण यहां ही है. इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वरूप रहते भी जो सबके भीतर रहकर सबका नियमन करता है उस अतिरिक्त भगवान्के ही ये सब अवतार हैं।।४।।

आभासार्थः इस तरह कारिकाओंके द्वारा अध्यायगत श्लोकोंके अर्थका संग्रह करके अब सुबोधिनी द्वारा सबका क्रमशः विवरण करते हैं. 'एवं' इत्यादि. इस तरह जड़ और जीवकी उत्पत्ति कहकर अब सर्व धर्म सहित पुरुषोत्तम

रूप अन्तर्यामीकी भी उत्पत्ति खण्डशः कही जाती है. भिन्न-भिन्न निरूपण करनेका तात्पर्य यह है कि भगवान्के एक-एक धर्मका पृथक्-पृथक् माहात्म्य मालूम हो जाय तो फिर समग्र पुरुषोत्तम भगवान्का परम माहात्म्य अपने आप सिद्ध हो जाय, किसीको आश्चर्य भी न हो. सूक्ष्म ध्यानमें 'केचित् स्व' और 'प्रादेशमात्रं' इत्यादि अनेक श्लोकोंमें जिस अन्तर्यामीका वर्णन किया था उसके पदशः अवतारोंका यहां निरूपण करते हैं, उनमें सबसे पहले प्रादेश मात्रत्व (वितस्ता भर भगवान्) धर्मका उत्पत्तिसे जो स्वरूप है उसका वर्णन करते हैं 'यत्रोद्यतः'.

ब्रह्मोवाच

यत्रोद्यतः क्षितितलोद्धरणाय बिभ्रत् क्रौडीं तनुं सकलयज्ञमयीम् अनन्तः।
अन्तर्महार्णव उपागतम् आदिदैत्यं तं दंष्ट्रयाद्रिमिव वज्रधरो ददार।।१।।

श्लोकार्थः जहां कहीं स्थित वह अनन्त भगवान् जब भूतलका उद्धार करनेकेलिये तैयार हुआ तब उसने सकल क्रियामयी सूकरकी तनु धारणकी और प्रलय कालीन महासमुद्रके भीतर जब आदि दैत्य हिरण्याक्ष पाया तब उसे अपनी दाढ़से फाड दिया. जैसे इन्द्रने वज्रसे पर्वतको फाड़ दिया था।।१।।

व्याख्यार्थः एक समय ब्रह्माजीको डूबी हुई पृथ्वीको बाहर निकालनेकी चिन्ता हुई. इसको कैसे जलसे बाहर निकाला जाय. किन्तु यह कार्य अशक्य समझकर ब्रह्माजीने भगवान्का ध्यान किया. ध्यान करनेसे हृदय स्थित प्रादेश (द्वादशांगुल) परिमाणवाले भगवान् अन्तर्यामी सूकर रूप धारण कर ब्रह्माके सामने प्रकट हुए. यद्यपि हृदयमें तो भगवान् प्रादेश मात्र ही हैं पर उनका यह परिमाण स्वाभाविक नहीं है, किन्तु स्थानके अनुसार है इसलिये जब प्रकट हुये तब नासिकामेंसे अंगूंठाके पोरुएके बराबरका सूकर रूप धारण कर पैदा हुये. भगवान्का परिमाण-स्थान सापेक्ष है यह बात 'आभिविमानिक' अधिकरणमें कह दी गई है. किस समय और किस स्थानमें भगवान्ने ब्रह्माके ध्यानको समझा यह कुछ नियत नहीं हो सकता. भगवान् अनन्त हैं देश और काल से नपा-तुला नहीं है. अतएव जिस स्थान पर स्थित है वहांसे ही जब क्षितितलको निकालनेकी तैयारीकी तब ही प्रकट हो गये, और जिस समयमें 'भूमिको बाहर लाऊंगा' ऐसा विचार किया तब उस रूपको धारण किया. रूपग्रहण करनेमें भगवान्केलिये स्थान, काल और वस्तु आदिकी अपेक्षा नहीं है. क्योंकि वो सर्वरूप और

सर्वव्यापक है. जगद्वर्ती सब ही रूप उसीके हैं, इसलिये ब्रह्माके अन्तःकरणमें ही स्थित रहकर जब भूमिका उद्धार करनेको इच्छा हुई तब वहां ही रूप बना लिया ऐसा अनुमान होता है. यह जल सूकरका रूप था, अतएव जैसे जलके भीतर ही भीतर सूकररूप अपने आप तैयार हो जाता है, इसी तरह अन्तर्यामी भगवान्को भी रूपग्रहण करनेमें किसी तरह भी अन्यकी अपेक्षा नहीं हुई यह दिखानेकेलिये ही पहले पहले वराहका अवतार कहा गया है. जब विचार किया उसी समय रूप धर लिया ऐसा श्लोकका अन्वय है.

'क्षितितलके उद्धारार्थ' इसमें 'तल' पद देनेसे यह स्पष्ट होता है कि यह भूमि तैयार की हुई थी. अतएव समान थी. पहले किसी कल्पमें जब ब्रह्माजी पुष्करके पत्तों पर स्थित थे तब अपेक्षा होनेसे वराह रूप धर कर किसी भागमेंसे कुछ मृत्तिका खोदकर उस पुष्करके किसी भाग पर जमा कर उस भागको पृथु (जाड़ा) किया. अतएव वह पृथ्वी कहा गया. यही पृथ्वी किसी कालमें महासमुद्रमें डूब गई. अब जब उसे निकालनेका विचार हुआ तो जलसूकरका ही रूप धारण किया.

यह बात वेदमें इस तरहसे कही है: ब्रह्माजी कमलके पत्तों पर बैठे हुए चारों तरफ देखने लगे. देखते-देखते उन्हें यह विचार हुआ कि इस कमलके नीचे इसका आधार कुछ न कुछ है. अन्यथा यह कमल ठहरता कैसे? इसकी परीक्षा करनेकेलिये वे एक वराहका रूप तैयार करके उस कमलके सहारे उस महार्णवमें नीचे पहुंचे. वहां उन्होंने पृथिवीको पाया. अब उन्होंने उसे वहांसे उखाड़कर जलके ऊपर रख दी. और फिर उसे कमलके पत्तों पर जमा दी. जमाकर उसे खूब मोटी कर दी इसलिये पृथ्वीको 'पृथ्वी' कहते हैं.

इसलिये यहां भी भगवान्की वराहतनु धारण करनेकी चर्चा है. जलसे किसी भारी पदार्थको निकालनेकी सामर्थ्य जलसूकरमें ही है. यह भगवान्का सूकर रूप सकल यज्ञमय है. यह 'मृग' है अर्थात् इसे लौकिक बुद्धिसे समझना अशक्य है. अतएव वह वनगोचर होता है.

एकान्त स्थिति होनेसे ही समझमें आता है. जल और जंगल दोनोंको वन कहते हैं. स्रुक्(हवन करनेका पात्र) आदि पदार्थ वराहके मुखाग्र जैसे होते हैं, इसलिये यज्ञको मृग होने पर भी यहां वराह कहा है. यज्ञको 'मन्यु' शब्दसे भी कहा गया है, क्योंकि धर्ममय भगवान्को 'शतमन्यु' कहते हैं. इस विषयमें श्रुतिमें

भी कहा है कि 'पशुओंका क्रोध वराह है'. इस तरह सूकरको 'मन्यु' शब्दसे कहा गया है. 'मन्यु' शब्दका वैदिक अर्थ, धर्म या यज्ञ है. जब वराह मन्यु है तो भगवान्की यह वराह तनु सर्वयज्ञमय है. यह तनु सकल धर्ममय किस तरह है यह बात आगे तृतीय स्कंधमें (अ.१३, श्लोक ३६-४०) श्लोकोंसे कहेंगे.

रूप ग्रहणके साथ-साथ क्षितितलोद्धार कार्य कह ही दिया है, तथापि अन्य कार्य भी हैं सो कहते हैं: यज्ञमें वेदद्वेष्टा किंवा यज्ञकर्म द्वेष्टा असुरोंका नाश कर्त्तव्य है. ये लोग ही भूमिको महार्णवके भीतर ले गये थे. वेदमें इस बातको इस तरह कहा है कि ''असुर लोग उत्तर तरफकी पृथ्वीको खेंच कर ले गये''. असुरवध करना था इसलिये पहले दैत्यरूपको धारण करनेवाले असुर हिरण्याक्षको भगवान् वराहने फाड़कर फेंक दिया. इसके विदारणमें दृष्टान्त देते हैं कि इन्द्रने जैसे पर्वतोंको काटा. (पहले पर्वतोंके पंख थे. तब वे उड़-उड़कर गिरते थे और लोकका नाश करते थे तब इन्द्रने उनका वैरी होकर उनके पखोंको काट दिया.) यहां हिरण्याक्ष भी भूमिका अनिष्टकर्त्ता था इसलिये भगवान्ने उसका नाश किया. समुद्रके अन्दर ही मारा, इसलिये 'अन्तर्महार्णवे' ऐसा कहा. आते-आतेको ही मारा. भगवान्की दाढ़ यम है और भगवान्ने दाढ़से फाड़ा इसलिये उसकी इस जन्ममें मुक्ति न हुई. तृतीय स्कंधमें विदारण रूपसे हनन नहीं कहा है किन्तु वह चरित्र अन्य कल्पका है इसलिये विरोध नहीं।।१।।

आभासार्थ: इस तरह प्रादेश मात्रका अवतार कहकर अब पुरुषरूपका अवतार कहते हैं:

जातो रुचेरजनयत् सुयमान् सुयज्ञ आकूतिसूनुरमरान् अथ दक्षिणायाम् ।
लोकत्रयस्य महतीम् अहरद्यदार्तिं स्वायम्भुवेन मनुना हरिरित्यनुक्तः।।२।।

श्लोकार्थ: आकूति मनुकन्यामें रुचि प्रजापतिसे भगवान्का 'सुयज्ञ' नामक अवतार हुआ. उनकी स्त्री दक्षिणा भी उन्हींके साथ पैदा हुई. उन्होंने 'सुयम' और 'अमर' नामक देवोंको पैदा किया. जब इन्होंने लोकके दुःखोंको दूर किया तो स्वायम्भु मनुने इन्हें 'हरि' पदवी दी।।२।।

व्याख्यार्थ: ध्यानरूप कर्मके अधिष्ठाता भगवान्का रूप एक जगह और नाम दूसरी जगह स्थित होता है. यज्ञभगवान्का रूप वराहमें स्थित है, और नाम सुयज्ञावतारमें स्थित है. यह अवतार पुरुषरूप होता है ''**तेषां मे पौरुषी प्रिया**'' इस वाक्यसे पुरुष अवतार भगवान्को प्रिय है इसलिये यह रुचिसे-रुचिप्रजापतिसे

हुआ. रुचि प्रजापति ब्रह्माके पुत्र थे. यह भगवान्का अवतार था. इसका नियामक रूप बताते हैं. 'अजनयत् सूयमान्' इत्यादि. साधारण जन तो पैदा होकर कुछ काल पीछे स्त्रीका सम्बन्ध करता है और प्रजोत्पत्ति करता है. किन्तु सुयज्ञ भगवान् तो दक्षिणा भार्या सहित ही पैदा हुये और उससे 'सुयम' नामके देवोंको पैदा किये जो देवगण उस मन्वन्तरमें भिन्न-भिन्न अधिकारों पर स्थित हए. जिसकी सामर्थ्यसे यज्ञ सुशोभित होते हैं उसे 'सुयज्ञ' कहते हैं. वराह यज्ञरूप है और यह यज्ञकी देवता रूप है. देवतासे ही क्रिया आदि सुशोभित होते हैं. आकूति स्वायंभू मनुकी ज्येष्ठ कन्या थी. वैदिक भाषामें बाह्यचेष्टाओंको 'आकूति' कहते हैं. बाह्यचेष्टाओंसे ही यज्ञ तैयार किया जाता है. 'अथ' शब्दसे यह स्पष्ट होता है कि पहले यज्ञभोक्ता देवगण पैदा किये और तदनन्तर तत्तदधिकार करनेवाले देवगण पैदा हुए. अमर-देवगणोंको अपने स्वरूपसे ही प्रकट किये पर बाह्य अधिकारी देवगणोंको तो दक्षिणा पत्नीमें पैदा किये.

अब अवतार लेनेका प्रयोजन कहते हैं: 'लोकत्रयस्य'. उस समय वृष्टि, यज्ञ और कर्त्तव्य कर्मोंका कुछ नियम नहीं था. इनके बिना प्रजाको बड़ा कष्ट होता था. तब भगवान्ने वृष्टि, यज्ञ और कर्मों की सुव्यवस्था कर दी, जिससे लोगोंका कष्ट जाता रहा. अथवा किसी कल्पमें दैत्यकृत उपद्रवोंसे प्रजा दुःखी रहती थी. भगवान्ने दैत्योंको मारकर लोगोंके दुःख हर लिये. इस मन्वतरमें त्रिभुवन पर अधिकार रखनेवाला त्रिभुवनव्यवस्थापक कोई इन्द्र नहीं था. इसलिये इन्द्र भी आप ही रहे. इन्द्रका कार्य भी भगवान् सुयज्ञने ही किया. 'हरि' दुःखहर्ताका नाम है और इसीसे इन्द्रको भी 'हरि' कहते हैं. सब दुःखोंके हरण कर लेनेसे स्वायंभू मनुके किसी संबधीने सुयज्ञको इन्द्र पद पर भी अधिष्ठित किया. यद्यपि खास स्वायंभू मनु, सुयज्ञके नानाने, सुयज्ञको पहले 'यज्ञ' नामसे प्रसिद्ध किया पर पीछेसे उनके किसी संबंधीने उन्हें 'इन्द्र' स्थान पर पहुंचाया. भगवदवतारके बिना अन्य कोई दो अधिकारोंका निर्वाह करनेकी सामर्थ्य नहीं रखता. सुयज्ञ भगवान् स्वायंभू मनुके (आकूति) युक्तिके पुत्र थे और भगवान् भी थे. इसलिये ब्राह्मण रहते भी क्षत्रिय रूप भी रहे. इसलिये 'यज्ञ' शब्दका और हरि शब्दका एकत्र प्रयोग होनेसे भगवान् ही पुरुषद्वय रूप हो गये. अलौकिक धर्मरूप यज्ञ, और सर्व लोकात्मक हरि भगवान्।।२।।

आभासार्थ: द्वितीय ध्यानमें 'वसन्तं' यज्ञ विशेषण भगवान्को दिया है.

इसका स्वरूप केवल वास मात्र है. अब इसका निर्णय करते हैं. कहीं भी कोई भी पुरुष किसी समय भी कुछ भी चेष्टा किये बिना नहीं रह सकता. भगवान्ने भी कहा है "**न हि कश्चित् क्षणमपि**" इत्यादि. यह बात भगवान्से ही हो सकती है. इसलिये केवल वासरूप स्थितिको स्वयं करनेकेलिये स्वयं भगवान् प्रकट हुए और दूसरोंको वैसी शिक्षा देनेके लिये सांख्यशास्त्रका निर्माण किया. वह कपिलावतार हुआ सो कहते हैं.

जज्ञे च कर्दमगृहे द्विज देवहूत्यां स्त्रीभिः समं नवभिरात्मगतिं स्वमात्रे ।
ऊचे ययात्मशमलं गुणसङ्गपङ्कम् अस्मिन् विधूय कपिलस्य गतिं प्रपेदे।।३।।

श्लोकार्थः हे नारद! कर्दम प्रजापतिको देवहूतिमें नव भगिनीयोंको साथ लेकर भगवान् कपिलरूपसे पैदा हुये. इन्होंने अपनी माताको सांख्यके द्वारा ब्रह्मज्ञान कराया, जिसके द्वारा वह अन्तर्मोहक गुणसंगरूप कीचड़को तजकर कपिलदेवके चरणोंको प्राप्त हुई।।३।।

व्याख्यार्थः केवल स्थिति मात्रको दिखानेकेलिये जैसे भगवान् प्रकट हुए ऐसे सब कुछ करते रहते भी कुछ नहीं करते यह समझावेंगें. श्रीकपिलदेवने दो तरहसे बोध दिया: १.स्वरूपसे और २.वाणीसे. आत्मा सर्वत्र पैदा होकर भी पैदा नहीं होता यह आज तक किसीको बोध नहीं था, किन्तु कपिलदेवजीने अपने स्वरूपसे दिखा दिया कि मैं पैदा होकर भी जैसे अनुत्पन्न प्रायः ही रहा इसी तरह आत्मा भी सर्वत्र देहके साथ पैदा होकर भी पैदा नहीं होता. उत्पत्तिका लेप उसे नहीं होता. और अपनी वाणी–कृतिसे यह उपदेश दिया कि कर्म करते रहते भी कुछ नहीं करना हो सकता है. क्योंकि आगेकेलिये कर्मफलका संग्रह नहीं होने पाता. यह सब जतानेकेलिये ही भगवान् प्रकट हुए और इसीलिये श्लोकके आदिमें ही 'जज्ञे' क्रियाका प्रयोग किया है. कर्दमके घरमें उत्पन्न हुए. 'छायायाः कर्दमो जज्ञे' ब्रह्माकी छायासे उत्पन्न हुए, इसलिये पैदा नहीं हुए जैसे ही रहे और उसके घरमें जो पैदा हुआ वह भी वैसा ही है यह दिखानेकेलिये ही उनके घरमें हुए. 'कर्दम' शब्दका रूढ़ अर्थ कीचड़ है और उसका घर जल है. जल अति पवित्र है, उसमें जो उत्पत्ति हुई वह अति पवित्रता दिखाती है, और निर्लेपताको भी दिखाती है. जलमें कीचड़का लेप नहीं होता. वह नीचे बैठ जाती है, पर जल सबके ऊपर निर्लेप ही रहता है. इस तरह कर्दमके गृहमें उत्पन्न होकर भी कमलपत्रकी तरह निर्लेप रहे यह जता दिया. करोतीति कृत् कर्त्रर्थमें 'कृ' धातुसे

'विच्' प्रत्यय होने पर गुणके बाद प्रत्ययका लोप हो जानेसे 'कर' शब्द बनता है, और फिर उसके साथ 'दम' शब्दका सहयोग कर देनेसे यौगिक 'कर्दम' शब्द सिद्ध होता है. इन्द्रियोंके नियन्त्रणको दम कहते हैं. अब 'कर-दम' शब्दका यह अर्थ हुआ कि जो कृति(करने)वाला होकर भी इन्द्रियसंयम रखता हो वह कर्दम. अर्थात् उसका स्वरूप ही ऐसा है कि करते रहते भी कुछ न करे ऐसे घरमें जो उत्पन्न हुए (श्रीकपिल) सांख्यशास्त्रके प्रवर्तक हुए यह स्वतःसिद्ध है. यहां नारदको 'द्विज' शब्दसे सम्बोधित किया है. इससे वैसा संयम तुममें नहीं है, यह ब्रह्माने नारद पर कुछ आक्षेप सा व्यक्त किया है.

देवहूति, मनुकी दूसरी कन्या थीं. जिससे सब देवताओंका आह्वान हो, वह 'देवहूति'. देवहूति सर्वदेवतामयी थीं. इससे उनका सौन्दर्य सर्वोत्तम था यह जताया है. कपिलदेवजी नव बहिनोंके साथ प्रकटे, इसका तात्पर्य यह है कि सत्त्व-रजस्तम: तीन गुण जब परस्पर सम्मिलित होते हैं तब नौ हो जाते हैं, सात्त्विक-सात्त्विक राजस-राजस आदि. इन नवविध गुणोंकी अभिमानिनी देवतायें भी कर्तृत्व बनाये रखनेकेलिये साथ ही आई. कपिल आप स्वयं तो ब्रह्म होनेसे निर्गुण हैं, प्राकृत कर्तृत्व रहित हैं किन्तु कृति तो दिखानी है, इसलिये उन्हें साथ लाये. मैं अकर्ता हूं, ये कर्मी हैं. इनको भगिनी बनाया इसका तात्पर्य यह है कि इनका जिनके साथ सम्बन्ध होता है वे ही कर्ता होते हैं, किन्तु साथ पैदा होने पर भी जिससे इनका सम्बन्ध नहीं रहता वह अकर्ता ही बना रहता है ऐसा सांख्य सिद्धान्तका नियम भी दिखा दिया. अब अवतारका प्रयोजन दिखाते हैं 'आत्मगतिं' इत्यादि. जिसके हृदयसे सांख्यशास्त्र (आत्म-अनात्म विचार)की उत्पत्ति हो वही आत्मज्ञानका मुख्य अधिकारी होता है. पुत्रको उत्पन्न करने वाली मैं हूं, यह बुद्धिभ्रम मातामें ही होता है, इसलिये मांको ही आत्मतत्त्व समझाने वाला सांख्यशास्त्र कहा. यद्यपि आसुरि शिष्योंको भी सांख्य सिखाया था तथापि वह उसका प्रचार करनेमें ही रहा इसलिये वह मुख्याधिकारी न रहा. किन्तु माताने तो उसका स्वयं उपयोग किया, इसलिये यही मुख्य अधिकारिणी रही. अतएव इसको मुख्य फलकी प्राप्ति भी हुई. उपदेश श्रवणानन्तर ही माताने अन्तःकरणको मोह दिलानेवाले गुणत्रयके कीचड़को उसी समय हटाकर कपिलके ज्ञानको प्राप्त कर लिया. जो कपिल थे वहीं आप भी गयीं. माता इतनी उत्तमाधिकारिणी थीं, इसीलिये भगवान्ने भी स्त्री जाति रहने पर भी, पूज्या होने पर भी, माताको ही

आत्मज्ञानका उपदेश दिया. 'स्वमात्रे'में 'स्व'शब्द इसलिये दिया है कि आत्मीयता होनेसे उपदेशकी आवश्यकता थी. कपिलदेव भगवान् थे इसलिये गुरुस्थानीया माताको उपदेश देना दूषण न हुआ. यह ज्ञान आत्मामें नित्यसिद्ध रहता है. तथापि अन्तःकरणके दोषोंसे प्रकाशित नहीं हो पाता. इसलिये श्रीकपिलजीने पहले अन्तःकरणके मोहजनक पापको ही दूर किया. उपदेश देते समय ज्ञानका जो प्रतिबन्धक हो वह पाप ही है. कपिलकी गति अर्थात् सांख्यके सिद्धान्तका अनुभव उसको प्राप्त किया।।३।।

आभासार्थः इस तरह भगवान्की निश्चल स्थितिरूप कपिलावतारका निरूपण कर अब भगवान्के चतुर्भुजत्वका निरूपण करते हैं:

अत्रेरपत्यम् अभिकांक्षत आह तुष्टो दत्तो मयाहम् इति यद् भगवान् स दत्तः ।
यत्पादप–ङ्कजपराग–पवित्र–देहा योगर्द्धिम् आपुरुभयीं यदु–हैहयाद्याः।।४।।

श्लोकार्थः अत्रि ऋषिने जब पुत्रकी इच्छा की तब भगवान्ने प्रसन्न होकर कहा कि ''मैंने तुमको अपने आपको दिया''. तब जो पुत्र हुआ वह भगवान्का दत्तावतार हुआ. जिनके चरणकमलके परागसे पवित्र हुये देहवाले यदु हैहय आदि पुरुष दोनों तरहकी योग सिद्धियोंको प्राप्त कर गये।।४।।

व्याख्यार्थः गृहस्थीको तीन पुत्र अवश्य चाहिये, सो अत्रिऋषिके नही थे इसलिये उन्हें 'अत्रि' कहते हैं. इसीलिये उन्होंने भगवान्से प्रार्थना की. अथवा आप और भार्या यों दो तो थे, पर तीसरा पुत्र न था इसलिये वे अत्रि थे. जब उन्होंने भगवान्से पुत्र देनेकी प्रार्थनाकी तो भगवान्ने एक साथ संकल्पानुसार तीन पुत्र दिये पर उनमें अवतार एक ही रहा. अब पुत्रत्रय सहित आप स्वयं चार हुये यही भगवान्के चतुर्भुजत्वका चिह्न प्रकाशित किया. भगवान्की भुजाओंमें उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और तप ये चार क्रियाशक्तियां रहती हैं. अत्रिके यहां ब्रह्मा–विष्णु–महेशके अशोंसे चन्द्रमा, दत्त और दुर्वासा तीन पुत्र हुये. ब्रह्मा उत्पत्ति शक्ति, विष्णु स्थिति शक्ति और महेश प्रलय शक्ति और स्वयं अत्रि तप शक्ति. ये चार क्रिया शक्तियां भगवद्बाहुरूपा हुई. ये तीनों ही अवताररूप हुये, किन्तु इन तीनोंमें ये चार क्रिया शक्तियां स्पष्ट मालुम नहीं होती इसलिये दूसरा पक्ष कहते हैं. 'योगः' इत्यादि. योग, तप, वंश और भगवद्भक्ति ये चार क्रिया शक्तियां भगवद्बाहुओंमें रहती हैं, सो इनमें प्रकाशित हैं. योगशक्ति दत्तमें, तपःशक्ति दुर्वासामें, वंश चन्द्रमामें और भगवद्भक्ति अत्रिमें. यहां यह प्रश्न होता

है कि सोम, दुर्वासा और अत्रि तीनोंकी अवतार रूपसे प्रसिद्धि नहीं है, इसलिये पक्षान्तर कहते हैं कि 'अथवा'. केवल दत्त ही भगवान्का अवतार हैं. क्योंकि 'दत्त' शब्दकी व्युत्पत्ति और शक्ति यह वृत्त कह रही है कि इससे भगवान्का ही दातृत्व और देयत्व प्रकाशित हो रहा है, इसलिये दत्त ही भगवदवतार हैं. दाता भगवान् हैं और देनेका पदार्थ भी पुत्ररूप आप ही हो गये हैं. एकका दातृत्व और देयत्व दोनों धर्म भगवान्के सिवाय किसी अन्यमें नहीं हो सकते. इसलिये दत्त ही भगवान्का अवतार है. यहां क्रियाशक्तियोंको प्राधान्य नहीं है, किन्तु अवस्था-द्वयके भेदसे स्वरूप प्रदानको ही प्राधान्य है. भगवान् श्रीकृष्ण ही एक आत्माप्रद है. सामान्य दाता उत्साहयुक्त हो तो लौकिक दान दो हाथोंसे देता है किन्तु आत्माका देना अलौकिक दान है अतएव इसे आप चारों भुजाओंसे देते हैं यह कहा जाता है. श्लोकोमें इसका खुलासा करनेकेलिये कहते हैं: 'अपत्यम् अभिकांक्षत' इत्यादि. अपगतिसे जो छुड़ावै वह अपत्य(पुत्रादि) दुर्गति निवारक कहा जाता है. यदि वह अपत्यादि भगवान्के सिवाय अन्य कोई हो तो दुर्गति करा सकता है. कदाचित् पारलौकिक क्रियाओंके द्वारा प्रेतलोकादिमें भी पहुंचा दे तो भी जन्ममरणके चक्रमें डाल देनेसे वह भी वास्तवमें तो दुर्गति ही है. तब भगवान्ने विचार किया कि लौकिक अपत्योंमें अपत्यत्व हो नहीं सकता और अत्रि ऋषि अपत्य मांग रहे हैं इन्हें लौकिक अपत्य देकर धोखा देना उचित नहीं, इसलिये अब तो मैं अपने आपको ही इसे पुत्ररूपमें दूगा अन्यथा अपत्यत्वकी सिद्धि होना दुष्कर है. और अभितः कांक्षण भी तब ही बन सकता है. इस लोकका फल अभ्युदय और पारलौकिक फल मोक्षप्राप्ति यही अभितः कांक्षण(चाहना) शुद्ध हो सकता है. इसलिये स्वयं दर्शन देकर बोले कि मैंने दिया. भगवान्का यह 'दत्त' नाम पुत्र देनेसे नहीं है, पर आत्मप्रद भगवान् होनेसे है. 'मया अहमेव दत्तः' मैंने मुझको ही आपको दे दिया है. जो दानका कर्ता है, वही दानका कर्म भी है. यह एकका ही कर्तृत्व, कर्मत्व भगवान्के सिवाय अन्यमें नहीं रह सकता.

कितने ही कहते हैं कि धर्मशास्त्रमें आत्मादि कितने ही अदेय गिनाये हैं:

''**धर्मदासो ज्येष्ठपुत्रो भार्या स्वात्मा तथैव च.**
सर्वस्वं गुरुवर्गश्च नैव देयमिति स्थितिः''.

धर्मतः जो अपना खरीदा हुया दास बन गया है, जेष्ठ बेटा, अपनी पत्नी तथा अपनेको, अपना सब कुछ, माता-पिता-आचार्यादि अपने गुरुजन ये सब

अदेय हैं, दान करने योग्य नहीं हैं.

तो फिर भगवान् भक्तोंको अपनी आत्मा कैसे दे देते हैं? इसका उत्तर देते हैं कि 'यद्भगवान्'. यह भगवान् है. इसलिये धर्ममात्र जीवके अधिकारको लेकर बने हैं, अतएव ये जीवधर्म है. भगवान् तो षडैश्वर्य सम्पन्न सर्वसमर्थ हैं अतएव आत्मप्रद हैं. अपने अपनपेको भी दे डालते हैं. सूतके कपड़े हैं, सूत ही कपड़े हैं, इसका अर्थ यही है, कि सूतोंने अपना अपनपा कपड़ोंको दे रखा है. सूतोंके अपनपेसे कपड़ोंकी सत्ता है. इसी तरह सब जगत् ही जब भगवान् हो गया है, भगवान्से ही जब सारा जगत् बना हुआ है तब कहना पड़ेगा कि भगवान्ने अपनी आत्मा जगत्को दे रखी है. ऐसी अवस्थामें भगवान् भक्तोंको आत्मा दे दें इसमें क्या आश्चर्य और असम्भव है. यदि भगवान् अपनी आत्मा भक्तोंको न देनेका प्रण कर लें, या न देता होता तो फिर उसका भजन कौन करता? अतएव वे 'दत्त' नामसे प्रसिद्ध हुए. कहीं-कहीं पिताके नामको साथ रखकर 'दत्तात्रेय' कहा है. 'आत्रेय दत्तः' अथवा 'दत्तः आत्रेय' लोकमें पिताके नामको साथ रखनेका कहीं-कहीं सदाचार है.

अवतार लेनेका प्रयोजन बताते हैं. 'यत्पाद' इत्यादि. अदेय दानकी तरह भगवान् अपने भक्तोंकी देहशुद्धि भी करता है. भगवान्के चरणकमलके परागसे संस्कार वाले महाभूतोंसे भक्तोंके देह बने होते हैं. अतएव शुद्ध होते हैं. इसीलिये इन्हें दोनों तरहकी योगसिद्धि प्राप्त हो जाती है. सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति यह भगवद्योगका फल है. ये दोनों उन लोगोंको मिलती है. अलौकिक अणिमादि सिद्धियां क्रममुक्तिमें आ जाती हैं. अथवा ज्ञान और भक्ति ये दोनों भगवद्योगकी सिद्धियां समझना. यदु हैहय और प्रह्लाद प्रभृति भक्तोंने इन सब सिद्धियोंको भगवच्चरणकमलरेणुके प्रभावसे प्राप्त किया. यदूराजाके गुरु दत्तात्रेय अवधूत थे. हैहय सहस्रार्जुन यादव था. भगवत्कृपासे इसे इस लोककी सिद्धि, हजार हाथ होना प्रभृति मिली, और मोक्ष भी मिला. 'आदि' शब्दसे प्रह्लाद भी समझना. ये सब पुष्टिमार्गीय भक्त थे, अतएव यदुने पिताकी आज्ञा नहीं मानी, सहस्रार्जुनने ब्राह्मणकी गौका अपहरण किया और प्रह्लादने पित्राज्ञा-गुर्वाज्ञाका पालन नहीं किया इत्यादि मर्यादामार्गके विरोध इन्हें दूषित न कर सके. इस प्रकार विचारशास्त्रमें भगवद्बाहुओंका निरूपण इस रूपमें किया गया।।४।।

आभासार्थः अब **'कञ्जरथाङ्ग-शङ्ख-गदाधर'** इस विशेषणका स्वरूप

कहते हैं:

तप्तं तपो विविधलोकसिसृक्षया मे आदौ सनात् स्वतपसः स चतुःसनोऽभूत् ।
प्राक्कल्पसम्प्लवविनष्टम् इहात्मतत्त्वं सम्यग्जगाद मुनयो यद् अचक्षतात्मन्।।५।।

श्लोकार्थ: सृष्टिके पूर्वमें मैंने विविध लोककी रचनाकेलिये तपश्चर्या की और उस तपका समर्पण भगवान्को किया. तब तपके द्वारा सनत्कुमारादि चार रूपसे भगवान् प्रकट हुये. प्रकट होकर पहले कल्पके प्रलयमें जो आत्मतत्त्वका ज्ञान नष्ट हो चुका था, उसे उन्होंने फिरसे कहा. जिसके द्वारा मुनि लोगोंने अपनी आत्मामें ही ब्रह्मका दर्शन कर पाया.

व्याख्यार्थ: ये सनकादि चारों ऋषि भगवान्के आयुधरूप हैं: कमल, चक्र, शंख और गदा. यद्यपि ये चारों तत्त्वरूप हैं, तथापि इनका यहां कार्यवान् रूपसे निरूपण है.

आसन्य मुख्य प्राणतत्त्वरूप गदा है.
जलतत्त्व शंख है.
तेजस्तत्त्व सुदर्शन है. और
कार्यतत्त्व कमल है.

तेज, अप, अन्न और प्राण को कहनेका तात्पर्य है. ये आयुध अपने स्वरूपसे ही तत्त्वरूप हैं कार्यसे नहीं. किन्तु यहां तो इनका कार्यशील जो रूप है उसका निरूपण है. यदि ये केवल तत्त्वरूप ही रहे आवे तो आयुधरूपता नहीं हो सकती. तत्त्व जब कार्यावेश युक्त हों तब आयुधरूपता होती है. इसलिये तत्त्वोंको जिस प्रकारसे आयुधभाव होता है वह प्रकार कहते हैं. ''**तपो मे हृदयं साक्षात्**'' तपश्चर्या ही मेरा खास हृदय है. इस वाक्यसे यह स्पष्ट होता है कि भगवान्को अभिमुख करनेका साधन तप ही है. आलोचनात्मक तप क्रियासे भी युक्त होता है तब भगवान् अपने श्रीहस्तोंमें पद्मादि आयुधोंको धारण करते हैं. तपके भी अनेक विशेष हैं सो कहते हैं 'आदौ'. सृष्टिके पूर्वमें मैंने(ब्रह्माने) चार प्रकारके महाभूत समूहको उत्पन्न करनेकेलिये खूब तप किया. विचारपूर्वक शारीरिक क्रियाको 'तप' कहते हैं. किन्तु उसका कुछ भी फल न हुआ. तब मैंने वह तप भगवत्समर्पण करके किया. 'सन' शब्द 'षणु दाने' धातूसे बनता है जिसका अर्थ समर्पण होता है. भगवदर्थ तप करनेसे वह भगवान् ही 'सन'नाम रखकर चार रूपोंमें प्रकट हुआ. सनक सनन्दन सनातन और सनत्कुमार. प्रथम स्कंधमें इन चारोंको भगवान्का ही

अवतार कहा है और यहां इन्हें आयुधावतार कहा है वो आवेशके आशयको लेकर कहा गया है. अर्थात् आयुधोंमें भगवान्का आवेश भी हुआ. अतएव किसी समय इनको केवल ऋषिरूपसे भी कहा है. चारों मूर्तियोंमें एक ही भगवान्ने आवेश किया तब ये भगवदवतार कहे गये.

अब अवतार लेनेका प्रयोजन कहते हैं: 'प्राक्कल्प' इत्यादि. इस अवतारके समय यज्ञ(धर्म), सांख्य(विचार शास्त्र), योग(चित्तैकाग्र्य) और ब्रह्मज्ञान कहा गया है. इनको उपलक्षणविधिसे कहते हैं. पहले कल्पके प्रलय समयमें आत्मज्ञानका नाश हो चुका था तब इस कल्पमें यह अवतार लेकर भगवान्ने अच्छी तरह आत्मज्ञानका निरूपण किया. सम्यक्का यह तात्पर्य है कि जिसके निरूपणसे आत्माका साक्षात्कार तक हो जावे, इस तरह कहा. जिस आत्मतत्त्वके निरूपणके द्वारा मुनि लोगोंने आत्मतत्त्वका साक्षात्कार कर लिया. 'मुनयः' कहनेका तात्पर्य है कि इसके पहले भी मुनि वैदिक मार्गके द्वारा ब्रह्मका मनन करते रहते थे पर उस मार्गसे उन्हें कुछ समझमें न आया. किन्तु सनकादिने प्रकट होकर जब उस ब्रह्मतत्त्वको समझाया तब तो उन्होंने अपने आत्मामें ही अथवा आत्माको ही ब्रह्मरूपमें देख लिया. 'आत्मन्' शब्दमें द्वितीया किंवा सप्तमीका लोप हो गया है. यह साधारण भक्तिमार्ग है. ''**ये ये हताश्चक्रधरेण राजन्**'' यहां जैसे चक्रधर भगवान्के श्रीहस्तसे मरने मात्रसे मुक्ति हो गई इसी न्यायसे यहां भी श्रीसनत्कुमारके उपदेशसे मुनियोंकी मुक्ति हुई, यह साधारण भक्तिमार्गके अधिकारियोंकी बात है. ये मुनि लोग पहलेसे ही भगवद्वैकुण्ठमें स्थिति रखनेकी योग्यतावाले थे किन्तु किसी कारण वश वहांसे च्युत हो गये. तब भगवान्ने इस मार्गके द्वारा उनको फिर वैकुण्ठमें पहुंचाया. 'मुनि' पदसे ही इस मार्गके भगत्स्मरणका भी स्वरूप बता दिया है।।५।।

आभासार्थ: अब 'प्रसन्नवक्त्रं' विशेषके द्वारा जो भगवद्धर्म द्वितीय ध्यानमें कह चुके हैं उसीका उत्पतिसे निरूपण करते हैं, प्रसाद धर्म और वक्त्र धर्मके विशेष द्वारा. भगवान्का अनुग्रह कैसा होता है, और भगवान्का वंदन कैसा है? यह यहां दो श्लोकोंमें कहेंगे. प्रसाद और मुख दोनों धर्मोंका इससे ज्ञान हो जायगा:

धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्यां नारायणो नर इति स्वतपः प्रभावः ।
दृष्ट्वात्मनो भगवतो नियमावलोपं देव्यस्त्वनङ्गपृतना घटितुं न शेकुः।।६।।

श्लोकार्थ: धर्मसे दक्षपुत्री मूर्तिसे अपने तपःप्रभावको दिखानेवाले नारायण और नर ये दोनों भगवान्के अवतार हुए जिनके तपःप्रभावसे कामकी सेना अप्सरागण भी आत्मरूप भगवान्से अपने नियमका अवलोप देखकर भी कुछ भी न कर सकीं।।६।।

व्याख्यार्थ: भगवान्का प्रसाद और भगवान्का मुख धर्म(यज्ञरूप)में ही प्रकाशित होता है. उनमें भी धर्मका अंश प्रसाद है और यज्ञका अंश मुख है. धर्मसे दक्षपुत्री मूर्तिमें भगवान् प्रकट हुये ऐसा कहा है. दक्ष यज्ञमें प्रवीण हैं. आध्यात्मिक यजनमें दक्षता अपेक्षित है, अन्यथा विघ्नादिकी संभावना रहती है. उस यज्ञमें श्रद्धा आदिसे भिन्न जो क्रियाशक्ति सशरीर विद्यमान् है, वही दक्ष पुत्री मूर्ति थी. उस मूर्तिमें भगवान्के दो रूप नारायण और नर; प्रसाद और मुख प्रकट हुवे. ''**आपो नारा इति**'' इस निर्वचनसे भगवान्का मुख(आद्यांश) जलमें प्रतिष्ठित है. 'नर' सूत्र रूप है जो जलका पिता(जनक) है. जलका आधार होनेसे और जलका जनक भी होनेसे एक ही भगवत्पदार्थके दो नाम हुए हैं. भगवन्मुख ऐसा है, इसीलिये जलाधार होनेसे सब रसोंका ग्रहण करता है, और सूत्रात्मक रहनेसे बोलनेका व्यवहार भी उसीसे चलता रहा है. इस तरह नर और नारायण दोनों रूपसे भगवान्का ही मुख प्रकट हुआ. मुखके इस रूपमें प्रकट होनेसे क्या गुण हुआ ? यह जिज्ञासा यदि हो तो कहते हैं कि 'स्वतपःप्रभावः' वास्तवमें उत्कृष्ट तपस्या मुखकी ही होती है. तप कहनेसे ''**तपो नानशनात् परम्**'' कुछ भी न खाना इससे उत्कृष्ट तप कोई नहीं है यह श्रुति स्पष्ट कह रही है. इससे यह भी स्पष्ट होता है कि दूसरे अवयवोंसे किया हुआ तप उत्कृष्ट नहीं होता. वाणीकृत और अनशन (न खाना) तप ही मुखका प्रभाव(महात्म्य) है. यह दोनों नर-नारायणमें थे. एक गुण तप है और दूसरा क्रोधाभाव. दोनों चक्रके ही प्रभाव हैं. तपके साथ क्रोध न होना भी उसका माहात्म्य है, बहुतसे तपस्वियोंको क्रोध सहज होता ही है. यह दोष है. तपस्याकी उत्पत्तिके साथ ही क्रोधरूप दोष भी पैदा होता है. वह यदि बिलकुल न हो और तपश्चर्या हो तो वह इस तपका माहात्म्य है. कामना भी तपमें दोष है पर वह बाह्य है, अतएव गुण है. अनुभाव नहीं है. मुखमें तप ही क्रोध भाव सहित अनुभाव है. गुरुमें प्रसाद (प्रसन्नता भी होता है. दोषकर्ताओंको भी वरदान करना यह भगवन्मुखमें प्रसाद है. नर-नारायणने अपराधियोंको भी वर दिया है यह कथा एकादश स्कंधमें विस्तारसे कहेंगे. यहां तो दोषाभाव मात्र माहात्म्यका प्रकाश किया है. उसमें पहले बाह्य दोष(काम)का

अभाव दिखाते हैं. 'दृष्ट्वात्मनः'. यह भगवान् सबकी आत्मा है अर्थात पदार्थमात्रमें यह भगवान् ही 'अतति'(व्याप्नोति) उस-उस रूपसे समा रहा है. अतएव इनको अपने आपके ही देखने पर कोई काम चेष्टा न हुई. अप्सराओंने भगवान्में काम विकार लानेके अनेक उपाय किये पर उनमें काम लेश मात्रको आने न पाया, क्योंकि वही तो सबका आत्मा-स्वरूप है. इसलिये ही सर्वात्मा भगवान्से ही अपने कामोत्पादक रूप सहज धर्म और उसके नियमोंका अवलोप-विपरीत रूपसे नाश देखकर स्त्रियां कुछ भी न कर सकी. काम यद्यपि सहज बन्धन करने वाला दोष है, पर भगवान्के प्रसादसे वह भी अप्सराओंकेलिये मोक्षप्रद हो गया. इससे यह भी स्पष्ट होता है कि सहज बन्धक भी कर्म भगवान् अनुभाव या प्रसाद से मोक्ष देनेवाले भी हो जाते हैं.

यहां यह प्रश्न होता है कि भगवान् सबके आत्मा हैं. इसलिये स्त्रियोंके देखनेसे इनका नियमलोप-तपोभङ्ग न हुआ यह ठीक है, पर स्त्रियोंमें जो दूसरोंको मोह करनेका नियम है उसका अब लोप क्यों हुआ? इसके उत्तरमें भी 'आत्मनः' से देते हैं. अर्थात् इनका भी नियम भगवान्के सान्निध्यसे ही लुप्त हो गया. अतएव इनका दोष इनमें ही रहा. ये अपनी ही आत्मामें मोहित-आश्चर्ययुक्त हुईं और अपने आप पर क्रुद्ध भी हुईं. इसीलिये जो ये संकल्प करके आई थीं वो भी भंग हो गया. ये सर्वदाकेलिये अप्रयोजिका हो गईं ऐसा नहीं है; किन्तु देव्यः-देवतारूप थीं तथापि व्रत त्यागिनी हो गईं. हम अपना काम करके आवेंगी यह जो अपसराओंने संकल्प किया था उसको छोड़ देना पड़ा. इनकी उपासनासे व्रत सिद्ध होना तो दूर है. कदाचित् कोई कहे कि इनमें क्रियाशक्ति न होगी तो इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'अनङ्गपृतनाः'. ये लोग कामकी सेना हैं. इनमें क्रियाशक्ति स्वाभाविक है. यहां 'तु' शब्द दिया है जिसका तात्पर्य यह है कि जो लोग स्त्रियोंको अबला-निकम्मी बताते हैं यह ठीक नहीं. कामकी सेना होने पर वह पक्षान्तर रह जाता है. यहां ये पक्ष आदरणीय नहीं है. ये अनङ्गकी सेना हैं इसलिये शरीरनाशसे भी नहीं डरतीं और अमूर्त प्रकारसे (ध्यान मात्रसे) ही दूसरोंको मार देती हैं. यह सब कुछ था पर भगवान्के अनुभावसे ही यह दशा हो गई कि सम्बन्ध मात्रताको भी नहीं पहुंच सकीं. अर्थात् पुरुषके साथ सम्बन्ध होनेयोग्य स्त्री ही पात्र है पर भगवान् तक यह खबर न कर सकीं कि हम स्त्रियां हैं. भगवान्के हृदयमें स्त्रीकृत कोई भी विकार पैदा न होने पाया।।६।।

आभासार्थः इस तरह बाह्य दोषका निराकरण करके अब मानसिक दोष(क्रोध)का भी कैमुतिक न्यायसे परिहार करते हैं:

कामं दहन्ति कृतिनो ननु रोषदृष्ट्या रोषं दहन्तम् उत ते न दहन्त्यसह्यम् ।
सोऽयं यदन्तरमलं प्रविशन् बिभेति कामः कथं नु पुनरस्य मनः श्रयेत।।७।।

श्लोकार्थः कुशल पुरुष रोषकी दृष्टिसे कामका नाश कर देते हैं पर रोष जो आत्माको ही जला रहा है, उसका नाश नहीं कर सकते. ऐसी दशामें श्रीनर-नारायणके हृदयमें जब क्रोध ही घुसता भी डरता है तो उसके हृदय पर काम कुछ असर कर सके यह तो सम्भावना ही कहां रही!।।७।।

व्याख्यार्थः यह अप्सरा-स्त्रियां यह व्रत लेकर आई थीं कि या तो शरीर त्याग कर देंगी या कार्यकी सिद्धि करके ही आयेंगी. यदि हम हमारे स्वामीकी आज्ञामें अपना देह छोड़ देंगी तो अनङ्गसेना कहलावेंगी और यदि नारायणको मोहित कर सकी तो हमारा सेनापन सुसिद्ध होगा. किन्तु दोनों बातें न हो सकीं इसका सबको आश्चर्य हो रहा था तब ब्रह्माजी समाधान करते हैं: 'काम'. मुझे ऐसा मालूम होता है कि काम, क्रोध, लोभादि दोषोंको जीतनेवाले कोई अन्य नहीं हैं, ये कामादि ही कामादिका विजय करते हैं. इनमें जो कनिष्ठ (हीन वीर्य) होते जाते हैं वैसे-वैसे पूर्वको जीत लेते हैं. कामको क्रोध, क्रोधको लोभ इस तरह. इसीलिये कामको अन्य कोई नहीं जीत सकता. पर कामको क्रोध जीत लेता है. कुशल लोग जो कामका दाह करते हैं वे रोषदृष्टिसे करते हैं अर्थात् रोषसे ही तो वे कामको दूर करते हैं, न कि अपने बलसे. यहां 'कृतिनः' शब्द आक्षेपाभिप्रायसे है. अर्थात् कुशल तो हैं पर ऐसे कुशल हैं कि कामको तो स्थान नहीं देते पर क्रोधको तो स्थान दे ही देते हैं. एक दोषका परिहार करके एक जबरदस्त दोषको घरमें घुसा लेते हैं. 'ननु' यह संबोधन देनेसे ब्रह्माजीने अपनी सम्मति दिखाई है. कामने तो उनके हृदयको ही रोका था पर क्रोधने तो उनके ज्ञानको भी ढक दिया इसलिये ज्ञानके नाशसे तो भारी क्षति होती है. अतएव वास्तवमें वे कुशल पुरुष नहीं हो सकते. यद्यपि काम और क्रोध दोनों ही परलोकका नाश करने वाले हैं अतएव हानि करनेमें दोनों तुल्य हैं, तथापि क्रोध तो आत्मनाश कर देता है. ज्ञान ही तो मनुष्यका मुख्य आत्मा है. केवल अचतुर ही नहीं पर अदाहकका नाश करते हैं, और दाहकका नाश नहीं कर सकते, अतएव अतिभ्रान्त भी हैं. क्रोध जब उत्पन्न होता है, आश्रयका भी दाह करता ही

है. यह दाह स्वल्प नहीं पर शरीरका नाश करने वाला हो जाता है.

पर श्रीनर–नारायणके आगे ये दोनों निर्वीर्य हो गये. कामका विजयी क्रोध इनके हृदयमें प्रवेश करनेमें ही भयभीत होता है. वह जानता है कि कामकी तरह मेरा भी शरीर नाश हो जायेगा. जब क्रोध उनके हृदयमें नहीं जा सकता तो क्रोध विहीन काम तो उनके हृदयमें कहां प्रवेश कर सके! दूषित हृदयमें क्रोधका प्रवेश हो सकता है, पर भगवान्का हृदय तो परम निर्मल है. अतएव मैला क्रोध वहां घुसता डरता है. उसको यह निश्चय है कि जैसे इनके हृदयने अन्य सब मलोंका नाश कर दिया है तो मैं भी तो एक तरहका मल ही हूं, यह मत्स्वरूप मलका नाश कर देगा. इससे यह स्पष्ट है कि काम–क्रोध कृत पदार्थ भगवान्के मुखमें प्रविष्ट नहीं होते. उन पर प्रसाद नहीं होता पर उनके प्रेरकों पर भगवान्का प्रसाद हो भी जाता है. तात्पर्य यह कि श्रीनर–नारायण भगवान् जो प्रयोजक हैं वही भगवन्मुख और प्रसादका भी है यह समझो।।७।।

आभासार्थः 'प्रसन्नवक्त्रे ' पदका अवतार कह कर 'नलिनायतेक्षणे'का अब निरूपण करते हैं:

विद्धः सपत्न्युदितपत्त्रिभिरन्ति राज्ञो बालोऽपि सन्नुपगतस्तपसे वनानि । तस्मा अदाद् ध्रुवगतिं गृणते प्रसन्नो दिव्याः स्तुवन्ति मुनयो यदुपर्यधस्तात्।।८।।

श्लोकार्थः राजा उत्तानपाद पिताके सामने ही जब सौतेलीने वाक्य बाणोंसे हृदयको छेद दिया तो बालक भी ध्रुव तपश्चर्या करनेकेलिये वनमें चला गया और जब उसने भगवान्की स्तुति की तो भगवान्ने प्रसन्न होकर उसे ध्रुव स्थान दिया. जिस ध्रुव स्थानकी आज तक ऊपर–नीचे सब ही दिव्य मुनि लोग भी स्तुति कर रहे हैं।।८।।

व्याख्यार्थः कमलकी तरह विशाल हैं नेत्र जिनके ऐसे पुरुषोत्तम भगवान्. यहां दृष्टान्तके द्वारा नेत्रोंकी विशालता और नेत्र दोनों वर्णनीय हैं. यह वैकुण्ठ स्थित भगवान्के नेत्र हैं. सर्व निरीक्षक होनेसे. उसकी दीर्घता यह सारा ज्योतिः चक्र है. भगवान् उस ज्योतिश्चक्रमें स्थित रहकर सारे जगत्को देखता रहता है. इस नेत्रका कमलवत् विकास वर्णन करनेका है. कमलका जब विकास होता है, तब ही वह विशाल होता है और विकास तपसे ही होता है. जैसे जल स्थित कमलका विकास सूर्य(ताप)से होता है. इस तरह कोई उत्तमाधिकारी वन स्थित हो तब ही वैकुण्ठ स्थित भगवन्नेत्र विकास करता है. तब वह नेत्र निरीक्षण करता है. उसमें

भी भगवदिच्छासे वह विकसित नेत्र कामनावाले भक्तको ही बाह्य होकर देखता है. कामना भी क्लेशकृत होनी चाहिये, और तप भी जगत्प्रकाशित होना चाहिये, तब ही भगवन्नेत्र विशाल होकर बाहर प्रकट होकर देखता है. यह सब बाते ध्रुवके चरित्रमें हैं. इसलिये ध्रुवकथाका निरूपण करते हैं. 'विद्ध' इत्यादि. सपत्नीके वाक्यबाणोंसे छेदा गया. इतना कहनेसे असहनीय पीड़ाकी सूचना होती है. मांकी सौत सुरुचिने राजाके सामने ही तीखे वाक्योंसे कहा कि 'बेटा तुम इस योग्य नहीं हो कि राजसिंहासन पर बैठ सको' इत्यादि. इन वाक्योंने ध्रुवके मर्मको भेद दिया, अतएव ये वाक्य ही बाण हो गये. 'पत्रि' पदसे ज्ञात होता है कि उड़कर वेधते हैं. इसलिये उनका उपाय भी नहीं है. ध्रुवकी जगह यदि कोई विवेकी पुरुष भी होता तो उसका विवेक भी इतना धैर्य नहीं रख सकता. बाह्य उपाय भी कोई नहीं था, क्योंकि 'राज्ञः अन्ति' राजाके सामने ही सब कुछ हुआ. हृदयच्छेदन राजा भी देख ही रहा था. अतएव राजासे भी क्या कहे! इससे स्पष्ट हो गया कि उस समय ध्रुवकी बड़ी दीन दशा थी. बस दैन्य ही भगवान्के दर्शन होनेमें कारण हुआ.

दूसरा कारण यह भी था कि ध्रुव पांच वर्षका बालक था. ऐसी अवस्थामें ही तप करनेकेलिये वनमें आ गया. तप करनेका अधिकार वनस्थ होने पर ही है. 'वनानि' यह बहुवचन इसलिये दिया है कि ध्रुवकी दृढ प्रतिज्ञा ज्ञात हो. ''एक वनमें तप करनेसे यदि भगवान् प्रसन्न न होंगे तो सब ही वनोंमें तपस्या करता रहूंगा'' ऐसी दृढ प्रतिज्ञा करके ही ध्रुव निकला था.''तस्मै अदात्'' कहकर दृष्टिका विकास बताया है. 'ध्रुवगति' कहकर फलकी निश्चलता(स्थिरता) दिखाई है. 'गृणते प्रसन्नः' 'स्तुति करते देख भगवान् प्रसन्न हो गये' कहनेसे दृष्टि किरणोंका भीतर प्रवेश बताया है. भगवान् तपसे प्रसन्न हुये यह ठीक नहीं है, पर पांच वर्षका बालक परब्रह्मकी स्तुति करता है, यह देखकर ही प्रसन्न हुये. यदि ऐसा न होता तो तपस्याकेलिये तो भगवान् देव गणोंसे कह चुके थे कि ''देवों! तुम अपने-अपने लोकको जाओ, मैं ध्रुवको इस तपस्यासे हटा दूंगा''. यदि तपसे ही भगवान्का प्रसाद होता तो तपसे हटानेका क्यों कहते? भगवान् क्या ध्रुवको और तरहसे नहीं हटा सकते थे! नहीं, नहीं. अन्य प्रकारसे भी भगवान् ध्रुवकी तपस्या छुड़ा सकते थे. तथापि जो अन्य प्रकारका अवलम्बन नहीं किया, उससे स्पष्ट है, कि बालस्तुतिसे प्रसन्न होकर उसे ध्रुवगति दे दी.

यहां प्रश्न होता है, कि स्तुति और ध्रुवगति का क्या जोड़ है. तप और

स्तुति का कुछ न कुछ फल दे देना था, सो अन्य रूपसे भी हो सकता था! इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'दिव्याः स्तुवन्ति' निन्दा वचनोंसे दुःखी होकर ध्रुवने तप किया था; अतएव भगवान्ने ऋषियोंको भी स्तुति करनेयोग्य स्थान दिया. दिव्य सप्तर्षि लोक भी इस सर्वोच्च स्थानकी उससे नीचे रहकर सर्वदा स्तुति करते रहते हैं. यदि यह स्थान भगवत्प्रसादसे न मिला होता, केवल तपके जोरसे या जबरदस्तीसे मिला होता तो भगवदीय लोग इसकी स्तुति न करते. भगवदीयोंमें भी मुनि लोग. ध्रुव ऊपर स्थित है और वे नीचे खड़े रहकर स्तुति करते हैं. यह तो ईर्ष्या होनेकी जगह थी; तथापि सर्वोच्च स्थितिकी अधःस्थित मुनि स्तुति करते हैं इससे स्पष्ट होता है कि ध्रुवको भगवत्कृपासे ही ध्रुवस्थान मिला. प्रसाद करने पर ही ध्रुवको पश्चाताप भी हुआ अन्यथा न होता. ध्रुवके मनमें यह आया कि भगवान्ने स्वयं जब कृपा की तो क्षुद्र फल क्यों मांगा? इसलिए स्पष्ट होता है कि कमलवत् प्रसन्न नेत्रका ही यह अवतार है।।८।।

आभासार्थः इस तरह नलिनायतेक्षण भगवान्का निरूपण करके अब 'कदम्ब किंजल्क पिशङ्ग वासः' भगवदवतारका वर्णन करते हैं:

यद् वेनम् उत्पथगतं द्विजवाक्यवज्र-विप्लुष्टपौरुषभगं निरये पतन्तम् ।
त्रात्वार्थितो जगति पुत्रपदं च लेभे दुग्धा वसूनि वसुधा सकलानि येन।।९।।

श्लोकार्थः वेन राजाने जब दुष्ट मार्ग ग्रहण कर लिया तब ब्राह्मणोंके वाक्यवज्रोंसे उसका पौरुष और भाग्य दोनों भस्म हो गये, और वह जब नरकमें ही गिरने लगा तब ऋषियोंकी प्रार्थनाने उसकी रक्षाकी और उसका पुत्रपना भी स्वीकार किया. लोकप्रार्थनासे जिन भगवान्(पृथु)ने पृथ्वीमेंसे सब ही द्रव्योंका दोहन कर लिया वे पुरुषोत्तम भगवान्के पीताम्बरके अवतार हैं।।९।।

व्याख्यार्थः यहां भगवान्के पीताम्बर और कदम्बकी समानता वर्णनीय है. कदम्बमें वर्षा समयमें केसरा आते हैं. भूमि जब एकदम तप जाती है, तब वृष्टि होती है और वह भी यथासंताप अर्थात् जितनी ही ज्यादा तपेगी वर्षा भी उतनी ज्यादा गिरेगी और फिर वर्षा हो जानेके बाद सर्वलोकका सन्ताप दूर हो जाता है. यही बात पृथु अवतारमें मिलती है.

पृथु राजा श्रीपुरुषोत्तमके सुनहरी कोरवाले पीताम्बरका अवतार हैं. कदम्ब तापानन्तर वर्षा होने पर और सर्व सन्तापके निवृत्तिके अनन्तर फूलता है, केसराओंको धारण करता है. पृथुने जब पृथ्वीको दोहा तब ये सब बातें हुई थी.

पृथ्वीसे अन्नादिके न पैदा होनेसे सब लोगोंको असीम दुःख हो रहा था, तब राजाने पृथ्वीमेंसे सब रसोंको दोहकर सबका संताप दूर किया था. सर्वलोक रक्षा करके राजा प्रफुल्लित हुए. यह सब अवतारका ही सामर्थ्य है.

दूसरी बात यह है कि सर्व वेद और उसका अर्थ ही श्रीपुरुषोत्तमका पीताम्बर है. राजा पृथुने भी उत्तर वयमें वाणीके द्वारा और आचरणके द्वारा सर्व वेदार्थका प्रतिपादन किया था. इसलिये पृथु राजा पीताम्बरावतार है.

तीसरी बात और भी है कि राजा स्वभावतः ही पृथ्वीका आच्छादक होता है, ढक्कन है. दुनियांके सब दोषादि राजा होनेसे ढके रहते हैं. राजाकी आज्ञासे पृथ्वी रक्षित बनी रहती है. पीताम्बर भी गुप्त स्थानका आच्छादक है. उतना भाग पीताम्बरसे ही गुप्त रहता है. किन्तु पृथु राजा भगवदवतार होनेसे यथास्थित भूमिका रक्षक नहीं है किन्तु भूमिको सम करके रक्षा करने वाला है. राजाके रंगके आगे पृथ्वी विच्छाय(झांखी) पड़ गई. इसलिये अम्बरका पीतत्व कहा है. इस पीताम्बरमें कदम्बकिंजल्क समता भी है. राजा पृथुने एक बार दोह लिया और फिर सबको आज्ञा दे दी कि अपना वत्स दोग्धा और पात्र लाकर यथेच्छ रसका दोह कर लो. यह राजामें कदम्ब(बहुत्व) समता है. यह कदम्ब पृथुजन्य है और इस तरह सर्व सन्ताप दूर करके प्रसन्न होना ही किंजल्कों (केसरों)की समता है. इसलिये ये श्रीपुरुषोत्तमके अवतार हैं.

अवतार होनेका चौथा कारण और भी है. राजा पृथुने ही पुत्र पदकी वास्तविकता प्रकटकी ब्राह्मणोंने राजा पृथुको वेन राजाके पुत्र स्थान पर रखा. पिताको 'पुं' नामक नरकसे जो बचावे वह 'पुत्र' यह पुत्र शब्दकी व्युत्पत्ति है. ऐसी अवस्थामें दुनियाके पुत्र अपने पिताको नरकसे बचाते हैं या नहीं, सन्देह ही रहता है. किन्तु राजा पृथुने तो अपने पिता वेनकी नरकसे रक्षा कर ही ली. नरक(पीड़ा) विराट भगवान्के पायुस्थानीय है, उसका आच्छादक, उस भागको गुप्त रखनेसे भी पृथुका पीताम्बरत्व है. नरकसे रक्षा की तो पहले दुःख(नरक)की सम्भावना होनी चाहिये सो कहते हैं कि 'यद् वेनम् उत्पथगतं' इत्यादि. पृथुके पिता पर भारी विपत्ति आई थी. वेन अन्यायमार्ग पर चलने लगा था. अतएव ब्राह्मणोंका धर्मावध्वंसरूप अपकार करने लगा. तब महापुरुष ब्राह्मणोंने अपने शापरूप वाक्यवज्रसे उसके सामर्थ्य और ऐश्वर्य का नाश कर दिया. अब भाग्य और पौरुष से उसकी रक्षा नहीं हो सकती थी. और कुमार्गमें चलनेसे प्रजापालनरूप धर्मसे भी

रक्षाकी आशा न रही. जो अन्याय मार्गमें चल रहा है वह प्रजाओंकी रक्षा ही कैसे और क्यों करे. गुण कोई नहीं था और दोष तो विद्यमान थे ही; इसलिये वेनका नरकपात आवश्यक हुआ. पर ऐसे समयमें उसके हाथको मथनेसे पृथुराज प्रकट हुए और पुत्रपदको स्वीकार करके उसकी नरकसे रक्षा करली. ब्राह्मणोंने प्रार्थना की इसलिए पृथुने वेनका पुत्रत्व स्वीकार किया. प्रकट होकर अवतारका मुख्य कार्य पृथ्वीदोहन किया. सब अपेक्षित पदार्थोंको पृथ्वीमेंसे पैदा किया. यद्यपि अन्य-अन्य दोग्धाओंने अपनी-अपनी आपेक्षित वस्तुएं दोह ली थीं, पर यह सब दोहन पृथुमूलक था, उसका मूल संचालक राजा पृथु था. इसलिये उन्होंने सब वस्तुएं पृथ्वीमेंसे दोही यह कहा गया है. इससे वेदरूप पीताम्बर सर्व कामोंको पूर्ण करनेवाला है और नरकोंसे रक्षा करने वाला है यह सिद्ध हुआ. पीत होनेसे सर्व दुःखनिवृत्ति प्रसङ्गवश हुई. पैदा करना और रक्षा करना राजस्वभावसे ही था अथवा ''मातृवत् परदारेषु'' इत्यादि पुरुषस्वभावसे ही था. राजा पृथुमें अनेक गुण थे. अतएव पीताम्बरमें चारों तरफ सुनहरी रेखाएं थी यह समझ लेना चाहिये।।९।।

आभासार्थः इस तरह पीताम्बरका वर्णन करके अब 'लसन् महारत्न-हिरण्मयाङ्गदत्व' का निरूपण करते हैं.

नाभेरसावृषभ आस सुदेविसूनुर्यो वै चचार समदृग्-जडयोगचर्याम् ।
यत्पारमहंस्यम् ऋषयः पदम् आमनन्ति स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्तसङ्गः।१०

श्लोकार्थः नाभि राजाकी 'सुदेवि'नाम्नी रानीमें 'ऋषभ' नामक पुत्र भगवान्के अवतार हुऐ. उन्होंने सर्वत्र समदृष्टि रहनेसे जड़ों जैसी योगचर्याका आचरण किया. वे सर्वदा आत्मस्थित एकदम ज्ञानेन्द्रिय और सर्व सङ्गोंको छोड़े रहते थे. उनके इस आचरणको बड़े-बड़े महर्षि लोग पारमहंस्यपद कहते हैं।।१०।।

व्याख्यार्थः बाजुबन्दको 'अंगद' कहते हैं. एक अंगको दो भागोंमें बांट दे वह अंगद. श्रीऋषभदेवका अवतार 'लसन्महारत्नहिरण्मयाङ्गद'का है. महारत्न इनके नवयोगेश्वरादि पुत्र हैं. नाभिके यज्ञमें ये भगवान् हिरण्मय(आनन्दमय) रूपसे प्रकट हुए थे, ये सब आगे आवेगा. नाभिराजाने ब्राह्मणोंसे पुत्रकेलिये प्रार्थना की तब ब्राह्मणोंने यज्ञ करनेकेलिये कहा. यज्ञमें भगवान्ने हिरण्मयरूपसे दर्शन दिया. तब राजाने प्रभुकी प्रार्थना की और उनके जैसा ही पुत्र आपने मांगा. राजाकी 'सुदेवी' रानीने भी यही प्रार्थना की तब भगवान् सुदेवीके पुत्र होकर प्रकट हुए.

'असौ' कहकर ब्रह्माजी अपनी बुद्धिस्थ भगवान्‌की सूचना करते हैं. उन भगवान्‌का 'ऋषभ' यह नाम हुआ. अवतार लेनेका प्रयोजन जड़योगचर्या था. लोकमें विषयासक्ति न बढ़ जाय, मेरे पुत्रादि द्वीप-खण्डादिके स्वामी होंगे. अतः उनमें भी विषयासक्ति न हो जायें, इस हेतुसे लोकमें जड़योगचर्या कैसी होनी चाहिये, यह जनताको अपने आचरणसे दिखा दिया. उनकी सर्वत्र समान दृष्टि थी. ऋषभदेवजी जड़-चेतनमें सर्वत्र केवल आत्मा(ब्रह्म)को ही देखते थे. जो सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि होता है उसीसे वैसी योगचर्या बन सकती है. उनकी इस योगचर्याको सच्चे लोग इस रूपमें ग्रहण करते थे उस रूपको दिखाते हैं 'यत् पारम' बड़े-बड़े महर्षि भी उनकी योगचर्याको 'पारमहंस्यपद' मानते हैं. अर्थात् केवल परमहंस लोगोंके करने योग्य. अन्यके अशक्याधिकार. इस मार्गके निर्वाहक आवश्यक साधनोंका उद्देश्य करते-करते ऋषभदेव प्रत्यक्षानुभव करानेकेलिये ये स्वयं वैसे हो गये.

पहला साधन: 'परिमुक्तसङ्गः' भले-बुरे सबमेंसे आसक्तिका इन्होंने परित्याग कर दिया. दुनियाके पदार्थोंमें आसक्ति रहनेसे ही इन्द्रियोंमें अशान्ति बनी रहती है, पर ऋषभदेवके सब ही इन्द्रियां, विषयासक्ति छोड देनेसे प्रशान्त हो चुकी थीं. इसीसे वे सर्वदा अपने स्वरूपमें स्थित रहते थे. विषयासक्त अशान्तेन्द्रिय पुरुषका स्वरूप कभी कामी, कभी क्रोधी इस तरह अनेक तरहसे बदलता रहता है, पर इनका स्वरूप चेतनात्मा सर्वदा चैतन्यैकरस रूपमें ही स्थिर रहता था. इन विशेष गुणोंसे दोषनिवृत्ति कही गई है. 'समदृक्' कहनेसे गुण. पदार्थ मात्रको अच्छे-बुरे किसी भी रूपमें न देखकर केवल ब्रह्मरूपमें देखना ही वास्तविकता है और यही ग्रहणका गुण है. प्राणियोंमें वासुदेवको ही समझ लेना समदर्शिता है. देवता ओर क्रिया के मध्यमें अंगदका निवेश है. क्रियाका त्याग करके देवता भागमें अपनी स्थिति रखी, इसलिये आप स्वयं अङ्गद रूप हैं. कोहनीके नीचेका भाग कर है. वह क्रियासाधक होनेसे क्रियारूप है. उससे ऊपरका भाग प्रगण्ड है. वह बाहु देवताका स्थान है. क्रियाका बल क्रियाको देवतासे बल मिलता है. वासुदेव भगवान् ही इन्द्र देवताके रूपमें बाहुमें स्थित हैं. बाजूबन्द प्रगण्डके ऊपर ही बांधा जाता है. अतएव भगवान्‌ने क्रिया और देवता दोनोंके मध्यमें विशेषकर देवता भागमें ही अपनी स्थिति रखी. यह अङ्गद निवेशन है. ऋषभदेवजी ब्रह्मवेत्ता थे और क्रियाका त्याग कर चुके थे. दोनोंका विभाग

उन्होंने ही सूचित किया था. उसमें भी क्रियासे ज्ञान ही पूजनीय है यह बात अपनी आचरणसे दिखा दी. अंगद सुवर्णका था. नाभिराजाके यहां आप हिरण्मय बनकर प्रकट हुए. योगेश्वर भरत आदि आपके पुत्र महारत्न थे. इसलिये सुवर्णका बाजूबन्द महारत्नोंसे जुड़ा हुआ था. आप स्वयं ज्ञान-कर्मके मध्यमें स्थित थे. अतएव अङ्गद थे. यह बात सब पचमस्कंधके ऋषभचरित्रके अनुसार कही, पर व्याख्येय श्लोकके अनुसार दूसरा प्रकार भी है, सो कहते हैं. आत्मस्थिति, प्रशान्तेन्द्रियत्व, परिमुक्तसङ्गता यह महारत्न हैं. समदृष्टि ही सुवर्ण है और जड़ योगचर्या अंगदका आकार है. यह परमहंसोंका स्थान है. परमहंस रत्न है. अब यह सिद्ध हुआ कि ऋषभदेवजीने जो कार्य किया है वह पुरुषोत्तम भगवान्के अंगद-बाजूबन्दका ही है और वही उन्होंने किया यह समझ लेना चाहिए. पंचमस्कंधमें ऋषभदेवजीका चरित्र तीन अध्यायोंमें कहेंगे. उनमें पहले अध्यायमें अंगदकी शोभा अर्थ है. दूसरे अध्यायमें बाजूबन्दके महारत्नोंका निरूपण हैं और तृतीय अध्यायका सुवर्णमयत ब्रह्मभावार्थ है।।१०।।

आभासार्थः इस तरहसे अंगदका निरूपण करके श्रीपुरुषोत्तमके 'स्फुरन्महारत्नकिरीटकुण्डल'का अवतार कहते हैंः

सत्रे समास भगवान् हयशीर्षनामा साक्षात् स यज्ञपुरुषस्तपनीयवर्णः । छन्दोमयो मखमयोऽखिलदेवतात्मा वाचो बभूवुरुशतीः श्वसतोऽस्य नस्तः।११।

श्लोकार्थः मेरे यज्ञमें तपनीय(स्वर्ण)वर्ण साक्षात् यज्ञपुरुष हयग्रीव नामके भगवान्का अवतार हुआ. ये भगवान् वेदमय थे, यज्ञमय थे और सर्व देवताओंके आत्मा थे. इनके नासाके श्वाससे ही वेदरूपा कल्याणमयी वाणी पैदा हुई।।११।।

व्याख्यार्थः हयग्रीव भगवान् पुरुषोत्तमके किरीट-कुण्डलावतार हैं. पुरुषोत्तम ही दोनों रूप धारण करता है, हय-मस्तक भी वही और नृदेह भी वही. हय-मस्तक किरीट है, और नृदेह कुण्डल है. ये भगवान् ब्रह्मविद्याके प्रवर्तक हैं. ब्रह्मविद्या वेदान्तोंमें है. अतएव वेदान्ती थे. ब्रह्मविद्या भगवान्का मुकुट है. आकृतिसे हयशिर कहा है. सांख्य-योग नृदेहके प्रवृति-निवृतिके आधारभूत हैं. कर्ममार्गमें किस प्रकार प्रवृति करना और किस प्रकार कर्मसे निवृत्त होना यह योग और सांख्य बताते हैं. इस तरह प्रवृति-निवृतियुक्त कुण्डलरूप हयशीर्ष भगवान्का नृदेह है. यह अवतार अग्नि ाध्यमें प्रकट हुआ है. कुण्डल किरीट आदि

भी अग्निसाध्य कर्मके द्वारा ही प्रकट होते हैं. यही तीन रूप विशेषणोंके द्वारा कहते हैं. 'छन्दोमयः' 'मखमयः' 'आखिलदेवतात्मा'. छन्दोमय-मखमय कुण्डल हैं, और अखिलदेवतामय मुकुट है. अन्यून सबके सब देवगण ब्रह्मादि. जिस भगवान्के पारमेष्ठ्य पद मस्तक पर सम्मिलित हैं. छन्दोमय-यज्ञमय कहकर अग्निकार्यसाध्यता कही है. इस तरह हयग्रीव भगवान्ने जो कार्य किया है वह भगवान्के योग-सांख्य कुण्डल और वेदान्तात्मकरूप ब्रह्मविद्या मुकुटका कार्य है. इनका स्वरूप ब्रह्माजी कहते हैं. ये भगवान् मेरे यज्ञमें प्रकट हुये. प्रसिद्ध हयग्रीव भगवान्का अवतार हुआ. दैत्य हयग्रीवको कोई न समझले इसलिये भगवान् कहा. इसीसे किन्नर आदि रूपोंका भी निराकरण हो गया. क्योंकि अन्य कोई भी यज्ञमेंसे जन्म लेनेयोग्य हो नहीं सकता है. भगवान् षड़ैश्वर्य सम्पन्न होते हैं. भगवान्का अवतार ही साक्षात् यज्ञपुरूष है. सर्वयज्ञोंके अधिष्ठाता देव-देव भगवान् हयग्रीव ही भगवदवतार हैं. तपनीय सुवर्णकी तरह मनोहर वर्णवाले यज्ञ भी सुवर्ण वर्ण अग्निसाध्य होता है. यज्ञपुरुष वेद, अग्निसाध्य कर्म, अखिल देवोंसे सम्बन्ध होता है. इसलिये हयग्रीवको छन्दोमय, मखमय और सर्वदेवोंकी आत्मा कहा. वेद प्रमाण है, यज्ञ प्रमेय है, अखिल देव गण साधन हैं, और आत्मा फल है. अतएव हयग्रीव प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलरूप है ऐसा तात्पर्य हुआ. उस समयके अवतारका प्रयोजन कहते हैं 'वाचः'. ये हयग्रीव भगवान् जब नाकसे श्वास लेते थे तब वे ही सब मनोहर वाणी-श्रुतिरूप होकर ब्रह्मादिके हृदयोंमें भासित हुई. ये वेद वाक्य ही कुण्डल-मुकुट आदिके स्फुरन्महारत्न हैं।।११।।

आभासार्थः इस तरह मुकुटकुण्डलावतारका निरूपण करके अब 'उन्निद्रहृत्पंकजकर्णिकालये योगेश्वरस्थापित पादपल्लवरूप' अवतारका निरूपण करते हैं:

मत्स्यो युगान्तसमये मनुनोपलब्धः क्षोणीमयो निखिलजीव-निकायकेतः ।
विस्रंसितानुरुभये सलिले मुखाद् मे आदाय तत्र विजहार ह वेदमार्गान्।।१२।।

श्लोकार्थः जब सृष्टिके युगोंका अन्त समय आया उस समय 'हयग्रीव' नामक दानवने उपद्रव मचाया. ऐसे भयावह समयमें डरसे मेरे (ब्रह्माके) मुखसे सर्वमार्गोपयोगी वेदगण निकल गये थे, उनको हयग्रीव दानव संग्रह कर अपने पास ले गया. तब भगवान् मत्स्य अवतार लेकर वहां प्रलयसमुद्रमें ही उस हयग्रीवको मारकर कई कल्प तक विहार करते रहे।।१२।।

व्याख्यार्थ: मत्स्यावतार भगवान् श्रीपुरुषोत्तमके पादपल्लवरूप है. पृथ्वी भगवान्का चरण है और मत्स्य भगवान् क्षोणीमय भी थे, और आकारसे पल्लवरूप भी थे. सत्यव्रत राजा आदि इनके शिष्य थे. अतएव सर्वगुरु इनके ज्ञानात्मक पादपल्लव हृदयमें स्थापन करने योग्य ही हुये. प्रलय ही यहां युगान्त समय था. सत्यव्रत राजा द्रविड़ देशका स्वामी था. वह आगे जाकर मत्स्य भगवान्की कृपासे ही मनु(मनुष्य लोकका शासक) हुआ. इस मनुको सन्ध्याञ्जली देते समय अजंलिके जलमें एक मत्स्य मिला इसलिये 'उपलब्धः' कहा. मत्स्यके पादत्वका अर्थ बताते हैं. 'क्षोणीमयः' ये पृथ्वीमय भी थे. इसीलिये आध्यात्मिक पृथ्वीको साथ लेकर विहार किया. नौकारूपा यह पृथ्वी जीवोंके भवसागरसे तरनका उपाय होती है. अतएवं भगवान्के चरणोंको कहीं कहीं पोत(जहाज) भी कहा है. भगवान्का चरण सब भक्तोंका आश्रय भी है. सो कहते हैं: 'निखिल' जो जीव विषयोंसे खंडित(च्युत) हो जाते हैं वे 'खिल' कहे जाते हैं. पर भक्त लोंग विषयोंसे खण्डित नहीं होते, विषयोंमें नहीं फंसते वे ही 'निखिल' कहे जाते हैं. 'निष्क्रान्ताः खिलेभ्यः इति निखलः' ऐसे जीवोंका जो समूह उनका आश्रयस्थान भगवान्का चरण है. उस समय सब अन्नादिके बीज, ऋषिगण और राजा उस श्रेणीमय नौकामें ही थे. इसलिये भगवच्चरण सर्वाश्रय था. यही भगवत्चरणका स्वरूप है. इसीसे संसार तरणका उपायरूप जहाज कहा जाता है. अब अवतारचरित्रको कहते हैं: 'विस्रंसितानु' महाभयावह समयमें ब्रह्माके मुखसे गिराये गये वेदमार्गोंको हयग्रीव ले गया. उसको मारकर वहांसे वेदमार्गको लाकर जल विहार किया. यह 'ह' यह क्रम पुराणान्तरोंमें प्रसिद्ध है. 'वेदमार्ग' शब्दका यह तात्पर्य है कि यज्ञोपयोगी वेदमार्गोंके सिवाय दूसरे ज्ञान-भक्ति प्रतिपादक वेद मार्ग ही थे. वे ही श्रीमत्स्य भगवान्से ही ब्रह्मादिने प्राप्त किये. वेद मार्गोंके द्वारा ही शिष्योंके हृदयकमल प्रफुल्लित होते हैं. तब वहां भगवान् अपने ज्ञानभक्ति प्रतिपादक किंवा तद्रूप चरणपल्लव स्थित करते हैं. यज्ञोपयोगी वेदमार्गोंका उद्धार हयग्रीव अवतारने किया और ज्ञान-भक्ति प्रतिपादक वेदमार्गका उद्धार मत्स्य भगवान्ने किया।।१२।।

आभासार्थ: श्रीपुरुषोत्तमके वक्षस्थल स्थित श्रीचिह्नका निरुपण करते हैं

क्षीरोदधावमर-दानव-यूथपानाम् उन्मथ्नताम् अमृतलब्धय आदिदेवः ।
पृष्ठेन कच्छप-वपुर्विदधार गोत्रं निद्राक्षणोऽद्रि-परिवर्त्तकषाण-कण्डूः।।१३।।

श्लोकार्थः क्षीर समुद्रमेंसे अमृत प्राप्तिकेलिये जब देव और दानवों के यूथपतिगण समुद्रका मथन करने लगे तब आदि देव कच्छपावतार भगवान्ने मन्दर पर्वतको अपनी पीठ पर रख लिया था. पर्वतके चारों ओर फिरनेसे जो घिस्से लगते थे उन्हें इससे नींदमें खुजली खुजानेका आनन्द आता था।।१३।।

व्याख्यार्थः कूर्मावतार श्रीपुरुषोत्तमका श्रीचिह्न है. इसे भृगुलता भी कहते हैं. जितना कार्य कूर्म भगवान्का है उतना श्रीवत्सका भी है. भृगु ऋषि श्रीलक्ष्मीके पिता हैं. उन्होंने पुरुषोत्तमत्वकी परीक्षा करनेकेलिये भगवान्की छातीमें अपने चरणका स्पर्श कराया था. इसी तरह यहां भी मंदर पर्वतका पैर कच्छपावतार धरा था. जैसे सब ब्राह्मणोंने परीक्षा करनेकेलिये विचार पूर्वक चुना था, इसी तरह यहां भी सब ही देव-दानवोंने विचार करके मन्दरको कूर्मपृष्ट पर धरा था. जैसे वहां शास्त्रार्थ हुआ था वैसे यहां पर्वतका घर्षण होता रहा. क्षीर समुद्र पर देव-दानवोंके यूथप जब क्षीर समुद्रका मंथन कर रहे थे तब देवपक्षपाती आधिदैविक देव-देव भगवान् कूर्मावतार लेकर अपनी पीठ पर मन्दर पर्वतको धरा. यदि कोई कहे कि इतने बड़े और भारी मंदरको भगवान्ने क्यों पीठ पर धरा? तो इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'निद्राक्षणः' निद्राका पूर्ण सुख लेनेकेलिये. कोई कहे कि यह तो उल्टी बात कही. सोने वाला तो अपने ऊपरसे सब भारको अलग रखकर सोता है न कि भार धर कर! इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'अद्रिपरि' इत्यादि. पर्वतके घर्षणसे निद्रा सुख प्राप्त होनेकेलिये पर्वत धारण किया. अद्रेः परिवर्तनेन कषाणा कण्डूर्यस्य. जैसे सब अर्थों देवगणोंको अमृतपानकी सिद्धि मिले इसलिये पर्वतको धारण किया वैसे ही संसारभ्रांत सब प्राणियोंको सर्व पुरुषार्थकी सिद्धि हो इसलिये भगवान्ने परीक्षक ब्राह्मण भृगुकी लातको धारण की।।१३।।

आभासार्थः इस तरह श्रीलक्ष्मीका निरूपण कर अब 'कौस्तुभरत्न-कन्धरावतारका' निरूपण करते हैं:

त्रैविष्टपोरुभयहा स नृसिंहरूपं कृत्वा भ्रमद्-भ्रुकुटि-दंष्ट्र-कराल-वक्त्रम् ।
दैत्येन्द्रम् आशु गदयाभिपतन्तम् आराद् दूरौ निपात्य विददार नखैः स्फुरन्तम्।।१४।

श्लोकार्थः तीनों लोकके तीव्र भयको दूर करनेवाले भगवान्ने घूमती हुई भृकुटी और दाढ़ोंसे भयावह मुखवाला नृसिंह रूप धर कर दूरसे सामने आते हुये हिरण्यकशिपु दैत्येन्द्रको गदासे घुटनों पर डालकर छटपटाते हुयेको अपने नखोंसे चीर कर फेंक दिया।। १४।।

व्याख्यार्थः श्रीपुरुषोत्तमका कौस्तुभयुक्त कन्धा ही नृसिंहरूप हो जाता है. मुख सिंहका और देह मनुष्यका. जैसे कंठमें पहने कौस्तुभकी तेज किरण कन्धों पर फैलकर केसरा जैसी मालूम होती है. इसी तरह केशरा वाले बब्बर शेरके मुंहवाले नृसिंह भी भगवत्कौस्तुभरूप दीखते हैं. भगवान् जो कण्ठमें कौस्तुभ मणिका धारण करते हैं वह दैत्योंके वधकेलिये और भक्तजनोंके उद्धारके लिये भी. सब ही चिन्हसमूह भगवदीय जीव कौस्तुभ रूप हैं. ''**चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिम् अस्य कण्ठे**'' इस वाक्यसे. अब यदि भगवान् इन्हें अपने कण्ठमें धारण न करें तो ये सब मृत्युसाधन कर्मोंके द्वारा नष्ट हो जावें इसलिये मृत्युगजनाशक नृसिंह भगवान् भक्त प्रह्लादके रक्षक एवं भक्त वैरी हिरणकश्यपुके मारनेवाले बनते हैं. और देवगणोंके तीव्र भयको दूर करते हैं. ग्राम और वन दोनोंमें रहनेवाले अनेक भक्त हैं. इन दोनों तरहके भक्तोंकी रक्षा करनेकेलिये ही भगवान्ने दो तरहका रूप लिया. कौस्तुभ भी दो रंगका होता है. नाचती हुई भृकुटी सहित जो दंष्ट्रा उनसे बड़ा भयावह जिनका मुख. ग्रासकेलिए आते कालकी वक्रता दिखानेकेलिये भवोंको चलती हुई कही. भगवान्की भ्रुकुटि काल है. यह काल वक्र होने पर ही किसीको ग्रसता है. यम ही भगवान्की दाढ़ है. उसका भी पराभव कर दिया. इससे भगवान्का मुख सबसे बढ़कर भयप्रद हो गया. अब जो कोई भी भक्तोंके विरोधी हैं, वे भगवान्के ऐसे कराल मुखको देखकर ही डरकर अपना कार्य न कर सकेंगे यह सूचना दी है. दैत्येन्द्र हिरणकश्यपु भक्तोंका विरोधी है. सावधान न होने पावे इसलिये जल्दी सामने आतेको मारनेमें समर्थ, गदासे घुटनों पर गिराकर नखोंसे छटपटातेको चीर डाला. मुक्ति न हो इसकेलिये नखोंसे चीरा. कामनायें लगी रहें, इसलिये गोडों पर डाला. इस तरह कौस्तुभरत्न भी भक्त विरोधियोंको संसार और कामनाओंमें फंसाये रहता है।।१४।।

आभासार्थः 'कौस्तुभरत्नकंधर'का वर्णन करके अब 'अम्लानलक्ष्म्या वनमालयाञ्चित'का अवतार 'अन्तःसरस्युरुबलेन' आदि श्लोकद्वयसे कहते हैं.

अन्तः–सरस्युरुबलेन पदे गृहीतो ग्राहेण यूथ–पतिरम्बुज–हस्त आर्त्तः ।
आहेदम् आदिपुरुषाखिल–लोक- नाथ तीर्थश्रवः श्रवण–मङ्गलनामधेय।।१५।।
श्रुत्वा हरिस्तमरणार्थिनम् अप्रमेयः चक्रायुधः पतगराज–भुजाधिरूढः।
चक्रेण नक्रवदनं परिपाट्य तस्माद् हस्ते प्रगृह्य भगवान् कृपयोज्जहार।।१६।।

श्लोकार्थः सरोवरके भीतर गजेन्द्रको जब बड़े ग्राहने पैर पकड़ लिया तब

दुःखी हुआ वह गजेन्द्र हस्तमें कमल पुष्प उठाकर भगवान्‌की स्तुति करता हुआ भगवान्‌के नामोंका उच्चारण करने लगा ''हे आदि पुरुष! हे अखिल लोकनाथ! हे पवित्र कीर्ते! हे श्रवणोंको पवित्र कर देने वाले नाम वाले!'' असीम बलधारी भगवान् उसे रक्षार्थी जानकर चक्र हस्तमें लेकर और गरुड़के पखों पर बैठकर वहां पधारे और अपने सुदर्शन चक्रसे ग्राहके मुखको फाड़ दिया और सूंड पकड़कर उस सरोवरमेंसे कृपाकर खेंच लिया।।१५-१६।।

व्याख्यार्थ: जिन्होंने गजका दुःख हरा वे भगवान् हरिः पुरुषोत्तमकी वनमालाका अवतार हैं. भगवान्‌की वनमाला विशुद्ध कीर्तिरूपा है. भक्त लोग गजेन्द्र मोक्षरूपा कीर्तिका श्रवणकरके भगवद्‌भजनमें प्रवृत्त होते हैं उसकी कीर्तिमयी वनमालाकी कान्ति कभी मैली नहीं होती. गजेन्द्रके मोक्षमें भगवान्‌ने न तो इसका देवतासे सहारा लिया और न किसीने ऐसा वर ही उसे दिया था. गजेन्द्रका मोक्ष केवल हरि भगवान्‌ने ही किया था. उसकी रक्षा करनेकी किसी देवताने भगवान्‌से प्रार्थना भी नहीं की थी और फिर गजेन्द्रके कोई ऐसे लोकप्रसिद्ध गुण भी नहीं थे जिन पर भगवान्‌का प्यार हो सके. इसलिये मानना पड़ेगा कि भगवान्‌की कृपासे ही गजेन्द्रका मोक्ष हुआ. इसलिए कीर्ति वनमाला निर्मल ही रही. अब जो श्लोकके पद और वाक्य तथा विशेषण हैं वे सब भगवान्‌की उद्धार-त्वराको दिखाने वाले हैं. भगवान्‌को गजेन्द्रके उद्धार करनेमें थोड़ा भी विलम्ब सहा नहीं गया. यह बात विशेषणोंसे स्पष्ट होती है. जलके मध्यमें बड़े बलवान्‌ने पैर पकड़ लिया. 'यूथपति' इत्यादि सब ही पद भगवान्‌की त्वराको उत्तेजना देने वाले हैं. जल हाथीका घर नहीं, ग्राहका था, इसलिए त्वरा करनी ही चाहिये. बड़े बलवान् ग्राहने पकड़ लिया इसलिये भी त्वरा की गई और पैर पकड़ा इसलिये हाथीकी जो भी कुछ क्रियाशक्ति थी, वह भी जाती रही. यह भी त्वराका कारण था. देवल ऋषिने गजको शाप दिया था अतएव देवलकी कृपासे ही ग्राह बड़ा बलवान् हुआ. 'ग्राह' पदसे प्रतिबंधको निरुपाय बताया है. गजको 'यूथपति' कहा इससे स्पष्ट होता है कि यदि भगवान् इसको न बचाते तो इसके साथ सब ही मारे जाते. इससे यह भी सूचना होती है कि इसके यूथपति होनेसे और सब अपनी या उसकी मुक्तिमें असमर्थ थे. कमलको सूंडमें लेकर स्तुति की. इससे मालूम होता है कि पहली अवस्थाका क्रूरभाव अब जाता रहा अथवा भगवान्‌के सन्मुख होनेका चिह्न ही दिखाया. अथवा ''हे गोविन्द! इस

कमल पुष्पसे ही सब पूजा सामग्री मान लीजिये'' यह सूचित किया. 'आर्त्त' दुःखी शब्दसे यह कहना है कि मेरे पास आपको प्रसन्न करनेके कोई भी साधन नहीं हैं. निःसाधन पर अन्य देवगण भी कृपा नहीं करते, अतएव आप ही कृपा कर इस दुःखसे छुड़ाइये. ये सब बातें दुःख दूर करनेमें विलम्ब न करनेकेलिए ही कही है. भगवान्के विशेषण भी इसी आशयसे दिये गये हैं. 'हे आदि पुरुष!' अर्थात् जब आप ही सर्व प्रथम पुरुष हैं तो आपको ही मेरी रक्षा अवश्य कर्तव्य है. आप मूल पुरुष हैं अन्यके समीप कहां जाऊं? क्या करूं? 'हे अखिल लोक नाथ!' सब लोगकी रक्षा करनेका आपहीका अधिकार है. इसलिये अन्यसे कुछ कह ही नहीं सकता हूं. यदि आप कहो कि दुःखका अनुभव करानेवाला कारण तेरा पाप जब विद्यमान है तब मैं भी क्या करूंगा. तो इसका उत्तर कहना है कि 'हे तीर्थश्रवः', आपका नामश्रवण ही तीर्थ है; अतएव मेरे पाप तो आपका नामकीर्तिका श्रवण करनेसे ही धुल गया. ठीक है तुम कहते हो सो, पर केवल दुःखसे छुड़ा देनेसे ही तो काम नहीं चलेगा. वैकुण्ठमें पहुंचानेकेलिये तो वहांके योग्य देह भी देनी पड़ेगी, किन्तु उसकेलिये तुम्हारे पास कोई पुण्य भी कहां है? मैं क्या करूं. इसके समाधानमें कहना है, कि 'हे श्रवणमंगलनामधेय!' आपका नाम ही श्रवण करने मात्रसे सर्व मंगलोंका देने वाला है. आपका नाम जब मैने लिया तब ही मेरे शुभदायक भाग्य सिद्ध हो चुके. इस तरह चार पदोंके पुरस्कृत करनेसे ही वैकुण्ठ स्थित भगवान् दूरसे ही इसे शरणेच्छु जानकर ये गजेन्द्रोद्धारकेलिये जाते हैं. यहां किसीको जताये बिना ही वहां आये अन्यथा कोई अन्य किंवा कोई देवता आकर अपनी प्रतिष्ठा जमानेके लिये सूंड पकड़ कर बाहर निकाल देता है. इसी आशयसे 'अप्रमेय' पद दिया है. जिनके आनेकी किसीको भी खबर न हुई. 'चक्रायुधः' पद इसलिये है कि चक्रके द्वारा मुक्तिदान करना है. पतंगराजके पक्ष परसे उतर कर, कहनेका तात्पर्य है कि देह त्याग किंवा कालग्रासके अनंतर मुक्ति नहीं दी; किन्तु गजेन्द्रको देहत्यागकी खबर भी नहीं हुई. मुक्ति पहले ही हो गई. 'कालात्मकः सोऽथ सुपर्णः' इस वाक्यसे गरुड़ कालरूप ही है. आकर जो कुछ किया सो कहते हैं 'चक्रेण नक्र' इत्यादि. मुक्तिप्रतिबंधक ग्राहके मुखको तोड़कर. प्रतिबंधका सहोद्धार नहीं किया, किन्तु पृथक्-पृथक् संकटसे छुडाकर सूंडा दंड पकडते ही स्पर्श मात्रसे उसका चतुर्भुजरूप कर दिया और उसको अपने साथ ले लिया. जब भगवान्ने उद्धार ही करना स्वीकार कर लिया तब ब्राह्मणोंका शाप कुछ नहीं कर

सकता. कृपासे ही उद्धार किया. जीवके पास अपने उद्धारकेलिये कोई साधन नही है. इसी कारणसे कीर्तिमालाकी अम्लानता दिखाई है. किसीके दुःख दूर करनेकी इच्छाको कृपा कहते हैं. इस तरहसे भगवत् कीर्तिरूप वनमाला भक्तोंका उद्धार करती है यह दिखाया. इसी चरित्रको अष्टम स्कंधमें किंवा प्रह्लादकी स्तुतिमें भक्तिका हेतु कहेंगे. भगवत् कीर्तिसे ही भगवान्में प्रेम होता है, यह सिद्ध होगा।।१५-१६।।

आभासार्थः इस तरहसे वनमालावतारका निरूपण करके, उससे पूजित होनेका प्रेम जनकतासे सूचित करके अब 'विभूषितं मेखलया' इस विशेषणका अवतार दो श्लोकोंसे कहते हैं:

ज्यायान् गुणैर् अवरजोऽप्यदितेः सुतानां लोकान् विचक्रम इमान् यदथाधियज्ञः।
क्ष्मां वामनेन जगृहे त्रिपदच्छलेन याच्ञामृते पथि चरन् विभुभिर्न चाल्यः।।१७।।

श्लोकार्थः यद्यपि भगवान् गुणोंमें सब देवोंसे बड़े हैं, पर इस समय अदितिपुत्र देवोंके छोटे भाई होकर वामनावतार धारण किया और फिर इन अधियज्ञ भगवान्को बलिने प्राप्त किये. सब ही लोकोंको अपनी तीन पेंड पृथ्वीकी मांगके बहानेसे नाप लिये और इस तरह पृथ्वी भी ले ली. सच है, जो दास अपने मार्ग पर चल रहा है उसे हटानेकेलिए स्वामीके पास भिक्षा मांगनेके सिवाय और उपाय ही नहीं है. बलि राजा भी भगवान्का पूर्ण भक्त था. उसे देवताओंका आधिपत्य लेना ही नहीं था. उसे तो किसी तरहसे भी भगवान्के चरणका पवित्र जल अपने मस्तक पर धारण करना था. ''भगवान्को प्रतिज्ञात दान करूंगा'' यह उसका दृढ़ निश्चय था. उसके पूरा करनेके सिवाय उसका अन्य मनोरथ नहीं था. अब उसके पास कुछ न रहा तब उसने अपना मस्तक श्रीहरिके चरणों पर रखकर अपनी आत्मा भगवान्के भेंट कर दी.

व्याख्यार्थः वामन भगवान् श्रीपुरुषोत्तमकी कोंधनी हैं. करघनी कटिस्थानका बन्धन करने वाली होती है. '**स जघनाद् असुराम् असृजत**' इत्यादि श्रुतियोंसे स्पष्ट होता है कि असुरोंकी स्थिति जघन स्थानीया है. अतएव असुरोंको उससे ऊपरके स्थानमें स्थिति न करने देनेकेलिये मेखलाका अवतार अपेक्षित है. कटिस्थानमें ही इनको बद्ध रखनेकेलिये मेखलारूप वामन भगवान् हैं. मोहनसे सहज बन्धन होता है. इसलिये भगवान्ने अपने पास मायाको भी रखा है. मायाके द्वारा बन्धन साधन मेखला(कोंधनी)में शोभा आ जाती है और कभी कम

दिखाना और कभी फैला देना यह भी मायाके साहचर्यसे होता है. असुरोंकी उपास्य देवता माया है और उसका उनके ही मोहनसे उपयोग करते हैं. मेखलामें आकुञ्चन-प्रसारण गुण होता है, शोभा भी होती है और बन्धक गुण भी होता ही है, और ये सब बातें वामनचरित्रमें विद्यमान हैं; अतः वामनजीको मेखलावतार कहा है. इसलिए गुणप्राधान्य रखकर निरूपण किया गया है. समानरूपतासे उसका सादृश्य कहा. अब 'समान' शब्दसे भी सादृश्य कहते हैं 'गुणैः ज्यायान्'. मेखला गुणवती होती है और भगवान्ने भी गुणोंका प्रदर्शन कराया हैं. अष्टम स्कंधमें वर्णन है कि ''**तद्वामनं रूपम् अवर्धताद्भुतं हरेरनंतस्य गुणभयात्मकं**'' (भाग.८।२०।२१) यहां स्पष्ट गुणमयका साहचर्य कहा है. और वामन, अवद्भुत अद्भुत आदि शब्द भी माया गुणोंका प्रकाशन करते हैं.

वामनका छोटा होना अवद्भुत, बढना, आश्चर्य कारक दीखना ये सब मायाके गुण हैं. वामन भगवान् अदितिके देवोंसे छोटे पुत्र हैं; परन्तु गुणोंसे सबसे बड़े हैं. अदितिको श्रुतिमें पृथ्वीरूपा कहा है. यद्यपि अदितिका निरूपण सर्वरूपसे भी है किन्तु वह निरूपण स्तुतिरूप है. वास्तवमें वह भूमिरूपा ही है. 'इयं वा अदितिः' यह श्रुति मुख्य है. इस अदितिके पुत्र गुणत्रयात्मक मिलकर भूमिकी स्तुति किंवा रक्षा करते हैं. यह रक्षा कीर्तिरूप समुदाय ही पीताम्बररूप है. इसको अर्थात् रक्षा और कीर्ति को मेखला दृढ़ करती है. वामन भगवान्ने अदितिकी कीर्ति और रक्षा की है, अतएव अन्य सुतोंसे ये गुणोंमें ज्यायान् अर्थात् पुष्ट हैं, स्थूल हैं, महान् हैं. उत्कर्ष दिखाने वाले गुण होते हैं. जगत्कर्ता, सर्वप्रेरक, सबको अपने नियममें चलानेवाले, काल चेष्टारूप भगवान्के ऐसे कौनसे गुण हैं जो भगवान्के उत्कर्षको दिखाते हैं. यदि आशंका किसीको है तो उसके उत्तरमें कहते हैं कि 'लोकान् विचक्रमे'. वामनावतार भगवान्के गुण ऐसे हैं जो उनका उत्कर्ष दिखा रहे हैं. मेखलाके गुण कहते हुए वामनजीके भी गुण कहते हैं. भगवान्ने ऊपरके लोकोंका आक्रमण किया. भगवान् ब्रह्माण्डरूप हैं और ऊपरके लोक भगवान्के वक्ष-कण्ठ-मस्तकरूप हैं. ऐसी अवस्थामें अपने ही आपसे अपना ही आक्रमण किया यह बात युक्ति द्वारा बुद्धिमें नहीं समाती. इसके उत्तरमें 'गुणैः' शब्द कहा है. भगवान्के धर्म भगवान्से अन्य(भिन्न) भी हैं. अतएव अन्य होनेसे अन्यके द्वारा(गुणके द्वारा) रचाक्रमण बुद्धिसे समझमें आ भी सकता है. धर्म रूपोंसे ही भगवान् सर्वरूप हुए हैं अतएव धर्मोंके द्वारा भी रचाक्रमण कैसे

समझमें आ सकता है इसलिये इन धर्मोंको गुण शब्दसे कहा है. उत्कर्षको दिखाने वाले धर्मोंको 'गुण' कहते हैं और स्वरूपज्ञापक धर्मोंको 'धर्म' ही कहते हैं. मायाका अन्तःप्रवेश रखनेसे कितने ही धर्म गुण कहलाते हैं. 'अदितेः सुतानां अचरज अपि' कहनेसे स्पष्ट होता है कि त्रिगुणमयी आधिदैविक भूमि अदिति, उसके सुत त्रिविध देव, उनमें वामन भगवान् सबसे छोटे (इसलिये शुद्ध सत्वात्मक अवतार रहते भी मायाके अन्तःपतनसे कुछ त्रिविध गुणका कार्य दिखाना ही पड़ा है. अतएव अष्टम स्कंधमें वामनके रूप बढ़ानेमें 'गुणत्रयात्मकं रूपं अवर्धत' साभिप्राय विशेषण दिया है. यहां भी 'गुणैः ज्यायान्' यह भी साभिप्राय है. मैत्रावरुणीयोपनिषद्में कहा है कि 'तमो वा इदम् अग्र आसीत' पहले यह सारा जगत् दिव्यतमस्(अव्यक्त किंवा अक्षर) था इत्यादि कहा है. फिर आगे जाकर कहा है कि 'तद्रस संस्रवाद्रजस्तस्यापि रसः सत्वम् इति'. अर्थात् वह तमस् जब रस होकर प्रकट हुआ तब वही रजोगुण भी हुआ. और जब रजस्का भी रस हुआ तब वह सत्व गुण हुआ. तमो रजः सत्व सृष्टिके प्रारम्भमें सारा जगत् तमोभूत था. जिसमें और जिसकी कुछ खबर न पड़ सके वह 'तम' व्यर्थ है. अन्धकाररूप न होकर भी वैसा था. अक्षरब्रह्मका ही एक रूपान्तर 'तमस्' है. अप्राकृत रहते भी प्राकृतका आभास है. ब्रह्ममें सबका आभास है. यह अवस्था सृष्ट्युन्मुख है. वह सर्वाभाव तमस् कूटस्थ निश्चेष्ट आद्यन्तमें रहता है. परासृष्टिके आरम्भमें वहां संस्रव(चलन) तदनंतर कुम्ब प्रकाशका आविर्भाव होता है. पहला संस्तव रजोगुण है और दूसरा संस्तव सत्वगुण है और वह भी निखरता है तब शुद्धसत्व होता है. अतएव भगवान् अवर जो सत्व गुणोंके अवतार देव हैं और देवोंके अवर जन्मा शुद्ध सत्वावतार वामनजी हैं. इसलिये इनमें गुणत्रयके उत्कर्ष हों तो क्या आश्चर्य है. यदि कहो कि शुद्ध सत्वावतार होनेसे एक ही गुणका प्राधान्य आता है. आच्छदन-विक्षेप कहांसे आये? तो इसकेलिये 'अदितेः' कहा है. 'अदिति' यद्यपि सर्वरूपा कहा है, तथापि 'इयं वै अदितिः' इस श्रुतिसे त्रिगुणात्मिका भूमि ही इसका मुख्य रूप माना है और फिर मायाका अन्तःपात भी है इसलिये भगवद्गुणोंमें रजस्तमका ही उत्कर्ष विद्यमान है. तो अब यह आशंका हो सकती है कि फिर प्राकृत्व ही रहा, ब्रह्मत्व न रहा. और मायाका संग्रह भी व्यर्थ ही रहा. इसके उत्तरमें 'ज्यायान्' कहा है. 'गुणैः'=गुणोंसे भगवान् 'ज्यायान्'=विशेष हैं. भगवान्से भगवान्के ऐसे गुण सर्वदा पृथक् ही दीखते रहते हैं. इसलिये भगवान्का

स्वरूप उनसे विशेष रहा आता है. गुण केवल उत्कर्षाधायक ही नहीं हैं. उपसर्जनीभूत भी हैं, बढ़कर भी हैं. अब गुणोंकी अन्यता होनेसे उनके द्वारा स्वका आक्रमण किया गया. वामनरूपके स्वरूपका आच्छादन भी गुणसे और विक्षेप=स्वरूपका परिवर्तन भी गुणकृत है. इसलिये ही 'गुणैः ज्यायान्' कहा. भगवत्स्वरूप सर्वदा एकरूप है पर गुणोंके द्वारा स्थूल, महान, कृश, वामन आदि होता रहता है. इसलिये ही मायाका अन्तःपतन भी सार्थक है. और गुणोंमें निरखता सबसे अन्तिम शुद्ध सत्व है; इसलिए भगवान् अवरज ही है. यहां यह भी विचार होता है कि रूपके बढानेसे ही सब लोकोंका आक्रमण हो चुका, अब बलिराजासे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थ कोई भी बाकी नहीं रहे, तो फिर लोकाक्रमणका क्या प्रयोजन रहा? इसके समाधानमें कहते हैं कि बलिराजाको अपने चरणके आगे सब लोकोंको लाकर दिखाना ही लोकोंका विचक्रम था. विशेषके द्वारा क्रमण खेंचना, वहांका वहां ठहराए रखना. श्रुति और अष्टम स्कंधमें यह विशेष कहा गया है. पादाग्रमे लोकोंको लाकर दिखानेका प्रयोजन यह है कि ''हे बले! तुम मेरी इच्छासे ही अपने-अपने स्वर्गादि लोकोंका उपयोग कर रहे हो और वे सब मेरे चरणके अवयव ही हैं, इससे आगे बढ़ना स्वाभाविक नहीं है. मेरी इच्छासे क्वचित् हो सकता है''. यदि ऐसा हो तो मेखला उसको रोकने वाली है. भगवान् वामनावतार पुरुषोत्तमकी मेखला है, इसलिये बलिको ऊपरी लोकोंमें जानेका उद्योग करते समय रोक लिया. '**ऊर्ध्वं वै पुरुषस्य नाभ्यै मेध्यम-वाचीनममेध्यं यन् मध्यतः संनह्यति मेध्यं चैवास्याध्यं च व्यावर्त्तयतो**' यह श्रुति कहती है कि पुरुषकी नाभिके ऊपर अंगादि पवित्र हैं और उसके नीचेके स्थान अपवित्र हैं. इन दोनोंके मध्यमें जो मेखला बांधी जाती है, वह मेध्य और अमेध्यको पृथक्-पथक् रखना चाहती है. यहां मेखलाको उभयव्यावर्तक कहा है. वामन भगवान् मेखला हैं, व्यावर्तक हैं. इसलिए दैत्योंका जघन स्थान है. अतएव इन लोकोंका स्वर्गमें आक्रमण युक्त नहीं है यों समझकर उनका व्यावर्तन करते हैं. और इसीलिए यहां लोकविक्रमण वास्तविक युक्तिसे संभावित नहीं है. गुणोंसे ही है. और दूसरी बात यह भी है कि 'विचक्रमे' विशेषके द्वारा चंक्रमण बिलकुल ही असंभव है. विक्रमके द्वारा गिरते हुए लोकोंको उस क्रियाके द्वारा ही वहांका वहां ठहरा देना ही क्रमणका विशेष है. यह भगवान्का स्वरूप है. परस्पर विरुद्ध धर्मोंका आश्रय भगवान् हैं. पतिकी क्रिया ही सबका पालन करती रहती

है, यही अलौकिकता है, आश्रय है. स्वरूप और गुण दोनोंने मिलकर भगवान्के स्वरूप और भगवान्की इच्छाका बोधन कराया. लोक जहांके तहां रहें यह भगवान्का स्वरूप है और आक्रमण इच्छा है. 'अथ' कहकर भिन्नक्रमसे एक और भी विशेष कहते हैं: 'अथ अधियज्ञः'. उत्कर्षाधायक विशेष ही गुण कहा जाता है. आश्चर्यभूत असंभवित बातको कर दिखलानेसे उत्कर्षाधयकता सिद्ध होती है. लोक और वास्तविकरूपसे पूर्वमें भगवद्गुणकी अलौकिकता कह चुके. अब 'अधियज्ञः' कहकर यह दिखाते हैं कि यज्ञरूप भगवान् ही यज्ञकी स्थापना करते हुए भी यज्ञमें विघ्न करते हैं यह वैदिकमें भी भगवद्गुणोंकी अलौकिकता है. जो अधियज्ञ है, यज्ञसे भी अधिक श्रेष्ठ है वह सब कुछ कर सकता है.

इस तरह भगवान्के गुण और स्वरूप सब प्रकारोंसे बुद्धिके अगोचर हैं यह कहकर अब भगवान् तात्कालिक रूप और स्वभावके विरुद्ध अलौकिक भी करते हैं, यह कहते हैं 'त्रिपदच्छलेन' इत्यादि. तीन पेड़ोंके छलसे वामनजीने बलिसे पृथ्वी ले ली. यहां त्रि-पद वामन आदि सब ही छलके दिखानेवाले पद हैं. अन्दाजसे वामन पर अंगुलयानका जिसका देह हो उसे लोकमें वामन कहते हैं. क्षमा पृथ्वी शब्दसे एक त्रिलोकीका यहां ग्रहण किया है. हम जहां रहते हैं उस एक पृथ्वीसे उपरकी लोकात्मक पृथ्वी आवरणात्मक होनेसे चौगुनी है. उनका वामनजीने अपने चरणसे आक्रमण कर बलिसे ले ली. यह सब छल माया है. वामन अंगुलका सारा देह जिसका, उसका पैर २-३ अंगुलका हो सकता है. उसके ३ चरण पांच-छः अगुल भर होंगे उनसे त्रिलोकोको नाप लेना कैसे संभव माना जाय? अतएव छल है. पैर तो ठीक है पर उनका सारा देह ही मानदंड मान लिया जाय तो भी त्रिलोकीका आक्रमण तो असंभावित है, पर थोड़ी बहुत भूमिका भी आक्रमण नहीं बन सकता. इससे 'वामन' शब्द केवल छल है. तात्कालिक रूपको छोड़कर यदि वास्तव रूपको लें तो भी आक्रमणकी क्या आवश्यकता थी? पुरुषोत्तमकी मेखला वामनावतार है. लम्बी मेखला थोड़ी नम जाय, मुड़ जाय तो कटि स्थान बन्धनमें आ सकता है. इसकेलिए विशेष आक्रमकी क्या अपेक्षा थी? अतएव छल मात्र है. फिर भगवान्के तीन पद कहां हैं? और 'त्रिपद' पद दिया है अतएव छल है. भ्रमजनक ज्ञापनको ही छल कहते हैं. अष्टमस्कंधके विस्तीर्ण वामनचरित्रमें ऐसे पद हैं ''**तस्मात् त्वत्तो महीमीषद्वृणेहं वरदर्षभ, पदानि त्रीणि दैत्येन्द्र सम्मितानि यदा मम**'' यहां 'त्रीणि पदानि' छल ही है.

यहां सबके सब पद छल मात्र हैं. इसका विशेष विवेचन करनेसे ग्रन्थका विस्तार बहुत हो जाता है. इसलिये विवरणाध्यायस्थ श्लोकके पदोंका विवेचन किया है. यदि कोई कहे कि यहां 'पद' शब्दसे चरण नहीं, पर नाप 'पेंडे' समझना चाहिये. ऐसी अवस्थामें त्रिपदका तीन पेंडे अर्थ हो जानेसे तात्त्विक कथन है, छल नहीं. तो कहते हैं कि 'मानं हि' इत्यादि नाप वितस्त या हाथ होता है. यह नाप नापनेकी वस्तुको भरकर नापा जाय तभी नाप कहा जाएगा. नाप कहीं रहे और वस्तु कहींकी कहीं रह जाय तब नाप, नाप नहीं रहता. वामन भगवान्का दो-तीन अंगुलका चरण तो कहीं और त्रिलोकी कहीं? यह नाप(पेंड) कैसा? यदि कोई कहे कि नापते समय जो चरण निकाला उससे तो त्रिलोकीका नाप बराबर ही हुआ छल कहां रहा? तो कहते हैं कि 'चरणस्तु' इत्यादि. जो चरण पीछे निकला वह तो मान हो ही नहीं सकता. प्रत्यक्षमें तो ८०के तौलसे वस्तु ठहरावे और नापते समय २०० तोलाका सेर उठा लावे और नाप ले तो क्या वह नाप कहा जाएगा? कभी नहीं. स्थिति स्थानसे कहींका कहीं निकाल दिया, चरण अपने निष्कासन धर्मसे ही मान स्वभावका विरोधी है. और वामन चरण तो कहीं रह गया और नापनेकी वस्तु कहीं बढ़ गई. नाप ही कहां हुआ? 'समितानि पदा मम' यह भी छल रहा. इसलिए मान हो ही नहीं सकता. और इस तरहसे लेनेकेलिए न तो बुद्धि पूर्वक भगवान्ने कहा और न बलिराजाने देना स्वीकार ही किया था. यह तो जो कुछ किया सब छल ही हुआ. 'त्रिपदच्छलेन' भ्रम दिलाना ही इन पदोंके हेतु था, तात्पर्य तो अन्यत्र ही था. दैत्य होनेसे तत्पूज्य देवता मायाको शामिल रखकर कार्य किया तो दैत्य स्वभावके हृदयोंमें जो छलका आभास हुआ उसीका यहां अनुवाद है. 'छलेन' वास्तवमें तो पाताल ही भगवान्का पाद है मेरे चरणके बराबर मेरे तीन चरणोंसे नपे स्थान मानसाचल पर्यन्तकी पृथ्वी रसातल और नाक पृष्ठ मुझे चाहिये सो मैं तुमसे मांगता हूं, यह तात्पर्य है. ऐसी अवस्थामें वामन भगवान्ने अपने दो चरणोंसे अन्य तीसरा चरण निकाला और उसके बराबर स्थान ले लिया. 'त्रिपदच्छलेन' छल तो भ्रामक पदोंमें और समझने वालोंके ज्ञानार्थ ही रहा, भगवदाशयमें नहीं. भ्रामक पदोंके कारण राजा बलि भी विष्णुका संदेह रहने पर भी वाक्यार्थका आशय न समझ पाया. इसी कारणसे वामनका भूमिवाचन छल प्रसिद्ध हुआ. यहां यह विचार हो सकता है कि भगवान्ने अपने वाक्यका स्पष्ट अर्थ बलिको क्यों न जता दिया. इतना क्लिष्ट क्यों किया? इसके उत्तरमें कहते हैं

कि ''मायेत्यसुराः'' इत्यादि दैत्योंकेलिए भगवान्की प्रतीति माया रूपसे ही होती है, इसलिये भगवान्ने सत्य कहा तथापि उन्हें छलका ही बोध हुआ और उसीका अनुवाद ब्रह्माने भी किया.

इस तरह भगवान्से भी भगवान्के गुण बड़े हैं. अब जो कुछ उनमें दोष भी प्रतीत होते हों तो उनका निराकरण करते हैं. 'याच्ञामृते' इत्यादि. प्रभुका मांगना लोकमें दोष समझते हैं, पर यह भी भ्रम ही है. मांगना दो तरहका होता है: सेवक कृत और स्वामी कृत. इसमें सेवक कृत याचना दोष है. क्योंकि उससे भक्तको संसारकी प्राप्ति होती है और भगवान्की याचनासे ऐसे दोषकी संभावना ही नहीं है. यह याचन प्रभुकृत है, अतएव निर्दोष है. कदाचित् कोई कहे कि दूसरेकी वस्तुको मुफ्त मांगना ही दोष है तो इस आशयसे भी भगवान्की यह याचना निर्दोष है. वास्तवमें देखा जाय तो नीति मार्ग भी यही है कि अपनी वस्तु किसीके पास रख दी हो तो समय पर उससे मांग ले. भगवान्ने थोड़ी देरकेलिए पृथ्वीको असुरोंके पास रख दी थी, समय पर ले ली! ''**यावद् आसीनः परा यस्यति तावद् देवानाम्**'' इस श्रुतिसे थोड़ी ही पृथ्वी देवोंकी है बाकी सब ही पृथ्वी दैत्योंकी है. भगवान्ने उनके पास रखी थी. वास्तवमें इस बातको असुरोंने स्वीकार नहीं किया था इतना मात्र उनका दोष था. जब भगवदीय तत्त्वका स्वीकार नहीं किया तब ही भगवान्ने पृथ्वी जबरदस्ती ग्रहण कर ली. ''पथिचरन्नचाल्यः'' भगवान्ने राजाके पास पृथ्वी रख दी थी अतएव वह उसका उपभोग करे तो वह मार्ग पर चल रहा है यह कहा जा सकता है, अतएव 'न चाल्यः' स्थानसे निकालने योग्य नहीं है. किन्तु मांगने पर भी स्वीकार न करे और अपनापन स्वीकार करके उसको देना दान समझे तब तो उसे निकालना ही ठीक है. क्योंकि उसने भगवत्स्वामित्वका स्वीकार नहीं किया. बलिने ऐसा किया. दैत्य लोग पृथ्वी पर पैदा हुये, अतएव पृथ्वोको अपना समझते थे अपना स्वामित्व प्रकट करते थे. यदि भगवान् बांधते नहीं तो फिर कभी अपना स्वामित्व दीखता ही, करता ही. और इससे उसे संसारित्व होता यह भगवान्को सह्य नहीं था, अतएव बन्धन किया. अक्लिष्टकर्मा भगवान् हैं इसलिये भक्तोंको आध्यात्मिक दुःखादि देना नहीं चाहते. आधिभौतिक दुःख लोकापहरण बन्धन आदि तो शुद्धि है. वह तो कर्त्तव्य ही है.

पृथ्वीकी याचनमें ही छल है. याचन त्रिपदका था, उसमें एक अंशका ग्रहण अन्यका त्याजन किया. पर याचन तो तीनों अंशोंका किया था. अतएव

छल है. त्रिलोकीमें तीनों अंश सम्मिलित ही रहते हैं, इसलिये तीनोंका सहयाचन था. और वह तीनों लोकोंका स्वामित्व चाहता था, इसलिये तीनों लोकोंका याचन किया था पर एक पृथ्वी रसातलका ही ग्रहण कराकर दोका (स्वर्ग–अन्तरिक्षका) त्याग कराया. यहां यह विचार होता है, कि '**नैनः प्राप्नोति वै विद्वान् यावदर्थपरिग्रहः**' इस भगवान्के वचनके अनुसार ही अपेक्षित वस्तुका ही याचन क्यों न किया इस तरहका छल क्यों किया? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'अन्यथा शेषा' इत्यादि. यदि एक पदकी याचना करते तो बाकी रहे अंशोंमें आज्ञा है ऐसा बलि समझ लेता और भगवत्पदार्थमें अपना स्वामित्व समझता. यह कुधीत्व है. कहा है कि '**क्रीड़ार्थम् आत्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते स्वाम्यन्तु तत्र कुधियो अपर ईश कुर्युः**'. ''हे भगवन्! अपनी क्रीड़ा करनेके लिये आपने इस त्रिलोकीका निर्माण किया है. स्वामित्व आपका है. पर कितने ही इस त्रिलोकी पर अपना स्वामित्व समझते हैं. अपना मालिकपना करते हैं. वे भ्रष्ट बुद्धि होते हैं''. अपने भक्तकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाय यह भगवान् सहन नहीं कर सकते, इसलिये भगवान्को छल करना पड़ा. और ऐसा न करते तो क्रियाद्वय करनी पड़ती. इसके स्वाम्यको दूर करनेकेलिए यत्न, फिर याचन ही करना पड़ता. इसलिये उस पर कृपा होनेसे, क्रियाका सौन्दर्य होनेसे, इसके धैर्यकी परीक्षा कर्त्तव्य होनेसे, और राजा बलिका सख्य चिरस्थाई करनेके हेतुसे भगवान्ने छल द्वारा भूमियाचन किया. इस तरह मेखलावतार वामनजीके द्वारा भूमिका ग्रहण उचित ही है।।१७।।

आभासार्थः अब यहां यह आशंका होती है कि भगवान्ने भक्तिमार्गसे विरुद्ध चरित्र क्यों किया? भक्तका बन्धन करना भक्तिमार्गसे विरुद्ध है. भगवान्के गुण किंवा भगवान्से उत्पादित प्राकृत गुण भी भक्तके हृदयमें भक्ति पैदा करने वाले होते हैं. अतएव भक्त उनका ग्रहण करते हैं और आदर करते हैं. भगवान् भक्तिसे विरुद्ध चरित्र भी करते हैं ऐसा शास्त्रका भी तात्पर्य कहीं देखा नहीं, फिर भगवान्ने भक्ति विरोधी कार्य क्यों किया? इसलिये यद्यपि यह गुण चरित्र है तथापि इस प्रसंगके उपयोगी नहीं है ऐसी शंका हो तो उसका समाधान करते हैं :

नार्थो बलेरयम् उरुक्रमपादशौचम् अम्भः शिखा धृतवतो विबुधाधिपत्यम् ।
यो वै प्रतिश्रुतम् ऋते न चिकीर्षदन्यद् आत्मानम् अङ्ग शिरसा हरयेऽभिमेने ।।१८।

श्लोकार्थः जिस राजा बलिने वामन भगवान्के चरणप्रक्षालन जलको अपने मस्तक पर धारण किया उसकेलिये देवलोकोंका आधिपत्य अभीष्ट पुरुषार्थ

नहीं था. कारण कि उसे तो दानकी प्रतिज्ञा पूरी करनी मात्र थी और कुछ नहीं. अतएव जब उसके पास देय कोई पदार्थ न रहा तब उसने अपना मस्तक श्रीहरीके चरणोंमें धरकर अपना ही समर्पण कर दिया।।१८।।

व्याख्यार्थ: भक्तिका विरोध तब कहा जा सकता है कि जब भगवान्का चरित्र भक्तको अनभीष्ट (नापसदे) होता. बलिराजा यदि इस चरित्रसे दुःखी या क्रुद्ध होता तब तो इसको भक्तिविरुद्ध कह सकते थे. सो कुछ है नहीं. मूल दृष्टिसे देखें तो भी अनभिप्रेत नहीं. कटिस्थानको मेखलासे बांधना बुरा नहीं मालूम देता. लौकिक दृष्टिसे देखें तो भी भक्तके धनका भगवान् उपभोग करें इसमें भक्तको दुःख नहीं, प्रत्युत सुख ही होता है. भगवान् स्वामी हैं, अतएव भक्तका सर्वस्व ही भगवान्का सर्वस्व है. लोकमें प्रेमीका धन प्रेमी भोगे यह विरुद्ध रहते भी गुण ही माना गया है. पिताका धन पुत्र भोगता ही है इत्यादि. अब यदि भक्त लोग इसे विरोध मानें तो भी यह गुण ही रहेगा. इस विरोधका परिहार करना ही होगा. अज्ञानसे यदि भक्त किसी विषयमें प्रीति या अभिमान रखते भी हों तो भगवान्का कर्त्तव्य है कि उस सांसारिक विषयका उससे परित्याग करावें. इससे उसको परिणाममें सुख होता है. यही बात यहां कही है. बलिराजा भगवद्भक्त है किंवा बलि हैं, स्वयं भगवत्पूजारूप हैं. इनका प्रयोजन या फलरूप पुरुषार्थ देवलोकोंका आधिपत्य नहीं हो सकता. क्योंकि भक्तलोग लौकिक मनोरथोंको पुरुषार्थ ही नहीं मानते. और अलौकिकमें तो देवेन्द्रादि पद अभिमानजनक होनेसे हानिकारक हैं. अतएव वह भक्तोंका अर्थ नहीं हो सकता. स्वार्थसहित पूजा या भक्ति असम्बद्ध हो जाती है. ऐसी पूजाका सम्बन्ध भगवान्के साथ नहीं रहता, असुरोंके साथ हो जाता है. अतएव वह भगवान्को प्रसन्न नहीं करती. दैत्योंके साथ भगवत्पूजाका सम्बन्ध हटानेकेलिए ही भगवान्ने पहले अदितिके साथ सलाह कर ली थी ''**सर्वं सम्पद्यते देवि देवगुह्यं सुसंवृतं, स्वांशेन पुत्रत्वमुपेत्य ते सुतान् गोप्तास्मि**' इत्यादिसे. और वहां भी बलिसे भी आसुर सम्पत्तिके परिच्छेदकी गुप्त सलाह कर ली थी ''**पुंसोऽयं संसृतेर्हेतुरसंतोषार्थकामयोः, एतावतैव सिद्धोऽहं वित्तं यावत् प्रयोजनम्** '' इत्यादि वचनोंसे यह लोकत्रयका स्वामित्वरूप विषय बलिका प्रयोजन नहीं था. वह तो भगवान्के निकट अति उच्च स्थान पर पहुंच चुका था. तो फिर पहले उसने उसका स्वीकार क्यों किया था? इसके उत्तरमें कहते हैं 'उरुक्रम' इत्यादि. वह तो भगवत्कृत अनुग्रहका स्वीकार मात्र था. भगवान् जो

अनुग्रह करेंगे उस समय समर्पण कुछ चाहिये इसलिये भगवच्चरणकमलमें समर्पणकेलिए भगवद्भक्त देवाधिपत्यका उसने स्वीकार कर लिया था. अब जब भगवान् पधारे तब उनके चरणारविंदका प्रक्षालन करके इस विबुधाधिपत्यको भेंटमें धरकर उसने भगवच्चरणारविंदके प्रक्षालन जलको अपनी शिखा पर धर लिया. अतएव भगवदीयत्वको प्राप्त हो गया, अथवा भगवदीय शरीर (अक्षरमय) होनेकी योग्यताको प्राप्त हो गया. त्रिलोकी की कक्षाओंसे ऊपर पहुंच गया. ऐसेकेलिये नीचेकी कक्षा पुरुषार्थरूप कैसे हो सकती है? कभी नहीं.

यदि कोई कहे कि तो फिर ऐसे भक्तको सुतलमें क्यों रखा? आगे जाकर इन्द्रपद देनेका वर क्यों दिया? इन्द्र क्यों बनाया? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'नहि भगवता' इत्यादि. यदि यह ऊपरकी कक्षाओंके अयोग्य होता, उत्तमाधिकारी न होता तो भगवान् कृपाके द्वारा इसे कक्षात्रयमें न ले जाते, और यदि वह वरका बदला लेना चाहता होता तो '**नूनं बतायं भगवानर्थेषु न निष्णातो यो साविन्द्र**' इत्यादि वाक्योंमें भगवद्दास बलिकी प्रशंसा न कही जाती. इसलिये स्पष्ट होता है कि भगवान्ने उसकी स्वरूपयोग्यता दिखानेकेलिए सुतल-स्वर्ग और इन्द्रपद दोनों अपने अनुग्रहरूपसे ही दिये थे न कि उसकी कृतिके फल में. यदि कोई कहे कि भगवान् उसे जबरदस्ती सुतलमें न ले गये थे तो फिर आप उस जगह पहरा देते क्यों रहे? उसके उत्तरमें कहते हैं कि 'भगवांस्तु' इत्यादि. भगवान् जो बलिके स्थान सुतलमें रहे सो तो श्रुत्युक्त अपनी प्रतिज्ञाके परिपालनकेलिए. श्रुतिमें कहा है: "**स वै विष्णुक्रमान् क्रमेत् य इमान् लोकान् भ्रातृव्यस्य सभिवत्य पुनरिमं लोकं प्रत्यवरोहेत्**" इति. गीतामें भगवान्ने भी आज्ञाकी है कि "**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**" जैसे राजा बलि भगवान्के अधीन हो गया वैसे भगवान् भी उसके अधीन होकर सुतलमें उसके पास रहने लगे. दानकी सफलताकेलिये भी. सुपात्रको दिया हुआ दान (समर्पण) अनन्तगुना फल देता है यह शास्त्र कहता है. राजा बलिने निर्दोषपूर्णगुण भगवान्सदृश पात्रको अपना सर्वस्व दे दिया उसका यह फल हुया कि अनन्त ब्राह्मणोंके आधार भगवान् ही उसके हस्तगत हो गये. यह समर्पणकी सफलता हुई. अतएव कहना पड़ता है कि पूर्व स्वीकृत त्रैलोक्यका आधिपत्य बलिका अभीष्ट पुरुषार्थ नही था पर भगवत्प्रसाद था. पहले श्रीमहादेवको भी त्रैलोक्य दिया पर पीछे जब उन्होंने भगवच्चरणारविंद प्रक्षालन जल (श्रीगंगा)को मस्तक पर धारण किया तब ऐश्वर्यादि लौकिक पुरुषार्थों पर उन्हें

विरक्ति हो गई, अतएव आज तक वे चरणोंका ध्यान करते रहते हैं. यही बात बलिराजामें हुई. जो चरणोदक महादेवके मस्तक पर रहा वही चरणोदक राजा बलिके मस्तक पर रहा. श्रीमहादेवकी तरह राजा बलिने भी विबुधाधिपत्यको पुरुषार्थ नहीं समझा केवल दास्य ग्रहणार्थ ही ऐसा किया. अतएव मूल श्लोकमें दानको नहीं पर चरणोदक धारणको ही हेतु कहा 'उरुक्रम पादशौचं अम्भः शिखां धृतवतः' ये हेतुगर्भ विशेषण है, क्योंकि दानादि आपाततः अन्य शेष हो रहा था पर चरणोदकधारण साक्षात् पुरुषोत्तमशेष हुआ.

एक और भी हेतु देते हैं 'यो वै प्रति' इत्यादि. पहले बलिराजाने तीसरा पेंड देनेकेलिए खूब सोचा. जब प्रतिज्ञा पूरी करनेकेलिए कोई वस्तु ठीक न लगी तब अपना मस्तक चरणोंमें धर दिया. ऐसा भक्त पूर्वदत्त त्रैलोक्यकी चाहना क्यों करेगा? भगवान्ने जो पहले त्रैलोक्य देकर पीछेसे ले लिया वह उसके दैत्य स्वभावको हटानेकेलिए. देवोंके हृदयमें सत्यकी ही प्रतिष्ठा होती है और दैत्योंके हृदयमें अनृत (झूठ पदार्थ) की. त्रैलोक्यादि अनृत हैं. इसकी परीक्षाकेलिये ही पहले भगवान्ने उसे वह दिया पर उसको वह पसंद न आया. तब उसका त्याग कर भगवान्का ग्रहण किया. अशक्य प्रतिज्ञाकी भी पूर्ति करके सत्य पर प्रतिष्ठित हुआ. भगवद्धर्मको प्राप्त हुआ. 'अन्यत्' शब्दसे रूपभेदका भी निवारण कर दिया है. न दाताका और न ग्रहीताका रूपभेद होने पाया. एक ही रूपमें सब कार्य हो गया. 'आत्मा' शब्दसे यहां देह समझना. ब्रह्माजीने नारदको 'अङ्ग' सम्बोधन देकर स्नेह दिखाया है, इसलिये यह शब्द यहां भी ध्वनिके द्वारा बलि पर भगवान्के स्नेह होनेकी सूचना करता है. 'शिरसा' शब्द कह रहा है कि प्रधान वस्तुको साथ लेकर आत्मसमर्पण किया. शिर ब्रह्मज्ञान है. अर्थात् दानरूप कर्म ब्रह्मज्ञान सहित किया यह सूचना भी होती है. 'अभिमेने' अभितः=सब तरफसे. इस शरीरसे अब तो न अपना कार्य करना है, न किसी और का, अब तो केवल भगवत्सम्बन्धी कार्य ही करने है, यह 'अभि' उपसर्गका अर्थ है. बलिका जैसा मनोरथ था वैसी ही उसे सिद्धि हुई. भगवदर्थ भगवान्को उसने अपना देह समर्पण किया तो भगवान्ने भी इसे बांधकर अपने पास रख लिया, जैसे कोई किसीकी दी वस्तुको गांठ बांधकर अपने पास धर लेता है. इसी तरह बलिको भगवान्ने अपने पास धर लिया, इसमें भक्तिमार्गका विरोध लेशमात्र भी नहीं है, प्रत्युत यह गुणचरित्र ही रहा. अतएव राजाकी भी भगवान्में पूरी भक्ति हुई. यदि भक्तिविरुद्ध यह चरित्र होता तो राजाको

मात्सर्य आदि दोष होते. जैसे जय-विजयको हुवे थे. इसलिये अनेक गुणसम्बद्ध होनेसे वामनजी मेखलावतार हैं. गुणविभूषित होनेसे ही इस चरित्रका भक्ति, माहात्मज्ञान और फलमें भी दृष्टान्तरूपसे उपयोग होता है।।१८।।

आभासार्थः मेखला विभूषितका निरूपण करके अब अंगुलीयके विभूषितत्वका निरूपण करते हैं:

तुभ्यं च नारद! भृशं भगवान् प्रवृद्ध-भावेन साधुपरितुष्ट उवाच योगम् । ज्ञानं च भागवतम् आत्मसतत्त्वदीपं यद्वासुदेवशरणा विदुरञ्जसैव।।१९।।

श्लोकर्थः हे नारद! तुम्हारे बढ़े हुये प्रेमसे पूर्ण प्रसन्न होकर भगवान्ने योगका प्रवचन किया था. इतना ही नहीं किन्तु ब्रह्मात्मकताके ज्ञान सहित श्रीपुरुषोत्तम स्वरूप माहात्म्यज्ञान भी कहा था. जिस ज्ञानको वासुदेवचरणोंके केवल शरण आने वाले सहजमें ही प्राप्त कर लेते हैं।।१९।।

व्याख्यार्थः भगवान्के अवतार अनन्त हैं. इनका दर्शन अनेक ऋषि महर्षियोंने और भक्तोंने प्रेमके द्वारा किये हैं. उनमें चतुर्भुज भगवान् द्वितीय ध्यानोक्त समष्टि अन्तर्यामीको अंगुलीभूषणोंके अवतार दश किंवा बीस हैं, जिनका नारदने दर्शन किया है. नारदजीके ब्रह्मपुत्र होनेके बाद जब-जब उनके हृदयमें दर्शन करनेका प्रेमोद्रेक होता था तब-तब भगवान् उनको हृदयमें ही अनेक बार दर्शन देते थे. ये आन्तर अवतार अनन्त हैं. '**दर्शनं यान्ति चेतसि**' ऐसा वाक्य है. बाह्य और आन्तर दोनों तरहसे भगवदवतारका दर्शन होता है. नारदको जिनका दर्शन हुआ है वे अवतार यद्यपि अनन्त हैं, तथापि जिन्होंने बाहिर प्रकट होकर दर्शन दिया और उपदेश भी किया वे दस या बीस हैं. द्विभुज मानने पर दश, चतुर्भुज मानने पर बीस और अनन्तभुज मानने पर अनन्त भी अंगुलिभूषण हो सकते हैं. इनका दर्शन नारदने भी किया और अन्य भक्तोंने भी किया, अतएव 'तुभ्यं च' पदमें 'च'कार दिया है. अंगुलियोंके अवतार भगवद्भक्तरूप होते हैं. अंगुली अवयवके अन्तमें रहकर कार्य करती है. ऐसे भक्त संसारके अंतमें होते हैं अर्थात् संसारका(अहंताममतारूपका) अन्त करना होता है, तब ये भक्तरूप अवतार प्रकाशित होते हैं. इससे यह कहना है कि सर्वरूपी भगवान्के भक्त ही उनकी अंगुलियां हैं. ऐसे अंगुलीरूप होनेसे ही ये सर्वशरीरोपकारी और सब तरहकी क्रियाओंके हेतु होते हैं. द्वितीय ध्यानमें 'अंगुलीयकैः'का 'महाधनैः' विशेषण कहा है. इसका तात्पर्य यह है, उन अंगुलियोंके पास बहुतसे धन हैं. इन

धनोंका निरूपण इसी श्लोकमें आगे किया है.

'तुभ्यं'का अर्थ है: हे नारद! तुम्हारे उपयोगमें आनेकेलिये. 'च'का अर्थ है: अन्य पुरुषोंके उपयोगमें आनेकेलिये भी योग कहा. कहनेमें हेतु 'साधुपरितुष्टः' है. अच्छी तरह प्रसन्न हो जानेसे. भगवान्का साधुपरितोष ही योगकथनका मूल्य है. थोड़े अंशमें भी अपरितुष्ट भगवान् अपना मूल्य नहीं कहता. भगवान्की प्राप्तिका उपाय ही भगवान्का मूल्य है. यही धन है. ये उपाय चार हैं योग, भगवन् माहात्म्यज्ञान, परिचर्या और जीवात्माका ज्ञान. एक हाथमें चार अंगुली और अंगूठा रहता है. अंगुष्ठ भी अंगुलियोंके साथ मिलकर उनके समान बलवाला हो जाता है. भक्ति भगवान्का मुख्य मूल्य है. मुख्य अवतार अंगुष्ठ स्थानीय है. प्रेमसे परितुष्ट भगवान् अंगुष्ठ स्थानीय मुख्य अवतार हैं. उसका स्पष्ट नाम यहां नहीं दिया है, क्योंकि तत्सहित अंगुलियोंके सम्मिलित अवतार यहां कहते हैं. मुख्य उपदेष्टृ अवतार और भक्तरूप अवतार सबको एकत्र करके यहां कहे हैं. योगादि उक्त साधनोंसे परितुष्ट अतएव उन साधनोंसे दर्शन देनेवाले सब ही स्वरूपोंका यहां निरूपण है, अतएव किसी एक अवतारका खासकर नाम नहीं दिया है. योग, भगवन्माहात्म्यज्ञान, परिचर्या और जीवात्मज्ञान ये चार अंगुली स्थानीय हैं. और भक्ति अंगुष्ठस्थानीय है. भक्तिप्रचारार्थ ही भगवान् इन चारों साधनोंसे प्राप्त हो सकते हैं.

यहां साधनोंके अवतार कहे हैं, क्योंकि ये अंगुली आदि सर्वशरीरके उपकार करनेवाले हैं. इसमें प्रेमभक्ति मुख्य है, अतएव वह अंगुष्ठस्थानीय मुख्य अवतार है. इस प्रेमभक्तिसे भी भगवान्की प्राप्ति होती है. इसी बातको श्लोकमें कहते हैं 'भृशं' इत्यादि. भगवन्माहात्म्य और सपरिकर भगवान्का सतत श्रवण करनेसे उन-उन भक्ति मार्गोंमें जब प्रीति उत्पन्न होकर सारे हृदयको भर देती है और वहां भी उभरने लगती है, अर्थात् इस तरह बाहर आती है कि लोगोंको भी उसका स्पष्ट अनुभव होने लगता है, इसे प्रवृद्धभाव कहते हैं. इस अतिशय बढ़े हुये भावसे ही भगवान् प्रसन्न होते हैं. प्रेमप्रवाहमें आ जानेसे भगवान्के गुण और भगवान्का पूरा अवगाहन हो सकता है. इसीसे परितोषमें साधुता(अच्छापन) कही है. भगवत्प्रसाद भक्तिका फल है. फल हो जाने पर कहीं-कहीं साधन नहीं भी रहता पर यहां भगवत्परितोषके अनन्तर भी भक्तिका प्रवाह विद्यमान रहता है, इसलिये परितोष साधु हुआ. अपरितोषका सर्वथा अभाव और भक्तिपूरकी

नित्यता यही साधुपरितोष. तोषमें भी परितः=सब तरहसे, अर्थात् भगवान् और भगवदीय दोनों जगत्के उद्धारक हो जायें इतना प्रसाद होने पर भी भगवान्ने अपना मूल्य-योग नारदसे कहा. प्रसन्न होकर ऐसा उपाय(योग) बताया कि भगवान्को दर्शन देने ही पडे.

यहां यह प्रश्न होता है कि भगवान् तो भक्तिसे ही दर्शन देते हैं फिर यहां योगसे भी दर्शन देना कैसे कहा? इसका समाधान करते हैं कि बाहर आकर दर्शन देनेमें तो भक्ति ही कारण है, पर हृदयके भीतर तो योगसे ही दर्शन देते हैं. विद्यमान पदार्थके दर्शन होने लगनेसे दो बातें हो जाती हैं: भगवान्की समझ और जीवोंके आत्माका तत्त्व प्रदर्शन. श्लोकमें जो 'च' दिया है उसका तात्पर्य यह है कि सर्वत्र व्यापक(ब्रह्म) पदार्थका भी ज्ञान हो जाता है. तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है, और वे ब्रह्मरूप हैं. तत्त्व, आत्मा और भगवान्का ज्ञान ये तीनों ज्ञान एक ही 'ज्ञान' शब्दसे यहां कह दिये हैं. ब्रह्मके स्वरूपका ज्ञान "**आकाशस्तल्लिंगात्**" इत्यादि सूत्रोंके द्वारा ब्रह्ममीमांसाशास्त्रमें कहा गया है.

ब्रह्मविचारशास्त्रका यह कथन है कि सृष्टिके पूर्व जो निर्धर्मक ब्रह्मपदार्थ है वह ही सृष्टि अवस्थामें सर्वधर्मस्वरूप क्रियाओंके रूपसे आप ही प्रकाशित होता है. 'भागवतं ज्ञानं'का अर्थ यहां पुरुषोत्तमका स्वरूप-गुणज्ञान है. जीवका तत्त्व चैतन्यरूप है. इसका प्रकाश(समझ) अहमाकारा वृत्तिके फलमें किंवा चैतन्यरूपके स्वयं प्रकट हो जानेसे भी होता है. यह समझ ही दीप है. यह भगवान्का ज्ञान आत्मदीपके साथ प्रकट होता है. इसलिये इसे मूल में 'आत्म-सतत्त्वदीपं' कहा है. अथवा ब्रह्मका आत्मामें प्रकाशित होना ही 'आत्म-सतत्त्वदीप'का अर्थ है. 'च'से वैदिक क्रियायोग भी लिया गया है अर्थात् भगवदवतारोंने नारदको पञ्चरात्रोक्त क्रियायोगका भी उपदेश दिया था. इस पञ्चरात्रोक्त क्रियायोग साधनका फल भक्ति है, यह आगे कहेंगे.

यहां यह भी प्रश्न होता है कि योग, यज्ञ और ज्ञान आदि तो इससे पहले भी बहुतोंने प्रकाशित कर दिये थे अतएव पूर्वसिद्ध थे. उनके कहनेकेलिये भगवान्को अवतार लेनेकी क्या आवश्यकता हुई? इसका उत्तर देते हैं कि 'यद् वासुदेव शरणाः' इत्यादि. नारदके आगे अवतारोत्तम पञ्चरात्रमें कहे योगादि साधनोंसे ही भक्तिरूप फल किंवा उक्त फल मिलते हैं. पूर्वोक्तज्ञान और भक्तिरूप फलकी प्राप्ति इस पंचरात्रोक्त योगादि साधनोंके द्वारा होती है, अन्य

वैदिक क्रिया–योगादिके द्वारा नहीं. ग्यारहवें स्कंधमें कहा है कि '**भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम्**'. ''जो कोई इस क्रियायोगके द्वारा इस तरह मेरा पूजन करता है उसे मेरी भक्ति प्राप्त होती है''. इस क्रियायोगमें तप आदि सहकारी साधनोंकी अपेक्षा नहीं है. वे न रहें तो भी सत्वाधिष्ठात्री देवता मोक्षदाता भगवान् वासुदेवके शरण जाने मात्रसे सहजमें ही पूर्वोक्त विविध ज्ञान आदि फल मिल जाते हैं. अतः 'विदुः' और 'ज्ञानं' दो बार कहनेसे इस मार्गमें सुगमता दिखाई है. अथवा यह भी तात्पर्य है कि भगवदेक परायण भक्त योग, ज्ञान किंवा कर्म को भगवदवतारके आगे कुछ भी मान नहीं देते. इसलिये उनका अपने मुखसे उपदेश देनेकेलिये भगवान्ने अवतार लिया. इसका यह फल हुआ कि भगवदुक्त होनेसे अब कर्मज्ञानादि पर भी इन लोगोंकी श्रद्धा हो गई, उनका आचरण ये भी करने लगे, ज्ञानादि मार्गमें आने लगे और सफल भी हुये. जो भगवान् प्रकट होकर पूर्वोक्त क्रियायोगादिका उपदेश देकर उन मार्गोंमें इन भक्तोंको न लाते तो ये लोग भक्तिकी मस्तीमें आकर मदान्ध हो जाते, कुमार्गगामी हो जाते. क्योंकि भगवान्का प्रेम बेसुध कर देता है. इसलिये भक्तोंको कुमार्गसे बचानेकेलिये ही भगवान्ने पूर्वोक्त भक्तिसाधक योगादि साधनोंका कथन किया।।१९।।

आभासार्थः अब 'नूपुर कंकणादिभिः विभूषितं' इस विशेषणका अवतार कहते हैं 'चक्रं च' इस श्लोकसे. इस विशेषणमें जो 'आदि' शब्द दिया है उसका यह तात्पर्य है कि केवल नूपुर और कंकण के ही अवतार नहीं पर द्वादश अंगोपयोगी सब ही भूषणोंके अवतार होते हैं. इनमें नूपुर और कंकणोंके द्वारा चरण ओर श्रीहस्त का ध्यान कर्तव्य है. इसी तरह कण्ठाभरण और मुकुट आदिके द्वारा भी ध्येयत्व है. इस तरह सब मिलकर बारह अंगोंके विभागोंसे बारह तरहके आभूषण हैं, ये सब मन्वन्तरावतार हैं. मेखला और वनमाला भूषण ही हैं. इस तरह १४ संख्या हो जाती है, उन दोनोंको भी यदि इन आभूषणोंके साथ ही कह देते तो अवतारोंकी संख्या चौदह पूरी हो जाती, तथापि जो उन दोनोंका पृथक् निरूपण किया उसका यह आशय है कि वामनावतार और हरि अवतारका विशेषानुग्रह प्रयोजन था, इसलिये उनका निरूपण सामान्य विभूषणोंके अवतारोंके साथ नहीं किया. इन अन्य मन्वन्तरावतारोंका प्रयोजन सामान्य है और वनमाला तथा मेखलाके अवतार हरि और वामनजी का प्रयोजन विशेष है. सामान्य मन्वन्तरावतारोंको भी 'महाधनानि' विशेषण दिया है. इसलिये यहां भी ये

अवतार सभी मन्वन्तरमें योगादि साधनोंका उपदेश करते हैं यह समझना चाहिये. यह कहते हैं:

चक्रं च दिक्ष्ववहितं दशसु स्वतेजो मन्वन्तरेषु मनुवंशधरो बिभर्ति।
दुष्टेषु राजसु दमं व्यदधात् स्वकीर्त्तिं सत्ये त्रिपृष्ठ उशतीं प्रथयंश्चरित्रैः।।२०।।

श्लोकार्थ: मनुवंशको धारण करनेवाले भगवान् प्रत्येक मनुके समयमें दशों दिशाओंमें अपने प्रतापको और ऋषि देव इन्द्र आदि परिकरको भी सावधान होकर सम्हाले रहते हैं और भी ये भगवदवतार दुष्ट क्षत्रियोंको दंड देते हुए अपने सुन्दर चरित्रों द्वारा कमनीय अपनी कीर्त्तिको सर्वत्र फैलाते हुये उसे त्रिभुवनसे भी ऊपर सत्यलोकमें स्थापित करते हैं।।२०।।

व्याख्यार्थ: मन्वन्तरोंमें भगवान् अपने जगत्पालनके सामर्थ्यको बनाये रखता है. परिकर-अङ्गसहित सारे मन्वन्तरकी रक्षा करता है. यदि कोई कहे कि मनुवंशीय राजा जब रक्षा करने वाले हैं तब भगवान्को सर्वांशतः रक्षा करनेकी क्या आवश्यकता है? तो इसका उत्तर देते हैं: 'मनुवंशधरः' मनुके वंशको धारण करनेवाला भी तो भगवान् ही है. अतः मन्वन्तरका सर्वांशसे यही पालन करता है यह ठीक ही है.

सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग की जब इकहत्तर चौकड़ी हो जावे तब उस समयके टुकड़ोंको एक मनुका समय कहते हैं. उस कलियुगमें सब धर्मभावोंका सपरिकर नाश हो जाता है. इसलिये उन सब पदार्थोंकी रक्षा भगवान्को ही करनी पड़ती है. जैसे इस अन्तरमें 'देवापि'नामक मनुकी तरह भगवान् ही रक्षा कर रहे हैं. कलियुगमें सब वर्गोंका शूद्रभाव हो जाता है, इसलिये यदि कोई कहे कि उस समय भी तपस्वी ऋषि रहते ही हैं, किसीके नाश होनेकी सम्भावना नहीं हो सकती तो फिर ये अंशकार्य भी भगवान् ही क्यों करते हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं: 'चक्रं'. मनु, ऋषि, देवगण और इन्द्र ये चारों भगवान्का चक्र है, परिवार है. ये स्वरूपसे कदाचित् उस समय भी रहें तथापि आज्ञारूपसे नहीं रहते. उनको तत्तत् पदार्थोंके पालनकी आज्ञा उतने ही समय तक रहती है जितना उनका नियत कर दिया गया है. इसलिये आज्ञा न रहनेसे वे पालन करना छोड़ देते हैं. तब उन्हें ऋषि आदिको आज्ञारूप बनाकर जगत्की और उनकी रक्षा भगवान् ही करता है. अष्टमस्कंधमें कहा है कि '**सर्वे पुरुषशासनाः**' सब ही लोग उस समय भगवान्की आज्ञाको धारण करते हैं. भगवान् आज्ञारूपसे उनके द्वारा जगत्का पालन करते

हैं. 'च' कहनेसे स्वतन्त्ररीतिसे भी पालन करते हैं यह भगवान्का विशेष कार्य है. वे आज्ञा और सेना दोनोंको धारण करते हैं. चक्र शब्दके दोनों अर्थ होते हैं. सबको नियममें चलानेकेलिए आज्ञा शासन व्यवस्था और साहाय्य केलिए सेनाका भी धारण करते हैं, क्योंकि ऋषि आदि सपरिकर अनेक दिशाओंमें जहां–तहां स्थित हैं. आज्ञाका यथावत् सर्वत्र पालन करानेकेलिए सर्वदिशाओंमें देव ऋषि आदिको सावधान स्थापित कर दिये. जो जहां योग्य था उसे वहां सावधान करके रख दिया जिससे कि शासन व्यवस्था बराबर चलती रहे. विशेष कार्य कहते हैं: 'दुष्टेषु' आदि. पालक ही जब घातक हो जाते थे तब यह भगवान् उन दुष्ट राजाओंको दण्ड भी देते थे. इससे लोककी रक्षा होती थी.

इस तरह लोक–वेद दोनोंकी रक्षा कहकर अब भक्तिरक्षाका निरूपण करते हैं: 'स्वकीर्त्ति' इत्यादि. जिस तरहसे वाराहावतारमें पृथ्वीको पातालसे लाकर पुष्करपर्ण पर जमाई, उसी तरह अपने यशस् चरित्रोंको त्रिलोकीसे ले जाकर त्रिलोकसे भी ऊपर सत्यलोकमें फैलाया. उसका कारण 'कमनीयां' ये भगवान्के कीर्त्ति–चरित्र बड़े सुन्दर थे, किन्तु त्रिलोकीमें प्राकृत बुद्धि और प्राकृत धर्मोंमें डूबे रहनेसे कीर्त्ति जलमग्नसी हो रही थी, शुद्ध नहीं रहने पाती थी, इसलिये उसे शुद्ध–बुद्धि शुद्ध धर्मवाले सत्यलोकमें फैलाया. इससे सत्यलोकस्थ जनताका भी बड़ा उपकार हुया. अर्थात् सत्यलोक निवासी जनोंमें भगवज्ज्ञान और भगवद्भक्ति बढ़नेकेलिये भगवत्कीर्त्ति वहां स्थापित की गई. वहां रहनेवाले भगवान्के चरित्रोंका गान करते हैं और भगवन्माहात्म्यको समझते हैं.

इस तरह सर्वलोकविख्यात् भगवान् ही अपने उन–उन अवयवोंका आभूषण बन जाता है. द्वितीय ध्यानका 'आदि' अपरिच्छिन्नार्थक है, इसलिये यह स्पष्ट होता है कि मन्वन्तरोंमें भी अवान्तर अनेक अवतार और भी होते हैं।।२०।।

आभासार्थ: अब '**स्निग्धामलैः कुञ्चित–नील–कुन्तलैः विरोचमानानन–हास–पेशलं**' विशेषणोंके अवतारोंका विवरण करते हैं. क्योंकि यह अध्याय विवरणाध्याय कहा गया है. स्निग्ध निर्मल कुञ्चित (घुघराले) और श्याम केशोंसे शोभित श्रीमुख पर हास्यसे सुन्दर भगवान्. इस सबका अवतार हासपेशल भगवान् श्रीरामचन्द्रका अवतार है. यह सर्व सम्मोहक एवं परमसुन्दर है और इनका चरित्र गूढ़ भी है इसलिये इनका वर्णन आगे करेंगे. कुञ्चितनीलकुन्तलरूप भगवान्

परशुराम हैं. उन्होंने अनेक बार अनेक चरित्र किये हैं अतएव वे अनेक रूप कुन्तलोंके अवतार हैं. कुन्तलोंमें जो चिकनाई और निर्मलता है उन धर्मोंका अवतार भगवान् धन्वन्तरि हैं. धन्वन्तरि भगवान्ने अमृत और अपने शास्त्रके द्वारा सब लोगोंको स्नेहवाले और निर्मल कर दिये. देवगण भगवान्में अस्निग्ध थे. उन्हें अमृतके द्वारा भगवच्चरित्रोंमें किंवा स्वरूपमें स्नेहवाले कर दिये. वैद्यकशास्त्रसे लोक निर्दोष होते हैं यह तो निर्विवाद है ही. पृथ्वी पर इन दोनोंका कार्य जब हो चुका होता तब श्रीरघुनाथका प्रादुर्भाव होता है, अर्थात् स्निग्धामल कुञ्चित नील केशोंसे शोभित मुखारविन्द हास्यका आविर्भाव होता है तब अतिसौन्दर्य प्रकट होता है. इनमें भगवान्के मुखरूप ब्राह्मण हैं, क्योंकि धर्मके आधार हैं. आरोग्यसे धर्मसिद्धि और सिद्धधर्मकी रक्षा धनुर्वेद(शस्त्र) शास्त्रसे होती है. अतएव हासपेशलताके पहले धन्वन्तरि और परशुराम का निरूपण करते हैं. धर्मसिद्धिकेलिए धन्वन्तरिका अवतार हुआ इसलिए उनका चरित्र पहले कहते हैं. 'धन्वन्तरिः' इत्यादि.

धन्वन्तरिश्च भगवान् स्वयमेव कीर्त्तिः नाम्ना नृणां पुरुरुजां रुजम् आशु हन्ति।
यज्ञे च भागम् अमृतायुरवापरुद्धम् आयुश्च वेदम् अनुशास्त्यवतीर्य लोके।।२१।।

श्लोकार्थः धन्वन्तरि अवतार स्वरूपसे ही भगवान्का यश है. अनेक रोगग्रस्त मनुष्योंके रोगोंको आयुर्वेदशास्त्रोक्त औषधोंसे जल्दी ही दूर करते हैं. अमृत जीवन भगवान् धन्वन्तरिने रुका हुआ अपना यज्ञ भाग प्राप्त किया. पुनर्वार अवतार लेकर लोकमें आयुर्वेद(वैद्यक) शास्त्रका प्रकाश किया।।२६।।

व्याख्यार्थः इनका लोकोपकार सर्व प्रत्यक्ष है इसलिये ये अवतार स्वरूपसे ही कीर्त्ति हैं. 'च'से मोहिनीरूप भी इनका ही है. दोनों भगवान्का ही अवतार है. इनका धर्म(कर्तव्य) कीर्त्ति है ही, तथापि इनको स्वयं कीर्त्तिरूपा भी कहा है इसका कारण यह भी है कि इनके नामसे महारोगग्रस्त मनुष्योंके रोग जल्दी दूर हो जाते थे. रोगोंकी संभावना इनमें ही होती है, इसलिये 'नृणां' कहा. नामका उच्चारण करनेवाले भी ये ही हैं; इसलिये ये भी वास्तवमें तो शास्त्रके द्वारा सबके रोगोंको हरते हैं. और नाम उनका शास्त्र (आयुर्वेद) शास्त्र है. उपकार करनेवाले वायु आदि सभी देवोंके यज्ञमें भाग स्थापित किये गये हैं. इसी प्रकार धन्वन्तरि भगवान्ने आरोग्यशास्त्रके निर्माण द्वारा उपकार कर यज्ञमें अपना भाग स्थापित किया. आयुर्वेद शास्त्र भी इन्होंने बनाया. पहले समुद्र मंथनके समय प्रकट होकर

वहां ही तिरोहित हो गये पर फिर काशीराजके घरमें प्रकट होकर दैर्घ्यतम राजऋषि रूपसे आयुर्वेदका निर्माण किया. 'च'से अन्य शास्त्र भी बनाये. यह अवतार धर्मरूप है, धर्मिरूप नहीं है; इसलिये औषधोंके द्वारा इनका उपयोग हुआ, स्वरूपसे नहीं।।२१।।

आभासार्थ: अब भगवान्के घुंघराले केशोंका स्वरूप(अवतार) कहते हैं:

क्षत्रं क्षयाय विधिनोपभृतं महात्मा ब्रह्म–ध्रुगुज्झित–पथं नरकार्त्ति–लिप्सु ।
उद्धन्त्यसावनिकण्टकम् उग्रवीर्यं त्रिःसप्तकृत्व उरुधारपरश्वधेन।।२२।।

श्लोकार्थ: ब्रह्माने ब्रह्मद्वेषि, सन्मार्गके उल्लंघक, अतएव नरक पीड़ा भोगनेयोग्य, जबरदस्त क्षत्रियबलको नष्ट करनेकेलिये ही समेट कर धर रखा था. इसलिये भगवान्ने परशुराम अवतार लेकर अपने तीव्र धारवाले फरसेसे उस उग्रवीर्य पृथ्वीके कंटक क्षत्रकुलका इक्की बार नाश किया।।२२।।

व्याख्यार्थ: कुंचितत्व–घूंघरालापन और नीलत्व–श्यामता ये दोनों धर्म हैं. क्षत्रियोंका नाश करनेसे कुटिलता और पृथ्वीका कण्टक दूर करनेसे श्यामता कही. किन्तु इस पक्षमें कुछ अरुचि हुई, इसलिये दूसरा पक्ष कहते हैं: 'अथवा' ब्राह्मण परशुराम विराट् भगवान्का आनन(मुख) हैं, अतएव मुखका सर्वत्र लीलावतारोंमें प्रवेश होना संभव हो सकता है, पर केवल धर्मोंका धर्मीको छोड़कर सर्वत्र प्रवेश अरुचिकर है इसलिये पक्षांतर कहते हैं कि कुञ्चितत्वादि चार विशेषणोंसे युक्त कुन्तल धन्वन्तरि हैं. कुन्तल धर्मी होनेसे अब अमृतोद्गम, स्त्रीत्व, यशभागभुक और अवतीर्ण होनेसे धन्वन्तरि कुन्तलरूप धर्मी हैं, केवल धर्म न रहे. मन्थन करनेसे प्रकट हुए इसलिये कुन्तलोंको श्याम कहा. स्त्री (मोहिनो) होनेसे कुटिलता. यज्ञभोक्ता होनेसे निर्मलता और आयुर्वेदनिर्माता होनेसे वे सर्वस्निग्ध हैं. इनका अवतार अनेक तरहसे है, अतएव 'कुन्तलै:' बहुवचन कहा.

परशुरामजी भगवान्के मुख हैं. भगवान्मुखाग्नि वैश्वानरके अवतार हैं. अतएव सर्व क्षत्रियोंके भक्षक हैं. विरोचमान–आनन हैं. धर्मकी रक्षा करनेसे शोभमानता है. उस समय क्षयके लिये ही यह क्षत्रिय समूह इकट्ठा किया गया था. उप समीपमें रखा था. जैसे हवनीय पशुको हननकेलिये बांध रखते हैं. "**भवाय नाशाय**" इस वाक्यानुसार वध करनेका कारण ब्रह्मद्वेष था. यदि कोई कहे कि क्षत्रिय तो ब्राह्मणोंके रक्षक हैं, उनका द्वेष क्यों करते थे? इसके उत्तरमें कहते हैं:

'उज्झितपथम्'. क्षत्रिय सन्मार्गका त्याग कर देनेसे ब्राह्मणोंका द्वेष करने लगे थे. यदि कहो कि सन्मार्गका उपदेश करके उन्हें सुधारा क्यों न गया? तो कहते हैं कि, 'नरकार्त्तिलिप्सु'. नरककी पीड़ा भोगनेकी ही वे इच्छा रखते थे. भले परलोकमें दुःख भोगना पड़े पर सन्मार्गमें चलना छोड़ कुमार्गमें चलने लगे. अतएव उपदेशसे द्वेषनिवृत्ति न हुई और इसीलिये भगवान्को उतने-उतने भागको पृथक् 'उत्' कर मारना पड़ा. इससे यह स्पष्ट होता है कि जनताका जितना भाग अपवित्र था उसे दूर कर दिया. 'महात्मा' विशेषणका यह प्रयोजन है कि अपने प्रयोजनके परवश होकर यदि कोई किसीका थोड़ा द्वेष भी करे तो उदार हृदयोंका हृदय क्रुद्ध नहीं होता, अल्पज्ञ लोग ही ऊपरकी बातोंसे बहकते हैं,पर महात्माओंकी तो फल पर द्रष्टि रहती है. नरकमें गिरने पर क्षत्रियोंको महती पीडा भोगनी पड़ती, अतएव उदारहृदय परशुरामजीने इन क्षत्रियोंको मार-मारकर यहां ही थोड़ा दण्ड दे दिया और इस नरकार्तिसे उन्हें बचा लिया. यह महात्मा और अल्पद्रोहका तात्पर्य है. 'असौ' शब्दका तात्पर्य यह है कि अनेक यज्ञ भी इन्होंने किये और क्षत्रियोंका उत्हनन भी इन्होंने ही किया. पर क्षत्रिय समूह मारने योग्य ही था, क्योंकि वे पृथ्वी पर कंटकरूप हो रहे थे. भूमि भगवान्के चरण हैं. सब ही अपने पैरका कंटक दूर करता है. यद्यपि भगवान् ही सर्वरूप हैं, क्षत्रसमूह भी वे ही है, अतएव उन्हें मारनेमें कुछ स्वपीड़ा भी हुई. तथापि उसी रूपमें आप उग्र पराक्रम भी थे ही, अतएव यह पीड़ा सह्य थी. क्रूर पराक्रम स्वीकार किये बिना स्वशरीरका कंटक निकाला नहीं जा सकता. स्वशरीरका कंटक निकालते समय यदि कुछ पोड़ा भी हो तो कोई निर्दय नहीं कह सकता.

सात बार क्षत्रियोंका हनन कर देनेसे एक बार पृथ्वी निःकंटक हो गई, पर फिर ब्राह्मणोंसे क्षत्रिय स्त्रियोंमें क्षत्रिय(क्षेत्रज) पुत्र उत्पन्न हुये, तब फिर मारने पड़े. फिर भी इसी तरह हुये और मारे. इस तरह इक्कीस वार पृथ्वीको निःक्षत्रिय की. वे परशुशस्त्रसे मारे गये, इससे उनका परलोक सुधर गया. फरसाकी धार बड़ी और खूब तीव्र थी, इसलिये अनेक बार मारे तथापि धार कुण्ठित-भोंटी न हुई, और धार तीव्र होनेसे ही मारने वालोंको बहुत क्लेश न हुआ।।२२।।

आभासार्थः अब हासपेशल भगवान् रामचन्द्रजीका निरूपण करते हैं:

अस्मत्प्रसाद-सुमुखः कलया कलेश इक्ष्वाकु-वंश अवतीर्य गुरोर्निदेशे ।
तिष्ठन् वनं सदयितानुज आविवेश यस्मिन् विरुध्य दशकन्धर आर्त्तिम् आर्च्छत्।।२३

श्लोकार्थ: हमारे (ब्रह्मादि देव के) ऊपर जब कृपासे हसन्मुख हुये तब इक्ष्वाकु राजाके वंशमें अपनी कला(श्रीसीता)को साथ लेकर श्रीपुरुषोत्तम भगवान् प्रकट हुये और वहांसे अपने पिताकी आज्ञा मानकर श्रीसीता और लक्ष्मण सहित वनमें रहने लगे. उनके साथ ऐसी अवस्थामें दशग्रीव रावणने विरोध करके भारी पीड़ा भोगी।।२३।।

व्याख्यार्थ: भगवानका हास तीन प्रकारका है. दूसरोंके गर्वको दूर करने वाला, दूसरोंको मोह कराने वाला और दूसरों पर कृपा करने वाला भी. उनमें पहले प्रसादहेतु हासका निरूपण करते हैं. यद्यपि श्रीरघुनाथके ऐसे चरित्र अनन्त हैं तथापि हासके उपयोगी चरित्रोंका ही यहां वर्णन है. सत्त्व-रजस्-तमस् तीन गुणके द्वारा ही हास हो सकता है. इसलिये उपलक्षण(नमूना) विधिसे तीन चरित्र ही यहां लिये गये हैं. उनमेंसे पहले सात्त्विक हास चरित्र कहते हैं. 'अस्मत्प्रसाद-सुमुखः' इत्यादि. ब्रह्मादि देवों पर अनुग्रह करनेकेलिए प्रकट हुये इसलिये हर्षसे प्रसन्नमुख हुये. इससे यह भी सूचित किया कि ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे श्रीरामका अवतार हुआ. अपनी परम कांति अथवा श्रीसीताजीको साथ लेकर. अथवा जो अपनी एक कलासे कलेश्वर होता है वह प्रकट हुआ. सब कलाओंका निधि जो वैकुण्ठवासी विष्णु है वह जिसकी कलामात्र है. हास्य तब आता है जब कार्य अल्पतर होता है. देवरक्षारूप कार्य अल्पतर है. इसकेलिये तो भगवान्की कोई एक कला ही जो वैकुण्ठमें स्थित हो, पालन कर सकती थी, पर ब्रह्माने तो पुरुषोत्तमसे ही प्रार्थना की तब आपको हंसी आई. ठीक है. मनोरथ पूर्ति तो करनी ही पड़ी, इससे स्पष्ट होता है कि श्रीरघुनाथ पूर्ण ब्रह्म ही अवतीर्ण हुए. ऋषि गण भगवान्की कला हैं, उन पर संकट आनेसे अन्य प्रकारसे निस्तार होता न देखा तब पूर्णावतार हुआ. संकर्षणादि चार अशोंके ईश भगवान् वासदेव प्रकट हुये अथवा सर्वकलाओंमें निपुण भगवान् अपनी लक्ष्मी सहित अवतीर्ण हुए तब ही सौन्दर्यनिधि हो गए. 'कलया कलेश' शब्दमें सब ही पक्ष यहां सम्भव हैं. ये पक्ष पुराणांतरमें प्रसिद्ध हैं. बैकुण्ठवासी विष्णु गुणावतार हैं. यह 'पालयति'से स्पष्ट है. इन मर्यादा पुरुषोत्तमने इक्ष्वाकुके वंशमें अवतार लिया. इक्ष्वाकु राजा भगवद्भक्त था. यह नृसिंह पुराणोंमें प्रसिद्ध है. जिसकेलिए ब्रह्म सदनसे श्रीरंगजीकी मूर्ति लाई गई उस राजाके उद्धारकेलिये उसके वंशमें भगवान् प्रकट हुये. देवोंका हितकार्य करना, धर्म-ज्ञानादि साधनोंका सहयोग, अपने अवतारसे भक्तोंका उद्धार करना

है. पिताकी आज्ञाका परिपालन और वनमें रहना इत्यादि सात्त्विक चरित्र हैं. श्रीरघुनाथसे विरोध करके रावणका नाश हुआ, यहां इनका स्वरूपप्रभाव है. सत्त्वका विरोध करनेसे तमस्का नाश होना ठीक ही है. 'तिष्ठन्'का तात्पर्य यह है कि अपने पिताकी आज्ञाका पालन व्रताचरणकी तरह किया. 'वनम्' यहां वनको कर्मत्व है. इसका भी यही तात्पर्य है कि वनसे उन्हें कोई विशेष प्रयोजन न था, तथापि पित्राज्ञा वैसी होनेसे केवल वहां निवास मात्र किया. 'यस्मिन् विरुद्ध्य'का यह तात्पर्य है कि श्रीरघुनाथके समीपमें विरोधका निमित्त था, इसलिये रावणका विरोध हुआ. भगवान्का उसके साथ विरोध करनेका हेतु नहीं था. रावणका बड़प्पन किंवा बहुकुटुम्बता इसकी रक्षा करनेके काममें न आई यह 'दशकन्धर' शब्दसे जानी जाती है. श्रीसीताजी और लक्ष्मणको साथमें ले जानेका प्रयोजन यह है कि कला और अंश सहित जो अवतार हुआ था वह सब ही वनमें गया. प्रभुने अन्य किसीका साहाय्य नहीं ग्रहण किया. 'आविवेश' बहुत समय पर्यंत वनमें रहे. 'आर्त्तिं'=चिंता-शोक आदि पीडा. तीनोंका वनवास आरम्भ हुवा. ऐसा होनेमें कारण यह था कि रावण अपने परिवार सहित मारा जाय, देवगणोंकी ऐसी ही कामना थी. यह तब ही बन सकता था कि जब कोई विरोधका प्रयोजक और वरोर्जितके मारणमें सहायक भी साथ हो, इसलिये "**ये यथा मां प्रपद्यन्ते**" इस आज्ञाके अनुसार भगवान्ने विरोधप्रयोजकरूप दयिता(सीता)को और इन्द्रजित्के वधार्थ लक्ष्मणको साथ लेकर वनवास किया.

स्त्रीसहित पुरुषका और पुरुषसहित स्त्रीका भी मुख्य वनवास नहीं कहा जा सकता, इसलिए दोनोंका परस्पर वियोग कराकर मुख्य वनवास दिखाया. परस्पर वियोग करा देना यही मुख्य विरोध करना हुआ. उसका फल प्रथमतः यह हुआ कि खर-दूषण-त्रिशरा आदि चौदह सहस्र प्रिय राक्षस श्रीरामके एक हस्तसे मारे गये।।२३।।

आभासार्थः इस तरह रामके सात्त्विक चरित्रका निरूपण करके अब राजस चरित्रका वर्णन करते हैं:

यस्मा अदाद् उदधि-रूढ-भयाङ्ग-वेगो मार्गं सपद्यरि-पुरं हरवद् दिधक्षोः ।
दूरे सुहृन्मथित-रोष-सुशोण-दृष्ट्या तातप्यमानम् अकरोरगनक्र-चक्रः।।२४।।

श्लोकार्थः जिस समय श्रीसीताजीका हरण किया गया तब भगवान् श्रीरामचन्द्रने महादेवकी तरह वैरीके शहर(लंका)को एकदम भस्म कर देनेकेलिये

अपने घुटते हुये रोषसे लाल नेत्र किये तो समुद्र भी मृत्युभयसे धूजने लगा और प्रतापाग्निसे उसके जलमें रहते मत्स्य, सर्प, मगर आदि जीवसमूह जलने लगे तब उसने श्रीरघुनाथको जानेका मार्ग दे दिया।।२४।।

व्याख्यार्थ: समुद्रने भी जिन भगवान्को जानेका मार्ग दिया. भार्या जैसे चाहकर ब्याही जाती है उसी तरह समुद्रने भी मृत्युभय चाहकर अपने हृदयमें घुसाया. उसके मारे सब अंगोंमें कम्प हो गया अथवा सिर पर समझबूझकर लिये हुये मृत्युभयके लक्षण कम्प आदि उसके शरीरमें दीखने लगे. अर्थात् समुद्र मृतप्राय हो गया. उसी समय अरिपुर=लंका हरवत्=महादेवकी तरह किंवा यदि महादेवजी भी भक्तकी रक्षा करने आवे तो उनके सहित सारी लंकाको जला देनेकी इच्छा वाले. दूर हुवे हैं सीता–भरत किंवा अन्य आत्मीजन जिसके. विचार द्वारा मथित क्रोधसे एकदम लाल दृष्टिसे मकरादि समूह जिसके जलने लगे.

यह आख्यायिका यूं है. रावण जब श्रीसीताको चुरा ले गया तब रावण वधकेलिए श्रीराम चले तो मध्यमें समुद्र ही रघुनाथको विघ्नरूप उपस्थित हुआ. भगवान्ने विचारा कि इस समुद्रको हमारे पूर्वजोंने तैयार किया है, हमें इस पर पदाक्रमण न करना पड़े, ये ही मार्ग दे–दे तो ठीक है यों समझकर उसके तट पर प्रायोपवेश (धरना देकर बैठना) किया. पर वह वास्तवमें जड़ ही था. समुद्रने यह जानना चाहा कि ये हमारे निर्माताओंके वंशमें पैदा हुये हैं. मेरे पार उतरनेका उपाय भी न जानेंगे तो राक्षसोंको क्या कैसे मारेंगे? इसलिये यहां ही रुक जायें तो ठीक है. इसलिये जानेको मार्ग न दिया तब भगवान्ने बाण धनुष पर चढ़ाया और नेत्रों पर लालिमा भी आ गई. अब समुद्रको घबराहट हुई. समुद्रने जो मार्ग दिया था वह कुछ प्रसन्नतासे नहीं दिया था पर भगवान्के माहात्म्यको देखकर, यह दिखानेके लिये ही उसके हृदयमें भयादि प्रविष्ट हुये, तब मार्ग दिया.

उस समय यदि महादेवजी भी रावणकी सहायता करते, या स्वयं भक्तके शहरमें आकर बैठ जाते तो उनके सहित ही पुरको जला देना यह निश्चय था. रावणका वध तो न कुछ है पर लंका शहर सबका सब ही जला देना, यह भगवदिच्छा थी. कारण कि उस पुरमें सीता दुःखित होकर बैठी हैं. अपने प्रिय भक्तोंको व सबको ही दूर कर दिये, इसलिए भगवान्को बहुत क्रोध आया. 'मथित'का विशेष तात्पर्य यह है कि दहीको मथनेसे पहले उसमें कहीं तो गाढ़ापन, कहीं ढीलापन और कहीं पानी जैसा पतलापन रहता है. किन्तु मथ लेने

पर सब इकसार हो जाता है. इस तरह सीता हरणके समय हृदयके रोषकी गति भी इस तरहकी थी. विवेकके द्वारा कहीं रोष तीव्र, कहीं मध्यम और कहीं मन्द रोष था. पर समुद्रने जब विघ्न किया तब तो क्रोधमें समान भाव धारण कर लिया. उस समय फिर रोषको टोकने वाले विवेक-विचारादिकी कुछ न चली. क्योंकि श्रीसीताका उद्धार अवश्य कर्त्तव्य था. अब तो रोषका तापमान इतना बढ़ गया कि केवल क्रुद्ध दृष्टि मात्रसे सारा समुद्र एकदम तप गया. यह चरित्र राजस है इसलिये रोषकी चर्चाकी है।।२४।।

आभासार्थ: राजस चरित्र कहकर अब तामस चरित्र कहते हैं:

वक्षस्थल-स्पर्श-रुग्ण-महेन्द्रवाह-दन्तैर्विडम्बित-ककुब्जय-रूढहासम्।
सद्योऽसुभिः सह विनेष्यति दारहर्त्तुः विस्फूर्जितैर्धनुष उच्चरतोऽधि-सैन्ये।।२५।।

श्लोकार्थ: दिशाओंको विजय करनेकेलिये जब रावण इन्द्रादि देवोंके साथ युद्ध करता था तब उसकी छाती पर इन्द्रवाहन ऐरावत हाथी दांतोंसे टक्कर मारता था तब भी उसे कुछ परवाह नहीं होती थी. इस तरह दिशाओंको जीतकर रावणको बड़ा गर्व हो गया था. स्त्रीको चोरने वाले और युद्धमें राम धनुषकी टंकार मात्रसे उछल जाते उस रावणके उस हास-गर्वको श्रीरामचन्द्रजीने युद्धमें टंकार करते धनुषसे ही दूर कर दिया, प्राणों सहित नाश कर दिया।।२५।।

व्याख्यार्थ: ये भगवान् रघुनाथ वैसे रावणके भी हासको प्राणोंके सहित नष्ट कर देंगे. ब्रह्मा-नारदके संवादके समयको लेकर यहां भविष्यत्कालका प्रयोग किया हैं. गर्व दूर करनेमें सीताका हरण ही कारण है, और प्राणोंका नाश करनेमें भी यही कारण है. क्योंकि रावण स्त्री अपहर्ता होनेसे 'आततायी' था. ऐसेको मारनेमें बाणोंकी आवश्यकता भी न हुई. केवल टंकार करते किंवा ऊपर उछलते धनुषसे ही मार गिराया. 'अधिसैन्ये उच्चरत'. यह धनुषका जब विशेषण है तो ऊपर जाते किंवा बाणरूप मलका त्याग करते यह अर्थ करना. इस कथनसे रावणकी उत्तम गतिको रोक दी यह निरूपित होता है. धनुषका माहात्म्य दिखानेकेलिये रावणके गर्वका विशेषण कहते हैं. 'वक्षःस्थल' इत्यादि. रावणके वक्षःस्थल स्पर्शसे महेंद्रादिके वाहन घबरा जाते थे. उनके दन्तादि टूट जाते थे. इस तरह वह अपने दिग्विजयोंको प्रसिद्ध करता था और अपने ही विजयकी हंसी उड़ाता था. अर्थात् उस रावणमें दो तरहका सामर्थ्य था. एक तो उसका शरीरबल बड़ा जबरदस्त था और दूसरा अन्य प्रकार(विद्या)से भी शत्रुको हरा देना यह भी

सामर्थ्य था. पर शरीरबल उसके शस्त्रादि सामर्थ्यका उपहास करता था. जिसके शरीर स्पर्शमात्रसे इन्द्रादि देवोंके वाहनोंके दांत झड़ जाते हैं उस बलवान् रावणने अपने कमजोर वैरियोंके लिये धनुर्विद्याका उपयोग किया? हंसी आती है, ऐसे बलशालीके ये दिग्विजय कुछ नहीं है. इस तरह दिग्विजयोंसे भी इसका सामर्थ्य बड़ा भारी था इसलिये इसको बड़ा गर्व हो गया था. इस अभिमानीका यह गर्व जाता-जाता भी प्राणोंके साथ ही गया. भगवान्के हासके आगे दूसरेका हास कब ठहर सकता है, इसलिये इसका जाना उचित ही हुआ. इस तरह भगवान् रामचन्द्रके एक-दो चरित्रोंका नमूनेके तौर पर निरूपण करके श्रीराम श्रीपुरुषोत्तमके हासरूप हैं यह समर्थन कर दिया।।२५।।

आभासार्थः इस तरह हासपेशल भगवान्का निरूपण करके अब 'अदीनलीला-हसितेक्षणोलसद्-भ्रूभङ्गसंसूचितभूर्यनुग्रहम्' भगवान्का निरूपण करते हैं 'भूमे सुरे' आदि.

दश श्लोकोंसे यद्यपि पुरुषोत्तम भगवान्के अवतारोंके प्रत्येकके अपरिमित ही चरित्र हैं तथापि प्रथमाध्यायोक्त सूक्ष्मध्यानस्वरूपके विमर्शमें (विचारमें) जिनका उपयोग है उतने ही चरित्र किंवा धर्म इस सप्तमाध्यायमें कहे गये हैं. उद्देशाध्याय(दशमाध्याय)में भगवत्स्वरूपके दश पदार्थोंका लीला या धर्म रूपसे निरूपण किया है. सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय. और इस विशेषणमें भी अदीनत्वादि जो दश धर्म स्पष्ट हो रहे हैं वे सर्गविसर्गादि लीलारूप ही हैं, यह श्लोकार्थोंमें स्पष्ट होगा. अतएव स्पष्ट है कि द्वितीयध्यानोक्त जो भगवान् जितना वहां कहा है उतना ही वही भगवान् इन श्लोकोंमें भी कहा गया है. दशमाध्यायमें दशलीला (सर्गादि) और दशधर्म(अदीनत्वादि) दोनोंका सम्मिलित रूपसे निरूपण करके एक प्रयोजन कहेंगे, अर्थात् लीला भी और अदीनत्वादि धर्म भी भगवान्की पुरुषोत्तमता प्रकट करनेकेलिये हैं. यह सब उद्देशाध्यायमें उपपत्तिके द्वारा स्पष्ट करेंगे. वहां इन धर्मोंका अर्थ यों किया है:

१.'अदीनत्व'का अर्थ ही सर्गलीला है. भगवान्का प्राकट्य दो तरहका है: अपनेलिये और परकेलिये. भगवान् ही स्वयं जब सुखकर अपेक्षित वस्तुओंके रूपमें प्रकट होता है तब दीनता दूर भाग जाती है. अभिलषित वस्तुकी प्राप्तिसे अदीनत्व है, अतएव यही स्वार्थ सर्ग है. परार्थ सृष्टिमें भी अपेक्षित रूपोंको

धारण कर स्वयं प्रकट होनेसे जीवोंकी दीनता दूर हो जाती है. 'न विद्यन्ते दीना यस्मात्'. सर्गसे ही इनकी दीनता दूर होती है. इसलिये अदीनत्व ही सर्ग है.

२.'लीलात्व' विसर्ग है. 'हसितत्व' स्थान है, 'ईक्षण' ही पोषण है. 'उल्लास' ऊति है अथवा 'भ्रू'रूपा ऊति है. 'भङ्गत्व' मन्वन्तर(सद्धर्म) है. 'उल्लासधर्म' ईशानुकथा है. 'संसूचितत्व' निरोध है. 'भूरित्व' मुक्ति है और 'अनुग्रह' आश्रय है. सर्वव्यापक सर्वान्तःस्थित अव्यक्त परब्रह्म पुरुषोत्तमके दश धर्म सर्ग विसर्गादि हैं. परिच्छिन्न प्राकट्य बहिःस्थित प्रकट परब्रह्म श्रीकृष्णके दश धर्म अदीनत्व लीलात्वादि हैं. दोनोंका अर्थ तात्पर्यतः एक है. उनमें सर्ग और अदीनत्व एक है यह पहले दिखा चुके.

३.अब विसर्ग लीला. सारस्वत कल्पमें लीलास्थ सब ही पदार्थ पुरुषरूप (कृष्णमय) थे, यह पुराणांतरोंमें और यहां भी आगे स्पष्ट होगा. 'विसर्गः पौरुषः स्मृतः'.

४.स्थानलीला भगवान्का हसितत्व धर्म है. यह भगवान ही अपने बनाये इस विश्वनाटकमें अपने हासकेलिये एक ही आत्माको अनेक प्रहसन रूपसे उन-उन मर्यादाओंमें स्थापित करता है. यदि यह विश्व प्रहसन या नाटक न होता तो पारमार्थिक एक ही भगवत्स्वरूपमें वे मर्यादायें कैसी? 'गुणस्तूभय वर्जितः'.

५.पुष्टिलीला ही ईक्षण धर्म है. भगवत्कृत ईक्षण(दर्शन)से ही जीव पुष्ट (स्वीकृत) होते हैं, भगवान्की निगाहसे ही जीवोंका पोषण होता रहता है.

६.ऊति लीला भ्रूत्व धर्म है. जैसे-जैसे भगवद्वासना होती है वैसे वैसे भ्रू (भवों)का चालन होता है.

७.सद्धर्म(मन्वन्तर) भङ्ग है. भगवान् ही जीवोंको अपने स्थानोंसे चलित करता है. उद्देशाध्यायमें इसका विस्तार करेंगे.

८.उल्लसत्व धर्म ईशानुकथा है. भगवदीयोंका वंश भगवान्का उल्लास है अथवा क्रमप्राप्त ऊति उल्लास धर्म है. जैसे प्रह्लाद चरित्र और वर्णाश्रम धर्म वर्णन क्रमसे प्रमेय और प्रमाण का उल्लास है. इस क्रममें सद्धर्म भ्रूरूप है.

९.वंशानुचरित ही भङ्ग है. वंशमें आत्माका भङ्ग(विस्तार) होता है.

१०.निरोध लीला ही कृष्णत्वमें संसूचन धर्म है. श्लोक व्याख्यानमें इसका उपपादन आयेगा.

११.भूरित्व धर्म मुक्ति है. वास्तवमें एक भगवान् ही मुक्त है परन्तु अन्य भी मुक्त

होते हैं इसलिये मुक्तिको भूरित्व है.

१२.अनुग्रह धर्म आश्रय लीला है. यदि भगवान् सर्वथा अनुग्रह(आश्रय) धर्मयुक्त न हो तो किसी जीवको भी संसारसे निकालकर अपनेमें स्थापित न करे. आश्रय न देवे.

ये दश धर्मरूप लीलायें श्रीकृष्णकी कही है. इसलिये श्रीकृष्ण भगवान् प्राकट्य अवस्थामें अवतार हैं तथापि अवतारी हैं.

इस तरह अव्यक्त और व्यक्त दोनों भगवान् धर्मतः एक हैं यह दिखाकर अब पहले सर्गलीलाका अदीनत्व दिखाते हैं

भूमेः सुरेतरवरूथ–विमर्दितायाः क्लेशव्ययाय कलया सितकृष्णकेशः।
जातः करिष्यति जनान् उपलक्ष्यमार्गः कर्माणि चात्ममहिमोपनिबन्धनानि।।२६।।

श्लोकार्थः राजन्यरूप दैत्य–दानवादि लोगोंसे अतिशय कष्ट पाती इस भूमिका क्लेश दूर करनेकेलिये अपने अंशकलाओं सहित यह सितकृष्ण भगवान् इस भूतल पर प्रकट हुआ और फिर जिसकी स्वरूप गति किसीके भी समझमें न आ सकी ऐसा यह भगवान् अपने माहात्म्यको प्रकाशित करने वाले अनेक चरित्रोंको करेगा।।२६।।

व्याख्यार्थः अशरीर भगवान् जब शरीरको स्वीकार करते हैं तब वह सर्ग (सृष्टि) कहा जाता है. यह प्रकटाप्रकट दोनों भगवान्के विषयमें समान है. पहलेके विषयमें विशेष सर्ग और दूसरे भगवान्के विषयमें सामान्य सर्ग समझना चाहिये. इसी अर्थमें अदीनत्व अर्थ भी सम्मिलित है. सर्गरूप धर्मसे भगवान्की अवतारता सिद्ध होती है, पर अन्य धर्मोंसे भगवान् अवतारी ही रहते हैं. अदीनत्व भगवान्के सर्गमें (प्रकट होने में) हेतु होकर शब्दार्थ है. भगवान्के प्रकट होनेसे ही त्रिविध जीव दीन न हुवे, न रहे.

"**भूमिर्माता तथा चान्ये दुःख भाजो हरेः प्रियाः**" (१० स्कं.कारिका) इस कारिकाके अनुसार पृथ्वी, देवकी और भक्त यादवादि दीन हो रहे थे पर भगवान्के सर्ग लेनेसे इनका अदीनत्व हो गया. यह सर्ग परार्थ है. भगवान्के अवतार लेनेमें अदीनत्व धर्म इस तरह हेतु होता है. यह बात श्लोकार्थमें स्पष्ट है. भूमि–पृथ्वीको सुरेतर(असुर) दैत्य, दानव और राक्षसों ने मसल दिया था. देवोंसे अन्य, इस रूपमें ही धर्मका नाश करनेवाले सब ही दुष्ट यहां इकट्ठे समझ लेने चाहिये. दुष्टोंने अपने दोषोंसे इस पवित्र भूमिको भर रखी थी. तब इसके इस

क्लेशको दूर करनेकेलिये आनन्दमय भगवान् प्रकट हुवे.

''प्रकटः परमानंदो यदा भूमेस्तदैव हि,

मर्दनक्लेश हानिः स्याद् इत्यानन्दः समागतः''(१०-का.)

भगवान् बलभद्ररूप अपनी कलाको साथ लेकर प्रकट हुए. कोई टीकाकार यह कहता है कि सितकृष्ण केश जो वैकुण्ठमें रहते हैं वही कृष्णमें प्रकट हुये हैं. यह सिद्धांत नहीं है. सिद्धांत तो यह है कि 'सितकृष्णकेशः कलया' अर्थात सितकृष्णकेश भगवान् संकर्षण व्यूहरूप हैं अतएव वे श्रीगोविन्दकी कलासे युक्त हैं. श्रीगोविन्द पूर्ण ब्रह्म हैं. अतएव उनमें सब कुछ विद्यमान है यह सम्भव है. संहाररूप तामस शक्तिकी कला भी उनमें अपेक्षित है अतएव दुष्टसंहार किया. संकर्षण भगवान्की यह शक्ति है. यही सितकृष्णकेश हैं. किसी एक प्रयोजनकेलिये यह भी ठीक हुआ है कि भगवान्का शुक्ल केशका भी अवतार हो. इसका यह तात्पर्य नहीं है कि सितकृष्णरूप अंशसे पृथ्वीका क्लेश दूर नहीं हो सकता. ब्रह्मवैवर्त पुराणमें कहा है कि सितकृष्णकेश किंवा वैकुण्ठ स्थित भगवान् श्रीकृष्ण परब्रह्मका अंश है. यदि कहो कि तो फिर यहां इस विशेषणको देनेका क्या प्रयोजन था? इसका समाधान यह है कि संहार तामस शक्ति संकर्षणकी भी यहां अपेक्षा थी इसलिये सितकृष्णरूप संहार शक्तिके अंशको भी साथ लेकर प्रकट हुये. यदि ये सितकृष्ण ही पूर्ण होते तो '**ताविमौ वै भगवतो हरेरंशौ इहागतौ**' इस वचनमें इनको हरि-भगवान्के अंश नहीं कहते. अन्यथा इस वाक्यका विरोध आवेगा. और पूर्व जन्ममें श्रीनंद-यशोदाको वर देते समय यह कहा है कि '**तदा वां परितुष्टोऽहम् अमुना वपुषा**' इस वाक्यमें साक्षात् पूर्णसे ही कृपा करनेका कहा है, इस वाक्यका भी विरोध आवेगा. रूपया पूर्णरूप है. उसमें चार पावली(चवन्नी) उसके अंश भी रहते ही हैं. इसी तरह पूर्ण पुरुषोत्तमने जब श्रीकृष्णरूपसे पूर्ण प्रादुर्भाव ग्रहण किया तब उनमें उनके अंश और उनके कार्य भी होने चाहिये. इस तरह किसी वाक्यका विरोध नहीं रहता. पूर्ण पुरुषोत्तमने उन-उन अपने भक्तोंको चार वर दिये थे: १.भक्तोंके दुःख दूर करनेका, २.पुत्ररूपसे प्रकट होनेका, ३.धर्म रक्षा करनेका और ४.पृथ्वीका भार उतारनेके लिये दुष्टोंको मारनेका. अब यदि भगवान् सर्वांश सहित प्रकट न होते तो सर्व मनोरथ पूर्ति न हो सकती. 'जातः' केवल प्राकट्य मात्रसे भूमिके क्लेशका निवारण तथा निज स्वीकृत भक्तोंके सर्व क्लेशोंकी निवृत्ति पुरुषोत्तमके अन्य अवतारसे होना अशक्य थी, अतएव **वासुदेव**

स्थित पुरुषोत्तमका अवतार हुआ. दुष्ट हननकेलिये, भूमिभार उतारनेकेलिये **संकर्षण** सहित सितकृष्णकेशका अवतार हुआ. पुत्ररूपसे वंश चलानेकेलिये **प्रद्युम्न** आधिदैविक काम 'जनानुपलक्ष्य मार्गः'का अवतार हुआ. और 'कर्माणि करिष्यति' धर्मरक्षाकेलिये **अनिरुद्ध**का प्रादुर्भाव हुआ. ये सब पुरुषोत्तमके ही अंश–कला है अतएव पुरुषोत्तमके साथ इनका भी अवतार होना युक्त ही है. 'कलया (सह) सितकृष्णकेशः जातः' इत्यादि वाक्योंसे चारों व्यूहोंके कार्य भी सूचित कर दिये हैं.

मोक्षदान, भक्तिदान, भूमिभार हरण, वसुदेव–देवकीकी कामनापूरण और धर्मकी रक्षा, ज्ञानके द्वारा मोक्षदान, श्रीवासुदेवका कार्य. भक्ति (भजनानन्द)का दान पुरुषोत्तमका कार्य. भूभार हरण, संकर्षणका कार्य. वसुदेव–देवकीकी कामनापूर्ति, पुत्ररूपसे होना या वंश चलाना प्रद्युम्नका कार्य और धर्मरक्षा अनिरुद्धका कार्य.

एक ही श्लोकमें सर्गका निरूपण करना है इसलिये तत्सम्बन्धी सब बातोंको अतिसंक्षेपमें सूचित कर दी है. निरोध स्कंध १०में तो विस्तार सब प्रकरण भेदसे ही स्पष्ट कहेंगे. इस तरह चतुर्मूर्ति सहित भगवान् प्रकट हुए, यह सर्गका निरूपण है. इससे अन्यत्र कहे गये वाक्य सब ही सार्थक हो जाते हैं. किसीका विरोध नहीं रहता. अन्यथा ''**तयोरेको बलभद्रो बभूव**'' इत्यादि वाक्य विरुद्ध हो जावेंगे. त्रिविधदूरीकरणार्थ अदीनत्व सम्पादन करनेकेलिये भगवान् अपना जन्म और अनेक कर्मोंका सम्पादन करेंगे.

''भूमिर्माता तथा चान्ये दुःखभाजो हरिप्रियाः,
कंसादेः कालतो ज्ञानात्त्रिधा दुःखं च तद्गतम्''

पृथ्वी, देवकी और अन्य यादवादि ये तीनों श्रीभगवान्के प्यारे हैं. पर इन पर दुःख पड़ा, कंसादिकृत दुःख भूमि पर, आकाशवाणी दुःख माता देवकी पर, और भगवान्के अवतारकी खबर न होनेसे अन्य भक्तों पर दुःख हुआ. कार्यरूपा भी भूमि है और इस विवरणमें उसीका ग्रहण किया है. माता अदितिका रूप कही गई है और प्रादुर्भावस्थान होनेसे 'भ्रू' शब्दसे ही यहां ले ली गई है. अन्य भक्त भी इन दोनोंसे सम्बन्ध रखने वाले थे, अतएव दुःखी थे ही. साधारण यादवादि 'जन' कहे गये हैं. उन्हें यह न मालूम हो सका कि इस दुःखरूपी मार्गसे ही भगवान् प्रकट होंगे. अतएव उन्हें अज्ञानसे दुःख हुआ. यदि वे जान लेते कि हमारे ऊपर आये

हुये दुःखोंको देखकर ही भगवान् अवतार लेंगे तो ज्ञान हो जानेसे दु.ख न होता. अतएव 'जनान् उपलक्ष्यमार्ग' यह पद भगवान् वंशकृत प्रद्युम्न अवतारका बोधक है. '**आत्ममहिमोपनिबन्धनानि कर्माणि च करिष्यति**' यह वाक्य अनिरुद्ध और वासुदेव पुरुषोत्तमावतार बोधक है. 'आत्ममहिम्नः उपनिबन्धनं येषु' जिन कर्मोंमें अपनी भक्तिका सम्बन्ध हो जाय ऐसे कर्म करेंगे यह प्रकटार्थ है किन्तु परोक्ष भाषामें 'आत्म' शब्दसे त्रिविध ज्ञान, 'महिमा'शब्दसे भगवद्भक्ति और 'उप समीपे नितरां बन्धनम्' शब्दसे कर्मका कथन है. ज्ञानका सम्बन्ध उपदेश द्वारा भगवान् वासुदेवने कराया. भक्तिका सम्बन्ध लीलाओंके द्वारा श्रीकृष्णने कराया और कर्मोपदेशके द्वारा धर्मका सम्बन्ध या रक्षण भी अनिरुद्धने कराया. इन तीनोंके द्वारा तीन दुःख दूर किये. भक्तिके द्वारा आधिदैविक दुःख दूर किया. ज्ञानके द्वारा आध्यात्मिक दुःख दूर किया और कर्मोंके द्वारा आधिभौतिक दुःख दूर किये. इस तरह भगवान्ने अपने सर्गसे सबको अदीन कर दिया. यह भगवान्का चरित्र इस तरह भगवान्के माहात्म्यका बोधन कराता है. इस भगवन्माहात्म्यके श्रवणसे आज भी लोग अदीन होते हैं।।२६।।

आभासार्थः अदीनत्वके बाद भगवान्का दूसरा धर्म लीलात्व है. यह विसर्गरूप है सो इसका वर्णन करते हुए पूर्व उक्त सब बातोंका हेतु भी विचारगत है, इसलिये उसे कहते हैं:

तोकेन जीवहरणं यदुलूकिकायाः त्रैमासिकस्य च पदा शकटोऽपवृत्तः । यद्रिङ्गतान्तरगतेन दिवस्पृशोर्वा उन्मूलनं त्वितरथार्जुनयोर्न भाव्यम् ।।२७।।

श्लोकार्थः यदि ये भगवान चतुर्मूर्ति होकर अवतार न लेते तो छः दिनके बालकसे पूतनाका जीवहरण कैसे बनता? तीन महिनेके बच्चेसे शकटका भंजन कैसे होता और जो घुटनोंसे चलते समय चार-पांच महीनेके बालकने बीचमें आये गगनचुम्बी यमलार्जुन वृक्षोंको उखाड़ फेंका यह कैसे बनता?।।२७।।

व्याख्यार्थः यदि ये पुरुषोत्तम भगवान् ही चार मूर्ति धारण करके अवतार न लेते तो उनके ये चार चरित्र सङ्गत न होते. पूतनाका प्राणों सहित दुग्धपान, शकटका भंजन, यमलार्जुनके मध्यमें जाना और उनको उखाड़ फेंकना. वासुदेव भगवान्के सिवाय अन्यमें मोक्ष देनेकी सामर्थ्य नहीं है. मोक्षका दान किया इसलिये ये भगवान् वासुदेव थे. संकर्षणके सिवाय अन्य कोई भी स्पर्श मात्रसे नाश कर देने वाला नहीं. वृक्षोंको स्पर्श मात्रसे उखाड़कर फेंक दिया इसलिये ये

भगवान् ही संकर्षण हुए. दोष दूर करनेकेलिये अपना सामीप्य देनेको उनके पास जाना यह अनिरुद्धका कार्य है. नारदके दिये शापसे छुड़ानेकेलिये भगवान् उन दोनों वृक्षोंके मध्यमें गये. इससे स्पष्ट है कि अनिरुद्ध भी आप बने. जन्मान्तर सम्पादन करना प्रद्युम्नका कार्य है. भगवान्ने यमलार्जुन शापसे हुआ वृक्षरूप जन्म छुड़ाकर पूर्वस्थित नलकूबर देवजन्मका सम्पादन करा दिया अतएव भगवान्ने ही प्रद्युम्नरूप धारण किया यह स्पष्ट है. इनके इन चरित्रोंसे ही भगवत्कला होना प्रकट है. ये यदि भगवान् न होते तो मनुष्य आदिसे ये चरित्र असम्भावित थे. छः दिनका बच्चा पूतना जैसी राक्षसीका जीव हरण कैसे कर सकता था. जहां कुछ होता है वहां उसका कारण भी अवश्य होना चाहिये. पर जहां साधनके या कारणके बिना ही साध्य या कार्य हो जाता हो वहां उसे परब्रह्मका स्वरूप माना जाना युक्तियुक्त है. क्योंकि सब कुछ हो जानेकी या सब कुछ कर सकनेकी सामर्थ्य एक परब्रह्ममें ही है. ये परब्रह्म थे अतएव न बन सकनेकी बात भी अचूक बन सकी. पूतनाको उलूकिका कहा है. उलूककी भार्या किंवा उलूक (घुघु)की लड़की. किंवा स्वयं ही उलूकिका(घुघी) थी. इसका तात्पर्य सब तरहसे यह होता है कि यह प्रकाशसे डरने वाली, सन्मार्गसे अलग रहने वाली या सन्मार्गकी वैरिणी थी. वेदशास्त्रोक्त मार्गोंसे तो उसकी मुक्ति हो ही नहीं सकती थी. तब भगवान्ने प्रमाण मार्गके बलको छोड़कर प्रमेय बल 'निज सामर्थ्य'से इसकी मुक्ति की. जीवहरणका अर्थ यहां मुक्तिदान है. जीवानां हरणं जीवहरणम्. यहां जीव शब्द जीवोपाधि (अन्तःकरणादि)का वाचक है. उस पूतनाने जिन अनेक बालकोंका जीवनाश किया था वे सब इसके उदरमें कारणरूपसे विद्यमान थे. उसका अन्तःकरण–प्राण आदि जीवोपाधि और उन बालकोंके जीवोपाधि सब एक हो रहे थे, अतएव भगवान्ने उसके कृत्यों पर दृष्टि न देकर अपने अनुग्रह द्वारा अपने सामर्थ्यसे ही उसे और उनको मुक्तिदान किया. इसका स्पष्टार्थ यह है: देहविलय हुए बिना जीव, शुद्ध चेतन ब्रह्मरूप नहीं होता. उसके कोई ऐसे साधन थे नहीं जिससे उसका देह छूटकर जीवात्मा ब्रह्मरूप हो. तब भगवान्ने अपने सामर्थ्यसे इसके प्राणांतःकरणादि जीवोपाधिको अपने स्वरूपमें मिला लिया. जीवोंका हरण अर्थात् निकालकर अपनेमें धर लेना. ''**इहैव समवनीयन्ते प्राणाः**'' इत्यादि श्रुति कहती है कि उसके प्राणादि लिंग शरीर यहां ही लयको प्राप्त हो जाते हैं वह मुक्त कहा जाता है. पूतनाका भी जीवोपाधि लिंग शरीर भगवान्में लय प्राप्त हो गया.

इसलिये यह भी मुक्त हो गई. पर यह मुक्ति प्रमेयबलसे हुई, प्रमाणबलसे नहीं. शुद्ध परब्रह्मको प्रमेय(वेदैकवेद्य) कहते हैं. यह अवतार साक्षात् परब्रह्म ही था, किसी अंशमें भी न्यून नहीं था. यदि कोई अंश भी इसमें न्यून होता तो ऐसी दुष्टाको मुक्ति देनेकी सामर्थ्य कहांसे होती! इसलिये साधनोंके अभावमें भी साध्यको कर देनेसे और विरुद्ध साधनको भी मुक्ति दे देनेसे श्रीकृष्ण साक्षात् पुरुषोत्तम थे यह सिद्ध है. इसका कारण ओर भी है: 'त्रैमासिकस्य' इत्यादि. जिस समय गाड़ेको ओंधा कर दिया था, उस समय श्रीकृष्णकी वय ३ मासकी थी. अर्थात् कालके तीन अवयव(अंश) व्यतीत हुए थे. ये तीनों अंश स्वयं कुछ कर नहीं सकते थे. पर उन्होंने भगवान्को ही त्रिमूर्ति सम्पादन करनेका साहाय्य (अवसर) दिया. अनन्त अपरिच्छिन्न काल भगवद्रूप है किन्तु परिच्छिन्न कालमें प्राकृतिक अंश विशेष है. अतएव उसमें भगवत्सामर्थ्य नहीं है. तीन मास ये कालके तीन टुकड़े हैं. ये शकटका नाश नहीं कर सकते, अतएव भगवान्ने तीन मूर्ति धारण करके उनमें प्रवेश किया. एकसे शकटका निर्माण, दूसरीसे उसका उपभोग, तीसरी मूर्तिसे उसका नाश किया. कोई भी तत्त्व भगवान्के प्रवेश किये बिना कार्य करनेमें समर्थ नहीं होते. पर भगवान्के प्रवेश करने पर भगवान्की ही सामर्थ्यसे ही कार्यक्षम होते हैं. यह सिद्धांत भागवत् तृतीय स्कन्ध और वहांकी सुबोधिनोमें स्पष्ट है. 'गणंयुगपदाविषत्' कालके मासरूप अवयवोंसे शकटका नाश हुआ यह कोई न समझ बैठे, इसलिये (पदा) एकवचन कहा. पद एक अंशको भी कहते हैं, अर्थात् प्राकृतकाल रूपसे नहीं पर अपरिछिन्न अनन्त अतएव अप्राकृत कालरूप अपने साक्षात् एक अंशसे भगवान्ने शकटको ओंधा करके नष्ट कर दिया. यह सर्वनाशक सर्वभक्षक काल संकर्षण है. अर्थात् यह कार्य संकर्षणके ही योग्य था अतएव अपनेमें ही रहे. संकर्षणाचरणसे शकटका नाश किया. 'अपवर्त'का अर्थ है: ओंधा होकर गिरना. (उस समयमें व्रजमें गृहस्थ लोग नेठमी भारी सामान रखने-देनेकेलिए एक मजबूत गाड़ा बनवाकर उसके मजबूत पहियोंको जमीनमें आधे आधे गाड़कर रख देते थे और उस पर सैकड़ों मन सामान रखते-उठाते रहते थे जिससे कि समय पर सामानको ज्योंका त्यों किसी दूसरी जगह भी ले जा सके. श्रीनन्दरायके गृहमें भी ऐसे कई गाड़े थे. उसमेंसे एक गाड़ेके पास ही पालने पर श्रीकृष्णको सुलाकर श्रीयशोदा घरके कामकाजके लिये चली गई थी) इधर भगवान्ने अपने चरणके धक्केसे उस गाड़ेको औंधा पटककर उसका नाश कर

दिया. यह कथा दशम स्कन्धमें है. अब आप समझ सकते हैं, कि ऐसे गाड़ेको ओंधा पटककर नष्ट कर देनेकेलिए कितने भारी बलकी अपेक्षा है. अब उस चरणमें उतना बड़ा भारी बल मानना ही पड़ेगा. उस चरणमें बड़ा बल और भारी क्रियाशक्ति दोनों थी, अतएव वह चरणरूप अंश भगवान् संकर्षणरूप थे यह स्पष्ट हो जाता है. और उस स्थलमें 'प्रवालमृद्वंघ्रिहतं न्यवर्तत' 'कोमल पत्रकी तरह नरम भगवच्चरणका धक्का लगनेसे ओंधा हो गया' यह वाक्य है. इससे स्पष्ट है कि नाशके साधनका अभाव ही था. ये सब बातें प्रमेयबल पूर्ण परम ब्रह्मत्व और पूर्ण क्रियाशक्तिकी सूचना देते हैं. अतएव कहना होगा कि श्रीकृष्ण पूर्णब्रह्म हैं.

इस तरह पूर्णज्ञान-क्रियाशक्ति आदिका प्रतिपादन करके अब भक्तिमार्गका समर्थन करनेकेलिए इसी भगवान्की अचिन्त्य शक्तिका भी प्रतिपादन करते हैं: 'यद्रिंगता' इत्यादि. पूर्वोक्त छः दिनके बालकका पूतनाको मारना और तीन महीनेके शिशुका गाड़ा उलट देना ये दो कार्य और यह अर्जुनभंग ये तीनों मिलाकर ये सब बातें भगवान् श्रीकृष्णके परब्रह्म होनेके बिना असम्भावित हैं. हाथ और घुटनोंसे चलते-चलते श्रीकृष्ण यमलार्जुन वृक्षोंके मध्यमें गये और वे दोनों उसी समय जड़ सहित उखड़कर गिर गये. यह बात कह रही है कि श्रीकृष्ण पूर्ण परब्रह्म हैं. पूतनामारणमें तो भगवान्के मुखका कुछ सम्बन्ध भी था. शकट भंजनमें भी कुछ पादाग्रका सम्बन्ध हुआ, पर यमलार्जुन भंगमें तो ये कुछ भी नहीं हुआ. भगवान्का सम्बन्ध बहुत दूर रहा. ऊखलका सम्बन्ध वृक्षोंसे हुआ, एक ओर रस्सीका सम्बन्ध ऊखलसे था तो उसका सम्बन्ध श्रीकृष्णकी कमरसे था. श्रीकृष्णने कुछ जोर भी नहीं लगाया. केवल वृक्षोंके मध्यमें होकर निकले और ऊखल वृक्षोंके बीचमें अड़ गई, बस इतना सम्बन्ध होते ही दोनों वृक्ष जड़से उखड़कर गिर गये. कहिये इसमें क्या समझा जाय? इसका मुख्य कारण भगवत्व ही है. यदि श्रीकृष्ण पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम न होते तो ये तीनों बातें नहीं हो सकती थी. यमलार्जुनके मध्यमें भगवान् वेगसे नहीं चले किन्तु साधारण रीतिसे बालचापल्यसे हाथ-पैरोंको सरकाते हुए वहां पहुंच गये. उन दोनोंके मध्यमें पहुंचने मात्रसे उनका जड़सहित उखड़ जाना ही श्रीकृष्णका परब्रह्म होनेका प्रमाण है. यदि श्रीकृष्ण अपना बल लगाते तो पहले रज्जू टूटती, क्योंकि रस्सी ही सबसे कमजोर थी. अथवा ऊखल टूटती. सो कुछ हुआ नहीं. यदि परमात्माके बलका विचार किया जावे तब तो फिर रज्जू, ऊखल और वृक्ष सबका

ही चूर हो जाना चाहिये था. इसमें भी जड़ सहित उखड जाना तो किसी तरह भी बन नहीं सकता. दोनों पेड़ोंमें ऊखल यदि आडी होकर कसती और फिर यदि जोर लगता तो कदाचित् उखड़ना सम्भव होता पर सो कुछ नहीं हुआ. ऊखल सीधीकी सीधी गई और निकल भी आई. पेड़ दोनों उखड़कर गिर गये. यह भी पूर्वकी तरह श्रीकृष्णका परब्रह्मत्व बोध कराता है. अथवा भगवान् श्रीकृष्णकी ही ऐसी इच्छा हुई यह दिखाता है. यह भगवान्की लीला है. यही उनकी इच्छा ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति है.

कितने ही टीकाकार 'इतरथा न भाव्यं' इस वाक्यको आगेके सब ही श्लोकोंमें लगाते हैं किन्तु वास्तवमें इस वाक्यका सम्बन्ध इस श्लोकसे ही है. क्योंकि आगेके श्लोकमें इस वाक्यसे सम्बन्ध रखनेवाला कोई पद नहीं दीखता है।।२७।।

आभासार्थः इस तरह लीलाका निरूपण करके अब भगवान्के हसित धर्मको कहते हैं:

यद् वै व्रजे व्रजपशून् विषतोयपीथान् बालान् अजीवयदनुग्रह–दृष्टि–वृष्ट्या ।
तच्छुद्धयेऽतिविषवीर्यविलोलजिह्वम् उच्चाटयिष्यद् उरगं विहरन् ह्रदिन्याम् ।।२८।

श्लोकार्थः पूर्णब्रह्म होनेसे इन श्रीकृष्णने विषमिश्रित जल पी लेनेवाले पशुओंको अपनी अनुग्रहदृष्टिकी वर्षाके द्वारा जीवनदान दिया. और जो भगवान् श्रीयमुनाको शुद्ध करनेकेलिए अतिशय विषके वीर्यसे जिसकी जिह्वा चंचल थी ऐसे कालिय सर्पको खेल ही खेलमें यमुनासे निकालेंगे।।२८।।

व्याख्यार्थः इस श्लोकमें 'बालान्' और 'पालान्' ये दोनों पाठ सम्मत हैं. पहले 'बालान्' पाठ स्वीकार कर एक पक्षका निरूपण करते हैं. बाल और पाल दोनोंमें हसित सिद्ध होता है. जो स्वयं पाल्य हैं वे भगवान्के पालक बनते हैं यह हास्य ही है. जो स्वयं बालक हैं वे भगवान्को बालक मानते हैं यह भी हास है. यह लीला हसित धर्म क्यों है? इसका उत्तर देते हैं कि 'यत्'. कारण कि गायोंके खिरकमें व्रजरूप पशु और व्रजरूप बालकोंकी विषमिश्रित यमुना जल पी जानेसे मृत्युग्रस्त हुओंको भी अपनी अनुग्रहदृष्टिकी वर्षा करके जिन श्रीकृष्णने जिला लिया. विषका पीथ(पान) कर लिया जिन्होंने. जैसे सोम रसके पान कर लेनेसे मृत्युग्रस्त देवगण अमर हो जाते हैं. इस तरह विष मिले जलको पी लेने वाले पशु और गोप बालकोंको जिलाया. यह एक पक्ष है. 'अनुग्रह दृष्टि वृष्टिसे' यह साधन

है पशु और बालकोंका जीवन साधन उनके पास कुछ नहीं था. किन्तु उनके जीवनका साधन भगवान्‌की कृपादृष्टिकी वर्षा ही हो गई. इतना ही नहीं किन्तु उस यमुनाकी शुद्धिकेलिये (निर्विष करनेकेलिये) अतिपराक्रमी होनेसे जिसकी जिह्वा चंचल हो रही थी ऐसे कालिय सर्पको खेल करते-करते ही यमुनामेंसे अलग कर देंगे. यहां 'उच्चाटयिष्यत्' की जगह 'उच्चाटयिष्यति' ऐसा समझ लेना चाहिये इकारका लोप हो गया है. क्योंकि श्रीमद्‌भागवत वेदवत् है. वेदमें अनेक व्याकरणोंसे कार्य होते हैं. अथवा 'उच्चाटयिष्यन्' ऐसा पाठ रखकर 'नुम्'का अभाव कर लेना, वेद होनेसे. और अर्थ तो 'अजीवयत्' कर लेना अर्थात् विहार करनेकेलिये सर्पको हटाते हुए सबको जिवा लिया. 'उच्चाटयिष्यत्' और 'अजीवयत्' ये दो-दो क्रियाओंका साहचर्य क्रियातिपति अर्थ दिखानेकेलिए दिया है. किंवा 'उच्च' यह निपात और 'आङ्' उपसर्ग लगाकर 'अट्' धातुका लृङ् लकारका रूप 'उच्चाटयिष्यत्' होता है और फिर उसके साथ 'अजीवयत्' है. इसका यह तात्पर्य होता है कि जब सर्पको यमुनासे हटा देंगे तब ही पशु और पालों को जिवा लिया कहा जा सकेगा. अन्यथा आज जिवा लिया और कल पानी पीकर फिर मर जावेंगे तो यह जिवाना किस काम का?

यहां जो पशु और पालन करनेवालों का जीवन हुआ है वह भगवान्‌की कृपादृष्टिकी वर्षारूप साधनका कार्य कहा, किन्तु यह तो अल्प अलौकिक कार्य है. विहारमें भी कुछ अपूर्वता नहीं है क्योंकि भगवान्‌का विहार तो गरुड़ादि देवोंके साथ भी होता ही है. योगी लोग भी अपनी दृष्टिसे मृतको जिवा लेते हैं इसलिये यहां 'उच्चाटयिष्यत्' इस क्रियाको क्रियातिपत्ति अर्थमें लृङ् लकारका रूप मानना उचित है. यह चरित्र समझदारोंको किंवा भगवान्‌को अपने हास्यकेलिए है. हम भगवान्‌की कृपाका पालन करेंगे, इस दृष्टिसे कितने ही ग्वाल श्रीकृष्णके साथ वनमें आते थे. पर आज श्रीकृष्णने उनकी उस समझकी हंसी उड़ा दी. विषयुक्त यमुनाजलका पानकर निर्जीव हो जानेवाले उन रक्षकोंको स्वयंने रक्षा कर आप उनमें ही सम्मिलित रहे और परीक्षा कर ली कि देखें ये लोग मेरी रक्षा करनेवाले कैसे हैं, और जब वे किसी तरह भी रक्षा न कर सके तब उनके पालकत्वकी हंसी उड़ाते हैं.

अथवा 'व्रज पशून् पालान्' यह पाठ रखना. अर्थात् पशुरूप पालोंको जिवाया. तत्तद्‌देव रूप, जो आधिदैविक पशुरूप होने पर भी भगवदिच्छासे आधिभौतिक गोवत्सादि पशुके रूपोंमें पैदा हुये थे, उन्होंने पूर्वजन्ममें अपराध भी

किये थे अतएव उन्हें कालने इस निमित्तसे मारे. अन्यथा भगवद्भक्त गोवत्सादि पशुओंको विषपान करने और अकस्मात् मरनेमें कोई कारण नहीं मिलता. इस पक्षमें 'विषतो यस्य पीथं पानं येभ्यः' ऐसा समझना और अर्थ भी ऐसा करना कि 'विष मिला हुआ जल जिनके लिये पिलाया गया'. जिन्होंने अपराध किया हो और जिनके उस तरहसे ही मारनेकी भगवदिच्छा हो उन्हें ही काल(मृत्यु) ग्रसता है, निरपराधियोंको नहीं. इससे यह सिद्ध है कि जिन अपराधी पालोंने(देवोंने) भगवदिच्छासे व्रजमें गोवत्सादि पशुरूप धारण किया था उनपर स्वतन्त्रेच्छा होनेसे श्रीकृष्ण परब्रह्मने अपनी अनुग्रहदृष्टिकी वृष्टिकी और वे जी उठे. इसी तरह भगवान् श्रीकृष्णकी कृपादृष्टिसे गोवत्सादि जी उठे. अतएव दृष्टिको वृष्टिरूपसे कहा. ऐसे अपराधियों पर भी अनुग्रह किया यह कार्य श्रीकृष्णको परब्रह्म पूर्णपुरुषोत्तम कह रहा है. आधिदैविक और भगवदपराधियों पर अन्य कोई भी अनुग्रह नहीं कर सकता. पूर्णब्रह्म ही उन पर अनुग्रह कर सकता है. श्रीकृष्ण पूर्ण परब्रह्म हैं यह सिद्ध है. 'यत् एतत् तद् न भाव्यं' ऐसी संगति सब श्लोकोंमें जिन टीकाकारोंने लगाई है उन लोगोंका कहना भी एक तरहसे उचित हो सकता है. क्योंकि ये सब चरित्र भगवान् श्रीकृष्ण एकके ही किये हुये हैं. इसलिये कोई विद्वान् ऐसा कहता है कि मन्त्रादि लौकिक साधनोंसे पहले विष दूर कर दिया जाता है फिर जीवन होता है, किन्तु यहां विषयुक्त गोवत्सादिको जीवन दिया गया यह भगवच्चरित्र होनेसे विशेष है. यह भगवान्का हास्य मात्र है, इसलिये ऐसे आशयमें भी किसी तरहकी बाधा नहीं हो सकती।।२८।।

आभासार्थः इस तरह हसित धर्मका निरूपण कर अब ईक्षण कर्मका निरूपण करते हैं:

तत्कर्म दिव्यमिव यन् निशि निःशयानं दावाग्निना शुचिवने परिदह्यमाने ।
उन्नेष्यति व्रजम् इतोऽवसितान्तकालं नेत्रे पिधाय्य सबलोऽनधिगम्यवीर्यः।।२९।।

श्लोकार्थः जिस रात्रिके समय वनकी अग्निसे सारा मुंजवन जलने लगा और उसके मध्यमें आये हुये व्रजवासी किंवा सारा व्रज अपने अन्तकालका निश्चय कर चुका था उस समय बलदेवजी सहित श्रीकृष्ण भगवान् का उन सबके नेत्र मिचवाकर व्रजको बचा लेना, अतएव इनके बलका पार नहीं है।।२९।।

व्याख्यार्थः मुञ्जाटवीमेंसे गोप–गोवत्सादि व्रजको बचा लेना यह कर्म अलौकिक जैसा हुआ. पृथ्वी पर नहीं, परन्तु स्वर्गादिमें होनेयोग्य कर्मको 'दिव्य'

कहते हैं. इस लोकमें किसीसे न हो सके ऐसा हुआ. 'इव' शब्दका तात्पर्य है कि स्वर्गादिमें इन्द्र आदि लोकपाल भी ऐसा कर्म नहीं कर सकते. रात्रिके समय सोते यह और वह भी गरमीमें शुष्क वनमें दावाग्निसे सारा वन जलने लगा. उस वनके मध्यमें व्रजके गोप–गोवत्स आदि भी निश्चिन्त सो रहे थे. जगने पर उस प्रचण्ड अग्निको देखकर अपना मरण निश्चित समझ चुके थे. ऐसी अवस्थामें श्रीकृष्णने उन सबको वहांसे हटाकर अन्यत्र पहुंचाकर बचा लिया. यह दावाग्निसे बचा लेना चरित्र दो बार किया है. पहला कालिय ह्रद(दह) पर और दूसरा मुंजवन में. वहां एक जगह तो जागृत अवस्थामें नेत्र मिचवाकर मुंजाटवीसे घर पर ले आये और दूसरी बार तो रात्रिको सोते हुओंको वनाग्निमेंसे निकाल कर अपने अपने स्थान पर ले आये. 'शुचिवने' आदि साधारण पदोंका अर्थ तो दोनों चरित्रोंमें समान ही है. दोनों लीलाओंको एक साथ कह देनेका यह तात्पर्य है कि देखना 'ईक्षण' भी दो नेत्रोंसे एकरूप ही होता है. लीला यद्यपि द्विरूप है तथापि देखरेख रखना, सबको बचा लेना एक ही है. संकटसे उबार लेना दोनों बार समान है. देवताकेलिए पृथक् कर लेना 'उन्नयन' कहा जाता है. गोप–गोवत्सादिका उन्नयन किया इसका यह अर्थ है कि कृष्णने अपने उपयोगमें लेनेकेलिए अपनी सेवा करानेकेलिए उन सबको पृथक् कर लिया. इस लीलामें अग्निका पान कर जाना पूर्ण ब्रह्मका चिह्न है और एक जगहसे दूसरी जगह अपने आप पहुंचा देना भी परब्रह्मका धर्म है. दशमस्कन्धमें इस चरित्रमें अग्निपान कहा है और यहां नहीं कहा इसका आशय यह है कि वैसा कहने पर किसीको फिर प्रश्न करनेका अवसर आता. सो न हो, इसलिये उन्नयन मात्र कहा. यदि कोई कहे कि प्रश्न होता तो हानि क्या थी तो इसका उत्तर देते हैं 'देवगुह्यं च एतत्' मृत्युसे बचाना आदि विषय देवोंकी भी समझमें नहीं आ सकते तो फिर मनुष्योंका इस विषयमें विशेष प्रश्न करना व्यर्थ है।।२९।।

आभासार्थः इस तरह ईक्षण धर्मका निरूपण करके अब उल्लसत्त्व धर्मका निरूपण करते हैं:

गृह्णीत यद्–यद् उपबन्धम् अमुष्य माता शुल्बं सुतस्य न तु तत्–तद् अमुष्य माति।
यज्जृम्भतोऽस्य वदने भुवनानि गोपी संवीक्ष्य शङ्कितमनाः प्रतिबोधितासीत्।।३०

श्लोकार्थः श्रीयशोदा(श्रीकृष्णकी माता) श्रीकृष्णको बांधनेकेलिये जो–जो और जितने–जितने बन्धन लेती जाती थी वे–वे उतने–उतने भी पुत्रके

श्रीअंगमें पूरे नहीं होते थे, कुछ कम होते जाते थे. अतएव बांधना पूरा होता भी नहीं था. और जिस समय श्रीकृष्णने जम्भाई ली उस समय उनके मुखारविन्दमें जगद्वर्ती सब लोकोंको देखकर श्रीयशोदा पहले तो कुछ अचरजमें आई पर पीछे सब कुछ समझ गई।।३०।।

व्याख्यार्थ: इस श्लोकमें श्रीकृष्ण भगवान्के दो चरित्रोंका वर्णन है. और ये चरित्र स्वरूपका उल्लास धर्म है और एक पक्ष यह भी है कि 'लोकेन' 'यद्वै' 'तत्कर्म' और 'गृह्णीत' इन चार श्लोकोंमें पांच चरित्रोंका वर्णन है. पूर्व श्लोकमें तीनका और इस श्लोकमें दो चरित्रों का. भगवान्ने अपने मुखारविन्दमें दो बार विश्व दर्शन कराया है, किन्तु उन दोनों चरित्रोंमें सम्मिलित वर्णन एक ही है. २७वें श्लोकसे ३०वें श्लोक पर्यन्त चतुर्व्यूहोंका भी निरूपण है और ये सब चरित्र प्रेमदान करनेकेलिये किये गये हैं, इसीलिये श्रीकृष्ण पूर्णब्रह्म हैं, यह भी यहां स्पष्ट कर दिया है. चारों श्लोकोंमें प्रेमचरित्र तो स्पष्ट है ही.

योग, मन्त्र, मणि और औषधादिका प्रभाव अगाध है, मनुष्यकी समझमें न आवे ऐसा होता है. जीवनदान, गाड़ेको उलट देना, वृक्षको गिरा देना, दावाग्निको पी जाना आदि चरित्र तो योग-मन्त्र आदि साधनोंसे भी बन सकते हैं, अतएव उन चरित्रोंसे श्रीकृष्णका पूर्णब्रह्मत्व सिद्ध होना निश्चित् नहीं भी हो सकता. किन्तु 'गृह्णीत' श्लोकोक्त सर्वव्यापकतारूप धर्म तो श्रीकृष्णको निश्चित पूर्णब्रह्म सिद्ध करता है. 'बन्धनमें न आना' और 'जृम्भामें लोकदर्शन' ये दो चरित्र श्रीकृष्णको पूर्णब्रह्म सिद्ध करते हैं. यह बात वैयाससूत्र और उसके भाष्यमें दो अधिकरणोंसे सिद्ध कर दी गई है. उपनिषद्में ''**यस्तु एतमेवं प्रादेशमात्रम् अभिविमानम् आत्मानं वैश्वानरम् उपास्ते, स सर्वेषु लोकेषु सर्वेष भूतेषु सर्वेसु आत्मसु अन्नम् अत्ति**'' इत्यादि संदिग्ध श्रुतियां हैं. उनका निर्णय करनेकेलिए ''**वैश्वानरः साधारणशब्द विशेषात्**'' यह विचारसूत्र वेदव्यासने कहा है. यहां मूर्धा चिबुक आदि अंगोंमें व्यापक वैश्वानरको पूर्णब्रह्म सिद्ध किया है और उसमें कारण दिया है, साधारणसे विशेष शब्दको 'वैश्वानर' आदि शब्द साधारण हैं, प्राकृत पदार्थोंके भी वाचक हो सकते हैं, किन्तु उनसे भी विशेष प्रादेशमात्र 'अभिविमानं' शब्द स्पष्ट ही वैश्वानरको पूर्णब्रह्म कह रहे हैं. विरुद्धधर्माश्रय और सूक्ष्म रहते भी सर्वव्यापक ये दो धर्म खास पूर्णब्रह्मके ही हैं. छोटा सा होकर भी सबको अपने पेटमें भरकर रहना यह पूर्णब्रह्मका लक्षण है. यह जृम्भणलीलामें श्रीकृष्णने अपने

स्वरूपमें दिखा दिया है.

यही बात '**आमनन्ति चैनमस्मिन्**' सूत्रमें भी सिद्धकी है. '**एषो अनन्तो अव्यक्त आत्मा यो अविमुक्ते प्रतिष्ठितः**' इत्यादि वेदवाक्योंके सन्देहको दूर करनेकेलिए पूर्वोक्त सूत्र है. यहां भी मूर्धा चिबुक आदिमें प्रतिष्ठित आत्माको 'अनन्त' कहा है इसलिये यह पूर्णब्रह्म ही है यह सिद्ध किया है. इससे यह सिद्ध होता है कि जो आत्मा छोटासा होकर भी नाप-तोलमें न आवे वह ब्रह्मका विरुद्धधर्माश्रयता लक्षण किया है. सो बन्धन लीलामें भी है. अतएव यह कहना उचित ही है कि ये दो चरित्र श्रीकृष्णके निश्चित ब्रह्मत्वके बोधक हैं. भगवान् सर्वरूप हैं. सर्वत्र विद्यमान हैं. अतएव रस्सी प्रभृति अपने ही रूपसे आप ही कैसे बंध सकते हैं? उनका नाप कैसे हो सकता है? यह तो कोई नियम है ही नहीं कि जिस रूपसे जो सर्वात्मक न हो, वह उस रूपसे बंधनमें नहीं आता. भगवान् श्रीकृष्ण रस्सीरूपसे सर्वात्मक(व्यापक) नहीं हैं इसलिये रस्सीसे बंधनमें नहीं आ सकते, यह कोई ब्रह्म वाक्य नहीं है. और न ऐसा कोई नियम ही है तथापि भगवान् सवा दो वर्षके होकर बड़ी-बड़ी रस्सियोंसे भी नहीं बंध सके यह उनकी सर्वव्यापकता, सर्वरूपता है. बंधनकेलिए जो भी रज्जू मां यशोदा लेती थी वही रज्जू इन छोटेसे स्वरूपकी कमरको बांधनेमें पूरी नहीं पड़ती थी. फिर उसे बड़ी बनानेकेलिए आगे-पीछे दोनों तरफ दूसरी रज्जू जोड़ी जाती तो भी वे सब आपसमें एकताको प्राप्त हो जाती थी अतएव पूर्ववत् नापकी ही रहती थी और छोटी पड़ जाती थी. डोरी-डोरी सब एक, सब ही भगवान्. आप ही अपनी गोदीमें कैसे चढ सकता है. इसी तरहसे अपनेसे ही आप कैसे बंध सकता है यह ठीक ही है. जैसे सुवर्ण, सब ही गहनोंमें उनका वस्तुस्वरूप ही है. क्योंकि वे सब तद्रूप है, सुवर्णसे ही बने हैं. इसी तरह जब सारा जगत् भगवत्स्वरूपसे ही बना है अतएव भगवद्रूपसे बना है तो श्रीकृष्णका वह दीखता हुआ छोटा सा भी उदर सब पदार्थोंका स्वरूप ही था. वस्तुतत्त्वसे ही वस्तुतत्त्वका बन्धन नहीं हो सकता. वस्तुका स्व-निजरूप वस्तुतत्त्व कहा जाता है. ज़ैसे गहनेका स्वरूप सुवर्ण वस्तुतत्त्व है. आद्यन्तमें जो जोड़ी रस्सियां वे भी भगवान् ही थे. इसलिये उनका उसमें समा जाना नहीं होता था. यह प्रमेयोल्लास धर्म है. नापनेमें साधनरूप रज्जू पर्याप्त नहीं हुई यह प्रमेयोल्लास लीला है. इस लीला, इस धर्म का अन्तर्यामी ब्राह्मणमें भी निरूपण है. प्रमेय भगवत्स्वरूप इतना उल्लसित-वर्धित हो जावे कि सबको अपने भीतर ले लेवे तो

अब उसे कौन कैसे नापमें ले सकता है. प्रमेयोल्लास भगवान्का धर्म है.

अब दूसरी लीलाका निरूपण करते हैं कि 'यज्जृम्भतः' जिस समय भगवान्ने अपना श्रीमुख एकदम खुला किया उस समय उस मुखमें श्रीयशोदाने सब लोक और भुवनों को देखा. देखकर मनमें अनेक शङ्कायें करने लगी. किन्तु फिर विचार करते-करते अपने पुत्रका ही कोई यह स्वाभाविक गुण है यों समझकर निःशंक हो गई. मुखमें सर्वजगत्को दिखाना और अनुभवकर्ताको मोहित कर देना ये दो चरित्र, श्रीकृष्ण भगवान्को विश्वके आधार और सबके अनुभवको भुलवा देनेवाला कह रहे हैं. अन्तर्यामी ब्राह्मणमें अन्तःस्थित ही सबको अपने भीतर ले लेता है इस लीलाको कहनेवाली अनेक श्रुतियां हैं. वह अन्तर्यामी जड़-चेतन सबको अपने भीतर ले लेता है. और उसको कोई पहिचान नहीं सकता यह कई बार कहा है: ''**यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानाद् अन्तरो, यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानम् अन्तरो यमयति एत आत्मा अन्तर्यामी अमृतः**''. यहां सब ही श्रुतियोंमें दूसरी बार आये हुये 'अन्तरः' शब्दकी व्युत्पत्ति 'अन्तरयतीति अन्तरः' है. अर्थात् जो सब चराचर जगत्में रहता हुआ भी सब भूतप्राणियोंको अपने भीतर कर लेता है वह अन्तर्यामी भगवान् आनन्दस्वरूप है. यह अन्तःस्थापनरूपधर्म उस परब्रह्मका प्रमेयोल्लास (उल्लसत्व) है. सो ही धर्म श्रीकृष्णने यहां प्रकाशित किया है. सबके भीतर समाये हुए रहते हुए भी श्रीगोकुलमें स्थित रहते हुए भी गोकुलको अपने भीतर धरे हुए है.

यदि कोई कहे कि मुखमें सर्व भुवनोंको दिखाना मायिक है, झूठा है तो उसके उत्तरमें कहते हैं कि यह दिखाना झूठ-मायिक नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वभुवनका अन्तःस्थापन श्रुतियोंमें भी कहा है, इसलिये यशोदाको मुखमें प्रत्यक्ष भुवनोंका अनुभव हुआ है. श्रीयशोदाने 'अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य' इत्यादि वाक्योंसे वहां ही उसका विचार भी कर लिया है. क्या यह माया है? क्या मेरा ही कोई बुद्धिभ्रम है. सब तरहकी तलाश कर लेनेके बाद श्रीयशोदाको यह निश्चय हुआ कि नहीं, यह तो मेरे इस बालकका ही कोई औत्पत्तिक(सहज) धर्म है. इसलिये वह ब्रह्मका ही धर्म था. यदि कोई कहे कि '**वैष्णवीं व्यतनोद् मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः**' इस वचनसे मालूम होता है कि भगवान्ने अपनी मायाका जाल यशोदा पर डाला था इसलिये मुखमें जो कुछ देखा वह माया-झूठा था यह कहनेमें क्या हानि है. इसके उत्तरमें कहते हैं कि भले मायाशक्तिसे दिखाया क्यों न हो,

तथापि यह दिखाना ब्रह्मत्वबोधक है. 'अभ्युपगम्यवाद'से खण्डन करते हैं. पहले कुछ भूलमें पड़ी, पर पीछे श्रीयशोदा सब कुछ समझ भी गई कि यह मेरा पुत्र श्रीकृष्ण ही है और इसीका यह सब कुछ प्रभाव है. वहांके 'शंकित मनाः' पदसे दशमस्कन्धीय मुख्यलीलामें जो कुछ श्रीयशोदाके मनोविचार हुये थे, उनका स्मरण होता है. वहां उसके मनमें ये विचार हुये थे.

किं स्वप्न एतद् उत देवमाया किंवा मदीयो बत बुद्धि मोहः
अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोगः।। इत्यादि
सद्यो नष्ट स्मृतिर्गोपी...

यहां जो यशोदाको ज्ञान हुआ है वह न तो अपेक्षाजन्य ज्ञान है; और न संशय ज्ञान है, किन्तु संशयादिका सब विचार कर लेनेके बाद यह निश्चय अनुभव हो गया कि नहीं, यह तो मेरा पुत्र ही है और इसीके माहात्म्यका प्रदर्शन है. जब यह अनुभव हो गया तो उसके पीछे उस अनुभवका संस्कार या स्मृति हृदय पर रहना ही चाहिये, पर वहां कहा है कि स्मृति नष्ट हो गई. भला यह कैसे हो सकता है? और हुआ तो है ही. अनुभव होने पर भी स्मरण न रहना यह मायाका कार्य है यह हम भी मानते हैं, पर विचार करना चाहिये कि यह माया क्या पदार्थ है? गत्या अगत्या कहना पड़ेगा कि भगवान्की माया भगवान्की शक्ति है. कारणके रहते हुए भी कार्यका न कराना, न होने देना यह ब्रह्मकी 'अकर्तुं सामर्थ्य है. नहीं करनेका भी सामर्थ्य ब्रह्ममें ही है, अन्यमें नहीं. श्रीकृष्णने अपने सर्वव्यापक सर्वाधार स्वरूपका अनुभव कराकर भी उसके संस्कार, उसके स्मरणको अपनी शक्तिसे रोक दिया, न होने दिया यह परब्रह्म श्रीकृष्णका अकर्तुं सामर्थ्य है. यह भगवान्का उल्लास धर्म है. इस लीलासे सूक्ष्मस्वरूपकी व्यापकता स्पष्ट होती है. ऊति स्कन्धके अन्तिमाध्यायमें भावाद्वैतका निरूपण है:

कार्यकारण–वस्त्वैक्यमर्शनं पट तन्तुवत्।
अवस्तुत्वाद् विकल्पस्य भावाद्वैतं तदुच्यते।।

विशेष बुद्धियां सब ही अवस्तु हैं पृथक् नहीं है. तत्त्वरूप ही हैं. इसलिये कार्य और कारण रूप वस्तुओंका ऐक्य ही निश्चित है वही भावाद्वैत कहा जाता है. पटादि पदार्थ कार्य हैं और उनके कारण सूत आदि पदार्थ हैं किन्तु यदि तत्त्व दृष्टिसे देखा जाय तो पट भी सूत्र ही है. यहां भावाद्वैत है. 'गृह्णीत' श्लोकके पूर्वार्द्धमें भी बन्धनमें न आना भावाद्वैतका निरूपण है, रस्सी प्रभृतिकी भगवान्से

एकता होनेसे. यह ऊति लीला है. अव्यक्त व्यापक पुरुषोत्तमत्वकी अवस्थामें उल्लासको ही 'ऊति' नाम दिया है. (यह हम अध्यायके प्रारम्भमें ही कह चुके हैं.) सप्तम स्कंधोक्त सब लीलायें ऊति लीलायें हैं. और वही प्रकट पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण अवस्थामें उल्लास धर्म किंवा लीला है सो बन्धनमें न आना और मुखमें विश्व दर्शन, दोनों उल्लास धर्म है. बिना प्रार्थनाके स्वतः प्रसन्न होकर विश्वका प्रदर्शन कराना यह प्रमेयोल्लास है. उल्लसित होनेसे ही दिखाया है, यह उल्लास ही ऊति है. यह स्पष्ट करनेके लिये इसकी कर्मजन्यता कहते हैं. 'जृम्भाच भग'. वासना दो प्रकारकी है. भगवद्वासना और जीववासना. भगवद्वासनाका स्पष्टीकरण भगवत्कृत कर्मोंसे होता है और जीववासनायें जीवकृत कर्मोंसे स्पष्ट होती हैं, और तैयार भी की जाती हैं. जम्हाई भगवत्कृत् कर्म है. उससे भगवान्की जगत् प्रदर्शन वासना स्पष्ट हई. मुखोल्लास होनेकेलिये भगवान्ने भी जिम्भाई पैदा की. मृत्साभक्षण आदि निमित्तसे भी जहां मुख फाड़कर विश्व प्रदर्शन कराया. वहां भी यही उल्लासरूप ऊतिलीला है. वहां दिखाकर श्रीयशोदाको उल्लास समझा भी दिया है. ऊति शिशु अवस्थामें जो जृम्भा ली है वहां भी विश्वदर्शन कराया है पर वहां श्रीयशोदाको 'सुविस्मिता' करके छोड़ दिया है. अध्यायकी समाप्ति हो गई है. किन्तु दूसरी बार दोनों समयके विस्मयका समाधान कर दिया है. ''**वैष्णवीं व्यतनोद् मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः**'' जगत् भगवान्की सन्तान है मुखमें उसका प्रदर्शन कराकर वंशका उल्लास भी दिखा दिया. भगवान् पूर्णपुरुषोत्तम चतुर्व्यूहको स्व-स्वरूपमें रख व्रज-नन्दग्राममें प्रकट हुए हैं. अतएव भगवान्की लीलाओंमें उनके भी कार्य मालूम होते रहने चाहिये और खास पुरुषोत्तमके भी. निःसाधनोंको अपना प्रेम देना यह खास पूर्णपुरुषोत्तमका कार्य है. यह कार्य अन्य शक्य नहीं. दुष्कृतविनाशका कार्य संकर्षणका है. वंशप्राकट्य प्रद्युम्नका कार्य है. धर्म आदिका कार्य अनिरुद्धका कर्त्तव्य है और निःसाधनोंको मोक्षादि फलदान करना वासुदेवका कार्य है. यहां पूर्वोक्त चार श्लोकोंमें प्रत्येकमें प्रत्येक व्यूहका कार्य कहा गया है यह प्रथम पक्ष है. और चारों श्लोकोंमें चारोंके कार्य कहे गये हैं यह द्वितीय पक्ष है. 'तोकेन' इस श्लोकमें जीवहरण, अपवर्त्त, अर्जुनोत्पाटन कार्य संकर्षणका है. और द्वितीय पक्षका व्याख्यान श्लोकमें ही कर दिया है. 'यद् वै' श्लोकमें पशु और पालों को जिवानेसे धर्मादिको रक्षाका कार्य अनिरुद्धका कहा है. 'तत्कर्म' श्लोकमें उन्नयन अर्थात् स्थिति स्थानक होकर

प्रद्युम्नका कार्य दिखाया. दावाग्निका नाश संकर्षणका, मृत्युवारण वासुदेवका धर्मरक्षा और वंश स्थापन भी उसीसे आ गया. 'गृहस्यति' श्लोकमें स्वरूपज्ञान कराना वासुदेवका कार्य है. यह प्रथम पक्ष और द्वितीय पक्षमें पुत्रबुद्धिको उत्पन्न करना प्रद्युम्नकार्य, मनकी शंका-धूजना प्रभृत्ति संकर्षणका, मुख खोल देना माताकी आज्ञा करना अनिरुद्धकार्य. इन सब लीलाओंसे आप निःसाधन व्रजको प्रेम भक्तिका दान करते हैं यह सर्वत्र श्रीपुरुषोत्तमका कार्य स्पष्ट है ही।।३०।।

आभासार्थः इस तरह उल्लास धर्मका निरूपण करके अब भ्रूका निरूपण करते हैं. 'भ्र' शब्दसे भगवदत्त फल लिया जाता है. क्योंकि भगवान्का भ्रूचलन ब्रह्मलोक है ऐसा वाक्य है. यह फल दुःखाभावपूर्वक सुखरूप है. दुःखकी परम अवधि नरकपीड़ा आदि है और सुखकी परम सीमा वैकुण्ठ प्राप्ति. ये दोनों फल श्रीकृष्णने साधनरहित गोप आदिको दिये इस विचारसे श्रीकृष्ण पूर्णब्रह्म हैं यह सिद्ध है. दोनों फलदान किये सो कहते हैं

नन्दं च मोक्ष्यति भयाद् वरुणस्य पाशाद् गोपान् बिलेषु पिहितान् मयसूनुना च ।
अह्न्यापृतं निशि शयानम् अतिश्रमेण लोके विकुण्ठमुपनेष्यति गोकुलं स्वम्।।३१

श्लोकार्थः वरुणके पाशरूप भयसे तथा सर्पसे नन्दको छुड़ा देंगे, और मयासुरके पुत्रने जिन गोपोंको बड़े गड्ढेमें कैद कर दिया था उन्हें भी श्रीकृष्णने ही छुड़ाये और यही श्रीकृष्ण भगवान् दिनमें खूब गोचारणादि करके और अतिश्रमसे थककर रात्रिको सोते हुये अपने गोकुलको वैकुण्ठ लोकमें पहुंचावेंगे।।३१।।

सर्परूप भयसे एक बार, और वरुणके पाशसे दूसरी बार, दोनों जगह श्रीकृष्णने ही नन्दगोपको बचाया. श्रीनन्दराज भगवद्धर्मोंको छोड़कर देवीके मेलेमें देवीकी पूजा करने गये. यह अन्यधर्माश्रय श्रीकृष्णको पसन्द न आया. तब वहां अकस्मात् अजगर उन्हें निगलने लगा. सब गोप बालकोंने छुड़ानेका प्रयत्न भी किया, पर कुछ हुआ नहीं. तब भगवान्ने अपने चरणको छुआकर उसकी मुक्ति की. इसी तरह भगवद्धर्मको छोडकर श्रीनन्द एकादशी व्रत सविधि करते थे. द्वादशीको पारणका समय अत्यल्प रह जानेसे रात्रिमें ही यमुनास्नान करने गये तब वरुणके दूतोंने पकड़कर उन्हें कैद कर दिया. उस समय भी श्रीकृष्णने वहां जाकर अपने पिताको छुड़ाया. इससे यह स्पष्ट होता है कि भगवदाश्रितकेलिए अन्य शास्त्रोक्त धर्म स्वधर्म नहीं है, किन्तु भगवद्धर्म ही स्वधर्म है. इसलिये श्रीकृष्ण भगवान् आत्मा(परब्रह्म) कहे जाते हैं और वे परब्रह्म हैं यह भी निर्विवाद

है. 'नन्दं च' यह 'च'कार इसलिये कहा है कि यशोदाका उद्धार करके नन्दका भी उद्धार करेंगे अथवा नन्दका ही दो बार उद्धार करेंगे, इसलिये वरुणके पाशसे जो भय प्राप्त हुआ उससे बचावेंगे. अपने अन्य आश्रित और गोपादिकी रक्षा करेंगे यह कहते हैं 'गोपान'. मयका पुत्र व्योमासुर गोपरूप धारण करके आया था और जो गोप-खेलमें मेंढा बनकर उसके दावमें आते जाते थे, उन्हें दूरकी गुफामें ले जाकर कैद कर देता और दरवाजे पर आडी शिला लगा देता था. उस गुफामें पातालमें जानेके बड़े-बड़े गड्ढे थे. अथवा बड़े-बड़े सर्पादि जन्तु ही उन्हें पातालमें ले जावें इस आशयसे 'बिल' पद दिया है. दूसरा 'च' इसलिये दिया है कि उस व्योमासुरने व्रजमें और भी कई उपद्रव किये थे उन सबसे श्रीकृष्णने व्रजवासियोंकी रक्षा की. इस तरह दुःखाभावका निरूपण करके अब परमसुखका वर्णन करते हैं : 'अह्नि आपृतम्' इत्यादि. दिनमें अपने लौकिक व्यवहारमें गुथे हुए और रात्रिमें खूब श्रमसे थककर गाढी निद्रामें मग्न रहने वाले अर्थात इस तरह दिन-रातमें अपने उद्धारकेलिए या परलोककेलिए कुछ भी साधन न करने वाले गोकुलको खास अपने वैकुण्ठमें अति समीप बनाकर ले जावेंगे. अपने पासमें ही माया जवनिका(पड़दा)को दूर कर वहींके वहीं वैकुण्ठमें ले गये. यह चरित्र न योगबलका है, न मायाका है, न कालशक्तिका है और न चिन्तामणि आदिका है किन्तु साक्षात् परब्रह्मकी ही लीला है. वैकुण्ठ पहुंचानेमें हेतु 'स्वम्' है. अर्थात् गोकुलको भगवान्ने अपना करके स्वीकार किया था. इसलिये अन्य साधनोंकी अपेक्षा ही नहीं की. वहां पूर्वार्द्धमें सद्धर्मरूपा भ्रूका निरूपण है और श्लोकके उत्तरार्धमें ऊतिरूपा भ्रूका निरूपण किया गया है।।३१।।

आभासार्थः इस तरह भ्रूका निरूपण करके अब भङ्गका उसकी चंचलताका निरूपण करते हैं:

गोपैर्मखे प्रतिहते व्रज-विप्लवाय देवेऽभिवर्षति पशून् कृपया रिरक्षुः ।
धर्तोच्छिलीन्ध्रमिव सप्त दिनानि सप्त-वर्षो महीध्रमनघैककरे सलीलम्।।३२।।

श्लोकार्थः व्रजगोपोंने जब इन्द्रके यज्ञको रोककर गिरिराजका उत्सव मनाया तब इन्द्रने व्रजके नाशकेलिये व्रज पर भयंकर वर्षा करनी प्रारम्भ कर दी. उस समय गोवत्स आदिकी कृपा कर रक्षा करनेकी इच्छा रखनेवाले ये सात वर्षके श्रीकृष्ण भगवान् सात दिन पर्यन्त खेल ही खेलमें, हे निष्पाप राजन्!, गिरिराज गोवर्धन पर्वतको अपने सर्वसमर्थ एक ही श्रीहस्तमें धारण करेंगे।।३२।।

व्याख्यार्थ: गोपोंके पूर्व सिद्ध फलका भङ्ग यहां निरूपण करते हैं. अर्थात् जीवकृत साधनोंका फल भगवद्रूप (वासनासे) अस्थिर भी हो सकता है. गोवर्धन यज्ञके पहले इन्द्रयागसे गोकुलकी रक्षा रहती थी. जब यज्ञ बन्द कर दिया गया तब गोकुल पर क्लेश पड़ा. इसलिये स्पष्ट होता है कि यज्ञादि साधनोंसे देवोंकी प्रसन्नतासे ही फल मिलता है. किन्तु यह फल नपातुला (सीमित)ही होता है. यह दिखाकर अब उसका नाश कहते हैं. व्रजके लोग अपने गोवत्सादिकी रक्षार्थ सदासे इन्द्रयाग करते थे. यह अन्याश्रय श्रीकृष्णको सह्य न हुआ. इसलिये भगवान्ने उनके द्वारा ही उस इन्द्रयागका भङ्ग करा दिया. इन्द्रयागके बन्द होने पर इन्द्र रक्षक होनेसे यज्ञके अभावमें इन्द्रने क्रोधित होकर भयंकर वर्षासे व्रजका नाश करना प्रारम्भ कर दिया.

इससे यह स्पष्ट होता है कि भगवज्ज्ञान रहित यागका फल ज्यादासे ज्यादा देवताओंकी प्रीति सम्पादन करता है. वह परम पुरमपुरुषार्थ नहीं है. किन्तु गोपोंको जब सर्वसमर्थ भगवान् श्रीकृष्णका आसरा मिल गया, तब उन्होंने इन्द्रयाग करना बन्द कर दिया. इससे यह सूचित होता है कि विशेष सामर्थ्यवान्का आश्रय मिलने पर ही शास्त्रोक्त मर्यादाका त्याग करना चाहिये अन्यथा नहीं. तब भगवान्ने कृपा की और व्रजकी रक्षा करनेवाले हुए.

सात वर्षके बालक भगवान् श्रीकृष्णने सात दिन पर्यन्त गोवर्धन पर्वतको खेलकी तरह एक हस्त पर धारण कर लिया. राजा परीक्षित, निष्पाप हैं अतएव अन्तःशुद्ध होनेसे भगवन्माहात्म्यके वर्णनमें इन्हें विश्वास हो सकता है यह दिखानेकेलिए उन्हें 'अनघ'=निष्पाप यह संबोधन दिया है. धर्ता अर्थात् धारण करेंगे. अनद्यतन भविष्यत् अर्थ होनेसे यहां 'धर्ता' रूप दिया है. सांपकी छतरीकी (इसे लकड़ीका फूल और कुकरमुत्ता भी कहते हैं जो वर्षामें पैदा होता है) तरह पर्वतको धारण किया. यह उपमा, भार थोड़ा भी न मालूम होनेकेलिये दी. बरसातमें चारों तरफ उच्छिलोन्ध(सांपकी छतरी) उग आती है. व्रजमें भी अलौकिक वर्षा हुई इसलिये उच्छिलीन्ध्र भी अलौकिक गोवर्धनको बनाया. इस तरह इन्द्रको यह दिखा दिया कि अवस्था बाल्य आदि रहने और वर्षाको रोकनेके साधन न होने पर भी मैं अपने सामर्थ्यसे सब कार्य सहज कर लेता हूं, अतएव ईश्वरेश्वर हूं. वर्षा प्रभृति जितने कार्य होते हैं वे भी सब मेरी प्रेरणासे होते थे, इन्द्रादि तुम देव तो निमित्त मात्र होनेसे वृथा ही अभिमान रखते हो, यह बात सूचित करते

हैं कि 'सप्त दिनानि'. यज्ञको सप्ततन्तु भी कहते हैं. सप्ततन्तु यज्ञका बाध किया इसलिए सप्त दिन पर्यन्त व्रजको दुःख दिया. जहां धर्मका बाध किया जाता है वहां सात दिनका निर्देश आता है. जिस समय निवर्त्य(हट जानेवाला) दुःख होता है वह सप्त दिन पर्यन्त रहकर आगे निवृत हो जाता है. किन्तु अनिवर्त्य(न टलने वाला) दुःख सातवें दिन ही होता है. सप्त दिन पर्यन्तके दुःखको दूर करनेकेलिए श्रीकृष्णके वयमें सप्त वर्ष कहते हैं. 'स्वयमपि' भगवान् श्रीकृष्ण भी उस समय सात वर्षके थे. भगवान्का परिच्छेदक काल नहीं हो सकता, किन्तु कालकी मर्यादाका अतिक्रम करना है, अतएव भगवान्ने ही स्वयं कालके अवयवोंको स्वीकार किया. छः ऋतु और सातवां काल इन सबका अतिक्रम किया. सप्त टुकड़ोंमें बटा हुआ यह काल कुछ भी नहीं कर सका. अतएव सप्ततन्तु यागका भङ्ग हुआ और फल भी विरुद्ध ही मिला. प्रमाणमर्यादा सप्ताधीन है. छः वेदाङ्ग और सप्तम वेद. इस सप्तात्मक वेदरूप प्रमाणसे मर्यादाका निर्माण होता है. यह कालात्मक भगवान्(संकर्षण) 'संवत्सर' नामक प्रजापति है. यही साङ्ग वेदका प्रवर्तक है. अतएव भगवान्ने अपनी पुरुषोत्तमता प्रकट करनेकेलिए ही दोनोंका अतिक्रम किया. पहले वेद मर्यादाका अतिक्रम किया फिर सप्तात्मक कालका अतिक्रम किया. पहले इन्द्रयागका भङ्ग कराया और फिर इन्द्रने रोषकर वर्षा की तो सात दिन पर्यन्त गोवर्धन धारण करके व्रजकी रक्षा कर ली, इन्द्रका मान भङ्ग किया. सप्त धर्मोंका स्वीकार ही सप्तवर्षकी वय है. प्रस्तुत प्रसंगमें यह भङ्गरूप धर्म भी सातवां है. अदीन, लीला, हसित, ईक्षण, उल्लसत्, भ्रू और भङ्ग. पुरुषोत्तमावस्थामें ये सात धर्मोंका वेष्टन स्वीकार है. और संकर्षणावस्थामें पूर्वोक्त. यही सात वर्षकी वय है.

'एक करे' एक हाथपर कहनेका तात्पर्य यह है कि एक प्रकारकी क्रिया शक्तिका ही उपयोग किया. भगवान्के श्रीहस्त क्रिया शक्ति हैं. वाम-दक्षिण भेदसे क्रियाशक्ति दो प्रकारकी है. वाम क्रियाशक्ति केवल प्रमेयोपयोगिनी है और दक्षिण क्रियाशक्ति प्रमाणानुरोधि प्रमेयोपयोगिनी है. क्रियाशक्तिका उपयोग भगवान् यदि सर्वथा न करते तब तो केवल इच्छा मात्रसे ही गोवर्धनको सात दिन तक ऊपरका ऊपर ठहराया रखते किन्तु 'एक करे' कहनेसे मालूम होता है कि क्रियाशक्तिका उपयोग करना उन्हें इच्छित है, इसलिये प्रमेयोपयोगिनी एक ही क्रियाका उपयोग किया. यह भी गोपबालकोंको दिखानेकेलिए. प्रमाण बलकी

तुलनामें स्वरूप(प्रमेय)बल बलवान् है, अतएव क्रियाशक्तिका उपयोग नहीं करना चाहिये था किन्तु 'तैरयं साध्यतां मखः' ''हे पिता नन्दरायजी! आपने जो पदार्थ इन्द्रयागकेलिए तैयार किये हैं उन्हींसे गोवर्धनयाग कर लीजिये'' ऐसा श्रीमुखसे कहा है. गिरिराजधारणमें एक श्रीहस्तका ही उपयोग किया है. वास्तवमें जो याग किया गया वह प्रमाणानुरोधि नही था अतएव उससे व्रजकी रक्षा असम्भव थी, भगवान्ने ही उसे इस तरह कराया था और अपनी इच्छासे ही गोवर्धनको ठहरा लिया. तथापि मर्यादावालोंकी दृष्टिमें शास्त्रकी रक्षा बनी रहे इसलिए एक श्रीहस्तको पर्वतके नीचे छुआ रखा, जिससे मर्यादावालोंको भी संतोष बना रहे. यद्यपि व्रजवासियोंको वर्षाकृत(कालकृत) दुःख न होने पाया, तथापि सात दिन तक एक जगह रुके रहना और उपवास करना आदि दुःख तो अवश्य होंगे यों समझकर भगवान्ने खेल किया. वंशीवादन खेलसे किसीको भी उन दुःखोंका अनुभव न होने पाया. 'सलीलम्'. वंशमें आत्माका भङ्ग होता है. पुरुषोत्तम दृष्टिसे यह भङ्ग, ईशानुकथारूप है. तीन-तीन त्रिक उत्पत्ति, स्थिति-लयात्मक है, यह पूर्वमें निरूपण कर चुके हैं. ईशानुकथा प्रलयात्मक है, अतएव यह भङ्गरूप हो सो ठीक ही है. बंसीमें सात छिद्र होते हैं. उनमें भगवान् स्वकीय अधरामृतका पूरण करते हैं. वेणु वादनका श्रवण गोवत्सादि व्रजवासीजन करते रहे, अतएव अमृतपानके द्वारा उनके पंचप्राणकी रक्षा और अभ्युदयकी प्राप्ति हुई. ऐहिक और पारलौकिक अभ्युदय और पांच प्राणरक्षणों इस प्रकार सप्त फलोंकी प्राप्ति सप्तछिद्रपूर्ण अधरामृतके दानसे हुई. वेणुवादन लीला करते रहनेसे ही व्रजवासियोंको निरोध और उपवासादिका दुःख न होने पाया यह भी स्पष्ट होता है. यहां अदीनत्वादि धर्म आधिदैविक सर्गादिरूप हैं।।३२।।

आभासार्थः इस तरह भङ्गरूप भगवद्धर्मका निरूपण करके अब संसूचनको कहते हैं

क्रीडन् वने निशि निशाकर-रश्मिगौर्यां रासोत्सुकः कलपदायत-मूर्च्छितेन ।
उद्दीपित-स्मररुजां व्रजभृद्-वधूनां हर्त्तुर्हरिष्यति शिरो धनदानुजस्य ।।३३।।

श्लोकार्थः वृंदावनमें चन्द्रकिरणोंसे प्रकाशमान रात्रिके समय श्रीकृष्ण भगवान् शृंगाररसमें संमग्न होकर रासक्रीड़ा करते हुए अपने मधुरतम गानकी तानोंसे जिनका कामदेव बढ़ाया गया है ऐसी व्रजकी श्रेष्ठ गोपांगनाओंको चोरकर ले जाने वाले कुबेरके अनुजके मस्तिष्कको काट लेंगे।।३३।।

व्याख्यार्थ: भगवान्ने स्वरूपका फल प्राप्त करानेकेलिए यह संसूचन किया. भगवान्के स्वरूपकी प्राप्ति होना ही भक्ति मार्गमें मुख्य फल है. यह दो तरहसे प्राप्त होता है: सहयोग और एकता. सहयोग कहो चाहे संयोग, दोनोंका एक ही तात्पर्य है. मर्यादामें जीव भगवान् में क्रमसे मुक्त होता-होता अन्तमें मिल जाता है. ''**आनन्दम् आनन्दमयो अवसाने**'' किन्तु अनुग्रहमार्गमें कोई नियम नहीं है, भगवान् स्वतन्त्र हैं. उनकी जिस प्रकारसे इच्छा होती है उसी प्रकारसे जीवको अपना सहयोग देते हैं. मर्यादामार्गमें स्वरूपात्मक फलकी प्राप्ति आनन्दमय होकर होती है और पुष्टिमार्गमें भी भगवान् अपने स्वरूपानन्दका दान जीवको आनन्दमय बनाकर करते हैं. केवल भेद इतना है कि मर्यादामें जीवके अन्यांश मुक्त होते-होते शुद्धचैतन्य मात्र रह जाता है, तब उसको भगवान् आनन्दमय बनाकर स्वरूप कर लेते हैं. पुष्टिमार्गका प्रकार किन्तु भिन्न है. ''**इहैव समवनीयन्ते प्राणा:**'' श्रुतिके अनुसार प्रभु जीवके देहमें, इन्द्रियोंमें, अन्तःकरणमें और स्वरूपमें प्रत्यक्ष ही आनन्दका प्रवेश कराकर आनन्दस्वरूप फलका दान करते हैं. अतएव भक्त इस फलको उत्तम मानते हैं, और चाहते हैं. श्रीगोपीजनों को भी स्वरूपात्मक फलका दान किया है. यह रासक्रीड़ा ही उस स्वरूपात्मक फलदानकी सम्यक् सूचना (संसूचन) है.

इस सूचनामें सम्यकत्व उत्तमत्व अनिष्ट निवृत्ति है. लौकिकानन्द सम्यक् नहीं है. वह दुःख मिश्रित है. अपत्य-गार्हस्थ्यादि, रोगादि अनेक अनिष्टोंसे वह फल घिरा रहता है. किंतु यह भगवत्क्रीडा अनिष्टोंको दूर करने वाली है. अतएव इसे 'संसूचन' कहा गया है. अनिष्टपरिहार पूर्वक इष्ट(स्वरूपानन्द) प्राप्तिका दृष्टांत श्रीगोपीजन हैं. निःसाधन भक्तिमार्गमें इनको ही पूर्णपुरुषोत्तमकी प्राप्ति हुई. गोपीजन सम्बन्धी चरित्र ही निःसाधन भक्तिमार्गमें स्वरूपात्मक फलकी सूचना देनेवाला है. भगवत्स्वरूपका भोग ही सर्वोत्तम फल है. वह अनवतीर्ण पुरुषोत्तमका भी हो सकता है किन्तु उसकी सूचना लोकमें न हुई और न होना सम्भव ही है. किन्तु श्रीगोपीजनोंने जो भगवान् पुरुषोत्तमके स्वरूपका साक्षात् उपभोग किया यह सब लोगोंको विदित हुआ इसलिये यह सम्यक् सूचन, संसूचन है.

भगवान्ने यह क्रीडा वृन्दावनमें रात्रिमें की. वनमें लौकिक क्रियाओंकी निवृत्ति हो जाती है, गृहोपस्करादिके न होनेसे. और रात्रिमें वैदिक क्रियाओंकी निवृत्ति हो जाती है, निषेध होनेसे. इस तरह लौकिक और वैदिक दोनों तरहके

विक्षेप–बाधायें नहीं रहतीं हैं तब जीवके साथ भगवान् क्रीड़ा करते हैं. 'वृन्दावने निशि' दोनों पद पास–पास कहनेसे यह तात्पर्य है कि लोक–वेदकी निवृत्ति मात्र होने पर ही श्रीपुरुषोत्तमस्वरूपका उपभोग मिल सकता है. रात्रिमें सर्वनिवृत्ति हो जाती है. लौकिक–वैदिक सर्वकी निवृत्ति करा देनेवाली भगवत् शक्ति है. भक्ति कुमुदिनीको खिलाने वाला निशाकर चन्द्रमा है. भगवान्का मन ही चन्द्रमा है. उसे यहां 'निशाकर' पदसे कहा है 'निशाकररश्मिमौर्यां' भगवन्मनकी रश्मि–किरणें मनकी विविध इच्छायें हैं. उससे वह रात्रि रंगी हुई थी. इसीलिये उसने सबकी निवृत्ति कर दी और भक्तिके अधिष्ठाता चन्द्रदेवने लौकिक–वैदिक आसक्तियोंकी निवृत्ति कर दी और प्रेमका रंग भर दिया. अतएव चन्द्रमाको यहां 'निशाकर' कहा. भक्तिरंगसे रंगी हुई सर्व निवृत्ति ही भगवत्क्रीड़ाका कारण हो सकती है. सबका तात्पर्य यह है कि जब भगवान् जीवके साथ रमण करना चाहते हैं तब निशाकर मनको आज्ञा करते हैं. उस समय विविधोपभोग सामग्रियोंकी इच्छायें होती हैं. उनसे ही सब सामग्रियां इकट्ठी हो जाती हैं. तब जीवको भक्तिका फल पुरुषोत्तमके स्वरूपका भोग (अनुभव) मिलता है. यह प्रमेयका ही बल है प्रमाणका नहीं. फलका ही बल है, साधनोंका नहीं. भगवान्का ही सामर्थ्य है जीवका नहीं.

अतएव भगवान् रासोत्सुक हुए. रासने भगवान्को क्रीड़ा करनेका उत्साह दिलाया. 'रासे अत्र उत्सुकः रासोत्सुकः'. जिससे अन्यका सम्बन्ध न हो ऐसे केवल रससे पूर्ण पदार्थको 'रास' कहते हैं. उसके साध्य साधनोंका जब भगवान् उपभोग करते हैं तब रास होता है. इससे यह सिद्ध होता है कि अपनी प्यारी बहुतसी स्त्रियोंका मिलकर नृत्य विशेष यही रास है. अथवा उन स्त्रियोंमें भोग ही रास है. भगवान् केवल शृंगाररसमें मग्न हुए. जैसे भगवान् भक्तोंके गुण और सौन्दर्य के वश हो जाते हैं इसी तरह केवल शृंगार रसके परवश हो गये. शृंगाररस भी भगवान्का ही स्वरूप है. इसका यह तात्पर्य हुआ कि भगवान् अपने स्वरूपके ही परवश हुए. उस समय आप तो रसाभिनिविष्ट रससे पूर्ण थे किन्तु गोपस्त्रियोंमें भी पूर्ण रसका आविर्भाव करानेकेलिए सुन्दर कण्ठसे मीठे स्वरोंकी गतियोंसे उन्होंने अनेक तरह की(मूर्च्छना) तान प्रतान की. स्वरोंकी आरोहीको ही (मूर्च्छना) तान–प्रतान कहते हैं.

ये मूर्च्छनायें अन्य जातीय स्त्री–पुरुषोंके हृदयमें रसको भरनेकेलिए विवर (अवकाश) करती हैं. अब यदि ये जीव लौकिक कामके अधिकारी हों तो उस

विवरमें भगवत्सम्बन्ध न होनेसे भगवद्रसकी पूर्ति नहीं होती. तब उस विवरको पूर्ण करनेकेलिए भगवत्स्मरणात्मक 'स्मर'=कामका प्रवेश हो जाता है. स्मरणकेलिए विषयकी अपेक्षा होती है किन्तु जहां भगवान्रूप विषय होता नहीं, वहीं 'स्मर' रोगरूपमें परिणित हो जाता है, जैसे भूख. भूखेको भरनेकेलिए यदि अन्नादि विषय मिल जायें तब तो देहादि धारण करनेवाली हो जाती है किन्तु यदि उसे उसका विषय न मिले तो वह भूख रोग हो जाती है. इसी तरह रसानुभव कराने वाले सब ही भाव यदि अपने-अपने विषयोंको न पा सके तो वे रोग हो जाते हैं. ऐसे रोगोंसे देहादिके नाशकी सम्भावना रहती है.

कितनी ही गोपियोंमें लौकिक काम था. वे भगवान् श्रीकृष्णको लौकिक नायकवत् चाहती थीं. भगवान् उनके कामको अकाम करना चाहते थे. इसलिये उनके हृदयमें अलौकिक रस था. आनन्दका प्रवेश कराना चाहते थे. अलौकिक आनन्दमात्र होनेसे अकाम है. किन्तु कतिपय गोपियां कामाधिकारिणी थीं अतएव भगवान्रूप विषय आनन्द वहां भरा नहीं गया. तब वह स्मरणात्मक काम भी रोग हो गया. अतएव भगवद्विरहमें बहुत सी गोपियोंके देह मृत्युको प्राप्त हो गये. यह बात ''धारनयति कृच्छ्रेण'' भ्रमरगीतके प्रारम्भमें प्रभुने श्रीमुखसे कही है. वहां यह भी सूचित होता है कि कितनी गोपिकायें मर भी गईं. अलौकिकानन्द प्राप्तिमें यह बात नहीं होती. वहां निर्वाण सुखकी प्राप्ति होती है, किन्तु मरण नहीं होता. इससे यह भी स्पष्ट होता है कि इन गोपिकाओंको मुख्य (निर्गुणताका) अधिकार नहीं है. इनका उद्धार पुष्टिमार्गसे हुआ है.

अतएव नित्यसिद्धा प्रभृति गोपकिशोरियों केलिए लिखा है कि 'विशोका अहनी निन्युः' श्रीकृष्णके मथुरा पधार जाने पर गोपकिशोरियां सुखसे दिन-रात निकालने लगीं. यह अवस्था अलौकिक कामवालियोंकी है, लौकिक कामवालियोंकी नहीं. लौकिक काममें अनेक विघ्न बाधायें आती हैं, अलौकिकमें नहीं.

कुबेरका छोटा भाई शंखचूड़ था. यह लौकिक कामका अधिष्ठाता देवता है. धनद(कुबेर) अर्थका अधिष्ठाता देवता है. उसका अनुज शंखचूड़ कामाधिष्ठाता देवता. कामका साधन अर्थ है अतएव पहले अर्थकी अपेक्षा होती है तदनन्तर कामकी सिद्धि होती है. इसलिये शंखचूड़को कुबेरका छोटा भाई कहा. जहां लौकिक काम होता है वहां भगवत्सम्बन्धका प्रतिबन्ध आ खडा होता

है. शंखचूड़ने भगवान्‌के सम्बन्धका प्रतिबन्ध किया. एकादशस्कंधमें जहां भगवद्धर्मोंका निरूपण किया है वहां भगवद्विषयक लौकिक कामकी गणना नहीं की है. यदि यह अलौकिक काम होता है तो प्रतिबन्ध उपस्थित न होता. ये गोपियां लौकिक कामवाली थी. अतएव लौकिक कामका अधिष्ठाता देवता शंखचूड़ भगवत्सम्बन्धमें विघ्नरूप उपस्थित हुआ.

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि कैसा भी काम हो किन्तु जब वह भगवद्विषयक है तब विघ्न क्यों उपस्थित हुआ? और वह काम रोगरूप क्यों हुआ? उनका देहनाश भी क्यों हुआ? ठीक है, यह आशंका हो सकती है. किन्तु यह प्रमाणमार्गकी बात है. प्रमेयमार्गमें तो भगवान् स्वयं कामलीलामें इच्छासे प्रवृत्त हुए हैं. अतएव विघ्न आते रहते भी कोई हानि नहीं हो सकती. प्रत्युत उस विघ्नका ही भगवान्‌ने नाश कर दिया है. सो कहते हैं: 'हर्तुर्हरिष्यति शिरः'. व्रजस्त्रियोंका हरण करने वाले कुबेरानुजके सिरको काट देंगे.

विषयोंमें फंसे हुए जीवोंको ही सत्त्वादि गुण लौकिक कामरूप रोग होता है और विघ्न भी उपस्थित होता है. किन्तु गुणत्रयसे अतीत भगवान् पुरुषोत्तममें आसक्त पुरुषोंके प्रतिबन्धोंको भगवान् स्वयं दूर कर देते हैं.

'कलपदायतमूर्च्छितेन'. अव्यक्त मधुर अर्थात् जिनका परमानन्द गूढ़ रहा हो उन स्वरोंको 'कल' कहते हैं. गानेके पदोंमें ये स्वर रहते हैं. इन स्वरोंकी बहुत देर तककी जो आरोह-अवरोह अवस्थाको आयतमूर्च्छना कहते हैं. वह सुननेवाले सबके हृदयोंमें प्रवेश कर गई थी, इसलिये मूर्च्छनाओंको आयत कहा. आरोही अवरोहीको मूर्च्छना क्यों कहा, इसका उत्तर देते हैं कि अन्य रस और अविवेक आदिका हृदयमें प्रवेश न हो पावे इसलिए. जैसे उद्दीपित अग्नि जला देता है उस तरह गोपिका भी उद्दीपित होकर स्मरसे जल गई जैसी हो गई. इसलिये वह स्मररोग कहा गया. गोपियोंको 'व्रजभृद्वधूनां' कहनेका यह तात्पर्य है कि उनके पति व्रजका ही पालन करते थे, वे गोपिकाओंके रक्षक नहीं थे. गोपियोंके पतित्व विषयमें तो गोपोंका अभिमान मात्र था. गोपियोंमें भी जो वधु थीं उनमें स्त्रीपना अतिशय था, वे अपने प्रतिबन्धको दूर नहीं कर सकती थीं, अप्रौढा थीं. अतएव शंखचूड़ उनका हरण कर सका. इस तरह भगवान् श्रीकृष्ण परब्रह्मने श्रीगोपीजनोंका मुख्य अधिकार नहीं था तथापि पुरुषोत्तमस्वरूपका उपभोगरूप अधिकार उन्हें दिया. यह बात इस गोपिका सम्बन्धी चरित्रसे जानी जाती है.

इसलिये इसे 'संसूचन' कहा.

सर्वात्मभावको मुख्य अधिकार कहते हैं. अन्तः और बाहिर सर्वत्र परब्रह्म पुरुषोत्तमका साक्षात्कार सर्वदा रहे उसे मुख्य अधिकार कहते हैं मर्यादा में. पुष्टिमार्गमें तो मुख्य अथवा गौण किसी भी अधिकारकी गणना ही नहीं है. क्योंकि वहां साधनोंसे फलप्राप्ति नहीं होती. अतएव कहते हैं कि गोपियोंको स्वरूपफल प्राप्त करनेका दान दिया. इतना ही नहीं किन्तु सारे दशमस्कंधमें अविहित भक्तिका ही भिन्न-भिन्न प्रकारोंसे निरूपण किया है. अतएव स्वरूपफल प्राप्तिका किसीका भी मुख्य अधिकार नहीं है, तो काम-क्रोध-लोभादि भावोंके होनेसे स्वरूपोपभोगमें प्रतिबन्ध आने उचित नहीं हैं, तथापि यदि भगवान् पुरुषोत्तममें इस प्रकारका दृढ़भाव रहे तो भगवान् पुष्टिस्थ होनेसे उनके सब प्रतिबन्धोंको दूर करके स्वरूपात्मक फलका दान करते ही हैं. यह संसूचन समग्र स्कंधमें है।।३३।।

आभासार्थः इस तरह 'संसूचन' धर्मका निरूपण करके अब भूरिभावका किंवा भूर्यनुग्रह धर्मका निरूपण करते हैं. अथवा ''ये च'' (भाग.२।७।३४) इस प्रथम श्लोकमें प्राप्ति क्रिया और क्रियाका कर्म दोनों नहीं हैं इसलिये 'भूरित्व' और 'अनुग्रह' दोनों धर्मोंका सम्मेलन करके दो श्लोकोंमें निरूपण करते है:

ये च प्रलम्ब-खर-दर्दुर-केश्यरिष्ट-मल्लेभकंस-यवनाः कुज-पौण्ड्रकाद्याः।
अन्ये च शाल्व-कपि-बल्वल-दन्तवक्त्र-
सप्तोक्ष-शम्बर-विदूरथ-रुक्मिमुख्याः ।।३४।।

श्लोकार्थः प्रलम्बासुर, खर, दर्दुरासुर, केशी, अरिष्टासुर, मल्ल, कुवलया पीड हाथी, कंस, यवन, नरकासुर, मिथ्या वासुदेव और काशीराज आदि असुर. और भी शाल्व, द्विविद बंदर, बल्वल दन्तवक्रका भाई और रुक्मि आदि असुर, और भी जो काम्बोज देशाधिपति, मत्स्य देशाधिपति, कुरु, कैकय देशवासी सृंजय और दशार्ण देशवासी असुर जो युद्ध करनेमें चतुर और धनुषादि शस्त्र लेकर आये उन सबको स्वयं श्रीकृष्णने और कितनोंको बलदाऊजी, अर्जुन और भीमसेन आदि छलनाम धारण करने वाले भगवान्ने ही विनष्ट किया, (मृत्युको पहुंचाया) और फिर अपने वैकुण्ठलोकमें पहुंचाया।।३४।।

व्याख्यार्थः दोनों श्लोकोंमें जिनके नाम गिनाये हैं उन सब दैत्य और

दैत्योंके अंश राजा लोगोंको भगवान्ने मारे और अपने लोक वैकुण्ठमें पहुंचाये. (भूरित्वका ही नामांतर मुक्ति है. व्यापक अप्रकट पुरुषोत्तम परब्रह्मके धर्मको 'मुक्ति' कहते हैं. एक देशमें प्रकट परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके उसी धर्मको 'भूरित्व' नाम दिया है. बहुता–व्यापकता धर्मको ही भूरित्व कहना उचित है. यह व्यापकता जीवधर्म नहीं है किन्तु परब्रह्म अक्षरका स्वतन्त्र धर्म है. यह अक्षरब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमका एक चरण है यह आगेके 'शश्नत' आदि श्लोकोंमें कहेंगे. यह भी व्यापक है, अनन्त है. जिस समय जीवको ब्रह्मप्राप्ति होती है उस समय उसे उसके अन्य रूपोंका त्याग कराकर ब्रह्मस्वरूप धर्मोंकी प्राप्ति होती है. यही मुक्ति कही जाती है. संसारावस्थामें किंवा प्रकृतिस्वरूप अवस्थामें जो धर्म जीवमें दीखते हैं और जिन्हें हम जीवके जानते हैं और कहते भी हैं वास्तवमें वे जीवके नहीं हैं वे भी सब परब्रह्मके ही धर्म हैं. किन्तु 'नामानि रूपाणि विचिन्त्य' आदि श्रुतियोंके अनुसार परब्रह्म ही अपने रूप, धर्म और नामों को छांट–छांटकर पृथक् कर संसारावस्थामें प्रकाशित होता है. इतना ही नहीं जगत्–जगत्का स्वरूप या धर्म किंवा नाम कुछ भी परब्रह्मसे पृथक् स्वतन्त्र कुछ है ही नहीं. ये सब कुछ विद्यमान जगत् इसका स्वरूप और इसके धर्मादि सब परब्रह्म ही है. ''**जगत् क्रीडति यो यतः**'' ये सब सिद्धांत आगे श्रुतिस्तुतिमें स्पष्ट करेंगे.

व्यापकत्वकी प्राप्ति भूरित्व है. यह आश्रयकी पहली अवस्था है और 'यत् प्रयन्ति' श्रुतिका अर्थ है. अभिसंवेश आश्रय है. इसे ही अनुग्रह कहते हैं. ईक्षणरूप अनुग्रह और आश्रयरूप अनुग्रह पृथक् है. यह उद्देश्य लक्षणाध्यायमें कहेंगे. वैकुण्ठमें जो पहुंचते हैं वे सब अक्षरब्रह्ममें पहुंचते हैं. एक अक्षरके दो रूप हैं: एक अक्षर प्रकृत्यात्मक और दूसरा अक्षर पुरुषात्मक. यह बात ''**द्विधा समभवत् बृहत्**'' समाधि भाषासे स्पष्ट है. अक्षर, परब्रह्म आदि शब्द पुरुषोत्तम और अक्षर दोनोंकेलिए वेदमें आते हैं. पुरुषोत्तमका चरण अक्षर है यह ठीक है किन्तु अक्षर और पुरुषोत्तम दोनों भिन्न पदार्थ हैं यह अपसिद्धांत है. इसका विशेष विवेचन हम अपने 'अक्षरब्रह्म' ग्रंथमें कर चुके हैं.

प्रकृति संमिश्र अक्षरब्रह्म भूरित्व है और शुद्ध किंवा केवल अक्षरब्रह्म अनुग्रह है. पूर्वोक्त दोनों श्लोकोंमें श्रीपुरुषोत्तमके दोनों धर्मको मिलाकर कहा जाता है. अव्यक्ता प्रकृतिमें जीवोंकी स्थिति होती है यह भूरित्व है. मुक्ति है. वहां भी आनन्दका भोग अक्षरांक्ष रहता ही है किन्तु अव्यक्त. उस स्थितिकी ही एक नकल यहां गाढ़ सुषुप्ति है. संघातके समूल नाश हो जानेसे करूणाभावसे आनन्दानुभव प्रत्यक्ष नहीं होने पाता, पर स्वरूपावस्थान तो होता ही है. इसी तरह केवल अक्षरब्रह्ममें जिनकी स्थिति होती है, उनका भी संघात लीन हो जाता है. उन्हें भी अपने पूर्वरूपका स्मरणादि नहीं

होता, तथापि स्वरूपावस्थान सुब्रह्मात्मता तो हो ही जाती है. किन्तु दोनोंमें इतना फरक तो रहता है. वासना सहित माया-अविद्याका नाश किन्तु शुद्ध अक्षरैक्य न होनेसे नानात्व (स्वगत) जब विद्यमान रहता है तब उसे भूरित्व कहते हैं और जो अनुगृहीत हैं अर्थात् भूरित्वके अनु-अनन्तर जिनको आधेयरूपसे ग्रहण किया है उनको अक्षर ब्रह्मसे अभेद-ऐक्य हो जानेसे आश्रयरूप फल मिलता है. इसका विशेष विवेचन 'अनुग्रहमार्ग' ग्रंथमें पढिए. इन सब बातोंको हृदयमें रखकर श्रीमदाचायचरण सुबोधिनीमें आज्ञा करते हैं 'एते सर्वे'से प्रारम्भ कर 'प्रकृतौ लीना: पर्यन्त') दैत्य और दैत्यांशवाले क्षत्रिय राजा जिन्हें श्रीकृष्णने अपने श्रीहस्तसे मारा वे सब भगवद्धाम वैकुण्ठ गये और प्रलम्ब-खर आदि आसुर जिन्हें बलदाऊजीने मारा, वे भी भगवन्मुखारविन्दका दर्शन करते हुए मरे, इसलिये भगवदावेशी अर्जुनके अस्त्रोंसे पवित्र होते हुए धर्मयुद्धमें मरे. भीष्मादिक भी वैकुण्ठ ही गये. और जो इनसे अन्य थे अर्थात् जिनका स्वरूप कुछ ओर प्रकारका था वे शाल्व कपि बल्वल आदि असुर, अदर्शनको प्राप्त हुए. प्रकृतिमें लीन हो गये. (यह प्रकृति अव्यक्त है. यह भी अक्षरका ही अशांतर है. वेदमें इसे ही तमस् शब्दसे भी कहा है. इस व्यापक प्रकृतिमें और संसारकी गुणत्रयमयी प्रकृतिमें बहुत भेद है.)

किन्तु इस पक्षमें श्लोकोंके क्रमका विरोध आता है प्रथम श्लोकमें आसुर और आसुरावेशी लोग कहे गये हैं उनका भगवल्लोकमें पहुंचना आता है, और दूसरे श्लोकमें जिन्हें आसुरोंका अभिमान मात्र है. वास्तवमें आसुर नहीं हैं वो गिनाये हैं. उनका प्रकृतिमें लीन होना आता है. इसलिये दूसरा पक्ष कहते हैं 'अथवा प्रथम' इत्यादि.

अर्थात् प्रथम श्लोकमें जो कहे गए प्रलम्बादि और शासक कपि आदि वे सब भूरित्वको ही प्राप्त हुए, प्रकृतिमें ही पहुंचे. (शुद्ध अक्षरमें नहीं. यह व्यापक है अतएव 'भूरि' कहा है. यद्यपि ये लोग शुद्धचेतन होने पर भी स्वगत भिन्न-भिन्न थे तथापि यह प्रकृति तमोमयी होनेसे तमके(अज्ञानके) अभिनिवेशसे उन्हें अपने भेदका भान भी न होने पाया, इस तरह उसमें लयको प्राप्त हुये. 'आकाशवद् भयान्' यहां आकाशादि पदार्थोंको भी व्यापक कहा है. इसलिये प्रकृतिको भी व्यापक मानकर 'भूरि' कहा. आकाश आदि पदार्थ जैसे अल्पज्ञ मनुष्योंकी दृष्टिमें व्यापक दीखते हैं. अव्यक्त प्रकृति भी आपाततः व्यापक प्रतीत होती है. वास्तवमें वह भी परिच्छिन्न है. तथापि पूर्वोक्त श्रुतिमें उसे आपात दृष्टिसे ही पंचमहाभूतोंकी तरह व्यापक कहा है.)

अब दूसरे श्लोकोंमें जिनका निरूपण है, वे सब काम्बोज मत्स्य आदि

भगवान्को प्रात हुवे. यद्यपि इस पक्षमें श्लोकोंके क्रमकी रक्षा होती है, तथापि उन-उन स्थलोंमें कहे गये 'यत एतद्विमुच्यते' 'तदेव रूपं दुखापमाप' इत्यादि बहुतसे वचनोंका विरोध आता है. इसकी अपेक्षा तो क्रमका विरोध आवे यह सत्य है, यों मानकर फिर पहले कहे पक्षका ही समर्थन करते हैं 'अथवा उभये' इत्यादि. सबोंको मिलाकर दो प्रकारके ही जीव मानने उचित हैं: १.आवेशी और २.अभिमानी. प्रथम श्लोकोक्त किंवा द्वितीय श्लोकोक्त कोई भी हो, उन सबमेंसे प्रलम्बादि और शाल्व आदि दोनों आसुरावेशी प्रकृतिमें लीन हुए 'अदर्शनं यास्यन्ति'. और जो काम्बोज आदि 'आसुराभिमानी यास्यन्ति' क्रियाका अर्थवशसे अवृत्ति कर लेनी चाहिये. धेनुकासुरको खर कहा है दर्दुशासुर एक दूसरा ही था. जैसे बकासुर वैसे ही वह भी था. अथवा जलमें रहनेसे बकको ही दर्दुर कहा है. कितने ही 'बकदर्दुर' ऐसा पाठ मान कर दर्दुर शब्दसे अघासुरको भी गिनते हैं. अरिष्ट=वृषभासुर. चाणूरादि मल्ल पहलवान. कुवलयापीड़ हाथी. यवन कालयवन. यदि 'यवना' ऐसा पाठ माने तो फिर मुचकुंदकी मुक्ति करके वापिस आने पर मथुरामें जिन यवनोंको मारा वे लेने चाहिये. भौम नरकासुर. पौण्ड्रक मिथ्या वासुदेव. आदि शब्दसे काशीका राजा. ये सब किसी देवके वशसे पुष्ट नहीं थे, किन्तु इनका स्वभाव ही आसुर था अतएव वे स्वभावसे ही मारे गये किन्तु शाल्व आदि तो देवताओंका वरदान लिये हुए थे, इसलिए उन्हें 'अन्य' कहा. कपि=द्विविद. यह श्रीरामका भक्त था और भक्तोंका सङ्गी भी था, तथापि द्वापरमें दुष्टोंका सङ्ग हो जानेसे मारा गया. शम्बरासुर तो सैकड़ों माया जानता था. इसी समय बल्बलको भी मारा. यह वरदानसे सिद्ध बनकर ऋषियोंके यज्ञोंमें विघ्न करता था. ऋषि इससे घबरा गये थे इसलिये मारा. सात सांढ़ भी, बैलोंमें घुसकर बैठे असुर ही थे. वे भगवान्के स्पर्शसे मारे गए. अतएव उनकेलिये भगवान्ने भी सात रूप धारण किये. जैसे त्रिपुरासुर एक ही वारमें मर सकता था अन्यथा नहीं इस तरह ये सांढ भी एक ही समयमें मर सकते थे अन्यथा नहीं. अथवा ये बलीवर्द भिन्न ही थे. विदूरथ दन्तवक्रका भाई. रुक्मी भगवान्का साला. और भी विन्दानुविन्द आदि भगवान्के साथ युद्धमें दाऊजी और भगवत्पुत्रोंके हाथसे मारे गये. वे सब अपनी कक्षाके अनुसार गतिको प्राप्त हुए।।३४।।

आभासार्थ: अब यहां एक विचार होता है कि पूर्वोक्त असुरोंके दो पक्ष

मानने पर भी बात तो एक समान सी ही आती है फिर उसमें विशेष क्या है? इसका तात्पर्य यह है कि जैसे अब इसके आगे युद्धमें भगवान्के रथ हांकते रहनेसे जिनकी मृत्यु और किसी निमित्तसे भी हुई वे भी भगवल्लोकको गये. सो कहते हैं:

ये वा मृधे समितिशालिन आत्तचापाः काम्बोज–मत्स्य–कुरु–कैकय–सृञ्जयार्णाः।
यास्यन्त्यदर्शनमलं बल–पार्थ–भीम–व्याजाह्वयेन हरिणा निलयं तदीयम्।।३५।

श्लोकार्थः और जो युद्धमें पराक्रम बतानेवाले और धनुष धारण किये हुए कम्बोज, मत्स्य, कुरु, कैकय, पंचाल आदि देशोंके क्षत्रिय वीर पहले अदृश्य रहे परन्तु बलराम, अर्जुन और भीमके बहाने मात्रसे भगवान्ने उनको अपने गृहमें भेज देंगे।।३५।।

व्याख्यार्थः ये असुर तो भगवान्के साथ ही युद्ध कर रहे थे, और उनको भगवान्से द्वेष नहीं था अतएव उनकी मुक्ति होना तो योग्य ही है. किन्तु कितने ही ऐसे थे जिनकी किसी अन्य कारणसे ही मृत्यु हुई. इसे दिखानेकेलिए 'इव' शब्द दिया है. अर्थात् साधनदृष्टिसे ये कुछ हलके हैं. यह 'वा'का अनादर अर्थ है. 'समितिशालिनः' अर्थात् युद्धमें पराक्रम दिखाने वाले. यहां सप्तमीका लोप नहीं हुआ. और संग्राममें धनुष उठानेवाले. दोनों पदोंसे युद्ध करने वालोंकी धर्मनिष्ठता दिखाई. काम्बोज से लेकर दशार्ण पर्यन्तके सब उन–उन देशोंमें रहने वाले क्षत्रिय है. अर्थे वा अर्ण शब्दसे दशार्ण नामके क्षत्रिय समझने. पांचाल देशके रहने वाले क्षत्रिय सृञ्जय. 'सृञ्जयाद्याः' पाठ यदि माना जाय तो आदि शब्दसे धृष्टद्युम्न प्रभृति विराट्देशवासी क्षत्रिय भी ले लिये जायें. ये सब दोनों कौरव–पांडवोंके पक्षके थे, जो समय–समय पर मारे गये. यदि ऐसा न होता तो इनका भी श्रीकृष्णके साथ कोई वैर भावादि न होनेसे पाण्डव पक्षके धृष्टद्युम्नादिकी मुक्ति न होती, क्योंकि मुक्ति होनेका कोई भी निमित्त न रहता.

पूर्व श्लोक सुबोधिनीमें अदर्शनका प्रकृति अर्थ कर चुके हैं किन्तु वह शुद्ध मुक्ति नहीं कही जा सकती और इनमेंसे बहुतसोंकी मुक्ति होना अनेक वचनोंसे पाया जाता है इसलिए 'अदर्शनं'का दूसरा अर्थ करते हैं. मारनेके बाद जो–जो मरे वे सब पहले थोड़े समय तक दीखने बन्द हो गये और जबतक भगवान् श्रीकृष्ण भूतल पर प्रत्यक्ष रहे वहां तक अदृष्ट रहकर यहां ही रहे, किंतु जब भगवान् अपने धाम पधारे तब वे भी भगवान्के साथ ही भगवान्के लोकको चले गये. यहां प्रलम्बासुर और खर को बलदाऊजीने मारा. मल्ल और यवनों को

दाऊजी, भगवत्पुत्र प्रभृतिने मारे. शम्बरासुरको प्रद्युम्नने मारा. रुक्मीको बलभद्रजीने. काम्बोज आदि क्षत्रियोंको भीमसेनने मारे. यहां सब जगह 'भीम, पार्थ, बल' आदि नाम भगवान्‌के ही हैं क्योंकि बल अदिमें भगवान्‌ने प्रवेश किया था, अतएव भगवान्‌ने ही सबको मारा. भीमादिका तो बहाना मात्र था. कौरव पाण्डव आदिका युद्धमारण और पूर्वोक्त दुष्टकार्य एवं समय-समय पर जो मरण हुए हैं वे सब भगवच्चरित्र ही हैं यह निश्चय समझना चाहिये. क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण परब्रह्म सबके आत्मा हैं. आत्माका निर्वचन इस तरह है:

''यच्चाप्नोति यदा दत्ते यच्चाति विषयान् इह ,
यच्चास्य सन्ततो भावः तस्माद् आत्मेति कीर्त्यते''

''आत्मा जगत्‌को सर्वत्रमें पहुंचाता रहता है. जगत्‌के सब ही विषयोंको आदान (ग्रहण भी) करता है और जगत्‌के सब विषयोको भरकर भी उनसे अनन्त गुना बाकी रहा आता है. इस परब्रह्मकी सत्ता सब विश्वमें नित्य वर्तमान रहती है इसलिये परब्रह्मको आत्मा कहा गया है''.

इस वचनसे यह पुरुषोत्तम भगवान् सर्व विश्वका आदान करने वाला है, अर्थात् सबको आश्रय देने वाला है. इसीलिये दोनों श्लोकोंमें पूर्वोक्त असुरोंका मारण आदि कुछ भी न कहकर सीधे भगवद्धाममें गमन मात्र कहा है. यहां यदि किसीको यह प्रश्न हो कि तुमने परब्रह्मका 'अनुग्रह' सर्वाधारता कहा सो ठीक है किन्तु 'जातः कंस वधार्थाय' 'विनाशाय च दुष्कृताम्' आदि वचनोंमें पुरुषोत्तमका प्राकट्य तो कंसादि दुष्टमारणके हीलिए कहा है, सो कैसे? इसका समाधान करते हैं कि 'इष्यमानाभि' ये सब वचन दीखती हुई क्रिया और रूप के अभिप्रायसे कहे गये हैं. अथवा दूसरे कल्पोंमें खास पुरुषोत्तमका प्राकट्य कंसादि मारणकेलिए भी हुआ है, इस अभिप्रायसे भी कहे हैं. भगवान् श्रीकृष्ण पूर्णब्रह्मका आविर्भाव है और यह केवल असंकुचित रीतिसे सबको आश्रय देनेकेलिए ही हुआ है. वास्तवमें पूर्ण पुरुषोत्तमका कार्य सबका आधार हो जाना, सबको अपने आश्रयमें रखना ही है. पूर्ण होनेसे वे अपने अंश कला और शक्तियोंको साथ लेकर प्रकट होते हैं इसीलिए असुरादिका नाश भी होता रहता है. ये अन्य कार्य उनमें ही रहे अंश-कला आदिके द्‌वारा होते रहते हैं किन्तु सामान्य लोग इस रहस्यको जान-देख नहीं सकते. इसलिए उन-उन कार्योंको भी श्रीकृष्णका कार्य ही समझते हैं. इसी दीखते हुए अभिप्रायको लेकर पूर्वोक्त वाक्य है. यदि सूक्ष्म विशेषोंकी दृष्टि

छोड़ दे तो अंशोंके कार्य भी अंशीके ही होते हैं. हाथका कार्य भी मनुष्यका ही कहा जाता है. हाथ अंश है मनुष्य अंशी.

कहीं–कहीं ये वचन कल्पांतरकी दृष्टिसे भी कहे गये हैं. श्रीमद्भागवतमें सब कल्पोंके श्रीकृष्णके चरित्रोंको संग्रह कर एकत्र क्रमशः कह दिये हैं. कंसादि दुष्टहननकेलिए भी श्रीकृष्णका प्रादुर्भाव अन्य श्वेतवाराहादि कल्पमें हुआ है. इस दृष्टिसे कहे गये ये वचन हैं.

यहां तक प्रकट पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी दशलीला, दशधर्म या दश कर्त्तव्योंका निर्देश किया है. यहां इन 'अदीनत्वादि' धर्मोंका निरूपण परस्पर निरपेक्षरूपसे ही किया गया है. किन्तु वास्तवमें तो ये परस्पर सापेक्ष रहकर ही मुख्यफल (प्रत्यापत्ति)का दान करते हैं।।३५।।

आभासार्थः इस तरह 'भूरि अनुग्रहं' विशेषणके अवतारका निरूपण करके अब 'चिन्तामयं' विशेषणका निरूपण करते हैं:

कालेन मीलितदृशाम् अवमृश्य नणां स्तोकायुषां स्वनिगमो बत दूरपारः ।
आविर्हितस्त्वनुयुगं स हि सत्यवत्यां वेदद्रुमं विटपशो विभजिष्यति स्म।।३६।।

श्लोकार्थः द्वापर आदि कालने लोगोंके ज्ञानको अज्ञानसे आच्छादित कर दिया है. अतएव क्षुद्र आयुष्यवाले पुरुषोंको जब भगवान्का निश्चित् स्वरूप समझना बहुत दूर हो जाता है तब प्रत्येक नियत समयमें यह भगवान् सत्यवतीकी कुक्षिसे व्यासरूपसे प्रकट होकर वेदकल्पवृक्षको शाखाओंमें विभक्त करेंगे ।।३६।।

व्याख्यार्थः भगवान्के विचारने व्यासरूप धारण किया. व्यासजीने भगवदीय विचारसे सर्व वेदोंके अर्थका पूर्ण निर्णय करके सब लोगोंके आगे भगवत्स्वरूपका उपदेश दिया है. ब्रह्म कल्पके प्रथम मन्वन्तरमें जब युगोंकी तीसरी आवृत्ति चल रही थी उस समयके द्वापरमें अर्थात् जब भगवत्स्वरूपका निर्णय संदेहोंसे आच्छादित हो रहा था उस समय भगवान्की भक्तिका सर्वत्र प्रचार करानेकेलिए वेदव्यासजीका प्रादुर्भाव हुआ है. वेद द्रुमका शाखाविभाग, भगवत्स्वरूपका ज्ञान और उसका निश्चय अपेक्षित रहता है. किन्तु अनिश्चय और सन्देहों से भगवान्के स्वरूपको समझ लेना लोगोंको अशक्य हो रहा था तब भगवान् व्यासरूपसे स्वयं प्रकट हुए. 'अनुयुगं' यह पद 'वेदद्रुमं विटपशः विभजिष्यति' इस वाक्यके साथ सम्बद्ध है. इसका यह तात्पर्य होता है कि प्रत्येक

द्वापरयुगके अन्तमें वेदोंका विभाग किया जाता है. इसलिए पुराणसमूह भी युगोंकी एक चौकड़ीकी व्यवस्थाओंका प्रकाश करते हैं यह स्पष्ट होता है. 'विटपशः' कहनेका तात्पर्य है कि वेदोंका विभाग स्वतःसिद्ध है. किसीने नवीन नहीं किया है. जैसे वृक्षकी शाखायें स्वतः सिद्ध होती हैं उन्हें कोई नवीन नहीं बनाता. इस तरह शाखाओंका स्वरूप निबन्धमें (सर्वनिर्णयप्रकरण में) कह दिया गया है. अनन्तमूर्ति भगवान् हैं. उनमेंसे किसी एक मूर्तिका जहां निरूपण किया जाय, वह वेदका समूह 'शाखा' कहा जाता है. वेद कल्पवृक्ष है यह प्रथम स्कन्धमें आ चुका है. यह बात प्रसिद्ध है यह 'स्म' अव्यय कहता है. इसलिए इसे विशेष कहनेकी अपेक्षा नहीं है।।३६।।

आभासार्थः अब 'एतं' विशेषणका निरूपण करते हैं:

देवद्विषां निगमवर्त्मनि धिष्ठितानां पूर्भिर्मयेन विहिताभिर् अदृश्यमूर्भिः।
लोकान् घ्नतां मतिविमोहम् अतिप्रलोभं वेषं विधाय बहुभाष्यत औपधर्म्यम्।।३७।

श्लोकार्थः कलियुगमें दैत्य भी ब्राह्मणोंसे जन्म लेते हैं, और लोगोंको दिखानेकेलिए वेदमार्गमें ही स्थित रहते हैं. जिनकी माया समझी नहीं जाती ऐसे तीन पुर बनाकर जब लोगोंका नाश करने लगते हैं, तब भगवान् भी उन्हींकी तरह बुद्धिको भुला देनेवाले संन्यासी आदि कपट वेशको धारण कर बुद्धरूपसे औपधर्म्य जैसा दीखता अधर्मका बहुत उपदेश देंगे. अर्थात् इस तरहसे उन्हें वेदमार्ग पर घृणा करा देंगे।।३७।।

व्याख्यार्थः 'एतं'के एतत् शब्दसे बुद्ध भगवान्का अवतार लिया जाता है. 'एतत्' शब्दका वर्तमानमें उपयोग होता है. और कलियुगमें बुद्धका समय वर्तमान है इसलिये इसे 'एतं' कहा. अब यहां स्वरूप भी यही है कि जो वर्तमान है. इससे यह स्पष्ट होता है कि ब्रह्माने नारदजीसे जो यह निरूपण किया है वह भी कलियुगमें ही किया है. यह मत पाषंडमत है क्योंकि वेदमार्गीय बनकर वेदमार्गका ही युक्तिसे विरोध करना यह ढोंग है. कहा भी है कि ''वेदमार्गका विरोध करके जिनका अणुमात्र भी काम हैं वे सब पाखण्डी समझने चाहिये''. ये सब कपटसे वेदकी निन्दा करने वाले हैं. दैत्य लोग दैवी सृष्टिसे द्वेष करने वाले होते हैं. भगवान्से देवोंने प्रार्थनाकी तब दैत्योंको भुलावा देनेकेलिए ही बुद्धावतार हुआ है. उनकी आज्ञासे ही गौतम कणाद आदि भी बुद्धकी ही शाखा–उपशाखा पैदा हुई है. ये लोग वेदप्रतिपादित सन्मार्गोंमें ही ऊपरसे तो व्यवस्थापक रूपसे स्थित रहते हैं. यद्यपि वेदमें ही दैत्योंको भुलावा देनेकेलिए बहुतसे उपाय कहे हैं. पर इस अवतारमें तो लोकको सामान्य रूपसे वेदमार्गसे विमुख कर

देना है इसलिये ये अवतार पृथक् हुआ. 'धिष्ठितानां'का तात्पर्य यह है कि उन-उन वेदोंको (वेदवाक्योंके) हम ही आगे चलाने वाले हैं अर्थात् जो हम कहते हैं वही वेद भी कह रहा है, इसलिए हम वेदके प्रवर्तक हैं. इस तरह अपनेको लोकमें वैदिक रूपसे प्रसिद्ध कराकर जो कोई इनकी युक्तियोंमें फंस जाते हैं उनको भुलावा दिलाते रहते हैं उन्हें वेदमार्गसे बहिर्मुख कर देते हैं. उनकी त्रिपुररूपा माया है. (पुराणांतरोंसे ज्ञात होता है कि पुराने समयमें एक 'मय'नाम जाति थी. उसके वंशज भी मय कहे जाते थे. यह गुण जाति थी. भूलावा देनेका कार्य ही करती थी. जिस-जिस मोहककार्यके द्वारा मनुष्य अपने वैदिक धर्मका परित्याग करके केवल प्रवाह मार्गमें ही गिरता चला जाय वह मतिविमोह कार्य है. इसके सब ही कार्य मतिको अतिप्रलोभ देकर वैदिक सन्मार्गसे च्युत कर देनेवाले हैं. जिस मनुष्यके सब कार्य मतिविमोह (आश्चर्य) करनेवाले होते हैं उसको प्रावाहिक जन समाज बहुत बुद्धिमान, सर्वश्रेष्ठ मानने लगता है. इनके आश्चर्यजनक कार्योंसे जनसमाजकी बुद्धि पर इतनी तो चकाचौंध छा गई है. आपामरकी बुद्धि इन्हें अभी तक बड़ा बुद्धिमान् सर्वश्रेष्ठ मान रहा है. अपने इस दबदबेमें जनताको लाकर अपना महत्त्व जमा रखा है. अतएव प्रायः बहुत सी जनता इन्हींकी पद्धति पर चलना चाहती है. यह मतिका अतिप्रलोभ देकर भ्रष्ट कर देना है. इस मति प्रलोभनने जन समाजके लौकिक और वैदिक दोनों मार्गोंका नाश कर दिया है. समाज बन्धन शिथिल हो गया है और सनातन धर्म परसे श्रद्धा नष्ट हो गई है. फिर भी इनका मति प्रलोभक कपट या युक्तियां प्रकट नहीं होने पाती.)

'अदृश्यमूर्भिः'. नहीं समझनेमें आती है माया जिनकी. मूः मायाको कहते हैं. (लोकमें जो पदार्थ लौकिक प्रत्यक्षसे दीख रहे हैं, अथवा जो माने जा रहे हैं, वह सब उनका वास्तविक है तो ब्रह्म वस्तु हैं. वह वस्तु, तत्त्वरूपमें प्रत्यक्ष नहीं हो सकती. क्योंकि ब्रह्म पदार्थका लौकिकेन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं होता. किन्तु वस्तु तत्त्वसे व्यवहार भी नहीं चलता, इसलिए उस तत्त्व पदार्थ वस्तुमें ही जाति और व्यक्तियोंकी कल्पना (वास्तविक नहीं) कर ली गई है. अब व्यवहार चला गया. सब गहनोंका तत्त्वपदार्थ सुवर्ण है. पर केवल सुवर्णसे व्यवहार नहीं चलता. स्त्री गहने चाहती है, वहां सुवर्ण गलेमें लटका देनेसे काम नहीं चलेगा. व्यवहार गहनोंसे ही चलता है. इसलिए सुवर्ण वस्तुमें ही व्यक्ति गहनोंकी कल्पना कर ली गई. सुवर्ण तत्त्व ही अनेकरूप गहनोंमें प्रकाशित हुआ, बस यही व्यक्ति समझिये. वास्तविकमें गहना या कलि कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, सुवर्ण तो नानारूप हो गया है. '**जातिव्यक्तिविभागोऽयं यथा वस्तुनि कल्पितः**'. इस कल्पनासे ही कितनोंको तृप्ति न हुई, तब उन्होंने उन व्यक्तियोंमें ही एक जाति पदार्थकी कल्पना और करली. उनका यह कहना है कि कड़ा भी गहना,

कंठी भी गहना, मुद्रिका भी गहना, यह व्यवहार, बिना गहना जाति पृथक् माने नहीं बनता. इसलिए व्यक्तियोंसे पृथक एक जाति पदार्थ है. वास्तवमें देखा जाय तो जाति और व्यक्ति दोनों ही पदार्थ सुवर्णादि पदार्थोंसे पृथक् मिलते नहीं. जो नहीं है उसे ही सिद्ध करके दिखा देना यही इन देवद्वेष्टा वेदविरुद्ध मतवादियोंकी माया है. और ये माया मुक्ति दावपेच या कपट, साधारण जनसमाजकी समझमें आता नहीं. इसलिए इसे 'अदृश्यमूर्भि:' कहा है.)

इन्हें त्रिपुररूपा कहा है. जाति, व्यक्ति और वस्तु, तीन पुर इस मायाकी युद्ध स्थली है. जहां इच्छा पूर्ण होती हो वहां पुरु. सबको बहका देना यह इनकी इच्छा इन्हीं त्रिपुरमायामें पूर्ण होती है. ये तीनों पुर अदृश्य माया है. इन तीनोंमें आई हुई माया किसीके भी समझमें नहीं पाती. 'एक सत्त्वे द्वयं नास्ति' 'विशेषण नाशे विशिष्टनाशः' 'कालिकसंबंध' और 'अनिर्वचनीयता' आदि इन लोकोंकी अनेक माया है. ये सब माया है. पहले पहल 'मय' नामक दानवने चलाई थी. बुद्धावतारने इन्हीं युक्तियोंका उपयोग करके लौकिक और वैदिक दोनों सन्मार्गोंका नाश कर दिया, वास्तविकतामें यह सन्मार्गका नाश नहीं, प्रत्युत उन देवद्वेष्टा असुरोंका ही नाश है. वे इन मायाओंके द्वारा वेदमार्गसे विमुख हो जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं. इसलिए वैदिक मार्गमें घुसे हुए ऐसे असुरोंका नाश करना ही भगवान्के अवतारका कारण है, वास्तविक वेदनिन्दा हेतु नहीं है. भोले वैदिक लोगोंका हननरूप देवद्रोह करनेवाले असुरोंका इस तरहकी माया किंवा कपटका भगवान्ने नाश किया. ये लोग जिस तरह लोक विद्यामें अपने आपको महान् सिद्ध करना चाहते थे इस तरह अपने आपको परमवैदिक और देवरूप बना देनेका भी ढोंग करने वाले थे. इसलिए भगवान्ने इनका मति विमोह कर दिया. और उस अपने मतमें अत्यन्त प्रलोभकी बातें रख दी 'हमारे शास्त्रोक्त साधनोंका यदि कोई अनुष्ठान करेगा तो उसे अल्प साधनोंसे महान् फल मिलेगा' इत्यादि महालोभ दिया. वेष भी पण्डितोंका सा बनाया. बुद्ध ज्ञानियोंके समान वेष. ''मैं ही सर्वज्ञ हूं'' इस तरह अपने आपको प्रसिद्ध करके उनके मनकी बात लौकिक कल्पनाओंका निरूपण कर असुरावेशियोंका विश्वास जमा लिया और फिर वैदिक विपरीत उपदेश कर उनकी मतिका विमोह कर दिया यह सब अन्यथासृष्टिके उपदेश हैं. विद्यमान बुद्धिको अन्यथा करके अविद्यमान असन्मार्गरूप बुद्धिको पैदा कर देना ही मतिविमोह है. इस तरह भगवान् बुद्धने असुरोंकी बुद्धिका विमोहित करनेको पाषण्ड धर्मोंकी सृष्टि की।।३७।।

आभासार्थः इस तरह 'एतं'का निरूपण करके अब 'ईश्वर' पदके अवतारका निरूपण करते हैं:

यर्ह्यालयेष्वपि सतां न हरेः कथाः स्युः पाषण्डिनो द्विजजना वृषला नृदेवाः।
स्वाहा स्वधा वषडिति स्म गिरो न यत्र शास्ता भविष्यति कलेर्भगवान् युगान्ते।।३८।

श्लोकार्थः जिस समय सज्जनोंके घरोंमें भी भगवान्की कथा बन्द हो जायगी, ब्राह्मण लोग पाखण्डी हो जावेंगे. राजा लोग शूद्र हो जावेंगे और जब कहीं भी स्वाहा स्वधा और वषट् आदि शब्दोंका सुनना भी बन्द हो जावेगा तब कलियुगके अन्तमें कलिके शासन करनेवाले भगवान् अवतार धारण करेंगे।।३८।

व्याख्यार्थः अन्य युगोंमें बाहर सब जगह भगवान्की कथा होती रहती है. तदनन्तर द्वापर आदिमें सज्जनोंके घरोंमें भगवत्कथा होती थी. किन्तु जब घोर कलियुग वर्तेगा तब सत्पुरुषोंके घरोंमें भी भगवान्की कथा नहीं होगी. तब सब दुष्टोंके दमन करनेवाले भगवान् कल्कि रूपसे प्रकट होंगे.

कलियुगके आरम्भमें ही परिक्षित राजामें भगवान्ने प्रवेश किया और कलिको कैद कर दिया तथापि कलिका निग्रह पूरे तौर पर न हो सका. क्योंकि तब श्रवण-कीर्तनादि भगवद्धर्मोंका लोकमें प्रचार हो रहा था. श्रवणादि भगवद्धर्म कलियुगके मैलके समूहको भी दूर कर देते हैं किन्तु जब भगवद्धर्म होने बन्द हो जाते हैं तब कलियुगका जोर बढ़ जाता है. उस समय केवल भगवद्धर्म होने बन्द हो जाते हैं, इतना ही नहीं, किन्तु वैदिक धर्म भी नष्ट हो जाता है, सो कहते हैं- 'पाषण्डिनो' इत्यादि. ब्राह्मणों द्वारा वैदिक धर्म लोकमें फैलता है. राजा धर्मकी रक्षा करते हैं. उस समय ये दोनों नष्ट हो चुके थे. ब्राह्मणवर्ग पाखंडी हो गया था. स्वयं पाखण्ड धर्म करते हैं और दूसरोंके आगे भी पाखण्ड धर्मोंका ही उपदेश करते हैं. राजा तो शूद्र ही बन गये हैं. उनमें भी वृषल हो गये. वृष-धर्मका ग्रहण करने वाले अर्थात् म्लेच्छ हो गये. धर्म पर ग्लानि दिलानेकेलिए आप स्वयं ब्राह्मणादि धर्मोंका ग्रहण करने लग जाते हैं. सबके पाससे धर्मको छीन-छीन कर उसका नाश कर देते हैं. जिससे वेदमार्गका नाश हो जाता है और ऐसे-ऐसे पाषण्डी और धर्मनाशक ही मनुष्योंके पूज्य बन बैठते हैं. इसका तात्पर्य यह होता है कि पाल्य और पालक दोनों ही दुष्ट हो जाते हैं.

घोर कलियुगमें धर्माभास भी नष्ट हो जाता है. विधि सहित न होकर, केवल 'स्वाह' 'स्वधा' आदि शब्द ही सुननेमें आते हैं. सब शास्त्र अज्ञानी

जीवोंकेलिए ही है. यज्ञ सब कामनासे ही किये जाते हैं. स्वर्ग ही यज्ञादिका फल है और उसके साधन पूर्तदत्तेष्ट आदि धूममार्गीय धर्म हैं. इन्हीं धर्मोंके करानेमें वेदका तात्पर्य है. इस तरह वेदका छल रख कर जो धर्म किये जाते हैं, वे सब धर्माभास हैं. धर्मका अनुकरण मात्र है. कलियुगमें पाषण्डी लोग धर्मका अनुकरण मात्र करते हैं. धर्माभास मात्र करते हैं. उनके यज्ञादिमें देवताओंका आगमन नहीं होता. यज्ञ, श्राद्ध, सन्ध्या आदि शब्द मात्र रह जाते हैं. वस्तु नहीं रहती. किन्तु किसी समय इतना घोर कलिकाल आ जाता है कि स्वाहा(यज्ञादि, होम), स्वधा (श्राद्धादि), वषट्(संध्यादि), याग आदि शब्द भी सुनाई देने बन्द हो जाते हैं. होमादि धर्म राजस है. श्राद्धादि धर्म तामस हैं और सन्ध्यादि याग सात्विक धर्म हैं. इनका नाम भी नहीं सुनाई देता है. 'गिरः' शब्द इसलिए कहा है कलियुगमें इन धर्मोंमें नाममात्रका तत्त्व रहता है. धर्म वस्तु नहीं होती 'यत्र' जिन घरोंमें या देशमें ही.

इस तरहसे भगवान् कल्किके अवतार लेनेमें तीन हेतु हैं: १.भक्तिका अभाव, २.धर्मोंका अभाव और ३.धर्माभासोंका भी अभाव अथवा वेदका ही अभाव. इससे यह भी सूचित होता है कि जब सत्ययुगका प्रारम्भ होगा तब इन तीनोंका प्रचार होगा. यह सब चतुर्युगकी समाप्तिमें होगा. 'भगवान्' कहनेका तात्पर्य यह है कि इस अवतारमें सब ही भगवद्धर्मोंका आविर्भाव हो जाएगा।।३८।।

आभासार्थ: ''**तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्**'' किंवा ''**यस्य पृथिवी शरीरं**'' आदि श्रुतियोंके अनुसार एक मध्यमपुरुष किंवा पुरुषोत्तम पदार्थ है जो सर्व धर्मोंसे युक्त है, अन्तर्यामी कहा जाता है, और सर्वव्यापक भी है. जब सम्पूर्ण विश्वका उत्पत्तिके द्वारा विचार किया गया तो युक्त है कि अन्तर्यामी पुरुषका भी उत्पत्तिसे विचार किया जाय. सो इस अध्यायके ३८वें श्लोक पर्यंत उस अन्तर्यामीका पदशः विचार किया गया. इसीलिए इस अध्यायका नाम विवरणाध्याय है. 'केचित्' आदि श्लोकोंके द्वारा जिस अन्तर्यामीका उद्देश रूपसे पूर्वमें निरूपण किया था उसीका यह पदशः विवरण है. उस अध्यायमें जितने भी पद आये हैं 'प्रादेशमात्र' इत्यादि वे पद उस भगवान्के उन-उन अंगोंका निरूपण करने वाले हैं और जो इस अध्यायमें उन्हींके विवरण रूप जो वाक्य (पद्य) कहे गए हैं वे सब अंग आभूषण धर्म आदिके तात्पर्यको कहने वाले हैं. इस तरह सर्व धर्म सहित सर्व व्यापक अन्तर्यामीका विचार कर लिया गया. अब इस विचारके द्वारा यह भी सिद्ध हो गया कि पद-वाक्यादि शब्दजात सब ही भगवान् पुरुषोत्तमके माहात्म्यका निरूपण करते हैं यही अग्रिम

तीन श्लोकोंसे प्रतिपादित किया जाता है:

सर्गे तपोऽहम् ऋषयो नव ये प्रजेशाः स्थानेऽथ धर्ममखमन्वमरावनीशाः ।
अन्ते त्वधर्महर–मन्युवशासुराद्या मायाविभूतय इमाः पुरुशक्तिभाजः।।३९।।

श्लोकार्थ: सृष्टि अवस्थामें तपस्या, मैं(ब्रह्मा) और नौ प्रजापति मरीचि आदि ऋषिगण, पालन अवस्थामें धर्म, यज्ञ, मनु, देवगण और राजा लोग, और संहार अवस्थामें अधर्म, महादेव, मन्युवंश आदि सर्प और असुर लोग, ये सब अनन्त शक्ति रखनेवाले उस पुरुषोत्तम भगवान्की इस मायाकी विभूतियां हैं।।३९।।

व्याख्यार्थ: अनन्त धर्म और अनन्त शक्ति सहित सर्वव्यापक अनन्त भगवान्का ध्यान करनेमें मन कहां तक कैसे ठहर सकता है? मन तो क्षण चंचल है उसका इतना ठहरना असंभव है. इसलिए उसके ठहरनेका उपाय बताते हैं. इस प्रकारके भगवान्के स्वरूपका ध्यान करते समय मनको उतनी देर ठहरानेका उपाय भगवान्का माहात्म्य ही है. भगवान् सर्वव्यापक हैं, अतिशय महान् हैं. वह बहुत काल पर्यंत किसीके पास ठहर नहीं सकता. यह प्रमेय विचार है. जो मन अव्यवस्थित है, असंयत किंवा निरर्गल है, उस मनसे महान्का ध्यान नहीं हो सकता. यह साधनविचार है. महान् पदार्थको धारण करनेमें शुद्धको घबराहट होती है. अतएव अच्छी तरह उसके स्वरूप और अङ्गोंका भान हो नहीं पाता तब अपराधकी संभावना रहती है. इसलिए इन असुविधाओंको दूर करनेकेलिए 'सर्गे' 'विष्णोः' 'नान्तं' इन तीन अग्रिम श्लोकोंमें तीन प्रकारसे निरूपण करते हैं. तीनोंमें भगवन्माहात्म्य हैं, जिसके सहारे मन ठहर सकता है.

सबसे पहले इस बातका विचार करना है कि यह महान् सर्वदा हमारे ध्यानमें क्यों नहीं ठहरता? इसका कारण क्या है? इसका उत्तर देते हैं कि 'सर्गे'. यह महान् सर्वदा एक रूपसे नहीं रहता. अपने गुणधर्मोंसे और कालके भेदसे नाना प्रकारका होता रहता है, इसलिए वह ध्यानमें एकरूपसे स्थिर नहीं रहता. सृष्टिकी रचना करनेकेलिए यह भगवान् इतने रूपोंको धारण करता है: १.तपस्या, २.ब्रह्मा और ३.प्रजाका उत्पादन करनेमें समर्थ नौ मरीचि आदि ऋषिगण. तप सात्विक, ब्रह्मा राजस प्रधान, और ऋषिगण तमः प्रधान हैं. इसीलिए यहां तीनका निर्देश किया. 'ऋषि'से वेदोंका भी ग्रहण होता है. ऐसी अवस्थामें एक ही स्वरूपको चारमूर्त्ति बनाकर, भगवान् सृष्टिरचना करते हैं. यहां ''तप आलोचने'' धातुसे

निष्पन्न 'तप' शब्दसे विचारमय ज्ञानरूप तप लिया गया है. चतुर्मूर्ति होकर भगवान् श्रीकृष्ण ही जगत्की सर्वव्यवस्था करते हैं. इस पक्षमें वासुदेव ही तप हैं, सङ्कर्षण ही प्रजापति रूप हैं, ब्रह्मा प्रद्युम्नरूप हैं और वेद ही अनिरुद्ध हैं. ये चारों मूर्ति सृष्टिव्यवस्था करते हैं.

सृष्टिकी अपेक्षा पालनमें विशेष कर्त्तव्य रहता है. इसलिये पांच रूप धारण करके स्थिति रखते हैं सो कहते हैं ''स्थाने स्वकृतसेतुपरीप्साय''. अपनी बनाई मर्यादाओंका जब पालन करना और कराना होता है तब. सृष्टि रचनासे पालन और संहारका क्रम कुछ भिन्न ही है, यह दिखानेके लिये 'अथ' शब्द कहा. मर्यादा पालन करने-करानेके समय सबसे प्रथम भगवान्का रूप धर्म है. पालनमें विशेष कार्य केवल अनिरुद्धका है. धर्म दो प्रकारका है: साधनरूप और साध्यरूप. दोनों अनिरुद्ध हैं. एकको यहां 'धर्म' शब्दसे कहा है और दूसरेको 'मख' शब्दसे. यहां 'धर्म' शब्दसे आचाररूप धर्म, प्रमाण शब्दोंका श्रवण करनेके अनन्तर उत्पन्न होनेवाली प्रवृत्ति. 'मख' शब्दसे सहस्रमूर्त्ति भगवान् धर्म यज्ञाधिदेव. जो सब तरहकी प्रवृति किंवा प्रयत्नोंसे प्रकाशित होता है इसका ही अंशांश अतिशय है जो क्रियाके बाद दृश्यमें उत्पन्न या प्रकाशित होता है.

उत्पत्ति ४ अध्यायमें ''**नारायणपरा वेदाः**'' इन श्लोकोंसे जिस वेदस्वरूप भगवान्का निरूपण है, अङ्गसहित वह अङ्गी पदार्थ ही यहां 'धर्म' और 'मख' शब्दसे ग्रहण किया है. धर्मकी प्रवृत्ति चलानेवाले भगवान् मनु कहे जाते हैं. क्योंकि मनुके मध्यका समय सद्धर्मरूप है. 'अमर' शब्दसे स्वर्गके रक्षक देवगण. और 'अवनीश' शब्दसे राजा जो पृथ्वीका पालन करते हैं (पृथ्वीको लूटनेवाले नहीं).

संहारमें उससे भी विशेष कार्य है यह निरूपण करते हैं तथापि संहार होनेसे अनादरका भाव दिखानेकेलिए 'तु' शब्द कहा. संहार करनेमें पहला अधर्म. यह भी भगवान्का ही रूप है. यह धर्म प्रतिपक्षी है. दूसरा रूप महादेव. यह यज्ञका प्रतिपक्ष है. मन्युवंश आदि-सर्प आदि यह मनके प्रतिपक्षी हैं असत् रूप असुर लोग, देवोंके विरोधी हैं. 'आदि' शब्दसे जिनका पृथ्वीपर जन्म नाश करनेकेलिए ही हुआ है, वे सब चोर, हिंस्र जन्तु व्याघ्र आदि राजाओंके प्रतिपक्षी हैं. ये असुरोंके पक्षपाती हैं इसलिए इनको आदि कहा. ये संहार करनेवाली भगवद्विभूति हैं. इस तरह एक ही भगवान् सृष्टि आदि अनेक कार्योंकेलिए अनेक

रूपोंको धारण करता रहता है.

यहां यह विचार होता है कि भगवान् एक ही अनेक रूपोंको किस प्रकारसे धारण कर लेता है? इसका समाधान करते हैं कि ''माया विभूतयः'' मायाकेलिए ये सब भगवान्की ही विभूति हैं. ''**प्रकृतिः ह्यस्योपादानं**'' एकादश स्कन्धमें कहा है कि इस जगत्का उपादन कारण प्रकृति-माया है. उस समय प्रकृति ही जगत्की सृष्टि संहार करती है. किन्तु इन कार्योंके सम्पादनमें मायाके पास अपनी कोई सामग्री नहीं है तब भगवान् उसके कार्योंका निर्वाह करनेकेलिए अपने रूपोंको निमित्त बना लेते हैं. इसलिये ये सब मायार्थ विभूतियां कहे जाते हैं. किसी कल्पमें भगवान् उपादान होते हैं और माया निमित्त कारण होती है. उस समय 'मायायां विभूतयः'. उसका सहकार करनेकेलिए भगवान् अपनी विभूतियोंको प्रकाशित करते हैं. किसी कल्पमें माया ही जगत्का कर्तृ कारण होती है. उस समय भगवान् अपनी पूर्वोक्त विभूतियों (रूपों)को उसका करण बना देते हैं. 'मायया विभूतयः'. यह चतुर्थ पक्ष है. किसी कल्पमें माया जगत् कार्यमें करण होती है उस समय भगवान्की ये विभूतियां व्यापारकी जगह रहती हैं. सो सब कहते हैं 'माया हि' माया भगवान्की शक्ति है. यद्यपि यह भी अनन्तरूपा है तथापि इसके प्रधान रूप दो हैं: १.जगत्कारणभूता और २.मोहिका. 'मायाविभूतयः' पदमें जिसका निरूपण किया है यह माया जगत्कारणभूता है. कारणता अनेक तरहसे हो सकती है. कर्तृ कारण, उपादान कारण, निमित्त कारण और व्यापार आदि रूपसे. भगवान् ही जब जगत् होता है उस समय माया निमित्त कारण होती है. अनेक आकारोंका समर्पण करती है. जब वह कर्त्री होती है, तब भगवान्की सेवाकेलिए उत्तम-उत्तम साधनोंका संपादन करती है. जब भगवान् जगत्कर्ता होते हैं तब यह माया करण हो जाती है. तब-तब यह भगवान् उसके उन-उन कार्योंका निर्वाह करानेकेलिए अपनी विभूतियों (रूपों)को इस तरह धारण करता है. यदि भगवान् इस तरह सर्वदा सर्वत्र अपनी विभूतियोंसे मायाको सहाय न पहुंचावे तो मायाके करणत्व आदिका निर्वाह ही न हो सके. इस तरह यह जो सृष्टि और सृष्टिके परिकरका चार तरहसे वर्णन किया है वह राजाके प्रश्नोंके अनुसार है. पूर्वमें राजा परिक्षितने श्रीशुकसे प्रश्न किया है कि ''**आत्मानं क्रीडयन् क्रीडन् करोति निकरोति च**'' यह भगवान् अपने स्वरूपको जगत् कर लेता है. कभी एक रूपसे दूसरे रूपोंको विरुद्ध भी कर लेता है. कभी नहीं करता. और कभी

अनेक कर लेता है. कभी अपने आपको खिलानेकेलिए कुछ और ही कर लेता और कभी आप ही खेलनेकेलिए अपने आपको ही वैसा बना लेता है इत्यादि.

अब एक यह प्रश्न होता है कि जब भगवान्के पूर्वोक्त रूप (विभूतियां) प्रत्येक कार्यमें मौजूद रहते हैं, तब फिर मायाका कार्य कौनसा बाकी रह जाता है? इसके उत्तरमें कहते हैं 'किं पुरुशक्तिभाजः' भगवान्के पास अनेक शक्तियां सर्वदा रही आती हैं. उन अनन्त शक्तियोंकी सर्वप्रधान शक्ति माया है. यह सर्वभवन समर्था है. एक ही कार्यमें सर्व सामग्री विद्यमान रहती है. संहार कार्यमें सृष्टि-स्थितिकी और सृष्टि कार्यमें स्थिति-संहारकी भी सामग्रियां विद्यमान रहती हैं. क्योंकि इसका स्वरूप ही सर्वभवन सामर्थ्य है. सब कुछ हो जानेमें विलम्ब रहे ऐसा कोई कारण भी नहीं है. ऐसी अवस्थामें सृष्टि-स्थिति आदि कार्य, एक ही समयमें होते रहेंगे तो एक भी कार्य सम्पन्न नहीं होगा. इसलिए नियामक भी चाहिये. भगवान्की ये पूर्वोक्त विभूतियां कार्य नियामिका हैं. यद्यपि भगवान्की इच्छासे ही सब कार्य नियमित रूपसे चलते रहें, यह संभव है, तथापि भगवान्की सर्व साधारणको अदृश्य 'पृथक्-पृथक् कार्य होते रहें इसकेलिए कोई सबकी समझमें आ सके' ऐसे कारण रहनेकी अपेक्षा थी, सो ये पूर्वोक्त विभूतियां (रूप) उन-उन कार्योंका नियम कर देने वाली हैं. अब सब कार्य पृथक्-पृथक् होते रहते हैं. इन तप ऋषि और प्रजेश आदि भगवद्रूपोंकी शक्तियां नियत हैं इसलिए युगपत् सब कार्य होने नहीं पाते।।३९।।

आभासार्थः इस तरहसे 'यावत्'का तात्पर्य कह दिया. उतनी देर तक धारणा कैसे ठहर सकती है? इसका उत्तर दे दिया कि यद्यपि भगवान् प्रतिक्षण नाना रूप होते रहते हैं इसलिए एक ही धारणा नहीं ठहर सकती तथापि पूर्वोक्त विभूतियां भी भगवन्माहात्म्य हैं इसलिए वह सबकी धारणा भी भगवद्धारणा ही है. इस तरह महान पदार्थ बहुत काल पर्यंत अपने वशमें नहीं ठहरता, इसका आशय कह दिया. अब अव्यवस्थित (निश्चित नहीं) मनसे भी भगवान्का ध्यान नहीं हो सकता. इस पक्षका विवरण करते हैं:

विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि । चस्कम्भ यः स्वरहसास्खलतात्रिपृष्ठं यस्मात् त्रिसाम्यसदनादुरुकम्पयानम्।।४०।।

श्लोकार्थः जिस ब्रह्माने कार्यसृष्टि निर्माणके समय ब्रह्माण्डोंके पार्थिव अणुका भी ज्ञान कर लिया था वह ब्रह्मा भी क्या पूर्ण पुरुषोत्तमके पराक्रमोंकी

गणना करने योग्य है? अन्य पराक्रमोंको जाने दीजिये किन्तु भगवान्का एक ही पराक्रम ऐसा है जिसका कोई विचार भी नहीं कर सकता? वह यह कि जिनके चरणके कहीं भी न रुकनेवाले अपने वेगसे गुणत्रय जहां समान रहते हैं ऐसे सत्यलोकसे लेकर त्रिलोकी पर्यन्त सब ही सप्तलोक जो एकदम कंप कर गिरने वाले थे उन्हें जहांके तहां ठहरा दिये और आज तक ठहर रहे हैं।।४०।।

व्याख्यार्थ: मनुष्योंसे लेकर देवपर्यन्त सब ही जीवोंका मन सर्वदा अव्यवस्थित (आकुलव्याकुल) रहता है. तो अब भगवान्के पराक्रमोंका ज्ञान सम्पादन करने योग्य कौन रहा? विचार किंवा ज्ञानमें मन मुख्य है. जब वही संसार व्याकुल रहता है तो फिर ऐसे मनुष्योंको तो योग्यता भी नहीं कर सकते. यद्यपि तपस्या, योगाभ्यास आदि करनेसे जीवकी शक्ति बढ़ जाती है अथवा मनकेलिए बहुत सी सहायसामग्री मिल जावे तो भी उसकी सामर्थ्य बढ़ सकती है तथापि जब मनका स्वाभाविक धर्म (कार्य व्याकुलता) दूर नहीं होता तो सबसे ऊंचा ब्रह्मा भी भगवद्वीर्यको समझनेमें असमर्थ है. यह 'तमप्' प्रत्ययका अर्थ है. 'कतमः' शब्दमें जो 'तमप्' दिया है वह तार्किक योग्यताको मनमें रखकर दिया है. इस तर्कनामें सबसे ऊंचा ब्रह्मा ही हो सकता है, इसलिए 'कतम:'का ब्रह्मा अर्थ किया. यद्यपि कार्य जगत् निर्माण करनेकी सामर्थ्य ब्रह्मामें है तथापि भगवान्को सर्वांशसे धारण कर सके, यह सामर्थ्य ब्रह्मामें भी नहीं है, यह दिखानेकेलिए 'इह' कहा. अर्थात् और कार्यमें रहे पर 'यहां' उसकी भी शक्ति नहीं है.

यहां एक यह प्रश्न होता है कि कर्तामें उपादानका अपरोक्ष ज्ञान आवश्यक है. ब्रह्माको जब कर्ता मान लिया तो उसमें ब्रह्माण्डोंके उपादान पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान है यह भी मानना पड़ेगा. ऐसी अवस्थामें मनके द्वारा ज्ञान हो जानेसे निश्चित पदार्थको समझ लेना भी उसमें सिद्ध है तो भगवद्वीर्य समझनेमें कौन सी हानि है? मानना पड़ेगा कि ब्रह्मा भगवद्वीर्य (पराक्रम) गणनामें योग्य है. इसके उत्तरमें 'नु' कहा. 'नु'का अर्थ वितर्क होता है. ब्रह्माको उपादानका अपरोक्ष ज्ञान है यह भी हम तर्क-अनुमान या अन्दाजसे ही कहते हैं वास्तवमें वह भी उसमें है या नहीं, यह नहीं कहते. वह अन्दाज यह है कि 'यः पार्थिवानि रजांसि विममे'.

आनुमानिक सामर्थ्यमें कारण कहते हैं. कार्य सृष्टि जबसे प्रारम्भ होती है तब उसके कर्ताओंमें जब समर्थ जीवोंकी गणना की जाती है तो उनमें सबसे पहला सृष्टिका अभिमानी ब्रह्मा लिया जाता है. 'अभिमानी' शब्द इसलिए कहा है,

कर्ताओंका अभिमान मात्र है. वास्तवमें तो उस समय भी परमात्मा ही कर्ता रहता है. उस सृष्टिमें यथा संख्य तत्त्व, कर्ताको सहाय पहुंचाते हुए ब्रह्माण्डोंकी रचना करते हैं. यह ब्रह्माण्डोसादनरूप कार्य रजोगुणाधिष्ठाता ब्रह्मदेवका कार्य है. इससे ही उसे 'कतमः' कहा. अर्थात् असहाय कर्तृत्व न रहते भी अभिमान है अतएव कतमः उपेक्षित है. इससे यह स्पष्ट होता है कि इसके पहलेके ब्रह्माण्डमें जिन जीवोंको ब्रह्माने पैदा किये थे, उनका भोग करनेका अदृष्ट (अतिशय भाग्य) बचा हुआ था. उस अदृष्टके संस्कारवाले परमाणुओंको महासमूहमेंसे निकाल कर ब्रह्माने दूसरी सृष्टिमें ब्रह्माण्डोंकी रचना की. जिस समय ब्रह्माण्डोंकी रचना करनेका समय आया उसी समय भगवान्की ऐसी इच्छा हुई कि इस-इस ब्रह्माको ब्रह्माण्डोंके उपादान कारणका अपरोक्ष ज्ञान हो जावे. भगवदिच्छासे लब्ध उस सामर्थ्यसे यह ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति करता रहता है. यही ब्रह्मामें विविध परमाणुओंकी गिनती कर लेनेका सामर्थ्य है. और यही एकसे दूसरे परमाणुओंकी विलक्षणता देख लेनेकी समझ है. इस भगवद्दत्त सामर्थ्य और ज्ञान अन्दाजसे ब्रह्मामें धारण करनेकी भी सामर्थ्य होगी यह अनुमान किंवा आशंका करके निराकरण किया गया है. 'यः पार्थिवानि' इत्यादि अन्दाज है. और 'इह विष्णोर्वीर्यगणनायां नु कतमः अर्हति'. न 'अर्हतीत्यर्थः' यह अन्दाजका खण्डन है.

कवि लोग किसी यथार्थका विवेचन अच्छा करते हैं. ब्रह्मा भी अवान्तर सृष्टिके पदार्थोंकी विवेचना अच्छी करता है इसलिये उनको 'कविः' कह दिया है. अवान्तर सृष्टिमें जो पूर्वके सूक्ष्म परमाणु होते हैं. उनसे ब्रह्मा स्थूल पदार्थोंकी रचना करता है. उन सूक्ष्म परमाणुओंको ही यहां 'रजस्' शब्दसे कहा गया है. यद्यपि पूर्व सृष्टिके सूक्ष्म परमाणुओंकी गणना और उनकी विविधताका प्रत्यक्ष ज्ञान ब्रह्माको रहता है तथापि यह भगवान्की धारणामें और भगवान्के पराक्रमोंको समझनेमें असमर्थ हैं, क्योंकि भगवान्का सामर्थ्य जीवबुद्धि और अव्यवस्थित मनसे जान लेनेमें अशक्य है यही कहते हैं 'चस्कम्भेति'. इतने पनकी अवधि जहां हो और नाप-तौल जिन्होंकी हो सके ऐसे गुण गिने जा सकते हैं अथवा उनकी विवेचना हो सकती है. किन्तु भगवान्के गुणोंमें तो एक भी गुण ऐसा नहीं है जिसमें इतनेपनकी अवधि पा सके. जिसकी नाप तौल हो; क्योंकि विवेचना और गिनती मनसे हो सकती है किन्तु भगवान् और भगवान्के गुण तो मनसे भी बहुत ही बहुत हैं. मनसे भी विशेष निरवयव हैं. और मनसे भी विशेष निर्लेप हैं. उन

गुणोंमेंसे एक गुणका नमूना वामन अवतारमें दिखाया गया है. विक्रम, भगवान्में विक्रम गुण भी निरवधि है. जिस समय बलि राजाने पृथ्वी नाप लेनेको कहा तब वामन भगवान्ने अपने चरणारविन्दको उठाकर बढ़ाना प्रारम्भ किया. वह यहां तक बढ़ा कि ऊपरके सब ही लोक उसके भीतर आ गये और वह उनसे भी आगे बढ़ गया. इतना ही नहीं उस चरणके विक्रमसे जब सत्य लोकसे त्रिलोकी पर्यन्त धूज-धूज कर नीचे गिरनेकी तैयारी कर रहे थे तब आपने अपने उस चरणसे ही उन्हें जहांके तहां ठहरा दिये और वे आज तक ठहर रहे हैं. यह भगवान्का अपरिमेय असीम विक्रम(पराक्रम) है. त्रिलोकीसे लेकर सब लोकोंको कहीं भी न रुकते, असाधारण वेगसे एकदम हिल गये. गुणत्रयकी साम्यावस्था वाले, सत्यलोकपर्यन्तके लोकोंको ऊपरके ऊपर थमा दिया. यहां पाताल गुणसे रक्षण भी कर लिया. यह गुण मनसे भी नहीं जाना जा सकता. या तो भगवान्के चरण वेगसे सब लोग गिरते थे और या उसीसे सबके सब जहांके तहां ठहर गये. यह परस्पर विरुद्ध बात मनसे कैसे समझी जा सकती है? यह इतनेपनकी अवधिका अभाव बताया है. आगेके श्लोकमें संख्याके द्वारा समझनेकी शक्तिका भी निराकरण करेंगे।।४०।।

आभासार्थः इस तरह महापुरुष भगवान् गुण अव्यवस्थित मनसे जाने नहीं जा सकते यह कह दिया 'यावन्मनः'. और इसीलिये वह मन माहात्म्यकी धारणासे स्थिर रह सकता है. यह भी 'अवतिष्ठते' इससे कहा. अब अति-अति महान्के धारण करनेमें जो विकलता होती है उसका कारण महत्व दिखाते हैं:

नान्तं विदाम्यहम् अमी मुनयोऽग्रजास्ते मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये ।
गायन् गुणान् दशशतानन आदिदेवः शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य पारम्।।४१।।

श्लोकार्थः इस मायाबलवाले महापुरुष भगवान्की अवधिको न मैं जानता हूं और न ये तुम्हारे बड़े भाई सनत्कुमार आदि भी जानते हैं फिर अन्य कोई भगवान्के स्वरूपका पार पा सके यह कैसे सम्भव है. सबसे पहले देव श्रीशेष भगवान् भी अपने सहस्र मुखोंसे भगवद्गुणोंका गान कर रहे हैं. तथापि आज तक भगवान्का पार नहीं पा सके।।४१।।

व्याख्यार्थः मैं(ब्रह्मा) सर्वदा भगवान्के गुणोंको ही प्रकाशमें लाता रहता हूं और इसी कार्यको जन्म पर्यन्त करता हूं. पुत्रों(दक्षादि)के द्वारा भी भगवान्के गुणोंको ही सर्वत्र फैलाता रहता हूं. मैं जब तिरोहित हो जाता हूं तो दूसरा ब्रह्मा

किंवा भगवदिच्छानुसार कोई दूसरा उसी काम पर आ जाता है. गुणगानका कार्य कभी बन्द नहीं होने पाता, तथापि हम लोग भगवान्के अन्तको न जान सके. मुनि लोगोंकी भी यही दशा है. यद्यपि योगोत्पन्न ज्ञानसे योगी लोग गत-अनागत (भूत-भविष्य) सबको देख लेते हैं पर वे सब मेरे ज्ञानके भीतरकी वस्तुको ही देख सकते हैं. योगकी सामर्थ्य भी मेरे भीतर आये हुये फलको ही साधते हैं. इसीलिए सनकादिक या मरीचि आदि मेरे पुत्र ये सब मेरे ही अंशभूत हैं. इसलिए मुझसे भी कम विषयोंका साक्षात्कार करते हैं. यदि कोई कहे कि उनको गिननेकी इच्छा भी फिर क्यों नहीं होती? उसका हेतु कहते हैं 'मायाबलस्य' इति. क्षणमात्रमें जो माया कोटि ब्रह्माण्डोंकी रचना कर सकती है, उसका भी बल इस भगवान्से ही है, क्योंकि यह भगवान् भी पुरुष है. मायाका भी पोषणकर्ता है. भगवान्के दिए हुए तेजको ही माया अन्यत्र पैदा करती है.

जब ब्रह्मा, मुनि प्रभृति ही भगवान्के स्वरूप और गुणों का अन्त नहीं जान सके तो फिर काल आदिकी तो बात ही क्या? क्योंकि काल तो भगवान्की चेष्टारूप है. अथवा हम लोग भी ऊपर कहे जा सकते हैं. पुरुषकी अपेक्षासे कालादि अपर है. और खास पुरुषोत्तम भगवान्की अपेक्षासे अपर हम लोग हैं. हम लोगोंको(ब्रह्मा मुनि आदि को) भगवान् अनन्त हैं यह पहलेसे ही विदित है. इसलिए हम तो भगवान्के निःशेष ज्ञानसे निवृत ही हैं कि वेदाभिमानिनी देवता शेष भी इस भगवान्के स्वरूप और गुणों को निःशेष नहीं जानते. 'सहस्रवदनः' विशेषणसे उनका सामर्थ्य कहा है एक पदार्थको एक हजार प्रकारसे जानते हैं और कहनेकेलिए समर्थ हैं, इसलिए उन्हें आदिदेव कहते हैं. सबसे पहले प्रकाशित रहने वाले हैं. वेदरूप शेषसे ही सब देवताओंका प्रतिपादन होता है. जितना हमें जगद्रूपमें भगवान् दीख रहा है उससे बाकी रहा सब ही भगवान् शेषरूप है. अतिरिक्त रूप भगवान्को ही शेष कहते हैं.

सृष्टिका आदि, किसीको भी मालुम नहीं है बस उसी दिनसे आरम्भ कर सहस्रवदन आदि देव(ज्ञानरूप) शेष भगवान्, पुरुषोत्तमके गुणगान करते हैं पर आज तक गुणोंके अन्तका निश्चय कर नहीं सके. सृष्टिके आगे ही वह अनन्त ही रहता है इसलिए अब आगे इतने गुण गिनने हैं यह निश्चय नहीं होने पाता. यही कहा है: 'नास्य पारम्'. अस्य अर्थात् इस भगवान्का अथवा इसके गुणका एकवचन है. इससे यह सूचना होती है कि बहुतसे गुणोंकी गिनती करने बैठें पर

अभी तक एक गुणका भी अन्त न पाया, उसके पार न पहुंचे. इस तरह भगवान्का महत्व माहात्म्य सब तरहसे सर्वदा रहता है तो किसकी शक्ति है कि उनकी धारणा ध्यान कर सके. अतएव 'यावन्मनो धारणयावतिष्ठत' वाक्यमें 'यावत्' पद दिया है. इसका आशय यह है कि भगवान्के स्वरूप या गुणोंकी नि:शेष धारणा न हो सके तो जितनी हो सके।।४१।।

आभासार्थ: अब यहां एक प्रश्न होता है कि जब भगवान्का महत्व अनन्त है, तो फिर उनकी धारणा तो एक क्षणमात्र भी होनी अशक्य हो जावेगी? इसका उत्तर देते हैं कि:

येषां स एव भगवान् दययेद् अनन्तः सर्वात्मानाश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम् ।
ते दुस्तराम् अतितरन्त्यथ देवमायां नैषां ममाहम् इति धीः श्वशृगालभक्ष्ये।।४२।।

श्लोकार्थ: निष्कपट रहकर जिन लोगोंने उस भगवान्का सब तरहसे चरणाश्रय लिया है. उन पर यदि वह अनन्त भगवान् ही दया करें तो वे भक्त लोग दया होनेके बाद भगवान्की इस दुस्तर दैवी मायाको तर जाते हैं. यह माया उनका कुछ बिगाड़ नहीं कर सकती; क्योंकि इनकी कुत्ते और सियारों के खाने योग्य इस देह आदिमें 'मैं और मेरा' यह बुद्धि नहीं रहती।।४२।।

व्याख्यार्थ: यह बात तो निश्चय है कि यह पुरुषोत्तम भगवान् सर्व मार्गोंके प्रवर्तक हैं, और मोक्ष देनेवाले हैं. अतएव इनकी धारणा-ध्यान आदि अवश्य करने चाहिए. पर ऐसी योग्यता किसकी है? तो इसका उत्तर देते हैं कि यह भगवान् जिन भाग्यवान् पुरुषोंको अपना समझकर स्वीकार करें वे इसकी धारणा करने योग्य हैं. 'दययेदिति'. इसका तात्पर्य यह है कि धारणा मार्गकी प्रवृत्ति करानी है. इसीसे इनका आत्मीय रूपसे ग्रहण किया है. यह दयाका अर्थ यहां नहीं है किन्तु ये लोग असमर्थ हैं. धारणा नहीं कर सकेंगे इसलिए इन पर दया करनी चाहिए. मेरी दयासे ये स्वरूप-गुणोंको कुछ जान सकेंगे यों समझकर दया करते हैं. 'सएव' जो सब मार्गोंको चलाता रहता है वही योगधारणामार्गकी भी इस तरह दया करके प्रवृत्ति कराता है. इसमें गुरु आदि प्रार्थनासे भगवान् उन पर दया करता है सो नहीं. भगवान् स्वतन्त्रेच्छ हैं इसलिए स्वयं अपनी दयासे ही उन्हें धारणा समर्थ करते हैं.

यहां यह प्रश्न होता है कि जब अपनी-अपनी इच्छा ही कारण हो सकती है तो फिर दयाको क्यों कारण बनाते हैं? इसका यह उत्तर देते हैं कि यदि

दयाका नियम नहीं रहेगा तो साधक लोग अपनी इच्छासे धारण कर सकेंगे क्योंकि भगवद्धारणा जीवको कृतार्थ करती है. ऐसी अवस्थामें भगवान्के गुण अनन्त हैं, यह जब ज्ञात होगा तो ये लोग कोई धारणाको अशक्य समझकर छोड़ भी देंगे. इस तरह भगवद्धारणा नियमसे सबको प्राप्त न होगी. इसलिए यह धारणाका मार्ग भी सर्वदा चलता रहे इस आशयसे भगवान् दया करते ही हैं. तो फिर भगवान् सबके ऊपर दया क्यों नहीं करते? इसका उत्तर देते हैं कि 'अनन्तत्वात्'. भगवान् सबके ऊपर दया नहीं करते. क्योंकि उन्हें अपना अनन्तत्व भी बनाये रखना है. यदि सबके ऊपर दया करते रहें तो अन्य सब गुणोंका उपमर्द(दब जाना) हो जाय, और प्रायः सबकी ही मुक्ति हो जाया करे तो सृष्टिका एक दिन अन्त भी आ जावे तो जगद्रूप भगवान्का अन्तत्व ही न रहे. इसलिए धारणा करनेवालोंसे कितनों हीके ऊपर दया करते हैं सब पर नहीं. इससे धारणामार्ग भी चलता रहता है और भगवान्का अनन्तत्व भी बना रहता है.

अब यहां यह भी प्रश्न है कि जो लोग भगवद्दयाके पात्र हैं उनको धारणासे ही फल देना यह नियम क्यों? बिना धारणाके भगवान् स्वयं ही उन्हें फल दे सकते हैं? इसका उत्तर देते हैं कि 'सर्वात्मनाश्रितपदः' भगवान् साधनमार्गोंकी भी रक्षा करते हैं अतएव सब फल साधनोंके द्वारा ही देते हैं. चरणाश्रय ही साधन है जिनका. भगवच्चरणाश्रयको ग्रहण करना ही भगवद्दयाका सूचक है. ब्रह्मा, चरणाश्रय साधनका उपदेश करता है. भगवद्दयाका ज्ञापक भगवान्की धारणा है. यह भगवत्स्वरूपका धारण जब बन गया तब भगवदिच्छाके अनुकल हो जानेसे और भी साधन सिद्ध होते चले जाते हैं इसलिए सब तरहसे भगवच्चरणारविन्दका आश्रय लेना ही आवश्यक है. यही बात 'आश्रितपदः'से कही गई है. 'सर्वात्मना' 'आश्रितः पादो यस्य' जिस भगवान्का चरणारविन्द सब तरहसे धारण कर लिया है. जिन पर भगवान्ने दयाकी है वे उसके चरणका सब तरहसे आसरा ले लेते हैं और वे ही उसकी दुस्तर मायाको तर जाते हैं.

'व्यलीक' कपटको कहते हैं. अथवा फलका सम्बन्ध ही यहां व्यलीक है. चरणाश्रय लेनेमें किसी फलकी आशा न रहनी चाहिए. फलप्राप्त्यर्थ भी चरणका सर्वात्मना भजन किया जा सकता है किन्तु यह कपट है. सो न होना चाहिये. इसलिए 'निर्व्यलीकं' पदमें उसका निषेध किया. ऐसोंको जो फल सिद्धि होती है सो कहते हैं 'ते दुस्तराम्'. 'अथ' आश्रयग्रहणके अनन्तर. चरणका

आसरा लेनेके पूर्व मायाका तरण दुस्तर है इसलिये 'अथ' शब्द मध्यमें दिया है. अथवा जिन पर भगवान्‌की दया हो जाती है वे दुस्तर मोहिका मायाको तर जाते हैं. उस समय ज्ञानकी सिद्धि भगवान्‌में भक्ति होती है. 'अथ' इसके बाद वे दूसरी देवमाया जो भगवान्‌के स्वरूपका प्रकाश करती है. अथवा अपने सहयोगियोंके साथ क्रीड़ा करनेकेलिए ही रखी गई है उसे तर जाते हैं. उस मायाकी क्रीडामें उनका भी सहयोग हो जाता है. भगवान्‌का सायुज्य हो जाता है. आधिदैविकी आनन्दमयी लीलामें प्रवेश हो जाता है. सायुज्यमें दो प्रकार है यह अनेक जगह कह चुके हैं.

जिन्होंने मायाका तरण कर लिया है उनकी पहिचान बताते हैं: 'नैषाम् इति'. इन लोगोंकी देहमें अहंता-ममता नहीं रहती. केवल देहको ही अपना स्वरूप समझना यह अहंता-अहंभाव और उसको अपना स्वरूप समझकर अतिशय प्रीति रखना यह ममता. जिस देहमें अहंभाव और झूठी प्रीति न रहे वही भगवन्मायाको तरेगा. '**अहं ममेति दौर्जन्यं न यस्य देहादौ**' ऐसा शास्त्रोंका तात्पर्य भी है. गम्भीर बड़े कार्योंमें पहचान मालूम हो जानेसे लोकोंकी प्रवृत्ति होती है. यह बात 'अन्हां विधान्या' इस मीमांसामें कही गई है.

'शृगाल भक्ष्ये' यह वाक्य, देहादि पदार्थ दूसरोंके हैं अन्तमें यह दिखानेकेलिए ही कहा है. अर्थात् देहादि पदार्थोंको दूसरे लोग अपने उपयोगमें लावेंगे अतएव वे पदार्थ दूसरोंके ही हैं. फिर चाहे वे कुत्ते और स्यारिये हों चाहे अन्य कोई. इसके मध्यमें देहके जो कुछ गाड़ी-घोड़ों पर बैठना, स्वादु भोजन करना आदि फल हैं वे सब अवांतर हैं. मुख्य आत्यन्तिक फल तो कुत्ते स्यारियों का बटवारा है. देह अपना आप भी उपयोग करता है यह भी अवांतर फल ही है. तात्पर्य यह कि स्वोपयोग भी देहका मुख्य फल नहीं है. अतः दैहिक फलकेलिए यत्न करना उचित नहीं है. श्व(कुत्ता) शृगाल(सियार) शब्दसे ग्राममें और वनमें रहने वाले भक्षक सब ही ले लिये जावें. इससे यह सूचित होता है कि जिस जगह चाहे गांवमें चाहे जंगल में, वहां जो इसके आश्रयमें हों अथवा जिन्हें यह आसरा देता हों वे सब इसके भक्षक हैं. यह देह उन सबका माल है. इससे यह भी स्पष्ट है कि 'देहः किमन्नदातुर्वा' इत्यादि वाक्योंमें जो देहके बटवारे बताये हैं तदनुसार यह दूसरोंका ही है.

अथवा भगवद्धारणाको धारण करनेवालेकी दुर्गतिकी सम्भावना नहीं है

यों समझकर यहां ग्रामारण्यस्थ जन्तुओंका निर्देश किया है क्योंकि प्रसंग भगवद्धारणावालोंका ही चल रहा है. उन्होंने जिसे बांट लिया है उस पर काकादिका भाग नहीं चल सकता. अनेक प्रकारसे उपयोग हो सकता है इसलिये यह उपलक्षण ही है।।४२ ।।

आभासार्थः इस तरह 'यावन्मनो धारणयावतिष्ठते' इस वाक्यके आशयको अच्छी तरह कह दिया. अब 'एकैकशोङ्गानि धियानुधारयेत्'. इस वाक्यके तात्पर्यका चार श्लोकोंसे निरूपण करते हैं:

वेदाहम् अङ्ग परमस्य हि योगमायां यूयं भवश्च भगवान् अथ दैत्यवर्यः ।
पत्नी मनोः स च मनुश्च तदात्मजाश्च प्राचीन बर्हि ऋभुरङ्ग उत ध्रुवश्च।।४३।।
इक्ष्वाकुरैल–मुचुकुन्द–विदेहगाधि–रघ्वम्बरीष–सगरा गयनाहुषाद्याः।
मान्धात्रलर्क–शतधन्वनुरन्तिदेवा देवव्रतो बलिरमूर्तरयो दिलीपः।।४४।।
सौभर्युतङ्क–शिबिदेवल–पिप्पलादाः सारस्वतोद्धव–पराशर भूरिषेणाः ।
येऽन्ये विभीषण–हनूमदुपेन्द्रदत्त–पार्थार्ष्टिषेण विदुर–श्रुतदेववर्याः।।४५।।

श्लोकार्थः हे नारद! इस परब्रह्म भगवानकी योगमायाको मैं जानता हूं, तुम सब जानते हो, श्रीमहादेव जानते हैं और आगे प्रह्लाद मनुपत्नी शतरूपा, स्वायंभू मनु, उनके पुत्र प्राचीनबर्हि राजा, ऋभु, अङ्गराजा, ध्रुव, इक्ष्वाकु, ऐल, मुचुकुन्द, जनक, गाधिराजा, रघु, अम्बरीश, सगर, नहुष पुत्र ययाति, यदु, मान्धाता, अलर्कराजा, शतधन्वा, रन्तिदेव, भीष्म, बलि, दिलीप, सौभरि, उत्तङ्क, शिविराजा, देवल, पिप्पलादि, दधीचि, उद्धव, पराशर, भूरिषेण और भी हनुमान, विभीषण, परीक्षित् राजा, अर्जुन, अष्टिषेण और श्रुतदेव ये सब भगवान्की मायाको जान गये और तर भी गये।।४३–४५।।

व्याख्यार्थः भगवन्मायाको तरने वालोंमें तीन प्रकारके भक्त हैं साक्षात्भगवान्की ही भक्ति करने वाले भक्तोंको तीन श्लोकोंमें एकत्र कहे हैं. और एक श्लोकमें भक्तोंके भक्तको. ये सब भगवान्के एकांशको समझने वाले हैं. पूर्वोक्त अधिकार न हो और ऐसे भी हो जावे तो एकांशकी धारणा सिद्ध हो जावे. इसमें भी अनेक अधिकारके भक्त हैं. सबसे पहले उत्तमाधिकारी ब्रह्मा और सबसे अन्तिम शुकपक्षी. 'तिर्यक् जन्म' आदि पदसे जिसे कहा उसका केवल शब्दमात्रसे भगवान्की धारणा या आश्रय है. 'गोविन्द राम कृष्ण' आदि शब्दोंका ही उच्चारण करता है, इसलिए पहले सुआका अधिकार सिद्ध हो तब उसके

आगेके अधिकारको प्राप्तिके प्रयत्न करना चाहिये. पहला अधिकार मिल जाने पर अगेके क्रमसे ब्रह्मा पर्यंतके अधिकार होते हैं. यही सब 'पदादियावद्भसितं गदामतः' इस वाक्यसे कहा है. अथवा चरणाश्रय ब्रह्माको सिद्ध हुआ, यह पादादिका तात्पर्य है. ब्रह्माने ही भगवान्की चरणक्षालन आदि पूजाकी और गंगाको प्रकट किया. शुकादि तिर्यक् भगवान्के हसित हैं. 'वयांसि यद् व्याकरणं विचित्रं' पक्षिगण भगवान्के मुख धर्मरूप हैं. हसित भी मुखधर्म है और यह विचित्र है, अगम्य है. इससे यह भी स्पष्ट है कि निरोधस्कंधमें 'आरुह्य ये द्रुमभुजान्' मुनियोंको द्रुमशाखाओं पर बैठकर भगवत्सेवा करनेका जो अधिकार कहा गया है उसकी सूचना यहां भी की है. यह एकांग धारणाका फल है. धारणासे भक्ति हुई और उससे इस प्रकार भावसम्पत्ति मिली. यद्यपि मुखाधिकार न होनेसे मुख्यफल नहीं मिला तथापि सेवाके उपयुक्त देह मिलना यह अधिकारानुसार फल मिलना ही है. यह ब्रह्मासे लेकर तिर्यक् पर्यंतको यथाधिकार मिलता है.

यहां सबसे प्रथम परम सात्त्विक अधिकारियोंका निरूपण है. उसके अनन्तर राजस और फिर तामस भक्तोंका निरूपण है. ''ज्ञानीत्वामैव मे मतं'' इत्यादि वचनोंके अनुसार ज्ञान हो जाने पर जब भक्ति होती है तब वह भक्तिमार्ग मुख्य कहा जाता है. इसलिए यहां ब्रह्म नारद शिव आदि भगवत्स्वरूप गुण ज्ञानवान् भक्तोंको ही गिनाया है. ये सब लोग भगवान्के स्वरूप और गुणोंके कुछ अंशको जानते हैं इसलिए आपाततः ज्ञान है. ब्रह्माजी नारदसे कहते हैं कि उनमेंसे मैं भगवान् पुरुषोत्तमको योगमायाके स्वरूपको कुछ अंशमें जानता हूं. 'परम' शब्दका अर्थ पुरुषोत्तम है. किसी कल्पमें जिस मायाको जगत् उत्पन्न करनेकेलिए आज्ञा देते हैं उसे 'योगमाया' कहा है. भगवान्की आज्ञाको सबसे पहले धारण करने वाली यह योगमाया है. यह माया आधिदैविकी है. अर्थात् जितना सामर्थ्य भगवान्में है उतना ही इसीमें भी है अतः 'योग' पद दिया है. 'योगमायां' इस मायाके स्वरूपको जान लेता है वही भगवान्के स्वरूपको जान सकता है, जानता है. लोकमें भगवान्का जो प्राकट्य होता है मायाके द्वारा ही होता है. यह जो जगत् हमें दीख रहा है, सुना जा रहा है, वह सब तीनों तरहका भगवान्का ही प्राकट्य है. और वह माया(सर्वभवन सामर्थ्य)के द्वारा ही होती है.

'अहं वेद' इसका अर्थ होता है 'ब्रह्म जानाति'. भगवान्के स्वरूपको ब्रह्मा जानता है इस वाक्यसे यह तात्पर्य है कि ब्रह्माको ज्ञान होनेमें. 'हि' शब्द यहां

हेत्वर्थक है. इस विचित्र जगत्को पैदा करनेमें परस्पर विचित्र गुण ही हेतु है. यद्यपि ब्रह्मा रजःप्रधान गिना जाता है और कहा भी गया है तथापि वह सभी गुणोंको जानता है. अतएव भगवान्के सब गुणोंको प्रसिद्धिमें लानेकेलिए सर्व जगत्का निर्माण करता है. भले गुणोंके कुछ अंशोंकी ही धारणा हो तथापि उतना ही जानता सब गुणोंको है. अन्यथा विचित्र जगत्का निर्माण कैसे करे! यह 'हि' शब्दसे ज्ञात होता है. कितने ही इस मायाको आध्यात्मिकी कहते हैं. वास्तवमें यह ज्ञेया माया आधिदैविकी है. इसलिये ही योगमाया कहा है.

ज्ञाननिष्ठ प्रधान भक्तवर्गको गिनाते हैं. 'यूयम्' नारदको लेकर मरीचि आदि सब प्रजापति सब भगवान्की मायाको जानते हैं. भव अर्थात् श्रीमहादेव भगवान् भी पुरुषोत्तमकी मायाको जानते हैं. महादेव भी ज्ञाननिष्ठ प्रधान भक्त हैं. कोई हलके आदमी श्रीमहादेवकी विरुद्ध तामसचर्याको देखकर उन्हें अभक्त न समझ ले इसलिए 'भव'के साथ 'भगवान्' पद दिया है. इसका निर्णय प्रथम सुबोधिनीमें कर चुके हैं. ब्रह्मा, नारदादि मुनि और महादेव भगवान्, ये तीनों सात्त्विक और प्रथम भगवद्भक्त हैं. अब केवल ज्ञाननिष्ठ चारों सनकादि ऋषियोंको एक रूपसे गिनते हैं. 'दैत्यवर्यः'. यहां 'दैत्यवर्य' शब्दसे सनकादि ही एक वार लेने और वे चारों एकरूप हैं इसलिये एक वचनसे कहे, अन्यथा इन्हें भी राजसमें गिना जाता सो राजसी भक्तों(इक्ष्वाकु आदि)में न गिन कर ज्ञाननिष्ठोंमें रखा. इससे मालूम होता है कि 'दैत्यवर्य' शब्दसे सनकादिको ही ग्रहण किया है. 'दैत्यवर्य' शब्दकी तन्त्रसे आवृत्ति यहां अभीष्ट है. एक 'दैत्यवर्य' शब्दसे सनकादिका ग्रहण कर 'अथ' शब्दका प्रयोग कर लेना और फिर दूसरे 'दैत्यवर्य' शब्दसे प्रह्लादको ग्रहण किया है. यद्यपि ध्रुव पर्यंत ज्ञाननिष्ठ भक्तोंकी ही गणना है तथापि मध्यमें 'अथ' शब्दको लेकर जो 'दैत्यवर्य' शब्द कहा है इसका तात्पर्य यह है कि प्रह्लाद, सब ज्ञाननिष्ठ भक्तोंमें मुख्य है, इसलिए भिन्न क्रम दिखाया है.

मनुकी पत्नी शतरूपा और स्वयंभूमनु पतिसे, प्रथम पत्नीको गिननेका तात्पर्य यह है कि 'कायम्' शब्दसे अनिर्दिष्ट विशेष्य 'का' कहा है और अनिर्दिष्ट विशेषण 'अय' कहा है. तो प्रथम स्त्रीत्वका ही निर्देश किया है. लोककार्यमें स्त्रीको ही प्राधान्य दिया गया है. सब जगह जो 'च'कार दिये गये हैं उनसे उन उनके आत्मीयोंका ग्रहण कर लेना चाहिये. मनुके पुत्र प्रियव्रत, उत्तानपाद, आकूति, देवहूति प्रभृति प्राचीन बर्हिराजा, विष्णुपुराण प्रसिद्ध ऋभु, वेनका पिता

अङ्गराज और ध्रुव. ध्रुवकी सिद्धि सर्व प्रसिद्ध है इसलिये 'उत' शब्द कहा है. योगमायाको उन्होंने जानी और तरी भी.

अब राजस भक्तोंको गिनाते हैं. इक्ष्वाकु, ऐल, मुचकुन्द, विदेह, जनक गाधिराजा, रघु, अम्बरीष और सगर राजा. गय और ययाति. 'आदि' शब्दसे यदु प्रभृति भी. मान्धाता, अलर्क राजा, शतधन्वा, तदनंतर, रन्तिदेव और भीष्मपितामह. यहां एकवद्भाव न होना और नपुंसक भी न होना छांदस प्रयोग है. दिव्यशक्ति बलिराजा और दिलीप. सौभरि ऋषि, उतङ्क, शिबि, देवल ऋषि और पिप्पलाद. सारस्वत, दधीचि ऋषि, उद्धव, पराशर ऋषि और भूरिषेण, और भी जो दूसरे विभीषण, हनुमान, परीक्षित राजा, पार्थ अर्जुन आर्ष्टिषेण विदुर श्रुतदेव भक्तवर्य. ये सब भगवन्मायाको जानते हैं और उसको तर भी गये हैं. इतना ही नहीं स्त्री–शूद्र आदि और हूण–भील आदि पापवृत्ति लोग भी. सो आगे कहते हैं।।४३–४५।।

आभासार्थ: अब सबका फल कहते हैं:

ते वै विदन्त्यति तरन्ति च देवमायां स्त्री–शूद्र–हूण–शबरा अपि पापजीवाः।
यद्यद्भुत–क्रमपरायण–शीलशिक्षास्तिर्यग्जना अपि किमु श्रुतधारणा ये।।४६।।

श्लोकार्थ: जो देवमायाको जानते हैं वे ही देवमायाके पार जाते हैं. स्त्री, शूद्र, हूण, शबर आदि जो पाप किये हुए हैं जो पापसे ही जीविका चलाने वाले हैं, यदि भगवान्के सेवक और शीलकी शिक्षा पाये हुए हैं ऐसे पशु पक्षी आदि भी तर जाते हैं तो जिन्होंने ज्ञान सुन–सुनकर उसे धारण किया है उनकी तो बात ही क्या है।।४६।।

व्याख्यार्थ: भगवान्की मायाको जानकर तर जाते हैं. हम सबको भी मायातरणका उपाय बताते हैं: स्त्रीशूद्रवर्ग, हूण जन, शबर(भील) आदि भी मायाको तर जाते हैं. तामसोंमें भी स्त्रियां सात्त्विक हैं शूद्र राजस हैं और हूण तामस हैं. शबर आदि इनसे भी हलके हैं. पापसे जो अपना जीवन चलाते हैं वे पापजीवी कहे जाते हैं, ये और पूर्व श्लोकोक्त सब लोग मायाको जान लेते हैं और उसे ही जानकर तर भी जाते हैं. ये लोग भक्तोंके भक्त हैं. अद्भुत पराक्रम भगवान् हैं. भगवान्की क्रियाशक्ति अचिन्त्य है. ऐसे भगवान्की भक्तिमें जो तत्पर रहते हैं, सावधान रहते हैं, वे अद्भुत पराक्रमपरायण कहे जाते हैं. सामान्यतः भगवत्परायण होना हर एककेलिए सुलभ है. किन्तु अद्भुत पराक्रम भगवान्के

परायण(तत्पर भक्त)तो एक क्षणकेलिए भी अन्यचित्त नहीं हो सकते. क्योंकि ये यदि थोडे क्षणकेलिए भी अन्यमना होवें तो भगवान् अद्भुत पराक्रम होनेने अन्यत्र चले जाय. धारणा-वारणा सब कहींकी कहीं हो जाय. इसलिए ऐसे भगवान्के धारण करनेवाले भक्त बहुत दुर्लभ हैं. ऐसे दुर्लभ भक्तोंके आचरण ग्रहण करके जो स्त्री शूद्र हूण और पापजीव भी भक्त हों तो वे भगवन्मायाको तर जाते हैं. अद्भुत पराक्रमोंके उपदेशको ग्रहण कर और वे जिस तरह भगवान्के धारणमें तत्पर रहते हैं. इस तरह ये भी उनकी तरह ही उपदेशके अनुसार उनके आचरणोंको भी, सावधान दीनता पूर्वक तदनुसार करते रहें तो भगवन्मायाको तर जाते हैं.

स्त्री, शूद्र, हूण और पापजीव शबर आदि मनुष्य भगवद्भक्तोंका आश्रय लेकर भगवन्मायाको तर जावे इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि ये मनुष्य हैं, अतएव सुनी हुई बातोंको समझ और धारण कर सकते हैं. किन्तु पशु पक्षी आदि जीव जो सुनी हुई बातको धारण नहीं कर सकते हैं वे भी यदि भगवद्भक्तोंका आचरण अपने स्वभावमें ला सकें तो मायाको तर जाते हैं. इसमें द्रष्टांत शुक पक्षी है. शुक सारिका आदि पक्षियोंको भी भगवन्नाम संकीर्तनसे उत्तम गति प्राप्त हुई, यह प्रसिद्ध है. इससे यह सिद्ध होता है कि बड़ोंसे लेकर छोटे जीव पर्यंत जिनमें दीनतापूर्वक सदाचार सम्पत्ति भगवान्का आश्रय होगा वो जीव भगवान्की मायाको पार कर जावेंगे. और वैसे देखा जाय तो मायाका ज्ञान और तरण एक अंशमें ही होता है. सर्वथा सब मायाका ज्ञान तो असम्भव ही है. और भगवद्भक्तोंका संग भी यदि न करे तब तो कुछ भी न हो।।४६।।

आभासार्थः इस तरह 'एकैकांशोऽङ्गानि'के अनुसार एकांश धारणाका स्वरूप कहकर अब 'जितं जितं स्थानम् अपोह्य धारयेत्' इसके अर्थका उत्पत्तिसे विचार करते हैं:

शश्वत् प्रशान्तम् अभयं प्रतिबोधमात्रं शुद्धं समं सदसतः परमात्मतत्त्वम्।
शब्दो न यत्र पुरुकारकवान् क्रियार्थो माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना।।४७।
तद् वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो ब्रह्मेति यद् विदुरजस्रसुखं विशोकम्।
सध्र्यङ् नियम्य यतयो यमकर्तहेतिं जह्युः स्वराडिव निपानखनित्रम् इन्द्रः।।४८।।

श्लोकार्थः सदा वर्तमान गुणत्रयकी घबराहटसे रहित, निर्भय, केवल अद्वैत ज्ञानस्वरूप, आनंदरूप, सद्रूप कार्य-कारणभाववाले स्वरूपसे अलग और जिसे आत्माका परमार्थ स्वरूप किंवा वस्तुतत्त्व कहते हैं; और जिसके

वर्णनमें सब कारक क्रियाओं सहित शब्द(वेदादि) राशि भी समर्थ नहीं होती, माया भी जिसके सामने आती लज्जित होकर दूर चली जाती है. यह पदार्थ भगवान् पूर्ण पुरुषोत्तमका चरणारविन्द है जिसको ब्रह्मवेत्ता पुरुष वेद ब्रह्म-अक्षरब्रह्म नामसे जानते हैं. वास्तवमें दुःखाभाव परम सुखरूप यह फल है.

वशीकृत मनवाले यति लोग इस भगवच्चरणारविन्द अक्षरब्रह्मको ग्रहण करके फिर अन्य फल और सुखके साधनोंका परित्याग कर देते हैं. जैसे मेघोंका राजा जमीन खोदकर जल निकाल लेनेके साधनोंको नहीं रखता.।।४७-४८।।

व्याख्यार्थः धारणाके द्वारा जीते-जीते भगवान्के अवयवोंको मूल स्वरूपमें मिलाकर छोड़ते जाना, और फिर जपके बाद सबको एक स्वरूपमें हो सर्वदा देखता रहना यह धारणाका स्वरूप है. इसीके विषयमें कहते हैं कि भगवान्के स्वरूपका जो अंश अपनी आत्मा होकर स्वयं ही दृष्टिमें सर्वदा आता रहे वही भगवदंश स्वाधीन हुआ कहा जाता है. ऐसा न होने पावे और अपनी बुद्धिसे तर्कसे जो उस स्वरूपको हृदयमें बैठाया जावे तो अपनपेके साथ एक न हो जानेसे जिस समय वह बुद्धि हटेगी उसी समय वह स्वरूप भी निकल जाएगा, स्थिर न होगा. बस चरणसे लेकर श्रीमस्तक पर्यंत सब ही पुरुषोत्तम मार्गोका स्वरूप यही है, जिसका निरूपण हो रहा है. 'चरण' शब्द सर्वसामान्यको समझानेकेलिए है. 'पाद'का अर्थ अंश' है. 'पादो अस्य विश्वा भूतानि' इस श्रुतिमें इसका निर्णय हो चुका है. भगवान्के पाद अर्थात् किसी एक अंशका पहले स्वरूप विचार कर लिया जाय तो फिर अन्यांग भी तदनुसार ही स्वयमेव समझमें आ जावेंगे. इसलिए पहले भगवच्चरणका स्वरूप विचार करते हैं: 'तद्वै पदं भगवतः यत् शश्वत्' इत्यादि.

भगवान्का यह पद(स्थान अंश) धाम आसन चरणाभरण, आयुध, लोक आदि अनेक रूपोंसे समय-समय पर प्रकाशित होता रहता है.

भगवान्के इस चरणारविन्दमें ये शाश्वत्(सदावर्तमानता) आदि विशेषणोंसे कहे गये दस धर्म लीलारूप हैं. पुरुषोत्तममें सर्ग-विसर्गादि दस धर्म हैं. इस तरह इस पुरुषोत्तमके चरणमें ये लीलारूप धर्म विशेष हैं. वेदमें श्रीपुरुषोत्तम और चरणरूप अक्षरब्रह्म दोनोंमें सर्गादि धर्मोंका निरूपण है किन्तु इस चरणका यह रूप ऐसा होता है जिसमें ये दशधर्म विशेष हैं, अनन्यादृश है. इतना ही नहीं भगवान्के श्रीअंगोंमें ये लीलारूप दशधर्म रहते हैं. अस्तु यहां तो चरणारविन्दका

निरूपण चल रहा है. इसलिए इसके निरूपणमें पहला धर्म 'शश्वत्' है. जो सदा वर्तमान रहे वह चरण. जो कभी नहीं वह चरण(भगवदंश) नहीं है. इससे कालसे भगवान्के स्वरूपका निर्धार हुआ समझिए. कालके द्वारा उस चरणका नाप सर्वथा नहीं हो सकता. बस यही उसका कालद्वारा निर्धार है. जिसका कालसे परिच्छेद हो जाय वह भगवच्चरण नहीं. कालापरिच्छिन्नता ही कालसे निर्धार है.

यह चरण 'प्रशांत' है. श्रीपुरुषोत्तम प्रशांत-अप्रशांत दोनों हैं, पर यह अक्षर चरण प्रशांत है. सत्वादि तीनों गुणोंका कोई भी विकार यहां नहीं है. यद्यपि सत्व भी शांत कहा जा सकता है किन्तु दया सात्विक है. पर दयामें क्षोभ हुए बिना नहीं रहता किन्तु यहां दयादि सात्विक विकार भी नहीं है. यह दिखानेकेलिए ही 'प्र' शब्द दिया है. 'प्रशांतम्'. इस विशेषणसे प्रेय और प्रेरककृत परिच्छेदका निवारण किया है. प्रेरककाल और प्रेर्य सत्वादि. दोनोंके द्वारा इस चरणका परिच्छेद(नाप) नहीं हो सकता. अब सर्वपरिच्छेदक कालसमष्टि भी इसको नाप नहीं सकता यह कहते हैं: 'अभयम्'. यह चरणस्थान सर्व भयोंसे रहित है. अनित्यता विकार और भयसे संसारके धर्म हैं किन्तु ये तीनों संसारि धर्म इस चरणमें नहीं हैं. ये ही दोष हैं, जब ये इसमें नहीं हैं तब इसमें दोष मात्र नहीं है, यह सिद्ध है. अब दोषाभाव कहकर चरणके स्वरूपको कहते हैं: 'प्रतिबोधमात्रं शुद्धं समम्' यह अक्षरब्रह्म भगवान्का चरण केवल अनुभवरूप है.

किसी भी अनुभवमें, प्रमाता(अनुभवकर्ता) प्रमाण(ज्ञान) और प्रमेय (अनुभवमें आती वस्तु) ये तीन पदार्थ रहते हैं. किन्तु इस चरणके अनुभवमें ये तीनों भेद नहीं है. किन्तु यह पदरूप अनुभव प्रमाण-प्रमाता-प्रमेय सम्बन्धसे रहित है, केवल अनुभव रूप ही है. तीनों तरहके सम्बन्धसे रहित जो प्रमा (अनुभवज्ञान) वही भगवत्पद है. 'मात्र' पद देनेसे ही प्रमाकी विशुद्धता स्पष्ट हो चुकी है फिर 'शुद्ध' पद क्यों दिया? यह आशंका हो सकती है, पर यहां 'शुद्ध'का अर्थ आनन्द है. अर्थात् यह पदरूप अनुभव आनन्दस्वरूप है. आनन्दानुभवको ही भगवच्चरणारविन्द कहते हैं. और 'सम' अर्थात सत् स्वरूप है. इस तरह उस भगवान्के चरणारविन्दको सच्चिदानन्द कहा. यह सद्रूप चिद्रूप और आनन्दरूप है. त्रिकालमें अबाधित आनन्दके अनुभवको भगवान्का चरणारविन्द अक्षरब्रह्म कहते हैं. यह सिद्ध हुआ.

अब आगेके विशेषणोंसे यह दिखाते हैं कि यह भगवत्पद

सर्वव्यवहारातीत है. इसके स्वरूपमें किसी तरहका व्यवहार नहीं किया जा सकता. दुनियामें साधारणरूपसे पदार्थ मात्रका दो तरहका व्यवहार किया जाता है: या तो 'सत्' या 'असत्'. कारण अवस्थामें घटादि कार्य दीखता नहीं है इसलिए कितने ही उसे असत् कह देते हैं. कारण मृत् आदि सर्वदा दीखते हैं अतः उसे सत् कहते हैं. पर यह भगवत्पद सत् और असत् दोनोंसे परे है, अतीत है. इस पदका केवल रूपमें सबको प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिए सत् (है) रूपसे व्यवहार नहीं हो सकता और सबके साथ और अपनपेके रूपमें सर्वदा अनुभव होता रहा है, इसलिए 'असत्'रूपसे ही इसका व्यवहार नही हो सकता. 'सद्सतः परं'.

यहां सत् और असत् पदका परोक्ष अर्थ कारण–कार्यरूप है. दुनियामें दो प्रकारके पदार्थ ही दृष्टिगोचर होते हैं. या तो कार्यरूप या करणरूप. घट कार्यरूप है और मृत्तिका आदि कारणरूप है. वस्तु और वस्तुतत्व. इन दोनों पदार्थोंका एक और रीतिसे भी व्यवहार चल रहा है. वह चार प्रकारका व्यवहार है:

१.प्रपंचरूपसे
२.आत्मीयरूपसे
३.शब्दसे और
४.शब्दार्थरूपसे.

घट प्रपंच भी है, आत्मीय(हमारा) भी है, शब्द रूप भी है और शब्दका अर्थ रूप भी है. यही मृत्तिका भी है. पर यह भगवत्पद अक्षर ब्रह्म होकर भी पूर्वोक्त सब कुछ नहीं है. न कारण है, न कार्य है, न प्रपंच है, न आत्मीय है और न शब्द है और न शब्दका अर्थरूप ही है. यदि 'सद्सत्' पदका प्रकृति अर्थ करें तो यह किसीकी प्रकृति भी नहीं है. प्रकृतिसे भी परे है. यहां, 'पर' किंवा 'अतीत' शब्दका अर्थ 'नहीं हैं' नहीं लेना, किन्तु अधिक बढ़ा हुआ किंवा 'अनन्त' अर्थ लेना. जो है उसे नहीं तो कह नही सकते और जो सर्वरूप है उसे भी(नहीं) नहीं कह सकते. इसलिए यहां तन्मात्रताका भी निषेध है. अर्थात् यह पद कार्य ही नहीं है कारण ही नहीं है, प्रकृति ही नहीं है, प्रपंच ही नहीं है, आत्मीय ही नहीं है, शब्द ही नहीं है और शब्दार्थ ही नहीं है. किन्तु सब कुछ वही नहीं है अतएव निषेधशेष है. सदसत् दोनोंसे पर हैं. अर्थात् प्रपंचातीत है. प्रपंच सत् और असत् दोनों है और यह अक्षरब्रह्म पद, सदसत् दोनों ही न रहकर उनसे अतीत है. उनसे भी पर है. प्रपंच व्यवहार है. इस व्यवहारसे यह पद अतीत है. पुरुषसूक्ताध्यायमें इस

ब्रह्मकी अतीतताका निरूपण हो चुका है. यहां यह अतीतता किंवा परताका निषेध अर्थ करें तो पहले अध्यायोंसे विरोध आवे. इसलिए यहां 'सदसतः परं'का अर्थ अधिक ही करना पडेगा. 'तन्मात्र नहीं है' यह अर्थ करना पड़ता है. यह आत्मीय भी नहीं है. आत्माके सम्बन्धीको आत्मीय कहते हैं. किन्तु यह अक्षरब्रह्म सबका आत्मा है. इसका कोई आत्मा नहीं है. इसलिए यह किसीका आत्मीय नहीं है. कदाचित् कोई कहे कि भले सबका आत्मा नहीं तो भी आत्मारूपसे तो व्यवहार हो सकता है? अर्थात् यह व्यवहार्य कहा जायगा! इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'आत्मतत्त्वं' 'आत्मनस्तत्त्वं' न आत्ममात्र. यह ब्रह्म आत्मा भी नहीं है, आत्माका भी तत्त्व है, सार है, गूढ़ रूप है. दुनियामें दो पदार्थ हैं वस्तु और वस्तुतत्त्व, जिसको हम समझ सकें, जिसमें फेरफार कुछ हो सके वह वस्तु, और जिसे हम समझ ही न सकें और जिसमें कभी भी फेरफार न हो वह वस्तुका तत्त्व. जैसे सुवर्ण और गहना. गहना वस्तु है. उसे हम समझ सकते हैं और उसमें फेरफार भी होता देखा है. किन्तु सुवर्णमें फेरफार नहीं हो सकता और समझमें भी नहीं आता. सुवर्ण गहनेका तत्त्व है. ऐसे वस्तुतत्त्व बहुत हैं, अनन्त हैं. जैसे सुवर्ण, मिट्टी, रुई, बीज प्रभृति आदि. किन्तु वास्तवमें देखा जाय तो ये भी वस्तु ही हैं. तत्त्व नहीं. क्योंकि सुवर्ण भी भस्ममें परिवर्तन होता है. और छेदने आदिसे वह समझमें भी आता है, इसलिए वस्तु ही है तत्त्व नहीं. दुनियाके व्यवहार्य तत्त्व सुवर्ण आदिकी सबकी यही दशा है. सब ही वस्तु है. वस्तुतत्त्व नहीं.

वास्तवमें सब वस्तुओंका तत्त्व आत्मा है. शास्त्रसिद्ध है. गीतामें इसकी युक्तियां दी गई हैं. छेदन, दाह, शोषण और भिगो देना आदि युक्तियोंसे वस्तुओंकी परीक्षा होती है, इनका समक्ष होता ही है, उनमें फेरफार भी मालूम होता है, किन्तु यह आत्मा–चैतन्य तो अछेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है. **''नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः, न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः''**. आत्माको काटकर भी कोई समझ नहीं सकता. जलाकर भी ताप देकर भी इसे कोई समझ नहीं सकता. भिगोकर भी नहीं और सुखाकर भी नहीं समझ सकता. इत्यादि–इत्यादि कारणोंसे यह आत्मा वस्तु नहीं, पर वस्तुतत्त्व है, किन्तु यह भी यहां व्यष्टि आत्माकी चर्चा नहीं है किन्तु समष्टि व्यापक आत्माकी है. व्यष्टि आत्मा देही है. इसको चेतनता आदिका अनुमान या प्रत्यक्ष करके कोई समझ लेता है. आरोपित ही सही पर इसमें फेरफार सुखी–दुःखी आदि हो सकता है.

और 'मैं' आदि शब्दोंसे इसमें व्यवहार भी हो सकता है. किन्तु यह अतीत पर अक्षरब्रह्मरूप भगवत्पद तो किसी तरह समझमें नहीं आता. न इसमें फेरफार होता है और न यह व्यवहार्य होता है. यह आत्मारूपसे व्यवहार्य नहीं है किन्तु 'आत्मनः तत्त्वं' आत्माका भी तत्त्व है. वास्तविक तत्वको समझ लेनेकेलिए स्वरूप और लक्षण हम कह चुके हैं. आत्मीय रूप व्यवहार, अन्य कृत होता है, किन्तु आत्मासे अन्य कुछ है ही नहीं. आत्मा नित्यसिद्ध पदार्थ है, इसलिए वहां किसी तरहसे भी व्यवहार नहीं हो सकता. शब्दकृत व्यवहार भी इसे भगवच्चरणमें नहीं हो सकता सो कहते हैं: 'शब्दो न यत्र'. शब्द दो तरहका है: कारक और क्रिया. किन्तु यह भगवच्चरण कारकका भी अर्थ नहीं है और न क्रियाका ही अर्थ है. यह सुबन्तका भी अर्थ नहीं और तिड़न्तका भी अर्थ नहीं है. कर्मत्व, करणत्व आदि भी इसमें नहीं है इसलिए यह कारक भी नहीं होता और यह अव्यङ्ग्य है, अज्ञेय है, अक्रिय है इसलिए क्रियाका भी अर्थ नहीं है. मानसिक क्रिया रहित है, अतएव प्रत्ययका भी अर्थ नहीं है. सुबन्त और तिड़न्त दोनोंका जब अर्थ नहीं है, क्योंकि शब्द-संसारमें ये दोनों ही प्रधान है तब फिर अप्रधान उपसर्ग-निपातादि का अर्थ तो यह कैसे सम्भव है? नाम(शब्द) और आख्यात(धातु)का सम्बन्ध जब दूर कर दिया तो फिर यह भगवत्पद वाक्यका अर्थ भी नहीं है यह सिद्ध है. 'अर्थ' शब्द यहां व्यङ्ग्य या फलवाचक समझना. अर्थात् सुबन्तसे व्यङ्ग्य किंवा सुबन्तका फल, तिङ्गन्तसे व्यङ्ग्य किंवा तिङ्गन्तका फल नहीं है. सबसे निर्लेप यह भगवच्चरण है.

अब यहां यह विचार होता है कि भले वास्तविकता कुछ भी हो किन्तु मायिक व्यवहार तो भगवत्पदमें भी हो सकता है. 'प्रसङ्गो ह्यय पूरुषः' इत्यादि श्रुतियोंमें व्यष्टिरूप शुद्ध चेतनको भी जब भगवान्की आज्ञासे माया आकर घेर लेती है तब अज्ञानादि अभूत धर्म भी उसमें आ जाते हैं और उनको दूर करानेकेलिए गुरु-पिता आदि ऐसे जीवोंका शिक्षा आदिके द्वारा व्यवहार्यत्व होता ही. इसी तरह इस भगवत्पदमें भी मायिक मूल प्रभृति दोषोंकी निवृत्तिकेलिए व्यवहारिता होनी सम्भव है.

इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'माया परैति' मोहिका माया तो इसके दूरसे ही दर्शन करके कहींकी कहीं भाग जाती है. दूर भाग जानेमें कारण लज्जा है यह मोहिका माया भगवान्के चरणोंकी दासी है. भगवान् स्वयं अनन्त ज्ञानके निधि हैं

और अन्यथाज्ञान या अज्ञान(माया) भी ज्ञानके अंश हैं. ये सब प्रकारके ज्ञान उस ज्ञाननिधिके वशवर्ती है. अतएव माया चरणदासी है. ये भगवज्जनोंको मोहना चाहती है. तब ही भगवान् इस कार्यको जान जाते हैं. इसलिए यह लजाकर दूर भाग जाती है. इस भगवच्चरणके आगे ही लज्जित हो जाती है. इतना ही नहीं पर जो इस चरणके सम्मुख हो गये ज्ञानी लोग, और जो इस चरणकी सेवा करनेवाले भक्त लोग उन सबके आगे भी यह लज्जित हो जाती है. 'विलज्जमाना' पदमें 'वि' देकर लज्जाका आधिक्य दिखाया है. इसका तात्पर्य इतना ही है कि इस चरणके आगे यह माया अपना मोहनादि कार्य एक अंश भी नहीं कर सकती. उसे इतनी अधिक लज्जा आ जाती है.

इस तरह 'शश्वत्' आदि दस विशेषणोंसे इस भगवत्पदका लक्षण किंवा स्वरूप कह चुके. अब उपनिषद् आदि वेदांतोंमें इस भगवत्पदकी क्या प्रसिद्धि है सो कहते हैं 'ब्रह्मेत यद्विदुः'. वेदांतका विचार करनेवाले ऋषि इस भगवत्पदको 'ब्रह्म' नामसे जानते हैं, प्रसिद्ध करते हैं. यह ब्रह्म सर्वव्यापक है. अतएव इसीमें जब कुछ समूह ईश्वररूपसे बाहर प्रकाशित होता है तब वह 'भगवान्' कहा जाता है और यह पूर्वोक्त सच्चिदानन्द उस भगवान्का पद(चरण) कहा जाता है. और इसीमें कोई नियामक होकर प्रकाशित होता है (हंसरूप)होता है तब 'परम्' कहा जाता है. और यह पुच्छ प्रतिष्ठा आदि कहा जाता है. और जब कभी इसीमें कोई समूह भोक्तारूप होकर प्रकाशित होता है तब वह पुमान् (तृतीय पुरुष) कहा जाता है. यह लोक विश्वभोग्य होता है. इसलिए इसी अक्षरब्रह्मको यदि किसी शास्त्रमें ब्रह्म, भगवान्, परम्, पुमान, चरण, स्थान, विराट, भोग्य और चरणाभरण आदि शब्दोंसे कह दिया हो तो विरोध नहीं समझना चाहिये. क्योंकि यह सर्वसमर्थ होनेसे व्यापक होनेसे सब कुछ हो जाता है. इसीसे सर्वनिर्णय निबन्धमें कितनी ही कारिकाओंमें इस भगवत्पदका अनेक प्रकारका वर्णन किया गया है. **''मूला विच्छेदरूपेण तदाधार तथा स्थितः''**.

इस प्रकार प्रसिद्धि बताकर अब इससे सम्बन्ध रखनेवाला सद्रूप फल क्या है? सो कहते हैं 'अजस्र सुखं विशोकम्'. यह भगवच्चरणारविन्द परमानन्द और दुःखाभाव रूप फल है. दुनियामें भी दो ही फल माने गये हैं: १.दुःख न होना और २.अपरिमित सुख होना. सो यह भगवच्चरण भी अपरिमित सुखरूप और दुःखाभाव रूप है और फलात्मक भी हैं.

इतने ग्रंथोंसे यह स्पष्ट होता है कि यह भगवान्का चरण लौकिक–वैदिक सब ही व्यवहारोंसे पृथक् है. तथापि वेदांतप्रसिद्ध भी है. गणितानन्द भी है, परमानन्द भी है, ज्ञान स्वरूप भी है और आनन्द स्वरूप भी है. यह भी पुरुषोत्तमकी तरह विरुद्धधर्माश्रय है.

अब इस फलकी साधना क्या है सो कहते हैं: 'सघ्र्यङ् नियम्य'. अविजित मन इस आत्मा (अपनपे)को संसारमें खींचकर ले जाता है. इसलिए ऐसे मनको सघ्र्यङ् कहते हैं. उस सघ्र्यङ् मनको नियममें लाकर अर्थात् मनमें वैसे भावको दूर करनेके बाद यति लोग साधनोंका त्याग कर देते हैं. अन्यत्र भगवच्छास्त्रोंमें कहा है कि सावन मात्र इस अविजित मनको वशमें करनेकेलिए ही कहे गये हैं, फल प्राप्तिकेलिए नहीं 'दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च श्रुतानि कर्माणि च सव्रतानि' 'सर्वे मनोनिग्रह लक्षणान्ताः परो हि योगो मनसः समाधिः'. आवरण हटनेके बाद दुःखाभाव सुखरूप फल तो प्राप्त हो ही जाता है. इसलिए जिन्होंने अपने मनको वशमें कर लिया है वे लोग अकर्तावस्था प्राप्त करानेवाले नियमन जनक साधनोंका परित्याग कर देते हैं. मनके विषम भावोंको दूर करके निर्मल बना लेना यह भीतरके साधन हैं और त्याग या सन्यास बाह्य साधन है. भीतरका कार्य जब बन जावे, मन निर्मल हो जावे तब वैसे मन और उन नियामक नियमोंका भी परित्याग कर दे, यह त्याग या सन्यास है. दोषाभावसे लेकर सुख प्राप्तिरूप फल भगवच्चरणारविन्द विजित पदार्थ है. प्राप्त किया पदार्थ. सो उसका शश्वत्से लेकर यतयः' पर्यंत विचार कर लिया. असंलग्न अवयवोंका धारण निषिद्ध है, अतएव जब भगवत्पदका धारण विचार किंवा जय हो गया तो समझ लेना चाहिए कि सम्मिलित सर्वावयव भगवत्पदार्थका ही धारण विजय किंवा विचार हो चुका. इसलिए कहा है कि 'विजितार्थः विचारितः' भगवान्के चरणका सब हो स्वरूप 'यतयः' पर्यंत विचार लिया गया. पर अब जितं जितं स्थानमपोह्य धारयेत्' इत्युक्त उत्पत्तिका विचार करते हैं–'यमकर्त हेति' कितने ही

असंप्रज्ञात समाधिमानी लोग यह मान बैठे हैं कि मनको वशमें करनेकेलिए हरि आदि अभीष्ट मति(स्वरूप) प्रभृतिका धारण करना उचित है, किन्तु जिन–जिन स्थानोंका परित्याग भी कर देवे, तब अन्तमें एकात्म समाधि होती है इसे ही असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं, किन्तु यहां वह अर्थ नहीं है. यहां धारणाके द्वारा जिन भगवत्पदोंको स्थानोंको स्वाधीन कर लिया है उनका

परित्याग कहना नहीं है. 'जह्युः' पदका यह अर्थ नहीं है. किन्तु साधन परित्याग अर्थ है. विजित धारित भगवत्पदोंका ही यदि परित्याग कर दिया जाय तो फिर पूर्वकृत सब प्रयत्न ही व्यर्थ हो जावें. किन्तु 'जितं-जितं स्थानमपोह्य' यहां जो अर्थ है वही अर्थ यहां 'जह्याः' पदका भी है.

वहां यह अर्थ है कि साधनोंके द्वारा भगवत्पदोंका जय किया, धारण किया. ऐसी अवस्थामें भगवत्पद भी है और साधन समुदाय भी वहां ही रहे हैं. तब पदाश्रित साधनसमुदायको दूर करके 'अपीत्थ' 'धारयेत्'. अर्थात् साधन सहित पदको जब जीत लिया, धारण कर लिया, तब भगवच्चरणारविन्दोंको तो धारण कर लेवे और साधनसमुदायका परित्याग कर देवे. 'जह्युः' पदका भी यही अर्थ है क्योंकि उसीका यह विवरणाध्याय है.

यदि कोई प्रश्न करे कि यह साधनसमुदायका परित्याग क्यों? तो कहना चाहिए कि अग्रिम श्रीअंगोंकी धारणा करनेकेलिए. एक श्रीअंग दूसरे श्रीअंगसे सम्बन्ध रखता है. पूर्व अंगका जब साधनद्वारा धारण कर लिया, जय कर लिया, तब फिर आगेके श्रीअंगका धारण करना उचित है. अतएव पूर्व साधनोंका परित्याग करना ही चाहिए. 'धारयेत् परं परं'का भी यही आशय था. और 'जह्युः' पदका भी यही है.

अब इसको दृष्टांतसे स्पष्ट करते हैं: 'स्वराडिव निपानखनित्रं'. जैसे स्वर्गादिका अधिपति, मेघ आदिका स्वामी, कुआ खोदनेके साधन कुदाल फावड़ा टांकी प्रभृतिका परित्याग कर देता है. जल प्राप्तिकेलिए कुआ खोदनेके साधनोंका ग्रहण किया जाता है किन्तु जो अनन्त जलोंका स्वामी उनका परिग्रह क्यों रखेगा, त्याग ही करेगा. इसी तरह जो साधक प्रारम्भमें भगवच्चरणारविन्दके माहात्म्यको नहीं जानता वह उस भगवत्प्राप्तिके लालचसे क्षुद्र साधनोंका भी परिग्रह करता है. धीरे-धीरे उच्चाधिकार प्राप्त होनेसे पदके माहात्म्यसे ही जब पदकी सम्पत्ति मिल जाती है तब वह समझता है कि पहले क्षुद्र साधनोंको मैंने जो अनुष्ठानसे किया है वह मेरी भूलसे किया है. इसलिए उस अवस्थामें उनका त्याग कर देता है. और स्वराट् साधक उच्च साधनोंका ग्रहण करता है. फिर जब सर्वांशमें फलकी प्राप्ति हो जाती है, भगवत्स्वरूपकी स्फूर्ति हो जाती है, तो इन्द्र (परमात्मा) बनकर परम ऐश्वर्य प्राप्त कर लेता है. ऐसी अवस्थामें क्षुद्र और अक्षुद्र सब ही साधनोंका परित्याग कर देता है।।४७-४८।।

आभासार्थः इस तरहसे उद्देश(द्वितीय)अध्यायमें निरूपण किये भगवत्स्वरूपका उत्पत्तिसे विचार करके साधना(तृतीया)ध्यायमें ''**अकामः सर्वकामो वा**'' ''जो निष्काम किंवा आत्मकाम हो वह तीव्र भक्तियोगके द्वारा पर पुरुषका यजन(सेवा) करे''. इस वाक्यसे जिस भगवान्का, फलसाधकरूपसे स्वरूपवर्णन किया. उसके उस अंशका अब यहां उत्पत्तिसे विचार करते हैं:

स श्रेयसामपि विभुर्भगवान् यतोऽस्य भाव–स्वभाव–विहितस्य सतः प्रसिद्धिः।
देहे स्वधातु–विगमेऽनुविशीर्यमाणे व्योमेव तत्र पुरुषो न विशीर्यतेऽजः।।४९।।

श्लोकार्थः जिस भगवान्के सदंशमेंसे इस भाव और स्वभावसे बने जगतकी उत्पत्ति हुई है वो भगवान् फलोंको प्रदान करनेमें भी समर्थ हैं. देह किंवा ब्रह्माण्डमेंसे जब धातु किंवा तत्त्व जाने लगते हैं और जब यह पिण्ड या ब्रह्माण्ड छिन्न–भिन्न होकर नष्ट होने लगता है तब वह अजन्मा अक्षरब्रह्म भगवान् आकाशकी तरह न जीर्ण होता है न छिन्न भिन्न होता है और न नाशको प्राप्त होता है जैसाका तैसा सर्वदा वर्तमान् रहता है।।४९।।

व्याख्यार्थः यह अक्षरब्रह्म वास्तवमें स्वतन्त्र श्रेष्ठमें श्रेष्ठ सर्व पुरुषार्थरूप है. यह जिसे प्राप्त हो जाता है वह पुरुष फिर कृतकृत्य हो जाता है. तथापि यदि कोई सदोष हो अतएव स्वर्ग आदि लौकिक पुरुषार्थोंकी चाहना करे तो यह भगवान् उसे उन पुरुषार्थोंका भी दान करता ही है. कारण कि यह भगवान् सब ही लौकिक–अलौकिक पुरुषार्थोंका स्वामी है, सब पुरुषार्थोंका उत्पादक और दाता है. सर्वसमर्थ है. अतएव इसे शास्त्रोंमें 'भगवान्' कहा है. यद्यपि यह केवल परमानन्दस्वरूप है तथापि भगवान् ऐश्वर्यादि छः गुणोंका स्वाभाविक आधार भी है इसलिये सब पुरुषार्थोंको देनेमें समर्थ है.

यह भगवान् लौकिक प्राकृत पुरुषार्थोंको भी क्यों देता है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'यतः अस्य'. भाव–स्वभावसे बनाये इस विश्वका यह उत्पत्तिस्थान है इसलिए कितना ही जगत् भावविहित है और कितना ही स्वभावविहित है. यह अक्षरब्रह्म सत्, चित और आनन्द है. इसलिए इसके सत् रूपसे यह सद्रूप विश्व पैदा होता है. अर्थात् इसका सद्रूप ही विश्वके रूपमें फैल जाता है. जैसे सुवर्ण ही गहनोंके रूपमें. आधिदैविक और आध्यात्मिक किंवा स्वभावरचित और भावरचित दो तरहका सब जगत् है. स्वभावविहित जगत्में ही आध्यात्मिक जगत्का समावेश है यह अन्यत्र कह चुके हैं. इसलिए दो तरहका कहा. धातुका

जो अर्थ है वह भाव कहा जाता है. यही क्रिया है. क्रिया किंवा धात्वर्थ अनन्त है. क्रिया सत्का धर्म है. 'अस्ति' भी क्रिया है और 'गच्छति' भी क्रिया है. दोनों सद् भगवान्के धर्म हैं. कितना ही जगत् धर्मरूप है. भावविहित विश्वके जितने रूप और नाम हैं वे सब धात्वर्थ हैं, क्रिया हैं. कितनी ही क्रिया नित्य है और कितनी ही क्रिया त्रिक्षणावस्थायिनी हैं. अस्ति किंवा सत्ता आदि क्रिया ही है किन्तु ये नित्य क्रिया ही हैं इसलिये स्थितिरूपा मालूम देती हैं. जो क्रिया इकदम होती ही रहती है, वह स्थिति हो जाती है. आंच जलाकर जो बनेटी फिराई जाती है वहां युगपत् नित्य क्रिया होनेसे एक चक्र मालूम देता है. अग्निकी गोलाकार स्थिति मालूम देती है. यह सारा जगत् नित्य क्रियारूप है इसलिये 'गच्छतीति' रूप होकर भी स्थितिरूप है क्रियारूप है. यह भावविहित विश्व है किन्तु कितने ही हठाग्रही क्रियाको त्रिक्षणावस्थायिनी ही मानते हैं, अनित्य ही मानना चाहते हैं. उनके मतसे कहते हैं 'तदभिव्यंङ्ग्यो वा' अथवा नित्य क्रिया किंवा अनित्य क्रियासे प्रकाशमें आता हुआ पदार्थ(जगत्) भी भाव विहित है. सांख्यने इस ही श्रौत मतका ग्रहण किया है. सांख्य मतवाले घटादि पदार्थको क्रियाभिव्यंग्य मानते हैं, क्रियोत्पन्न नहीं. बस यह नित्यानित्य स्वरूपा सामान्यक्रिया ही भावपदार्थ है. उत्पत्ति आदिको लेकर जो भावविकार हैं वे सब इस सामान्य क्रिया या भावके ही विकार हैं. इसलिए जो भी पदार्थ पैदा होते हैं, प्राप्त होते हैं, प्रकाशित होते हैं, किंवा जाने जाते हैं, वे सब भावविहित हैं. क्रियारचित हैं, अर्थात् विकार हैं. यह आधिभौतिक जगत् है. इसमें शशशृंगादि असत् पदार्थ भी आ जाता है .

अब दूसरा स्वभावविहित विश्व है. यह आध्यात्मिक किंवा आधिदैविक विश्व है. अक्षर, काल भगवत्कर्म और स्वभाव आदि जो पदार्थ स्वभावरहित हैं. अर्थात् भगवान्का ही रूपांतर हैं. इन पदार्थोंका स्वरूप ही भाव है. वही क्रिया आदि है. इनसे पृथक् कोई पदार्थ नहीं है, जिससे ये पैदा किये जावे. अर्थात् ये स्वतःसिद्ध पदार्थ हैं. ब्राह्मसृष्टिकी रचना इनसे ही होती है. जिसे प्राथमिक सृष्टि कहा है.

इस तरह भगवत्क्रियाके द्वारा सिद्ध हुए और स्वतः स्वरूपसिद्ध सब ही प्रकारके जगद्वर्ती पदार्थ सद्रूप ब्रह्मसे ही प्रसिद्ध हए हैं. उनकी सत्ता हुई है. ब्रह्मसे अन्य कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जिसके द्वारा जगद्वर्ती पदार्थ तैयार किये जा सकें. तो अब ये सिद्ध हो गया कि अक्षरब्रह्म ही सर्व फलोंका उत्पादक है और

दाता भी है, इसलिए परमपुरुषार्थरूप भी यही है.

इस तरह स्वरूपसे लेकर फलपर्यन्त भगवान्के स्वरूपका विचार कर लेनेके बाद यह विचार होता है कि फलदानका समय आने पर यह फल किसका? यह फल किसकेलिए? किसको दिया जाता है? यदि कहो कि यह भगवान्केलिए है, भगवान्को यह फल दिया जाता है, तब तो यह सब पूर्वोक्त व्यर्थ हुआ जाता है. फलरूप स्वयं भगवान् अपने आपकेलिए है यह कहना एक प्रकारसे सिद्ध-साधन है. इसका विचार करना निरर्थक है. अतएव यह भगवान्रूप फल अन्यका हो सकता है. यह अन्य कौन? तो कहना पड़ेगा कि जीव ही अन्य है. जीवकेलिए यह फल है. जीवको भगवान् अपना स्वरूपफल देते हैं .

यह जीव क्या पदार्थ है? देहवाला चेतन ही जीव है. लोक और वेदशास्त्र दोनोंमें 'जीव' शब्दसे देही-चेतन ही प्रसिद्ध है. जिस चेतनका देहके साथ सहयोग(संयोग) हुआ है वह देही चेतन ही जीव है. चेतनकी देहके बिना प्रतीति नहीं होती इसलिए कितने ही यह मान बैठे हैं कि सन्नियोगशिष्ट होनेसे यह शुद्ध चेतन भी देहके साथ उत्पन्न होता है और देहका लय होने पर यह भी नष्ट हो जाता है. अतः देह ही आत्मा है. चेतन कोई पृथक् पदार्थ नहीं है. अन्यथा देहके बिना भी इसकी प्रतीति(ज्ञान-खबर) होती! सो तो होती नही. इसलिए देह ही आत्मा है यह क्यों न माना जाय! वेदमें भी इस बातको सहारा दिया गया है. ''**अशरीरं शरीरे वावसन्तम्**''. शरीर-रहित चेतनको प्रिय और अप्रियकी कुछ भी खबर नहीं होती. किं बहुना देहरहित चेतनकेलिए धर्मार्थकाममोक्षादि कोई भी पुरुष व पुरुषार्थ ही नहीं हो सकते और न वे सिद्ध ही हो सकते हैं. अन्वय-व्यतिरेकसे इस देहमें भी आत्माको जो फल मिलता है वह फल है, केवल जीव या शुद्ध चेतनकेलिए फल नहीं है. यह जिसका मत है उनका खण्डन करते हैं कि 'देहे स धातु विग्मेऽनु' इत्यादि. फल तो केवल आत्माका है, देहका नहीं. और यह देह ही आत्मा नहीं है. देह तो आत्माका आवरण है, ढंक देनेवाला है. आत्माको जो भी सुख-दुःख होते मालूम देते हैं, वे भी आत्माके रहनेसे ही. आत्मा तो कभी नाशको प्राप्त नहीं होता, वह सर्वत्र व्यापक है, सबमें रहता है. अतएव कहा है कि '**नित्यः सर्वगतः स्थाणुः**' आत्मा नित्य है, सर्वमें समाया रहता है, व स्थिर है आकाशकी तरह. इसलिए जैसे आकाश नित्य और स्थिर है, तथापि घट-मठादि पदार्थोंसे उसका परिच्छेद होता है, इसी तरह यह देह, इस आत्माका परिच्छेदक

हो जाता है. आकाशकी तरह आत्मा स्थिर और सर्वगत है और उसका परिच्छेदक मात्र, घटकी तरह देह है. देहका सहयोग होनेसे उसका उतने देशमें प्रकाश हो जाता है, न कि उत्पत्ति. इस तरह जैसे आत्माकी उत्पत्ति नहीं होती, उसी तरह इसका नाश भी नहीं होता. देहकी ही उत्पत्ति और नाश होते रहते हैं. इसीसे देहके रहते किंवा देहके न रहते भी जब कभी भी प्राप्त परमपुरुषार्थरूप अक्षररूप फल इसीका फल है.

अतिशयादि अनेक संस्कारोंसे बनाये गये जो सप्त धातु, ये धातु जब विपरीत संस्कारोंसे बिगड़कर क्षीण होने लगते हैं, तब यह देह भी क्षीण होकर पृथक्-पृथक् भूतावयवरूपोंमें आ जाते हैं. धातु भी संस्कृत पंच भूतोंके ही अवयव हैं. पंच महाभूतोंके परमाणुओंमें परस्पर एक-दूसरोंका संस्कार होता रहता है और कर्मातिशयोंका भी संस्कार होता रहता है. नियत संस्कारोंसे महाभूतावयव ही धातुरूपताको प्राप्त होते हैं और धातुओंकी नियत क्रमिक स्थितिसे ही देहकी उत्पत्ति होती है. अन्नजलादि बाह्य पदार्थ तो उन संस्कृत महाभूत अवयवोंके उपष्टम्भक, सम्भालनेवाले या बढानेवाले हैं. अन्नजल आदिके सजातीय परमाणुओंका संयोग होनेसे भूतसूक्ष्मांश ही उपचयको प्राप्त होकर देहका रूप और नाम धारण करते हैं. दिह् उपचये धातुसे 'देह' शब्द बनता है. इन संस्कृत और उपचित भूत सूक्ष्मोंसे ही धातु भी बनते हैं. वे अपने स्वरूपानुसार भोग देकर अतिशयोंके अनुसार अपनेमें रहे हुए कालको पैदा करके कृतार्थ हो जाते हैं और क्षीण अपने यहां उपादानमें चले जाते हैं. इनके साथ जो-जो पदार्थ पैदा होता है वह इनके साथ ही निवृत्त भी हो जाता है. यह आत्मा भी देहके साथ संयोगरूपसे पैदा हुआ है. अतएव देहका वियोग होनेसे यह भी निवृत्त हो जाता है, जहांका तहां अव्यक्त हो जाता है. इसलिए ब्रह्मरूप फल मिलनेमें जीवको या आत्माको कोई भी असुविधा नहीं आती।।४९।।

आभासार्थ: अब पूर्वोक्त विवेचनका उपसंहारसिद्ध तात्पर्य कहते हैं:

सोऽयं तेऽभिहितस्तात! भगवान् विश्वभावनः।
समासेन हरेर्नाऽन्यद् अन्यस्मात् सदसच्च यत्।।५०।।

श्लोकार्थ: हे नारद! मैंने सर्व पुरुषार्थरूप और विश्वका उत्पादन और पालन करनेवाले उस भगवान्का निरूपण तेरे आगे विस्तारसे कर दिया. अब संक्षेपसे उसका यही तात्पर्य है कि सत्-असत् किंवा कार्यकारणात्मक जो कुछ

भी जगद्वर्ती पदार्थ हैं वह सब इस अक्षरब्रह्म भगवान्से ही पैदा होते हैं दूसरेसे नहीं, और जो कुछ दीखता न दीखता विश्व है वह वस्तुदृष्टिसे भगवान् ही हैं।।५०।।

व्याख्यार्थ: हे नारद! तुम्हारे आगे मैंने अभी तक दशविध लीलासहित भगवान्का ही यह सब निरूपण किया है. इसमें भगवान्से अन्यका अणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं है. प्रथम भगवान्का सत्-चित्-आनन्द स्वरूप और भगवान् होनेसे उन्हींके ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य ये छः गुणधर्म भगवान्की तरह विश्वभावन हैं. इसलिए उत्पत्ति-स्थिति-संहार तथा मोक्ष. किंवा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन स्वरूप धर्म साधन और फलादिके द्वारा ही भगवान् इस विश्व(जगत्)का भावन करता है, प्रकाशन पालनादि करता है. अतएव इसी क्रमसे इस पूर्वोक्त ग्रन्थसे मैंने विश्वभावन भगवान्को कहा है. बस यही भागवत है. 'भगवत: इदं (ज्ञानम्)'. इतने सुन लेनेसे तुम्हारा श्रवण तो सम्पादित हो चुका. इस तरह विस्तारसे निरूपणकी चर्चा करके बुद्धिके सुभीताकेलिए अब संक्षेपसे निरूपण करते हैं: 'समासे'. जितना मैंने विस्तारसे कहा उसका संक्षेप इतना ही है कि यह दीखता-सुना जाता सब विश्व भगवान् ही है अन्य नहीं. और भगवान्से बनता है अन्यसे नहीं. कोई इसे उपचार(बड़ाई) न समझ ले, इसलिए निषेधमुखसे कहा है कि हरिसे अन्य नहीं है, हरि ही सब हैं. हरिसे ही सब पैदा होता है. अन्यसे नहीं. ऊंचा-नीचा, अच्छा-बुरा. 'च'कारसे काल आदि पदार्थ भी. विशेष क्या, जो कुछ प्रसिद्ध है वह सब हरि है।।५०।।

आभासार्थ: इस तरह संक्षेप विस्तारसे कहकर शास्त्रको समेटकर कहते हैं:

इदं 'भागवतं' नाम यन् मे भगवतोदितम्।
संग्रहोऽयं विभूतीनां त्वमेतद् विपुलीकुरु।।५१।।

श्लोकार्थ: यह 'भागवत' नाम ग्रंथ है जो भगवान्ने मेरे लिये कहा है. यह भगवान्की विभूतियोंका संक्षेपमें वर्णन है तुम उसको विस्तार पूर्वक वर्णन करो।।५१।।

व्याख्यार्थ: यह जो कुछ मैंने निरूपण किया यही भागवत है, भगवान्की समझ है. भगवान्ने जिसे कहा और जिसके सुनने और समझनेसे भगवान् ही फल होता है यह भागवत कहा जाता है. 'भगवतः इदं' भगवान्का ज्ञान. 'भगवता

प्रोक्तम्' भगवान्ने कहा (ज्ञान) और 'भगवत्फलकं' भगवान् जिसका फल है ऐसा ज्ञान. ये तीनों 'भागवत' शब्दकी व्युत्पत्तियां हैं. उनमेंसे यहां तीसरी व्युत्पत्ति कही है: 'यन्मे'. जो ज्ञान मुझे भगवान् स्वयंने कहा उस ही कारणसे इसका नाम 'भागवत' है. यहां यह प्रश्न होता है कि भगवान्ने अपना सब ही स्वरूप कहा होगा, आपने इतना सा ही क्यों कहा? इसका उत्तर देते हैं कि 'संग्रहो अयम्'. यह मैंने विभूतियोंको समेटकर कहा है. कल्प-विकल्पोंमें जो-जो विभूतियां थी उन सबका संक्षेपसे इकट्ठा करके यहां तुम्हारे आगे कह दिया है. 'विशेषेण भूतिः विभूतिः'. अनेक विशेषोंको ग्रहण कर अनेक प्रकारसे ही प्रकाशित होना विभूति कही जाती है. एक ही भगवान् भिन्न-भिन्न कल्पादिमें विभिन्न विशेषोंसे विभिन्न प्रकारका प्रकट होता है. उन सबका यह संक्षेप है. संक्षेप और विस्तार सुनने वालेके अधिकारको देखकर किये जाते हैं. तुम उत्तम अधिकारी हो, सर्वज्ञप्रायः हो, इसलिए तुम्हारे आगे संक्षेपमें ही कहा है. अब तुम अन्य अधिकारियोंके आगे इसीको खूब बढ़ाकर कहो।।५१।।

आभासार्थ: विस्तारसे कहनेका कारण कहते हैं कि:

यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति।
सर्वात्मन्यखिलाधार इति सङ्कल्प्य वर्णय।।५२।।

श्लोकार्थ: सर्वरूप और सर्व विश्वके आधार हरि भगवान्में जिस प्रकारसे स्नेह हो यह मनमें संकल्प रखकर वर्णन करो हे नारद!।।५२।।

व्याख्यार्थ: महत्व(बड़प्पन)का ज्ञान पहले हो और फिर जो भगवान्में सुदृढ़ और सबसे अधिक स्नेह हो उसे 'भक्ति' कहते हैं. ऐसी अवस्थामें स्नेहके उदय होनेकेलिए माहात्म्य(बड़प्पन)की समझ होनी ही चाहिये. माहात्म्य न जाननेसे भगवान्में प्रीति होगी ही क्यों? और भगवान्का माहात्म्य जाननेकेलिए विस्तारसे कहनेकी अपेक्षा रहती ही है. इसलिए माहात्म्य समझाकर भक्ति करनेकेलिए विस्तारसे कहना चाहिए. विशेष क्या कहें? जिस प्रकारसे भगवान्में भक्ति हो उसी प्रकारसे सर्वत्र वर्णन करो. तुम उत्तमाधिकारी हो इसलिए विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं है. लोकमें तुम जैसा अधिकार देखो, उसके अनुसार संक्षेप-विस्तारसे पदार्थोंका निरूपण करो. यह तात्पर्य है.

यहां एक यह आशंका होती है कि भगवान्के माहात्म्यका निरूपण किया भी जाय, किन्तु उसका लोगोंके साथ क्या सम्बन्ध है? भगवन्माहात्म्यका

लोगोंके साथ कुछ सम्बन्ध तो मालूम देता नहीं तो फिर उनकी भगवान्में भक्ति कैसे होगी. वेदमें कहा है कि 'आत्मनस्तु कामाय' अर्थात् अपने अपनपेको सुखी रखनेकेलिए सब कुछ प्रिय लगता है. प्रेमका परम आश्रय आत्मा है. आत्माके सिवाय अन्यत्र जहां कहीं जो स्नेह होता है वह तो आत्माके सम्बन्धसे होता है. अत: सोपाधिक है. भगवान्का आत्माके साथ कौनसा सम्बन्ध है जो उनके माहात्म्यको सुननेसे उनमें परम प्रेम होगा. इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'सर्वात्मनि'.

यह भगवान् सबका आत्मा है. भगवान् ही सब पदार्थोंमें 'अतति' फैल रहा है. अतएव सबका आत्मा है. सबमें यही कैसे समा रहा है, यह बात पीछे ही कह चुके हैं. इस तरहसे जब सबका आत्मा यही है तो इसके माहात्म्य सुननेसे इसमें निरुपाधिक स्नेह होना ही चाहिए. यह सिद्धांत कहकर अब पति-पुत्रादि सर्वविषयका, स्नेहका आधार दिखानेकेलिए भगवत्कृत उपकारको दिखाते हैं: 'अखिलाधारे'. भगवान्का स्नेह सर्वत्र व्याप्त है. पति, पुत्र, स्त्री, देह, गेह, धनादिमें जो है वह भी भगवदानन्दका ही है. सब ही जगत्का सब प्रकारोंसे आधार यह भगवदानन्द प्रेम ही है. इसलिए सर्व विषयक स्नेह इस परमात्मामें ही होना उचित है. हे नारद! अब तुम जहां कहीं लोकमें भगवान्के गुणोंका निरूपण करो तब दूसरे किसी भी फलका उद्देश्य मत रखो. 'इन श्रोताओंकी भगवान्में निरुपाधिक प्रीति होवे' इतना ही उद्देश्य रखकर भगवद्गुणोंका वर्णन करना चाहिए. 'इति संकल्प्य वर्णय'. इसलिए विस्तारसे अर्थात् एक-एक भगवत्पदार्थका बहुत-बहुत प्रकारोंसे वर्णन करना।।५२।।

आभासार्थ: निश्चय ही विस्तारसे कहनेमें उनमें भक्ति होती है.

मायां वर्णयतोऽमुष्य ईश्वरस्यानुमोदतः।
शृण्वतः श्रद्धया नित्यं मायया त्मा न मुह्यति।।५३।।

श्लोकार्थ: इस सर्वेश्वर भगवान्की माया सामर्थ्यका वर्णन करनेवाले, कहते और सुनते समय प्रेमसे अनुमोदन करनेवाले और श्रद्धासे नित्य श्रवण करनेवालेका आत्मा जीव किंवा मन भगवान्की मोहिनी मायासे मोहित नहीं होता।।५३।।

व्याख्यार्थ: यह सब कुछ भगवान्की माया(सामर्थ्य, न कि मोहिका) है क्योंकि इस विश्वके वर्णनमें भगवान्की सब ही सामर्थ्योंका वर्णन आ जाता है, करना भी पड़ता है. सर्ग विसर्गादि और शश्वत् प्रशांत आदि दश लीला किंवा दश

धर्म भी भगवान्‌की सामर्थ्यरूप शक्ति ही है. इसलिए मायाके वर्णनमें मन मुग्ध नहीं होता यह अन्वय है. यदि कोई कहे कि मायाके वर्णनमें सबको मोह ही होता है, अमोह नहीं होता तो इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'अमुष्य ईश्वरस्य'. सबसे छिपकर रहने वाले सर्व समर्थ भगवान्‌की सामर्थ्यका वर्णन करने वालेका, सुनने वालेका किंवा अन्य श्रोता रहते बढ़ाई करने वालेका मन मोहको प्राप्त नहीं होता. यद्यपि भगवत्स्वरूप-गुणोंके वर्णन-श्रवणादिका मुख्यफल तो भगवत्प्रेम ही है, किन्तु यदि किसी कारणसे वह न हो सके तथापि अन्तःकरणको मायाका मोह तो सर्वथा नहीं होता. इसलिए लोकका उपकार करनेकेलिए और अपने लाभकेलिए श्रवण कीर्त्तन आदि अवश्य करने चाहिए।।५३।।

श्रीभागवत महापुराणके द्वितीय स्कन्धकी महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी विवृतिका सातवां अध्याय सम्पूर्ण.

अध्याय ८

तृतीय श्रवणाङ्ग साधन: मनन. उपपत्ति प्रकरण अ.८-१०

राजा परीक्षित द्वारा आक्षेप

एवं निर्धारभजनम् उत्पत्त्या च विमर्शनम्।
द्वयं सिद्धं विराड्ब्रह्म-रूपयोस्तत्त्वनिश्चये।।का.१।।
उपपत्त्या विमर्शस्तु त्रिभिरद्य निरूप्यते।
आक्षेपसिद्धांतफलैः सोपपत्तिस्त्रिधा यतः।।का.२।।
अष्टमे सन्दिहानस्य प्रश्न आक्षेपगर्भितः।
राज्ञो निरूप्यते प्रश्नाः तन्मूला अपरेऽपि च।।का.३।।

कारिकार्थ: इस तरहसे पूर्व और सप्तम अध्यायमें सबके भजनोंका निर्धार कर चुके हैं. प्रथमसे लेकर चौथे अध्याय पर्यन्त, स्त्री पुत्रादिसे लेकर ब्रह्म महादेवादिके भजनोंका निर्धार कर दिया. ये सब अक्षरब्रह्मके ही अवतार हैं. अक्षरब्रह्मके दो अवतार हैं १. आध्यात्मिक और २. आधिभौतिक. विराट्पुरुष और प्रविष्टपुरुष(अन्तर्यामी) बाह्य दीखते हुए पदार्थ प्रकृतिसे लेकर तृण पर्यन्त सब ही विराट्पुरुषके अवतार हैं. उनमें स्त्री-युवादि भी आ जाते हैं. परिच्छेद, विकार, अनित्यतादि दोष दिखा-दिखाकर उनके भजन-सेवनका निर्धार कर दिया कि नहीं करना चाहिए. इन सबका यथा योग्य उस समष्टि विराट्पुरुषके ही अंगोंमें समावेश कर लेना चाहिए, मुख्य परमात्माके माहात्म्यको समझनेकेलिए. यही उसका भजन है.

अब रहा प्रविष्टपुरुष, आध्यात्मिक अंतर्यामी पुरुष, यह द्वितीय पुरुष है. इसके दो भेद होते हैं: १. अन्तर्यामी पुरुष और २. प्रकृति-भर्त्ता जीवपुरुष, जिसका निरूपण षष्ठाध्यायमें 'विशुद्धं केवलं' पद्यमें आ चुका है. देव और देवदेव सब इसके अवतार हैं. ये भी परिच्छिन्न और लौकिक फल देनेवाले हैं. इसलिए इनका भी भजननिर्धार तृतीयाध्यायमें कर दिया. तदनन्तर उस आनन्दमय पुरुष-समष्टि अन्तर्यामी पुरुषके ही धर्म और स्वरूपके ही चौबीस और दश मुख्य अवतार हैं, यह सप्तमाध्यायमें कह दिया. पांच, छः और सात इन तीन अध्यायोंमें पूर्वोक्त दोनोंका उत्पत्तिके द्वारा विमर्श विचार है. यह हम पूर्वमें कह चुके हैं. अनुपद ही इस सातवें अध्यायमें भगवान्का भी उत्पत्तिसे विमर्श हो चुका. इस

तरहसे स्थूलतत्त्व निश्चय और सूक्ष्मतत्त्व निश्चय, दोनोंका ही निर्धार साधन, फल और स्वरू पके द्वारा पूर्वोक्त अध्यायोंमें कह चुके हैं. विराट्पुरुष स्थूलतत्त्व (सार) है और अन्तर्यामी ब्रह्मतत्त्व है. ये दोनों ही विमर्शके द्वारा और भजन निर्धारके द्वारा परीक्षित राजाके हृदयमें सिद्ध हो गये.

अब इन अष्टम, नवम और दशम तीन अध्यायोंमें उस विराट् और ब्रह्मतत्त्व का उपपत्तिके द्वारा विमर्श निर्धार किंवा निर्णय करना है. प्रश्न, उत्तर और सङ्गतिसे ही किसी वस्तुका स्वीकार किया या कराया जा सकता है. पूर्वोक्त कथन पर कुछ आक्षेपगर्भित प्रश्न, फिर उनका सांयुक्तिक सिद्धांत उत्तर और अन्तमें सबकी सङ्गति लगाकर सारे ग्रन्थका फल, परिणाम या तात्पर्य यही उपपत्तिद्वारा विचार कहा जाता है. नवम और दशम दो अध्यायोंमें सिद्धांत और फल का निरूपण है.

इस अष्टम अध्यायमें राजा परीक्षित्के आक्षेपगर्भ प्रश्न कहे गये हैं. राजाको पूर्वोक्त सिद्धांतोंमें सन्देह था इसलिए उसने आक्षेप जैसे कई प्रश्न किये. राजाके प्रश्नोंके अनुसार ही और भी प्रश्न इस अध्यायमें हैं।।१-३।।

आभासार्थ: उक्त प्रकारके स्थूल व सूक्ष्म आक्षेप होने पर सबकी सिद्धि हो जायगी ऐसी शंकाको बतानेकेलिए ब्रह्मा द्वारा प्रेरित किये जाने पर छह श्लोकों द्वारा कथामें प्रोत्साहन किया गया:

राजोवाच

ब्रह्मणा चोदितो ब्रह्मन् गुणाख्यानेऽगुणस्य च।
यस्मै यस्मै यथा प्राह नारदो देवदर्शनः।।१।।

श्लोकार्थ: हे ब्रह्मन्! ब्रह्माने जब नारदजीको निर्गुण भगवान्के गुणोंका वर्णन करनेकी आज्ञा दी तब देववत् दर्शनीय नारदजीने जिस जिसके आगे जिस प्रकार भगवत् तत्त्वका निरूपण किया, यह मैं जानना चाहता हूं.

व्याख्यार्थ: पहले अध्यायके अन्तमें 'त्वमेतद्विपुली कुरु' यह कहा. अर्थात् पूर्व अध्यायोंमें जो भगवान्के स्वरूप-गुण कहे गये हैं वह संक्षेपसे कहे हैं तुम इन्हें विस्तारसे कहो. राजा परीक्षितका यह निश्चय हुआ कि जब भगवानके स्वरूप- गुणोंको संक्षेपसे श्रवण करनेमें ही इतनी बढ़ी हुई भक्ति मेरे मनमें उत्पन्न हुई तो उनका श्रवण यदि विस्तारसे किया जाय तो फिर कैसा आनन्द आवेगा? इसलिए राजा परमानन्द पूर्वक श्रीशुकसे प्रश्न करता है: 'ब्रह्मन्!' इस सम्बोधनका

यह तात्पर्य है कि आप ब्रह्मरूप हो, सर्वज्ञ हो. इसलिए आप जितना सत्य, सुस्वादु और विस्तारसे कहेंगे, वैसा कोई भी नहीं कह सकता. इसलिए 'ब्रह्माके प्रेरणा करने पर नारदजीने जिस-जिसके आगे भगवद्गुण, जिस प्रकार कहे, सो आप मुझसे कहो' यह आगेके श्लोकमें जाकर अन्वय है.

भगवान्का सूक्ष्म रूप अगुण है. सृष्टिके पूर्व भगवान् सूक्ष्मरूपमें स्थित रहते हैं. उस समय स्वरूपभूत गुण भी इतने सूक्ष्म रूपमें रहते हैं कि वेदादि सब ही द्रष्टाओंको वह अगुण ही दीखता है. अतएव वे उसे अगुण ही कहते हैं. ऐसे भगवान्का उत्कर्ष दिखाने वाले धर्मों(गुणों)को कहनेकेलिए जब ब्रह्माजीने नारदको प्रेरणा की तब श्रोताओंके अधिकार भिन्न-भिन्न हो सकते हैं इसलिए उनके भिन्न-भिन्न अधिकार किंवा प्रकारसे ही कहना होता है इसलिए 'यस्मै यस्मै प्राह' यह कहा. अन्यथा किससे कहा इतना ही कह देते. नारदजीमें यथाधिकार भिन्नभिन्न प्रकारसे कहनेकी सामर्थ्य है यह दिखानेकेलिए 'देव दर्शनः' कहा।।१।।

आभासार्थः प्रश्न होता है कि तुम इस बातको सुनकर क्या करोगे? नारद कथित भगवान्के भगवत्तत्वोंके श्रवणका तुम क्या उपयोग करोगे? भगवत्तत्त्व सुननेसे तुम्हारा क्या उपकार होगा? इसका उत्तर देते हैं कि:

एतद् वेदितुम् इच्छामि तत्त्वं वेदविदांवर।
हरेरद्भुतवीर्यस्य कथा लोकसुमङ्गलाः।।२।।
कथयस्व महाभाग यथाहम् अखिलात्मनि।
कृष्णे निवेश्य निःसङ्गं मनस्त्यक्ष्ये कलेवरम्।।३।।

श्लोकार्थः हे वेदविद्याके विद्वानोंमें श्रेष्ठ मुनिवर! यह सब मैं जानना चाहता हूं. हे महाभाग्य! अद्भुत पराक्रम हरिकी लोकका सुमंगल करने वाली कथा मेरे आगे अवश्य कहिये. मैं मानता हूं कि उनके श्रवण करनेसे सर्वरूप सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्णमें अपने मनको सर्व सङ्ग निरास पूर्वक लगाकर इस शरीरका त्याग करूंगा।।२-३।।

व्याख्यार्थः इस भगवत्तत्त्वका कैसे अधिकारीके आगे किस तरहसे निरूपण करना चाहिए यह बात निरूपणकर्त्ताको अपने अधिकारका प्रकाश होनेकेलिए और दूसरोंको समझानेकेलिए भी जाननी चाहिए. जो पुरुष योग्यता और निरूपणका प्रकार नहीं जानता वह अपने अधिकारको क्या प्रकाशित कर

सकता है? और दूसरोंको प्रबोध भी कैसे करा सकता है? आप श्रेष्ठ वक्ता हैं, अतएव आपको दोनों बातें विदित हैं.

यदि कहो कि मुझे इन बातोंके जाननेका उपाय क्या है? मैं तो अपने अधिकारके अनुसार ही जान सकता हूं तो इसका उत्तर देते हैं कि 'वेदविदांवर'. वेदोंमें कहीं अपने अधिकारके अनुसार और कहीं दूसरोंके अधिकारके अनुसार भी पदार्थोंका निरूपण पाया जाता है. उन सब अधिकारोंको ब्राह्मण(ब्रह्मवेत्ता) लोग जानते हैं. जैसे वसन्तादि काल, ऋष्याधान मंत्र, अश्वमेधादि यज्ञ और नैमित्तिक पुनः स्तोमादि. इसी तरह यह भागवतशास्त्र भी सबके ही अधिकारोंके अनुसार लोकमें प्रवृत्त हुआ है. अतएव उन-उनके अधिकारोंके अनुसार ही पदार्थोंका निरूपण करता है. और व्यवस्था भी वेदके अनुसार तथा अपने-अपने अधिकारके अनुसार ही करता है. इन सब बातोंको वेदवेत्ता आप लोग जानते हैं, इसलिए राजाने श्रीशुकदेवजीको 'वेदविदां वर' यह सम्बोधन दिया है.

इस तरह पूर्वोक्त पदार्थसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नको कहकर अब अपने अभिप्रायके अनुसार दूसरा प्रश्नान्तर सार्धश्लोकसे करते हैं: 'हरेरद्भुत' भगवान् हरिकी कथा कहो. 'कथयस्व'में आत्मनेपद कहा है. इसका यह तात्पर्य है कि यह मैं जो दूसरा प्रश्न कर रहा हूं यह आपको अपने लाभकेलिए भी होगा. यदि कहो कि सर्व दुःखोंको दूर करनेवाले भगवान्, कथामें सब पुराणोंमें प्रसिद्ध ही हैं फिर आज मेरे विशेष कहनेसे क्या प्रयोजन है? तो कहते हैं कि 'अद्भुतवीर्यस्य' भगवान्का चरित्र कुछ जल्दी समझमें आ जावे ऐसा नहीं है किन्तु अद्भुत है. अन्यथा करते हैं और उसका फल अन्यथा ही दीखता है. उनकी वे ही जानते हैं. इसलिए भगवान्के गुण, स्वरूपसे और परिणामसे भी अनेक प्रकार होते हैं. उनको खूब विचारपूर्वक ही समझना चाहिए. दूसरी बात है, भगवान्की कथाएं लोकको मंगल करने वाली है. कोई वस्तु पुरुषमात्रकेलिए सुमंगल होती है, जैसे राखी बांधना, आभूषण पहनना. कुछ पदार्थ घरको शोभा देने वाले होते हैं, जैसे तस्वीर प्रभृति घरके साज सामान. कोई वस्तु वंशकेलिए मंगल होती है, जैसे पुत्रजन्म. कोई वस्तु ग्राम किंवा देशकेलिए मंगलकारक होती है, जैसे उनकी रक्षाका बन्दोबस्त किंवा वर्षा होना. किन्तु भगवत्कथा तो सबका मंगल करनेवाली है, प्राणीमात्रका और चतुर्दश भुवनोंका मंगल ही करती है. 'महाभाग!' सम्बोधन यह कह रहा है कि ऐसी भगवद्वार्ता कथनमें आपका ही

अधिकार है, अन्यका नहीं. क्योंकि अन्य लोगोंको तो भगवान्ने ही तुच्छ (सांसारिक) फलका अधिकारी बनाया है और आप तो भगवद्रूप महाफलके अधिकारी हो. इसीसे 'महाभाग' सम्बोधन दिया है. पहले यह कह चुके हैं कि श्रोताओंके अधिकारके अनुसार भगवत्कथा कहनी उचित है, इसलिए राजा अपना अधिकार प्रकाशित करता है: 'त्यक्षे कलेवरम्' इत्यादि. मेरा इस तरहका अधिकार है. अब इस अधिकारके जो प्रकार उचित हों वह आपको कहना उचित है, यह समझकर राजा परीक्षित अपने अधिकार अवस्था और स्वाभिप्रायके योग्य प्रार्थना करता है कि 'यथाहम् अखिलात्मनि' इत्यादि. मेरा मनोरथ इतना ही है कि मैं इस लोकके और परलोकके सब ही विषयों परसे मनको हटाकर भगवान् श्रीकृष्णमें ही लगाकर फिर इन प्राणोंको छोडूं. बस इस जन्ममें इतना ही कर्त्तव्य है. इतना कर लेने पर फिर पीछे जो होगा सो फिर कहूंगा.

यहां यह आशंका करते हैं कि यह तो तुम्हें सुलभ है. इसमें शास्त्र सुननेकी क्या अपेक्षा है? हे राजन्! तुमने शतशः श्रीकृष्ण भगवान्के दर्शन किये ही हैं. और आप जैसे बड़ोंका मन भी स्वाधीन रहता है इसलिए मनको श्रीकृष्णमें लगाईये इसमें विलम्ब किस बातका है? इसका उत्तर देते हैं कि 'अखिलात्मनि' श्रीकृष्ण हमारी जान-पहचानमें रात दिन आ रहे हैं तथापि हमने उसे वास्तवमें नहीं जाना, अथवा नपा-तुला जान रखा है. ऐसा तो वह वास्तवमें है नहीं. वह तो सर्वात्मा है. जो सर्वव्यापक है, उसे सर्वात्मारूपसे जान लेना ही जानना कहा जाता है. सो कुछ पूर्वमें आज तक न हो सका. हम लोग भूलमें ही रहें 'तं यथायथोपासते' इत्यादि श्रुतिमें कहा है: उन भगवान्की जिस जिस प्रकारसे आराधनाकी जाती है, वह भगवान् उनकी उस प्रकारसे वैसा ही बनकर रक्षा करता है. यहां उपासनाका फल होना कहा गया है. तो अब पूर्णफल तब ही मिल सकता है, जब उन भगवान्की सर्वात्मारूपसे ही आराधनाकी जावेगी. जो परिच्छिन्न रूपसे उपासनाकी जावेगी तो अकृत्स्न-अपूर्ण होनेसे पूर्णफल नहीं मिलेगा. 'तद्धैतान्' इत्यादि वेदवाक्यके अनुसार सर्वतः रक्षा हो सकेगी.

केवल मनको साधारण रूपसे ही भगवान्में लगाना है किन्तु उसे विशुद्ध बनाकर. अशुद्ध ही मनको भगवान्में प्रवेश करानेसे उसका फल भी अशुद्ध होता है. इसलिए जिस प्रकार मेरा मन निःसङ्ग हो सके अथवा जिस तरह असम्भावना विपरीतभावना आदि दूर होकर भगवान्की सर्वात्मकता हृदयमें प्रकाशित हो,

ऐसा उपाय कहना चाहिए।।२-३।।

आभासार्थ: मनको भगवान्में लगा देने पर आगेका काम अपने आप ही सिद्ध हो जायेगा, सो कहते हैं:

शृण्वतः श्रद्धया नित्यं गृणतश्च स्वचेष्टितम्।
कालेन नातिदीर्घेण भगवान् विशते हृदि।।४।।

श्लोकार्थ: श्रद्धासे नित्य भगवान्का श्रवण करते रहनेसे और उनके निज चरित्रकी प्रशंसा करते रहनेसे थोड़े ही समयमें भगवान् हृदयमें प्रवेश करता है।।४।।

व्याख्यार्थ: जब किसीका भी किसीमें मन लगता है तब इच्छा हो जानेसे और इच्छाकी प्रेरणासे वह उस अपने अभीष्टका श्रवण करता है और कीर्तन भी करता है, उसीमें उसकी श्रद्धा भी उत्पन्न हो जाती है. इसलिए मानना पड़ेगा कि श्रवण-कीर्त्तनका निर्वाह करनेवाला आगे स्वतः ले जानेवाला मनोनिवेश है, मनका लगना है. श्रवण-कीर्त्तनका अङ्ग श्रद्धा(विश्वास) है. बहुत समय तक भगवान्में आदर विश्वासकी नित्यता रहने और फिर यदि श्रवण और कीर्तन किये जावें तो फलकी सिद्धि होती है. ऐसे श्रवणादि ही फलसाधक होते हैं.

मूलका 'नित्य' पद श्रवणादिकी निरन्तरता और समयकी बहुलताको कह रहे हैं. 'गृणतः च' पदमें जो 'च' दिया है उससे स्मरणका भी संग्रह कर लेना चाहिए. अर्थात् जो साधक भगवान् श्रीकृष्णका श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण सर्वदा और बहुकाल पर्यंत करता है तो भगवान् उसके हृदयमें अपने आप आकर विराजते हैं. श्रवण-कीर्त्तनादि भगवद्धर्म हैं और भगवान् धर्मी है. धर्मीके बिना धर्म रह नहीं सकते अतएव श्रवण-कीर्त्तन-स्मरण जब हृदयमें प्रवेश करते हैं तब धर्मोंके साथ धर्मी भगवान् भी उसके हृदयमें प्रवेश कर जाते हैं, कारण कि यह भगवान् अपने भक्तोंके स्वामी हैं, रक्षक हैं. और इन भगवान्ने ही इस भागवत्शास्त्रका निर्माण किया है।।४।।

आभासार्थ: भगवान्के हृदयमें प्रवेश करने पर क्या होता है सो कहते हैं:

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत्।।५।।
धौतात्मा पुरुषः कृष्ण-पादमूलं न मुञ्चति।
मुक्तसर्वपरिक्लेशः पान्थः स्वशरणं यथा।।६।।

श्लोकार्थः भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्तोंके हृदय-भावकमलमें जब कर्णछिद्रोंके द्वारा प्रवेश कर जाता है तब फिर जैसे शरद् ऋतु जलके मैलको धुल देती है, उसी तरह यह भी भक्तहृदयके सब मैलोंको धो देता है. जिसका अन्तःकरण इस तरहसे निर्मल हो चुका है वह सब दुःखोंसे छूट जाता है. अतएव फिर श्रीकृष्णके चरणारविंदोंका आश्रय कभी नहीं छोड़ता. जैसे परदेशसे दुःखी होकर आया हुआ राहगीर अपने घरको छोड़ना नहीं चाहता।।५-६।।

व्याख्यार्थः कीर्त्तन भक्तिमें कीर्त्तन करते समय अपना और दूसरोंका श्रवण भी होता है. अतएव श्रवणेन्द्रियके द्वारा भगवान् प्रवेश करते हैं, यह कहा. यद्यपि पूर्वमें श्रवण-कीर्त्तन-स्मरण तीनोंको भगवान्को प्रवेशका द्वार कहा, और यहां केवल कर्णको ही प्रवेशका द्वार क्यों कहा? यह प्रश्न हो सकता है. तथापि कीर्त्तन, श्रवण और स्मरण तीनोंमें श्रवणकी अनुवृत्ति रहती है और कीर्त्तनमें भगवद्गुणोंके निर्गमनमें मुख कारण होता है और अन्यमें तो द्वार ही नहीं है. इसलिए सर्वसहायक होनेसे श्रवणको आशयमें रखकर 'कर्णरन्ध्रेण' कहा. प्रवेशमें सुगमता दिखानेकेलिए 'रन्ध्र'(छिद्र) शब्द कहा. भगवच्छ्रवण अति सावधान होकर करना उचित है, इसलिए 'रन्ध्रेण' एकवचन कहा. क्योंकि लोकमें देखा गया है कि सावधान होकर सुननेमें एक ही कर्णपुटका व्यापार रखा जाता है. ऐसे समय दोनों कानोंकी श्रोत्रेन्द्रिय एकमुख हो जाती हैं.

'स्वानां'का अर्थ है जिन्होंने अपने अपनपेको भगवान्के अर्पण कर दिया है वे. भगवान् उनके हृदयमात्रमें प्रवेश करते हैं, सो नहीं. किन्तु हृदयके भावकमलमें प्रवेश करते हैं. यहां कितने ही 'भाव'से रति अर्थ(प्रीति) लेते हैं. कितने ही कहते हैं कि 'भाव' शब्दकी प्रकृति 'भू' धातु है, इसलिए 'भाव'शब्दका अर्थ केवल धात्वर्थ सत्ता ही लेना चाहिए. पर वास्तवमें तो कभी जिसका नाश नहीं होता, वह कारणरूप सच्चिदानन्द अक्षर ब्रह्म ही 'भाव' शब्दसे लिया गया है, जिसे द्वितीय पुरुष 'विशुद्ध' (२।६।३८)में कहा है. यह पुरुष ही अपना निरन्तर श्रवण होते रहनेसे साधकका हृदयरूप हो जाता है. हृदयमें घुल मिल गया वह द्वितीय पुरुष ही यदि फिर पुनः-पुनः श्रवणसे पैदा हुए प्रेमसे विकासको प्राप्त हो जाय तो वही सरोवर रूपको धारण करता है. 'भावसरः' ऐसी अवस्थामें मनन-स्मरणादि सहयोगिनी प्रेमरूपा साधनभक्ति यदि श्रवणसम्पुटमें रखती हुई बीज बन जाय, और प्रेमसे सिंचा हुआ हृदय तो पहलेसे ही वर्तमान है ही, तो दोनोंके

सहयोगसे उस समय उस बीजकी वृद्धि होने पर वह 'भाव' ही सरोरुह–कमल हो जाता है. यह 'भाव' सरोरुह ही भगवान्का गृह और सिंहासन होता है.

ऐसे भावकमल गृहमें किंवा आसन पर भगवान् श्रीकृष्ण विराजते हैं और हृदयके शमल, अन्य पुरुषार्थोंकी इच्छा, को दूर कर देते हैं. 'शमल' शब्दसे यहां अन्तराय विघ्न लिये गये हैं. ये विघ्न, तामस–राजस और सात्विक तीन तरहके होते हैं. उनमेंसे पापरूप तामस, राजस विघ्न तो श्रवण कीर्त्तनादिसे और भगवत्प्रवेश मात्रसे पहले ही क्षय हो चुके हैं तथापि अभी शमल–विघ्न रहे हैं. ('शं–सुखं शान्तिर्वा अंतः पर्याप्त यस्मात् तत् शमलम्') इस लोकके और परलोकके फलरूप सुखभागोंको 'शं' कहते हैं. अथवा शमादिकोंको भी 'शं' कह सकते हैं किन्तु केवल पुष्ण ही पुष्णसे लौकिक सुख भोग हो नहीं सकते. उस सुख भोगमें कुछ न कुछ पाप रहता ही है. शास्त्रका सिद्धांत है कि **'उभयमपि लक्ष्यते चोदनायां धर्मो अधर्मश्च. सत्यादिष्वमि व्यवहारस्य सन्निपातत्वात् कापट्यम्. सर्वत्र विहितनिषेधात् कापट्यम्'.**

नान्तरीयक पाप सहित धर्म ही लौकिक सुखभोगका साधन होता है. इसीसे पुण्यकर्त्ताओंको लौकिकसुख भोगोंके मिल जाने पर मूलमें पाप छिपा हुआ रहनेसे कभी भी शांति और भोगसे वैराग्य नहीं हो पाता. इस पुण्यान्तःपाति पापरूप शमल विघ्नोको भगवान् ही दूर करते हैं. 'धुनोति'.

यहां एक प्रश्न हो सकता है कि 'शमन्' शब्दसे शमादि साधन भी ग्रहण किये जाते हैं तो फिर शमादि साधकोंके भी चले जानेसे ज्ञान नहीं हो सकेगा और ज्ञानके अभावमें मोक्ष आदि अग्रिम कार्यकी सिद्धि कैसे होगी? इसका उत्तर देते हैं: 'कृष्णः'. सदानन्दस्वरूप भगवान् कृष्ण स्वयं ही जब पुरुषार्थरूप होकर हृदयमें विराजते हैं तब ज्ञानादि साधनोंकी अपेक्षा ही नहीं है.

इस बातको दृष्टांतसे स्पष्ट करते हैं 'सलिलस्य यथा शरत्'. 'भावसरोरुहं' पदमें 'सरः' शब्दसे जिस जलकी सूचना की थी वह सलिल यहां कहा है, 'यथा शरत्' यह दृष्टान्त है. वेदमें 'सलिले एको द्रष्टा' इत्यादि कहा है इसी तरह यहां भी दृष्टान्त–दार्ष्टान्तमें समझना चाहिए. जैसे शरद् ऋतु लौकिक जलको निर्मल कर देती है किन्तु वर्षामें जल निर्मल नहीं रहता. इसी तरह अन्तःकरणमें भरा हुआ प्रेमरूप जल भी भगवान्के प्रवेश करनेसे निर्मल हो जाता है और इस तरहसे जब अन्तःकरण सर्वदोषोंसे मुक्त हो जाता है तब नीरोग पुरुष श्रीकृष्णके चरणोंका

परित्याग नहीं करता. नीरोग पुरुष सदानन्दका त्याग नहीं कर सकता. श्रीकृष्ण सदानन्दका ग्राहक तो नीरोग हुआ आत्मा ही है जैसे एक भूख ही अन्नका ग्रहण करनेवाली हो सकती है, अन्य नहीं. इसलिए भगवान्ने अन्तःकरणका नाम आत्मा रखा है. इसीसे यद्यपि यह अन्तःकरण एक श्रीकृष्णका ही ग्राहक है तथापि अनेक दोषोंके घुस जानेसे बाह्य पदार्थोंको ग्रहण करता है, जैसे चक्षु. किन्तु निर्दोष हुआ अन्तःकरण मन तो भक्तिमार्गानुसारी पदार्थोंका ही ग्रहण करता है अतएव केवल कृष्ण न कहकर 'कृष्णपादमूलम्' कहा है. इस पदसे भगवान्का महत्व और भक्तका दैन्य बोधित होता है. मूल शब्दसे सूचनाकी है कि विश्वका सब ही यह विलास भगवच्चरणमूलक है.

तब यह जीव व्यापीवैकुण्ठ(अक्षर)रूप भगवच्चरणारविन्दमें उसके रसामृतसे तृप्त हुआ सुखसे रहता है यह तात्पर्य निकलता है. वहांसे लौट आनेकी तो शङ्का भी नही की जा सकती. क्योंकि यह जीव पहले ही सब परिक्लेशोंसे छूट जाता है. अविद्या–कर्मवासना आदिको क्लेश कहते हैं. वेदमें लिखा है कि यह जीव प्रतिदिन ब्रह्मलोकमें जाता है किन्तु अविद्या–वासना आदि क्लेशोंके कारणसे फिर पीछे लौट आता है सो यहां सम्भावना ही नहीं है. अतएव परिक्लेशमें 'परि' शब्द दिया है. 'सर्व' शब्दसे अपनी इच्छित वस्तुकी प्राप्ति कही है. शुद्ध भगवन्मार्गको ही देखनेवाला यहां 'पान्थ' कहा गया है. 'शरण' शब्दका गृह अर्थ है. 'स्वशरणं'में 'स्व'शब्दका अर्थ अपना है जैसे अपना घर होनेसे पराधीनताका क्लेश नहीं होता और श्रीकृष्णकी अधीनतामें तो क्लेशकी शङ्का ही है यह दृष्टान्तसे ही स्पष्ट है।।५–६।।

आभासार्थ: इस तरहसे राजाने अपनेलिए भगवान्में मन लगानेका उपाय पूछ लिया. अब जिनके विषयमें कुछ सन्देह है उन साधारण विषयोंमें प्रश्न करता है. जिससे सब तरह असम्भावना विपरीत भावना जाती रहे.

'यदधातुमतो' श्लोकसे अध्याय समाप्ति पर्यन्त इस सम्बन्धमें ही पहले प्रकरणोंमें तीन पदार्थोंका निरूपण कर चके हैं. भगवान्के स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूप और फल लेनेकेलिये जीवका स्वरूप. उन तीनोंमेंसे यह 'यदधातुमतः' प्रश्न जीवके विषयमें एक ही है. भगवान्के सूक्ष्मरूप विषयमें तो सन्देह रहित पदार्थोंका खूब निरूपण कर दिया है और फिर इससे विशेष तो भगवान्का सूक्ष्म स्वरूप जीवबुद्धिके अगोचर है, अतएव शङ्का या प्रश्नका उदय ही नहीं हो सकता. अब

रहा स्थूल रूप ब्रह्माण्ड. सो इसकी यथार्थता जाननी है. इसका मूल जाननेकेलिये अनेक प्रश्न किये गये हैं. इसलिए समेटकर दो प्रश्न हुये. एक जीव विषयक दूसरा ब्रह्माण्ड विषयक. इसलिये इनके उत्तरमें भी दो अध्याय हैं ९ व १०. अतः राजा पहले जीवविषयक संदेह पूछता है:

यदधातुम् अतो ब्रह्मन् देहारम्भोऽस्य धातुभिः।
यदृच्छया हेतुना वा भवन्तो जानते यथा।।७।।

श्लोकार्थ: हे श्रीशुकदेव! यह जीव वास्तवमें रसरक्तादि धातुओंसे रहित है तो फिर यह धातुमय इसके देहका आरम्भ कैसे कबसे हुआ? क्या अपने आप या भगवदिच्छासे हुआ? किंवा किसी अन्य कारणसे हुआ? आप जो कुछ जिस तरहसे जानते हैं, वह कहिए।।७।।

व्याख्यार्थ: सबसे पहले जीवके देहको तैयार करनेवाले धातु रस-रक्तादि नहीं मिलते. कोई युक्ति यह सिद्ध नहीं कर सकती कि सबसे पहली सृष्टिमें इसके देहके सम्पादक धातुओंके साथ इसका सम्बन्ध किस तरह और क्यों हुआ? वास्तवमें यह जीव धातुसम्बन्ध रहित है. यह तो वेदशास्त्रोंके प्रमाणोंसे सिद्ध है. यदि कहो कि अदृष्ट अपूर्वके द्वारा इसका धातुओंके साथ सम्बन्ध हुआ तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रथम सृष्टिमें अदृष्ट कहां था? जिनके मतमें अदृष्ट द्वारक धातु सम्बन्ध मानते हैं उनके यहां कर्मसे अदृष्टकी उत्पत्ति मानते हैं और कर्म देहसे किये जाते हैं. ऐसी अवस्थामें अदृष्टके द्वारा धातुओंका सम्बन्ध बन सकता है. किन्तु यह असम्भव है. पहली सृष्टिमें जब धातुका सम्बन्ध ही नहीं है, तब देह कैसा? कर्मकरण कैसा? और उससे पैदा होनेवाला अदृष्ट कहां? इसलिए अदृष्ट द्वारा इसको धातुओंका सम्बन्ध हुआ यह पक्ष तो बन नहीं सकता. यदि कहो कि अदृष्ट अनादि है इसलिए धातु सम्बन्ध हो सकता है, तो कहना पड़ेगा कि फिर वेद, गीता, ब्रह्मसूत्र, पुराण और श्रीमद्भागवत आदि सब ही भगवच्छास्त्रोंका इस मतमें विरोध आता है. सब शास्त्रोंमें शुद्ध चेतनको स्वतन्त्र पदार्थ माना है, ब्रह्मांश माना है. "**असंङ्गोह्ययं पुरुषः**" आदि वेदवाक्योंमें पुरुष-जीव 'असंग' अर्थात् देहादि सम्बन्धोंसे सर्वथा रहित कहा है. अन्य भगवच्छास्त्र वेदानुसारि है, अतएव वे भी इसे असंग, धातु सम्बन्ध रहित मानें, इसमें सन्देह नही. यदि कहो कि भगवान्की इच्छासे ही इसका देहादिके साथ सम्बन्ध हुआ है, तो इस पक्षमें भी कई दोष आते हैं १.जीव अपना हित सदा नहीं कर सकता,

प्रत्युत अपना अहित कर लेता है. यह क्यों? २. भगवान् ही जब इसका देहादिके साथ सम्बन्ध करते हैं, तो वे सर्वज्ञ और राग-द्वेषादि दोषरहित हैं, अतएव इसका सर्वदा हितके साथ ही सम्बन्ध रहना चाहिए, अहितके साथ नहीं. सो होता नहीं. इसलिए मालूम होता है, भगवदिच्छासे भी इसका धातु-सम्बन्ध नहीं है.

इसलिए किसी भी उपायसे धातुसम्बन्ध होना सिद्ध नहीं होता. तब इस विषयमें प्रश्न करना ठीक है. 'ब्रह्मन्' यह सम्बोधन इसलिए दिया है कि हे श्रीशुक! इस प्रश्नके मूल कारण सन्देहको काटनेका सामर्थ्य आपमें है. प्रश्नका सारांश यह है कि इस जीवके देहका पहले पहले प्रारम्भ अकस्मात् हुआ, किंवा भगवान्की इच्छासे हुआ? क्योंकि मूलके 'यदृच्छा' शब्दके दोनों अर्थ होते हैं. अकस्मात् पक्षमें पांच प्रश्न समाये हुए हैं. १.कारण बिना हुआ क्या, २.अपने स्वरूपसे ही हुआ क्या? ३.स्वभावसे ही हुआ क्या? ४.झूठ-मूठका ही सम्बन्ध है क्या? ५.भगवदिच्छा भी यदृच्छा है. तो यदृच्छासे हुआ क्या? इस पक्षमें पांच प्रश्न समाये हुए हैं. अब मूलमें 'हेतुना वा' यह पद भी है. इसका 'कारण' अर्थ होता है. यह कारण अनादि अविद्या होता है, अर्थात् ६.जीवका देहके साथ सम्बन्ध क्या अनादि विद्याके कारण हुआ? इस तरह सब मिलाकर प्रश्नके कारण सन्देहमें छः कोटियां होती है. अब इन सबका निर्णय आप करिए. वास्तविक कारणोंमें तो अनेक प्रतिवादियोंके अनेक विरोध खड़े होते हैं. इसलिए मेरा मत यह है कि आप जैसा जानते हों, उस प्रकार मेरा सन्देह दूर करो।।७।।

आभासार्थः जीवका देहके साथ सम्बन्ध कैसे हुआ? यह प्रश्न तो हो चुका. अब ईश्वरने यह ब्रह्मांडरूप देह क्यों धारण किया? यह प्रश्न बाकी है. यद्यपि भगवान् स्वतन्त्र है, सर्वसमर्थ है, इसलिए उन्होंने देह ग्रहण क्यों किया ऐसा प्रश्न तो हो नहीं सकता, तथापि किस प्रयोजनकेलिए 'देहग्रहण किया' यह प्रश्न तो हो सकता है? इसलिए देह सम्बन्धके प्रयोजनको निश्चित करनेकेलिए कोई हेतुका अनुमान करते हैं:

आसीद् यदुदरात् पद्मं लोकसंस्थानलक्षणम्।
यावान् अयं वै पुरुष इयत्तावयवैः पृथक्।।८।।
तावान् असाविति प्रोक्तः संस्थावयववानिव।
अजः सृजति भूतानि भूतात्मा यदनुग्रहः।।९।।

श्लोकार्थः जिस भगवान्के उदर(नाभि)से लोकोंकी स्थिति रखना ही है

स्वरूप जिसका ऐसा यह ब्रह्म(कमल) पैदा हुआ. अर्थात् ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्डाधिपति भगवान् दोनोंका स्वरूप मुझे कहिए और यह भी कहिए कि नाप-तौलवाले अवयवोंसे पृथक् देखनेमें आता यह व्यक्त पुरुष(विराट् ब्रह्माण्ड) जितना है क्या उतना ही वह अव्यक्त अक्षरपुरुष भी शास्त्रोंमें कहा है? और जो यह उन संख्याओंसे अंग-प्रत्यंगवाला जैसा दीख रहा है सो क्या ऐसा ही है? और यह भी कहिए कि जिस तरहसे यह अज भूतात्मा ब्रह्मा जिनके अनुग्रहसे इन सब जड़ चेतन पदार्थोंको बनाता है?।।८-९।।

व्याख्यार्थ: लोकको ठहरानेकेलिए ही यह पद्मकी उत्पत्ति हुई है, अपनी प्रतिष्ठा होने मात्रकेलिए नहीं हुई है, क्योंकि लोकोंकी यथावत् स्थिति होना यह स्पष्ट ही इसका स्वरूप दीख रहा है. लोकोंकी स्थितिकेलिए ही पद्मकी उत्पत्ति है यह निश्चय है. भू, भुवः, सुवः आदि लोकोंकी स्थिति किसी आधारके बिना नहीं हो सकती, क्योंकि ये सब रूपस्पर्शादि वाले पदार्थ हैं. स्थिति हो तो रही है, इसलिए लोकाधाररूप पद्मकी उत्पत्ति सिद्ध है और 'तत्पुष्करपर्णे अप्रथयत्' इत्यादि श्रुतिमें पृथ्वीका पुष्कर(कमल)पत्र पर होना कहा है. अब यदि फिर भी विचार किया जाय तो कहना पड़ेगा कि संस्थानयुक्त लोककी उत्पत्ति शरीरवाला ही कर सकता है. पद्म रूप स्पर्शादि गुणयुक्त संस्थानवाला लोक है, इससे सिद्ध है कि उसे शरीरयुक्त ईश्वरने बनाया है और ईश्वर शरीरी होनेसे जीवतुल्य हो जाता है यह आक्षेप है. यह आठवां अध्याय आक्षेपरूप है. नवां अध्याय सिद्धांतरूप है और दसवां अध्याय फलरूप है. यह पहली कारिकाओंमें कह चुके हैं. यही उपपत्ति है. यही मनन है. इसमें आठ प्रश्न हैं, किन्तु वे आक्षेप गर्भित हैं.

यदि कोई कहे कि ईश्वरको पृथक् शरीरकी अपेक्षा नहीं है, यह तो साकार ब्रह्म ही ईश्वररूपमें बाहर प्रकाशित हुआ है, इसलिए सब कार्य भी हो जायेंगे और जीव तुल्यता भी नहीं आ सकती. इस प्रकारके समाधानके विरोधमें राजा कहता है कि नहीं, जीवतुल्यता रहती है. यह प्रकृत पुरुष विराट् ब्रह्माण्ड जितने कर-चरण अवयवोंसे युक्त है, उतने ही नाप-तौल कर-चरण-मुखादि अवयववाला भी माना गया है. "**सहस्रशीर्षा पुरुषः**" इत्यादि. इयत्ता(नाप तौल) आविर्भाव तिरोभाव करचरणादि आकार आदिसे जीव तुल्यता रहती ही है. यदि कहो कि ऐसा होने पर भी वह नित्य वर्तमान रहता है. यह स्वरूपकी उत्पत्ति नहीं हुई है. यह आविर्भाव(प्राकट्य)हुआ है. जैसा था वैसाका वैसा बाहर प्रकाशित

हो गया है, इसलिए जीव तुल्यता नहीं होती. जीवके शरीरकी तो उत्पत्ति होती है, तो इसके आक्षेपमें राजा कहता है कि ऐसा मानने पर जीवको जो सुखदुःखादि फल मिल रहे हैं, उनकी अनुपपत्ति होगी. जब इस ब्रह्मारूप लोकाविर्भावको जीव मानते हैं, तब तो दुःखादि फल मिलने युक्त हैं. किन्तु जब उसे ईश्वराविर्भाव मान लिया, तब दुःखादि फल किसको और क्यों? वे नहीं होने चाहिए पर हो तो रहे हैं, इसलिए जीव तुल्यता है.

यदि कहो कि यद्यपि यह ब्रह्म है पर इसका संघात तो शरीर ही है और शरीर अनित्य ही होता है इसलिए शरीरमात्रमें अनित्यता माननेमें क्या दोष है. भले उतने अंशमें जीवतुल्यता रही आवे तो कहते हैं कि यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि इन अवयवोंमें भगवान्का आविर्भाव मानोगे तो भगवान् नित्य है और निर्दुःख भी है, तो फिर जीवोंको भी दुःखादि फल न होने चाहिए? और यदि जो सङ्घात(देहादि)होता है, वह अनित्य होता है, इसलिए सङ्घातका तिरोभाव होनेसे भगवत्त्व भी नहीं रहेगा. फिर दुःखादि फल होनेकी सम्भावना है: यह कहो तो फिर ऐसे अनित्य जीवतुल्य विराट्की श्रवणादि भक्तिसे अभयात्मक फलप्राप्ति मिलना असम्भव है यह दोष आवेगा. 'इयत्ता च अवयवाश्च' ऐसा समास है. अवयवोंमें इतनापन 'इयत्ता' कही जाती है. दो हाथ, दो चरण इत्यादि इयत्ता, और यह भी कहा कि देहस्थ अवयव देहसे किंवा परस्पर एक दूसरेसे पृथक्-पृथक् है, किंवा ब्रह्मसे पृथक् है? जिस प्रकार इस तरहका इस विराट्का देह आपने कहा इस तरह आपने ही तदन्तर्वर्ति-पुरुष भगवान्का भी उतना ही, वैसा ही, उतने नापतौलका देह कहा. इससे सन्देह होता है, यह पुरुष प्राकृत पुरुष तो नहीं है? यदि कहो कि हजारों हाथ पैर आंख वाला कहीं प्राकृत पुरुष हो सकता है? कभी नहीं. तो कहते हैं कि 'इव'. देह अवयव वाला 'जैसा', न कि देहादि युक्त हो. देहादि वाला जैसा दीखनेसे ही सन्देह होता है कि प्राकृत ही हो. यद्यपि हजारोंकी संख्या प्रभृतिसे प्राकृतत्व नही ठहरता, किन्तु हजार हों चाहे लाख तथापि बाहु तो हैं? पैर तो हैं? आंख तो हैं? इनमें यदि कोई विशेष(फरक) नहीं है, तो फिर प्राकृत समानता और सन्देह बना ही है. सहस्रादि संख्या केवल अप्राकृतमें ही होती है, यह भी निश्चित नहीं है, क्योंकि सहस्रार्जुन जीव ही था, उसके भी हजार हाथ थे. अतएव बाहु आदि आकृतियोंको देखकर सामान्य जनताको सन्देह हो सकता है. मेरी ससझमें तो यह विराट्पुरुष देहरूप नहीं है किन्तु विराट्से जुदा है, देहसे पृथक् है,

क्योंकि यह ब्रह्माके ऊपर प्रसाद(कृपा)करने वाला है. ब्रह्माजी भगवान्के अनुग्रहसे ही विश्वको उत्पन्न करते हैं. भगवान्का अनुग्रह ब्रह्मा पर होता है. जिसके बलसे ब्रह्मा सम्पूर्ण भौतिक पदार्थ व्यक्तियोंका आत्मा बनकर भूतरूप पदार्थ व्यक्तियोंको पैदा करता है।।८-९।।

आभासार्थ: ब्रह्मामें भौतिक जगत् पैदा करनेका सामर्थ्य स्वतन्त्र नहीं है, पर भगवान्के अनुग्रहसे है. इस बातको दृढ़ करनेकेलिए स्वतःसामर्थ्यकी शंकाको दूर करते हैं:

ददृशे येन तद्रूपं नाभिपद्मसमुद्भवः।
स चापि यत्र पुरुषो विश्वस्थित्युद्भवाप्ययः।।१०।।
मुक्त्वात्ममायां मायेशः शेते सर्वगुहाशयः।
पुरुषावयवैर्लोकाः सपालाः पूर्वकल्पिताः।।११।।
लोकैरमुष्यावयवाः सपालैरिति शुश्रुम।
यावान् कल्पो विकल्पो वा यथा कालोऽनुमीयते।।१२।।
भूत-भव्य-भवच्छब्द आयुर्मानं च यत् सतः।
कालस्यानुगतिर्या तु लक्ष्यतेऽण्वी बृहत्यपि।
यावत्यः कर्मगतयो यादृशीर्द्विजसत्तम।।१३।।

श्लोकार्थ: जिस अनुग्रहसे नाभिकमलोत्पन्न ब्रह्माने भगवान्के रूपको देखा, वह अनुग्रह क्या पदार्थ है सो कहो? और यह भी कहो कि जगत्की उत्पत्ति-स्थिति-संहार करनेवाला सबके भीतर रहनेवाला मायेश अपने सामर्थ्यको शिथिल करके जहां सोता है, इस पुरुषके अवयवोंसे पूर्व-पूर्व कल्पित रक्षक सहित सब ही पृथिव्यादि लोक भी उस समय कहां रहते हैं? इस पुरुषके अवयव(अंग) लोकपाल सहित लोक हैं, यह भी हम सुनते हैं, यह क्या बात है? कल्प और विकल्पों का नापतौल स्वरूप क्या है. भूत, भविष्य व वर्तमान कालको कैसे पहचाना जाता है? सद्रूप ब्रह्माण्डादि जगत्का आयुष्य परिणाम कितना है? इस कालकी जो सूक्ष्म और स्थूल गतियां मालूम हो रही हैं उनका भी स्वरूप कहो? हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! कर्मोंसे जितनी भी गतियां मिलती हैं, उन सबका निरूपण करो।।१०-१३।।

व्याख्यार्थ: अपने कारणभूत अर्थात् बनाने वाले नारायण भगवान्के स्वरूपको जिस अनुग्रहके बलसे ब्रह्माने देखा, और भगवान्के अनुग्रहसे ही

ब्रह्माको भगवान्‌की नाभिके कमलमें जन्म मिला था, इस तरहसे ब्रह्माकी उत्पत्ति और स्थिति दोनों भगवान्‌के अनुग्रहसे ही होती है, यह कहकर अब यह कहते हैं कि ब्रह्माजीका शयन भी भगवान्‌के उसी स्वरूपमें होता है और इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रतिदिन ब्रह्माको प्रकट करना और प्रतिदिन उसका तिरोभाव भी करना यह श्रम सहन करनेसे ब्रह्माके ऊपर भगवान्‌का अनुग्रह सर्वदा स्थिर रहा है. इसलिए ब्रह्माके शयनका निरूपण करते हैं. 'स चापि' भगवान्‌का अनुग्रह जिस पर पूर्ण हो जाता है, वह स्वयं भी भगवान्‌के सदृश हो जाता है. भगवान्‌में जो छः धर्म ऐश्वर्यादि रहते हैं, वे छहों धर्म अनुग्रहीतमें भी आ जाते हैं, दीखने लगते हैं, किन्तु ये धर्म उस व्यक्तिके नहीं किन्तु भगवान्‌के अनुग्रहरूपके हैं. यह बात सब जगह समझ रखनी चाहिए.

ब्रह्माजी भगवान्‌में ही शयन करते हैं. घड़ा मिट्टीमेंसे ही प्रकाशित होता है और उसीमें सो जाता है. और रहता है उतने समय मिट्टी रूप रहकर ही रहता है. इसी तरह ब्रह्माका आविर्भाव भगवान्‌मेंसे होता है और उसका तिरोभाव(शयन) भी भगवान्‌में ही होता है, और जितने समय ब्रह्मा विद्यमान रहता है उतने समय उसकी स्थिति भी भगवद्रूप रहकर होती है. यह दिखानेकेलिए अब ब्रह्माजीका माहात्म्य कहते हैं.

ब्रह्मा ही इस विश्वकी उत्पत्ति-पालन-संहार करता है. नवें श्लोकमें पहले ब्रह्मासे प्राणियोंकी केवल सृष्टि होनेका ही निरूपण आ चुका है किन्तु इस जगदुत्पत्तिसे लेकर प्रलय पर्यंतके सब ही भाव (विकार रूप) ब्रह्मासे ही होते हैं यह कहा है. पैदा होना, रहना, बढ़ना, बदलना, कम होते जाना और नष्ट हो जाना ये छः भाव विकार कहे जाते हैं. यह पाद्म सृष्टिकी बात है. ब्रह्म कल्पकी सृष्टिमें भावरूप विश्व रहता है और पाद्मकल्पकी सृष्टिमें भावविकार विश्व रहता है. ब्रह्मकल्पमें ब्रह्ममय विश्व रहता है, किंतु यमकल्पमें कुछ विकारका अंश रहता है. 'यदुदरात् पद्मं' 'नाभिपद्मसमुद्भवः' 'मायेशः' आदि मूलके शब्द और सुबोधिनी के 'सर्वे भावविकाराः' शब्दसे यह बात स्पष्ट होती है.

शयन करते समय ब्रह्मा रात्रिमें अपनी माया (सब करनेकी सामर्थ्य)को छोड़ कर सोता है. सब कुछ करनेकी सामर्थ्यको अलग धर देनेसे ही रात्रि कही जाती है. मायाका त्याग क्यों कर देता है? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं कि 'मायेशः' यह मायाको अपने वशमें रखता है, इसलिए. जो त्याग कर सकता है

वह ग्रहण भी कर सकता है. वशमें रखने वाला भी वही कहा जाता है. मायाको नियममें रखनेकेलिए ही उसका त्याग करता है, अथवा स्वामीपन या पतिरूपता ही ईश्वरत्त्व होता है. अनुग्रहीत होनेसे इस कल्पमें मायाका पति ब्रह्मा है, इसलिए रात्रिको कार्य करनेकी अवस्थाको छोड़कर मायाके साथ रमण करनेकेलिए शयन करता है. मायाका त्याग करनेमें सामर्थ्य दिखानेकेलिए भी 'मायेश' कहा है.

यहां प्रश्न होता है कि मायाका नियामक तो अन्तर्यामी भगवान् है. फिर ब्रह्माको मायेश कैसे कहा? इसका उत्तर देते हैं कि 'सर्वगुहाशयः'. प्राणी मात्रके हृदयाकाशमें यह हिरण्यगर्भ ब्रह्मा भी रहता है. इसका भी हृदयमें स्थान है इसलिए मायेश कहा. अथवा इस कल्पमें सबके अन्तःकरण(बुद्धि आदि)की प्रेरणा करने वाला यहीं रहता है इसलिए अन्तर्यामी भी यही होता है. अतएव मायेश होना उचित ही है. अब यहां प्रश्नका वास्तविक तात्पर्य यह है कि जिस ब्रह्मा पर भगवान्का इतना अनुग्रह हुआ है उसका प्राकृत देहके साथ सम्बन्ध क्यों हुआ? किस हेतुसे देहसम्बन्ध हुआ?

अथवा यहां नारायणके भी देह होनेका प्रश्न है? इसलिए 'स चापि'का नारायण अर्थ करना. नार=जलसमूह है शयनस्थान जिसका वह 'नारायण'. इस व्युत्पत्तिसे जलशायी नारायण ही कहे गये हैं. जलमें सोते हैं और उनकी भी अवस्थाओंका वर्णन प्राकृतोंकी तरह आती है, इसलिए नारायणके भी देह होना चाहिए. यह देहसम्बन्ध किस कारणसे हुआ? यह प्रश्न है.

यह प्रश्न करनेके बाद आशंका होती है कि लोक कल्पनाकी कथा श्रीशुकने दूसरी तरह कही और ब्रह्माजीने दूसरी तरह कही, यह अवांतर भेद क्यों? इसका उत्तर देते हैं कि 'पुरुषावयवैः' इत्यादि.

'भूर्लोकः कल्पितः...' वाक्योंमें ब्रह्माजीने पुरुषके अवयवोंसे त्रिलोकीकी कल्पना की और ''पातालमेतस्य हि पादमूलम्'' इत्यादि वाक्योंमें श्रीशुकने भगवान्के अवयवोंकी कल्पना चतुर्दश श्लोकोंके द्वारा की. यह एक ही वस्तुका दो तरहसे वर्णन क्यों? इसका निर्णय करिए. यद्यपि आपके और ब्रह्माके वाक्योंकी एकवाक्यता होगी ही तथापि मैंने इस तरह सुना है, इसलिए इस सन्देहका निराकरण तो करना ही होगा. यह 'शुश्रुमः' इस क्रियाका तात्पर्य है।

अब इसके आगे श्रीशुकदेवजीके निरूपणके अनुसार पदार्थोंके विषयमें प्रश्न करते हैं: 'यावान् कल्प' इत्यादि. मूल प्रकृतिसे प्रारम्भ कर सृष्टिके समयका

जो काल विभाग वह कल्प कहा जाता है और प्रकृतिके विकारोंके सृष्टि समूहका जो कालका लम्बा टुकड़ा है उसे विकल्प कहते हैं. जिस कल्पमें ब्रह्मा पैदा होता है और जिसमें सृष्टि रचनार्थ संज्ञान होता है, सावधान होता है, उन कल्पादिका स्वरूप और उनका नापतौल भी कहिए. काल प्रत्यक्ष तो है नहीं तो अनुमान ही आज तक किया जा रहा है, किन्तु इस अनुमानका भी कोई मूल हेतु तो होगा ही, वह क्या है? घड़ी, प्रहर, दिन आदिका परिज्ञान कैसे किया जाय? 'यावान्' और 'यथा' दोनों शब्द सबके साथ लगाने चाहिए. इसका यह तात्पर्य होता है कि ''भूत-भव्य-भवच्छब्दः यावान् यथा कालः भवति तत् कथय''. अर्थात् भूत भविष्य और वर्तमान शब्दोंसे कहा जाता काल किस प्रकारका और कितना कहा गया है? भूत भविष्य और वर्तमान काल कितना है; क्या है? भूत भविष्य और वर्तमान ये तो शब्द हैं किन्तु इनसे वह वह काल किस तरह लिया जाता है? भूत आदि पदोंका प्रयोग करनेका प्रयोजन पूछा गया है. सत् पदार्थ देव पशु पक्षी मनुष्य आदि हैं. इनकी आयुष्यका नाप कितना है? यह भी प्रश्नका विषय है. नित्य जगत् न कहकर जो 'सत्' पद दिया है इसका यह तात्पर्य है कि दृष्टिगोचर व्यक्त पदार्थोंका ही प्रश्न है जो अव्यक्त हो चुके हैं, विद्यमान नहीं, उनके विषयमें प्रश्न नहीं है. इसका भी यह तात्पर्य है कि जो-जो पदार्थ अव्यक्त अवस्थासे व्यक्तमें आते हैं, दृष्टिगोचर होते हैं, वो कितने समय तक ठहरते हैं? यह प्रश्न है. आयुर्मान् प्रश्न न किया जाय और इस विषयको न समझा दिया जावे तो एक आपत्ति आ सकती है. नैयायिकोंके मतके अनुसार पदार्थकी अनित्यताका सिद्धांत तो वास्तविक सिद्धांत है नहीं. यहां तो केवल श्रौत सिद्धांत है. इसमें तो सर्व सत्य, सर्व ब्रह्म और सर्व नित्यताका सिद्धांत है. ऐसी अवस्थामें आयुका प्रमाणज्ञान आवश्यक है, अन्यथा सर्व पदार्थ सर्वरूप होनेसे सब ही काल सबकी आयु हो सकता है. इसलिए खण्ड और अखण्ड दोनों तरहके कालका स्वरूपज्ञान होना ही चाहिए.

'कालस्य अनुगतिः' कालको समझनेके बाद उसकी गति भी समझनी है. कालकी सूक्ष्म और बड़ी भी गति है, अर्थात् छोटेसे छोटा काल और बड़ेसे बड़ा काल कैसे जाना जा सकता है? कालका स्वभावतः या स्वरूपतः ज्ञान कैसे जाना जा सकता है. कार्यके द्वारा काल जाना जाता है. यही कालकी अनुगति है, अनुगम है, लगान है. कार्य मात्रके साथ काल लगा हुआ रहता है. अतिस्थूल

कार्य और अतिसूक्ष्म कार्य(पदार्थ) नित्य हैं. और मध्यके कार्योंका काल अनियत है. इसलिये सब ही काल किस तरह पदार्थ मात्रके साथ चलता रहता है यह कहिये. उत्तरके समय श्रीशुकदेवजी इस कालकी गतिका निरूपण सूर्यकी गतिसे करेंगे.

यदि कोई कहे कि कालके टुकड़े ही नहीं हैं तो कहते हैं कि 'लक्ष्यते'. अर्थात् 'अब-जब-तब' आदि शब्दोंमें कालके अवयव सबके अनुभवमें आ रहे हैं. यदि ये टुकड़े न होते तो जैसे कोई भी आकाशको नहीं कह सकता इसी तरह इस कालको भी कोई नहीं कह सकता था. पर कालको तो सब ही कह रहे हैं. इसकी सूक्ष्म और बड़ी दोनों गतियोंको भी सब लोग कह रहे हैं. 'बड़ी जल्दी चले आये' 'बड़ी देरमें पहुंचे' इत्यादि वाक्योंमें स्पष्ट ही कालकी छोटी-बड़ी गति कही जा रही है. ये सब कालकी अनुगति है पर इन सबका नियामक कौन है, बस यही पूछना है. सो कहिये.

नाना प्रकारके कर्मोंकी नाना प्रकारकी गतियां भी किस प्रकार होती हैं. और सुखदुःखादि फल भी अनेक कर्मोंसे ही मिलते हैं. इन सबमें कर्मोंका नाप-तौल कितना होता है. और इन कर्मोंका प्रकार भी क्या-क्या होता है. अर्थात् किस तरहके कर्मोंद्वारा किस तरहके फल मिलते हैं यह सब कहिये।।१०-१३।।

आभासार्थ: इन सब बातोंको जान लेना आवश्यक है सो कहते हैं:

यस्मिन् कर्मसमावायो यथा येनोपगृह्यते।
गुणानां गुणिनां चैव परिणामम् अभीप्सताम्।।१४।।
भूपातालककुब्व्योम-ग्रहनक्षत्रभूभृताम्।
सरित्समुद्रद्वीपानां सम्भवश्चैतदोकसाम्।।१५।।
प्रमाणमण्डकोशस्य बाह्याभ्यन्तरभेदतः।
महतां चानुचरितं वर्णाश्रमविनिश्चयः।।१६।।
अवतारानुचरितं यदाश्चर्यतमं हरेः।
युगानि युगमानं च धर्मो यश्च युगे युगे।।१७।।
नृणां साधारणो धर्मः सविशेषश्च यादृशः।
श्रेणीनां राजर्षीणां च धर्मकृच्छ्रेषु जीविनाम्।।१८।।
तत्त्वानां परिसङ्ख्यानं लक्षणं हेतुलक्षणम्।
पुरुषाराधनविधिः योगस्याध्यात्मिकस्य च।।१९।।

योगेश्वरैश्वर्यगतिः लिङ्गभङ्गस्तु योगिनाम्।
वेदोपवेदधर्माणाम् इतिहासपुराणयोः।।२०।।
सम्प्लवः सर्वभूतानां विक्रमः प्रतिसंक्रमः.
इष्टापूर्तस्य कामानां त्रिवर्गस्य च यो विधिः।।२१।।
यो वानुशायिनां सर्गः पाषण्डस्य च सम्भवः।
आत्मनो बन्धमोक्षौ च व्यवस्थानं स्वरूपतः।।२२।।
यथात्मतन्त्रो भगवान् विक्रीडत्यात्ममायया।
विसृज्य वा यथा मायाम् उदास्ते साक्षिवद्विभुः।।२३।।

श्लोकार्थः किस कर्मके मेलसे पदार्थ और गुणों का परिवर्तन होता रहता है. सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुणके परिणामरूप जो देव-मनुष्य-पशु आदिके देह हैं, उन्हें पानेकी इच्छा रखनेवाले जीव किस पाप-पुण्य आदि कर्मोंको किस प्रकार करने पर उन-उन देहोंकी प्राप्ति करते हैं. यह मैं जानना चाहता हूं.

पृथ्वी पाताल दिशा आकाश ग्रह नक्षत्र पर्वत नदी समुद्र और द्वीप कैसे उत्पन्न हुए और इनमें रहने वाले प्राणियोंकी सृष्टि कैसे हुई? यह भी कहिये.

यह ब्रह्माण्ड भीतर और बाहर से कितना बड़ा है यह बताइये. महापुरुषोंके चरित्र सुनाइये. ब्राह्मणादि चारों वर्णोंका तथा ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमोंका और उनके धर्मोका वर्णन करिये. भगवान्के अवतारोंका अद्भुत वृत्तान्त सुनाइये. प्रत्येक युग और उनके धर्मोंको कहिये. युगोंका नाप-तौल भी कहिये. मनुष्योंका साधारण धर्म क्या है? वर्णों और आश्रमोंके विशेष धर्म क्या हैं? भिन्न-भिन्न व्यवसायोंसे जीविका चलाने वालोंके धर्म, व्यवहार और नियम क्या हैं? राजर्षियोंका धर्म और सबके आपत्कालके धर्म क्या हैं? यह सब मुझसे कहिये. प्रकृति आदि तत्वोंकी संख्या, स्वरूप और उनका लक्षण भी बताइये. पुरुषकी आराधना, अर्थात् देवपूजा और अष्टांग योग आदिकी विधि क्या है? योगेश्वरोंके ऐश्वर्य और उनकी गतिका वर्णन कीजिये. योगियोंके कारणशरीरका लय किस रीतिसे होता है यह भी कहिये. वेद-उपवेद धर्म-शास्त्र इतिहास और पुराणोंका स्वरूप कहिये. सब प्राणियोंका अवान्तर-प्रलय और महाप्रलय कैसे होता है. सब प्राणियोंकी उत्पत्ति और स्थितिका निरूपण कीजिये. वैदिक और स्मार्त कर्म, अग्निहोत्रादि धर्म, काम्यकर्म और धर्म-अर्थ-काम इस त्रिवर्गकी विधि कहिये. जिनकी उपाधि(देहादि)का लय हो चुका है उन जीवोंकी फिरसे

सृष्टि किस प्रकार होती है उसका वर्णन करिये. पाखण्डकी उत्पत्ति, जीवका बन्धन और मोक्ष, तथा शुद्ध चेतनकी अपने स्वरूप-ब्रह्ममें अवस्थिति कैसे होती है सो कहिये. स्वतन्त्र भी भगवान् पुरुषोत्तम अपनी मायासे किस प्रकार क्रीड़ा करते हैं. और प्रलयकालमें किस प्रकार उस मायाको छोड़कर साक्षीकी तरह उदासीन रहते हैं सो सब मेरे आगे कहिये।।१४-२३।।

व्याख्यार्थ: पदार्थोंमें कर्मोंका मेल कराकर किस प्रकार अनेक तरहके परिवर्तन होते हैं. यह एक दूसरा ही प्रश्न है. सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण ये तीनों जड़ व चेतन सब पदार्थोंका स्वरूप या स्वभावके परिवर्तन होनेमें सहायक कारण है. मनुष्यका देह पशुरूप हो जानेमें, पशुका देह मनुष्य हो जाने में, किंवा देहका मनुष्य और पशु रूप हो जानेमें सत्वादि कारण हैं यह ठीक हह किन्तु उनमें कर्मका समवाय-मेल हुये बिना वे परिवर्तन नहीं कर सकते. इसलिये यह प्रश्न है कि गुणियोंमें (पदार्थों में) जो-जो मनुष्य देव पशु आदि परिवर्तनको चाहनेवाले जीव हैं, उनमें किस-किस कर्मका किस प्रकारसे मेलन होता है जिस परिवर्तनसे वे बदल कर एक-दूसरेके रूपमें आ जाते हैं. जैसे मुख्य रुद्र आदि देव गण अपने-अपने भुवनोंमें बने रहते हैं. पर वे भी जब चाहते हैं तब स्त्री आदिके सम्बन्धके बिना भी मनुष्यादिका रूप धारण करते हैं. जैसे कृपाचार्य रुद्रगणके अवतार हुए. साम्ब गुहका अवतार हुआ. यह जो परिवर्तन हुआ वह कैसे कर्मसमवायसे हुआ. किसने किया? और किसने स्वीकार किया. कर्मका समवाय(मेल) शरीरमें होता है किंवा जीवमें? शुद्ध, अशुद्ध और शुद्धाशुद्ध(मिश्र) तीन प्रकारके कर्म होते हैं. शुद्ध कर्म देवलोगोंके होते हैं, अशुद्ध कर्म पातालवासियों(पशु प्रभृतिके भी)के होते हैं. और मनुष्योंके कर्म मिले हुए(शुद्धाशुद्ध) होते हैं. यह आगे कहेंगे. इस तरह जड़ पदार्थोंमें भी कृतिके द्वारा ही परिवर्तन होते रहते हैं. उस कर्मसे जो मेलन होता है वह क्या गुणोंको बराबर रखकर होता है? किंवा कुछ न्यून-अधिक नाप-तौल रखकर होता है? और यह भी कहिए कि उन कर्मोंका गुण और गुणियों(पदार्थों)में योग करानेवाला कौन है? कर्म और गुण दोनों जड़ हैं, उनका अपने आप योग हो नहीं सकता, और गुणी जीव तो स्वयं योजना विषय होता है. अतएव आप ही स्वयंकी योजना करनेवाला बन नहीं सकता. तो अब कोई तीसरा होना चाहिए. क्या जीव ही किसी कारणांतरसे दोनोंका मेल कराने वाला है? या भगवान् ही गुण-गुणियोंका कर्मके साथ मेल करानेवाले हैं? किंवा कालादिका

मेल करानेवाले हैं. गुणी(जीवादि पदार्थ)भी परिवर्तन चाहते हैं. यह निरूपण करनेकेलिए यहां गुण-गुणियोंका साथ-साथ ही निरूपण किया है. देवावतार, इन्द्रावतार इत्यादि गुणियोंका परिणाम होनेकेलिए कर्मका समवाय होता है वह किस तरह, किसके द्वारा, किसने स्वीकार किया है? यह प्रश्नका तात्पर्य है. आकाशवाणीके द्वारा भगवान्की आज्ञा हुई है कि 'हे देवगणों! आप लोग अपने-अपने अंशोंसे यादवोंमें जन्म लो'. ऐसी अवस्थामें देवोंका कौन सा अंश यादवोंका शरीर हुआ और उस शरीरमें भेला कौन हुआ? जीव, भगवान् किंवा कालादि. यह बातें कर्म-समवाय सम्बन्धी हैं, इनका विस्तारसे उत्तर दीजिये.

पृथ्वी-पातालादि जो मनुष्य-दैत्यादिके निवास स्थान हैं, उनकी उत्पत्ति कैसे और कितनी हुई? यह समस्त ब्रह्मांड कितने नाप-तौलका है? यह भी कहिए. यहां 'अण्डकोश' शब्दसे कमलकी डोडी कही है. अर्थात् वह खिला हुआ कमल नहीं है. पत्र उसके भीतर ही समा रहे हैं. इसी तरह ब्रह्माण्डके भीतर ही चतुर्दश या सप्तादि लोक भी समा रहे हैं, इसी तरह ब्रह्माण्डके भीतर ही चतुर्दश या सप्तादि लोक भी समा रहे हैं, यह समझना चाहिए. अतएव जिस प्रकार कमलके पत्तोंमें एक-दूसरेके ऊपर नीचे-ऊपर आ रहे हैं, इसी तरह ब्रह्माण्डान्तः स्थित लोक भी ऊपर-नीचे होंगे ही. अतएव कौन-कौन ऊपर और कौन-कौन नीचे हैं यह भी कहिए. और फिर बाहरसे कितने लम्बे-चौडे और भीतरसे कितने हैं? अन्यत्र यह कहा भी है कि 'सूर्य और पृथिव्यादि' गोलांडोंका मध्य २५ करोड़ योजन है और इनके बाहर दस गुना लम्बा चौड़ाव है.

सन्तोंका अनुचरित्र-भगवान्की भक्ति करनेका प्रकार कहिए और ज्ञानियोंकी आराधना करनेका प्रकार भी कहिए, और वे लोग जो नहीं करते यह भी कहिए. वर्ण और आश्रमों का आचारके द्वारा और स्वरूपके द्वारा जो निर्णय हो वह भी कहिए. अवतारोंका दिव्य चरित्र, उनमें भी जो आश्चर्य करा देने वाले कालियदमन, गोवर्धनधारण आदि चरित्र हैं वे कहिये. युग(समयके भाग) कितने और कौन-कौनसे हैं? सम्वत्सर आदिके भेदसे जो युगोंका नाप है वह भी कहिए. सत्य बोलना आदि जो मनुष्योंके दश सामान्य धर्म हैं, उनका भी निरूपण करिए. यागादि विशेष धर्मोंको भी कहिए. शिल्पादि एक जीविकासे जीने वालोंका भी वृत्तांत कहिए. राजा होकर जो ऋषिवत् हुये हैं, उन मनु प्रभृतिका साधारण और विशेष धर्म कहना उचित है. धर्मसंकट उपस्थित हो उस समय

मनुष्यके आपद्धर्म कौन-कौनसे हैं सो कहिए. जीव केवल प्राणधारण करते हैं किन्तु धर्माचरण नहीं कर सकते. उनका कर्तव्य कौनसा है? सो भी कहिए. प्रकृति आदि तत्त्वोंकी संख्या कितनी है? अर्थात् सांख्यशास्त्रका निरूपण कीजिए. तत्त्वोंके लक्षण भी कहिए और यह भी समझाईये कि उन-उन तत्त्वोंका वैसा-वैसा लक्षण किस कारणसे है? भगवान्‌की परिचर्याकी विधि भी बताइये? साधारण योगका प्रकार बताईये और उससे जुदे आध्यात्मिक योगका भी प्रकार कहिए. अष्टांगयोग : यम, नियम, आसन, प्राणायाम, अल्पाहार, ध्यान, धारणा, समाधि ये तो सामान्य है, किन्तु वही श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि अंगोंसे विशेष हो जाता है. और राजयोग आदि उपायोंका भी लक्षण कहिए. योगेश्वरोंकी ऐश्वर्य गति कैसे होतो है? जैसे कर्दमप्रजापति प्रभृतिकी हुई है. योगियोंके देहका सम्बन्ध जीवके साथ नहीं रहता, पर कैसे होता है? क्योंकि कई जगह कहा है कि 'अपने गिरे हुए देहको भी न जाना' 'आत्मस्थित चेतन गिरे हुए किंवा वर्तमान देहको भी नहीं जानता' इत्यादि.

चारों वेद, आयुर्वेदादि चार उपवेद, धर्मशास्त्र, भारतादि इतिहास, ब्राह्म आदि पुराण इन सबके लक्षण और नाप भी कहने चाहिए. सब जगत्‌का नाश किस प्रकार और कितने समय तक रहता है? छोटेसे छोटे और बड़ेसे बड़े आकाशादि पदार्थोंके और उनसे बने पदार्थोंका वीर्य (शक्ति) क्या-क्या है? ये आकाशादि क्या-क्या कार्य करते हैं, कर सकते हैं, यह सब कहिए. पदार्थोंका अपने-अपने कारणोंमें समाते जाना यह 'प्रतिसंक्रम'(इसका अर्थ पहलेकी तरह ही जानना)भी कैसे होता है सो कहिए. 'इष्ट' नामका यागादि कर्म जो किया जाता है वह क्या है? बावड़ी, कुआ आदि खुदवाना(इष्ट और पूति कर्म, इन दोनोंका एकसा फल होता है, इसलिए दोनोंको यहां एक ही साथमें कहा गया है.) इन सबका भी स्वरूप कहिए. काम्य कर्मोंकी विधि भी कहिए(अथवा कामका अर्थ विषय लेवें तो) किन-किन विषयोंको भोगना और किनको नहीं, यह भी कहिए. धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्गका भी वर्णन कीजिए. (स्वतन्त्र, परतन्त्र दो तरहके पुरुषार्थ होते हैं इसलिए उनको पुनः यहां कहनेमें पुनरुक्ति दोष नहीं है. इनका निरूपण आगे करेंगे. 'विधि' शब्दसे यहां 'प्रकार' अर्थ समझना, अथवा नित्य, नैमित्यिक, काम्य आदि विधिका यहां प्रश्न है) 'अनशायिगण' एक दूसरे प्रकारके जीव होते हैं, ये भगवान्‌के शयनके बाद निश्चेष्ट होते हैं. इसके पहले वे

त्रिलोकीके कार्यमें भगवान्‌के अनुवर्ती रहते हैं. दैत्य, ज्ञानी लोग और इन दोनोंके अनुवर्ती जीवगण भगवत्कार्यमें अनुशायी नहीं होते. इनसे अन्य जीव अनुशायी होते हैं. उन अनुशायी जीवोंकी सृष्टि कितनी और किस प्रकारको होती है? सो सब कहिए.

पाखण्ड–वेदमार्ग विरोधी मत और विधर्म, परधर्म, आभास, उपमा और छलरूप जो पाखण्ड हैं, ये कैसे हुए? और इनका स्वरूप क्या है सो भी कहिए. अनुशायी जीवोंको छोड़कर बाकी रहे जोवोंका बन्ध–मोक्ष, ज्ञानी और दैत्य जीवोंका भी मोक्ष–बन्ध, अथवा दोनोंके दोनों कैसे होते हैं सो कहिए. और यह भी कहिए कि वह जीव बन्ध और मोक्ष की अवस्थासे रहित होकर कैसे रहता है? और उस समय इसका स्वरूप कैसा रहता है सो कहिए. इसका उत्तर 'अशरीरं वावसन्तम्' इत्यादि वेदसे होता है.

भगवान् स्वतन्त्र है. वह इस विश्वमें क्यों प्रकट होता है और किस प्रकार अपनी मायाके साथ क्रीडा करता है? जगत्‌के रूपमें किंवा कैसे रूपमें प्रकाशित होकर यह स्वतन्त्र भगवान् क्रीड़ा करता है यह कहिए. अथवा वैकुण्ठ गोकुलादिमें भी कैसे क्रीड़ा करता है. और यह भी कहिए कि मायाके साथ सम्बन्ध कर लेने पर विभु भगवान्‌का चरित्र किस प्रकारका रहता है और मायाको छोड़कर जब वे उदासीन होकर स्थिर रहते हैं, तब उनका चरित्र और स्वरूप किस प्रकारका रहता है सो भी कहिए. जिस स्वरूपकी सांख्यसिद्धांतने प्राप्तिकी है यह भी एक भगवान्‌का स्वरूप है. यह स्वरूप साक्षी कहा जाता है. सबमें रहता हुआ भी सबसे पृथक् रहकर सबको देखते रहना यह विभु–साक्षीका स्वरूप है. प्रश्न यह है इस कि रूपकी तरह ही मूल स्वरूप भी है क्या? अथवा उसका स्वरूप कुछ और ही तरहका है? यहां 'विभुः' यह पद इसलिए दिया है कि यह भगवान दोनों तरहसे रहने और करनेकेलिए समर्थ है. ऐसी अवस्थामें सन्देह होना सम्भव है. यही आक्षेपगर्भ राजाका प्रश्न है।।१४–२३।।

आभासार्थः इस तरह अत्यन्त उपयोगी प्रश्नोंको पूछकर राजा अब साधारणरूपसे और भी प्रश्न करता हुआ उपसंहार करता है:

सर्वम् एतच्च भगवान् पृच्छतो मेऽनुपूर्वशः।
तत्त्वतोऽर्हस्युदाहर्तुं प्रपन्नाय महामुने।।।२४।।

श्लोकार्थः हे भगवन्! हे महामुने! ये पूर्वोक्त सब और अन्य भी मेरे

प्रश्नोंका उत्तर आप क्रमशः वास्तविक देनेमें पूर्ण समर्थ हैं, यह मैं जानता हूं. मैं इस विषयमें आपके शरण हूं, अतः उत्तर दीजिये.

व्याख्यार्थः यह पूर्वमें जो कुछ पूछ चुका हूं उन सबका और जो नहीं पूछ चुका हूं, उसका भी आप उत्तर दीजिए. हे भगवन्! मैं अपने कार्यकेलिए पूछ रहा हूं. मैंने अपनी जिज्ञासाके अनुसार प्रश्न किये हैं. इसलिए प्रश्नोंके क्रमसे ही उत्तरोंका क्रम भी रखिए (क्रमसे उत्तर देनेमें क्रमशः ही मेरे हृदयको सन्तोष होता चला जायगा. (इसलिए यहां 'अनुपूर्वशः' पद कहा है.) उत्तर देनेमें आप मेरी असामर्थ्य किंवा मेरे अधिकार पर दृष्टि न दीजिये किन्तु वास्तविक पदार्थोंका निरूपण करिए. इससे यह स्पष्ट होता है कि अन्य मतोंका निराकरण अपने आप हो जायगा. यद्यपि इतने उत्कृष्ट वक्तासे इतने उत्कृष्ट सिद्धांतोंके श्रवण करनेका अधिकार मेरा नहीं है, तथापि आपका अधिकार सिद्ध है इसलिए आप तो कहिए.

यदि आप कहें कि फिर भी श्रोताके अधिकारकी भी अपेक्षा रहती ही है, इसलिये तुम्हारे अधिकारके अनुसार उत्तर देना ठीक रहेगा तो कहते हैं कि 'प्रपन्नाय'. मेरा कुछ भी अधिकार नहीं है तथापि मैं आपके शरण आया हूं. शरणागतके आगे सब कुछ कहना उचित है, प्रपन्नके आगे गोपनीय कुछ नहीं है. मैं अपना दैन्य दिखानेकेलिए बढ़ाचढाकर नहीं कह रहा हूं, क्योंकि आप महामुनि हैं. जो किसीके हृदयकी बात जान जावे वह मुनि. आप तीनों कालकी बातें जान रहे हैं. तत्वोंके विषयमें जितना जो कुछ मेरा ज्ञान है, वह भी आप जानते हैं. और जैसी मेरी शरणागति है यह भी आप जानते हैं यह सूचित करनेकेलिए ही 'महामुने' सम्बोधन है।।२४।।

आभासार्थः यहां एक यह आशंका हो सकती है कि मेरे सिवाय और भी मुनि हैं, वे सब सर्वज्ञ कहे भी जाते हैं और नाना प्रकारके वक्ता भी हैं ही, तथापि उनका प्रामाण्य पाक्षिक ही है. क्योंकि एक ईश्वरके सिवा अन्य किसीका भी पूर्ण प्रामाण्य नहीं होता. मैं भी मुनि हूं, वक्ता हूं तो फिर उनकी तरह मेरा भी प्रामाण्य पाक्षिक है, अपूर्ण ही है, इसका उत्तर राजा स्वयं देता है कि:

अत्र प्रमाणं भगवान् परमेष्ठी यथात्मभूः।
परे चेहानुतिष्ठन्ति पूर्वेषां पूर्वजैः कृतम्।।२५।।

श्लोकार्थः इस भक्तिमार्गके विषयमें तो मैं आपको ही पूर्ण प्रमाण मानता

हूं, क्योंकि आप भगवान हैं, भगवद्गुणयुक्त हैं. जैसे परमेष्ठी ब्रह्मा सबकी दृष्टिमें पूर्ण प्रमाण(यथार्थ वक्ता) हैं, इसी तरह आप मेरी दृष्टिमें हैं. मैं ही क्या? मुझसे भी श्रेष्ठ लोग आपके कहे सिद्धान्तके अनुसार चल रहे हैं, और उन्हीं सिद्धान्तोंके अनुसार पूर्वोके भी पूर्वज(पुरखा) करते चले आ रहे हैं।।२५।।

व्याख्यार्थ: जगत्के तत्त्वको समझानेकेलिए पहला साधन ज्ञान है, पर वह ज्ञान विरोध रहित होना चाहिये. ऐसे ज्ञानको ही प्रमाण कहते हैं. अथवा बाधयोग्य ज्ञानसे भिन्न ज्ञानको प्रमाण कहते हैं. तत्सम्बन्धी ज्ञान रखनेवाला प्रमाता, किंवा वैसी बुद्धि, अथवा जानने योग्य अबाधित विषय, तीनों प्रमाण अर्थात् विश्वास करने योग्य कहे जाते हैं. कितने ही लोग 'प्रमाण' शब्दको बहुत अर्थ वाला कहते हैं. अस्तु, तात्पर्य तो इतना ही है कि जिन महापुरुषोंका ज्ञान उत्पत्तिसे लेकर मरणपर्यंत कभी भी बाधित, विरुद्ध या भूलवाला नहीं हो पाया हो वे यहां 'प्रमाण' शब्दसे कहे गये हैं. वेदसे विलक्षण इस भक्तिमार्गमें आप, और वेदार्थके विषयमें आत्मभू ब्रह्मा, प्रमाण कहलाते हैं. जिस तरह ऋषियोंके वचनोंका अनेक जगह परस्पर विरोध और बाध रहता है, वैसा किसीको भी ब्रह्माके वाक्यमें कभी विरोध और बाध नहीं होता. उसका कारण है कि वह 'परमेष्ठी' है. परमे तिष्ठति इति. अर्थात् उत्पत्तिसे लेकर जब तक रहता है वहां तक वह सर्वदा परमश्रेष्ठ भगवान्में ही तत्पर रहता है. इसलिए उसको 'प्रमाण' कहते हैं. इसी तरह आप भी सर्वदा भगवत्पर रहते हो, इसलिए भगवान् और परम प्रमाण भी हो.

कदाचित् कोई कहे कि केवल भगवान्का वचन होनेसे ही सबको प्रमाण कैसे हो सकता है? क्योंकि सबको भगवान्के वचन समझमें आवे तब न. जो समझमें ही न आवे वह 'प्रमाण' कैसे?

इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'परेचेहानुतिष्ठन्ति'. मुझसे बड़े जिन्होंने परम तत्त्वको समझ लिया है वे महन्त लोग भी आपके कहे पदार्थमें व सिद्धांतमें विश्वास करते हैं और उसके अनुसार अनुष्ठान भी करते हैं, विशेषकर इस भक्तिमार्गके विषयमें. इसलिए आपका वचन सर्वत्र प्रमाण है. अथवा हमारे लिये तो भगवान् (आप ही) प्रमाण हैं पर दूसरे लोग तो प्रामाण्याप्रामण्यका विचार किये बिना ही अपने पूर्वज और पूर्वजोंके पूर्वजोंने जो कुछ किया तदनुसार ही करते हैं. उनको सदाचार ही प्रमण है, किन्तु मुझे तो आपके वचनमें सन्देह ही नहीं है।। ९५।।

आभासार्थ: विशेषकर मैं तो आपके वचनोंसे ही जी रहा हूं. अन्यथा

तक्षकरूप महाभयका श्रवण कर चुका हूं. अतएव उस भयसे ही मेरा मरण हो जाता सो राजा कहता है:

न मेऽसवः परायान्ति ब्रह्मन् अनशनाद् अमी।
पिबतोऽच्युतपीयूषम् अन्यत्र कुपिताद् द्विजात्।।२६।।

श्लोकार्थ: हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! मैं आपके मुखसे भगवत्कथा-सुधाका पान कर रहा हूं, इसलिये कुछ भी भोजन न करने पर भी मेरे प्राण ठहरे हुये हैं, निकले नहीं हैं. हां यह बात दूसरी है कि कुपित ब्राह्मणने जो शाप दे दिया है उसमें कुछ परिवर्तन नहीं हो सकता।।२६।।

व्याख्यार्थ: हे ब्रह्मन् मेरे प्राण दो दिन तक न खाने पर भी निकल नहीं सके. आप सर्वज्ञ हैं इसलिए इस बातको समझ सकते हैं. इसीलिये 'ब्रह्मन्' ये सम्बोधन दिया है. प्राणोंको क्लेश पहुंचा है, यह दिखानेकेलिए 'अमी' पद दिया है. परीक्षित राजा है इसलिए एक उपवासमें ही दुःखी हो गया है. भोजन बिलकुल न करनेसे उसके प्राणोंका निकलना सम्भव है, पर नहीं निकले या नहीं निकलते हैं. इसका कारण बताते हैं कि 'पिबतोऽच्युत' इत्यादि. अच्युत-श्रीकृष्णसे सम्बन्ध रखनेवाली कथासुधाका पान कर रहा हूं इसलिये. अथवा अच्युत-श्रीकृष्ण ही अमृत रस है. इस पदसे राजाने अपना उत्तमाधिकार सूचित किया है.

यहां प्रश्न होता है कि यह कृष्ण कथारूप अमृत जिस तरह क्षुधाका निवारण कर रहा है इसी तरह ब्राह्मणकोपसे होनेवाली मृत्युका भी निवारण कर देगा? इसके उत्तरमें राजा कहता है कि 'अन्यत्र'. यह बात नहीं हो सकती, और न मैं यह चाहता ही हूं. यह बात ठीक है कि इस कथामृतसे प्राणघातक सब ही विघ्न दूर हो जाते हैं किन्तु ब्राह्मणके कोपसे प्राप्त होने वाला प्राणोपघातक दूर नहीं हो सकता. यह तक्षकरूप मेरी मृत्यु यदि हटे तो फिर वह उसका कोप उस ब्राह्मणका ही नाश कर दे. मृत्युके वेगसे दबा हुआ कोप एकका नाश तो जरुर करेगा. ऐसी अवस्थामें ब्राह्मणका मरण हो उसकी अपेक्षा तो मेरा मरण हो यह अच्छा है. इसलिए मैं यह चाहता हूं कि यह सर्वघातकोंका निवारण करनेवाला कथामृत कोपरूप घातका निवारण न करे. और निवारण नहीं ही करेगा यह मुझे निश्चय है।।२६।।

आभासार्थ: इस तरह जब राजाने पूर्वपक्ष किया तब श्रीशुकदेवजीको क्रोध नहीं आया किन्तु राजा पर उन्हें सन्तोष हुआ. क्योंकि राजाने केवल आक्षेप न करके प्रश्नोंमें ही भगवन्माहात्म्यको भी स्थिर कर दिया था इसलिए प्रसन्नता

हुई सो कहते हैं:

सूत उवाच

स उपामंत्रितो राज्ञा कथायाम् इति सत्पतेः।
ब्रह्मरातो भृशं प्रीतो विष्णुरातेन संसदि।।२७।।

श्लोकार्थ: सूतजी बोले, इस तरह भगवान्से रक्षित राजा परीक्षितने जब शुकदेवजीको सन्तोंके स्वामी श्रीकृष्णकी कथा कहनेकेलिये प्रार्थना की तब सभामें बैठे हुये श्रीशुकदेवजी राजा पर बड़े ही प्रसन्न हुए।।२७।।

व्याख्यार्थ: श्रीशुकदेवजीसे राजाने इस तरह प्रार्थना की. 'उपामन्त्रयन्त' इत्यादि वाक्यमें 'उपामन्त्रण' शब्दका प्रार्थना अर्थ निर्धार किया है. 'इति'का अर्थ है कि इस तरह कथा कहनेकेलिए. अर्थात् भगवान्के गुणोंका निरूपण युक्ति पूर्वक कीजिए क्योंकि भगवान् सत्पति, भक्तोंके स्वामी हैं. अतएव जब कोई उनका भक्त युक्तिपूर्वक गुणोंका निरूपण करता है तो उन्हें बड़ा सुख होता है, और इस तरह कहनेसे श्रोताओंके हृदयमें सन्देह रहित भगवल्लीलाओंकी समझ बैठ जाती है इसलिये यही भगवान्को संतोष होता है, राजाके प्रश्नका यह भी तात्पर्य है. उसमें भी ये शुकदेवजी ब्रह्मरात हैं, अर्थात् वेदने इनकी रक्षा कर रखी है. वेदका कथन अतिसंक्षेप एवं परोक्षरूपसे होता है. श्रीशुकदेवजी उस(वेदके) हमारे अर्थको युक्तिमय बनाकर कह सकेंगे. इसलिए वेदने इनकी रक्षाकी है. श्रीशुकदेवजी जीवन्मुक्त थे अतएव वेदार्थज्ञानने ही उनका जीवन चला रखा था. श्रीशुकदेवजीने समझा कि राजाने भगवन्माहात्म्यका प्रश्न करके मेरे जीवनको सफल बना दिया है, इसलिए वे खूब ही प्रसन्न हुए. राजा परीक्षित भी 'विष्णुरात' है. श्रीकृष्ण कथा सुनवानेकेलिए ही श्रीकृष्णने ब्रह्मारम्भसे उसकी रक्षाकी है. श्रीकृष्ण जानते थे कि यह परीक्षित मेरे विषयमें खूब विचारकर ज्ञान सम्पादन करेगा. एतावता राजाने भी अपने जन्मकी सफलता रहनेकेलिए बीच सभामें यह प्रश्न किया।।२७।।

आभासार्थ: इस तरहसे युक्तिपूर्वक भगवत्कथा कहनेका निर्णय हो चुका किन्तु इसमें लौकिक युक्ति किसी कामकी नहीं, इसलिए शास्त्रोंमें जो उपपत्ति(युक्ति) पूर्वक भगवच्चरित्र(भागवत) वर्तमान था, उसका ही निरूपण करना प्रारम्भ किया सो कहते हैं:

प्राह भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्।

ब्रह्मणे भगवत्प्रोक्तं ब्रह्मकल्प उपागते।।२८।।

श्लोकार्थ: जिस समय ब्रह्मकल्प(समयका एक खण्ड) था उस समय भगवान्ने जो ब्रह्माजीसे कहा वह भागवत श्रीशुकने राजासे कही. यद्यपि यह भागवत नामक पुराण, पुराण रूपसे ही कहा गया है पर वेदके अर्थसे नपा-तुला था, अर्थात् वेदवत् था।।२८।।

व्याख्यार्थ: 'पुराण' शब्दसे लोकके विश्वास करनेकी योग्यता कहकर प्रामाण्य कहा, और 'ब्रह्मसम्मितम्' कहकर युक्तिसाहित्य कहा. वेदवाक्योंमें जो शास्त्रीय युक्तियां दी गई हैं, उन युक्तियोंसे उपपन्न भागवतका निरूपण किया.

यहां यह प्रश्न होता है कि भागवत (भगवच्चरित्र और भगवत्स्वरूप) तो कितने ही हैं. बहुतसे स्थानोंसे भिन्न-भिन्न प्रकारोंसे भागवत भगवच्चरित्र गुणस्वरूपोंका निरूपण आया है. ऐसी अवस्थामें यहां कौनसे भागवतका निरूपण किया यह शङ्का बनी ही रहती है. इसका उत्तर देते हैं कि 'ब्रह्मणे प्रोक्तम्'. भगवान्ने ब्रह्माकेलिए जो कहा सो भागवत. भगवान्के स्वरूपका जो यथार्थ ज्ञान उसे भागवत कहते हैं. यह व्युत्पत्ति शब्दके द्वारा है, किन्तु विषय अर्थात्मक है. विषय तो स्वरूप-गुणधर्म-लीला आदि सब कुछ हैं, किन्तु उन सबको दो भागमें बांट दिया. विषयात्मक गौर विमर्शात्मक. उनमें विषयात्मक भागवत तो अनेक प्रकारका है पर विचारात्मक भागवत दो प्रकारका है. ब्रह्माजीने नारदकेलिये जो भागवत कही है वह उत्पत्तिरूप विचार भागवत है. ब्रह्मकेलिए भगवान्ने स्वयं कहा है वह भागवत उपपत्तिरूप विचार भागवत है, और अब यह जो परीक्षितसे शुकदेवजी जो पाद्मकल्पीय भागवत कहेंगे यह तृतीय है. इस भागवतमें सब ही पूर्वोक्त प्रकारोंका निरूपण आवेगा. तब ही भागवतकी अनेकधा प्रवृत्तियोंका स्पष्टीकरण हो सकता है. ब्रह्माजी जगद्वर्ती पदार्थोंके अवांतर उत्पादक हैं अतएव उनका ज्ञान तो उसे हो चुका है. अर्थात् उत्पत्ति रूपसे भागवतकी समझ उन्हें हो चुकी है, अब तो केवल उन-उन पदार्थोंकी उत्पत्ति और स्वरूपमें उपपत्ति मात्र बतानी है, सो भगवान्ने ब्रह्मकल्पमें कही. यह दिखानेकेलिए 'ब्रह्म कल्पे उपागते' कहा. ब्रह्मकल्पमें जगत्की उत्पत्ति शब्दब्रह्मसे ही होती है. शब्दब्रह्म (वेदादिशास्त्र)के द्वारा जो भागवतकी उपपत्ति दिखाई है वह उपपत्ति इस भागवतमें भी क्वचित् दिखाई गई है।।२८।।

आभासार्थ: ब्रह्मकल्पीय भागवतार्थसे अन्य विषयका भी प्रश्न राजाने

किया है इसलिए उस भागवतसे पहले उन विषयोंका पृथक् ही उत्तर देकर फिर पीछे भागवतकी उपपत्ति कहेंगे सो कहते हैं:

यद् यत् परीक्षिद् ऋषभः पाण्डूनाम् अनुपृच्छति।
आनुपूर्व्येण तत् सर्वम् आख्यातुम् उपचक्रमे।।२९।।

श्लोकार्थ: पाण्डव श्रेष्ठ राजा परीक्षितने जो जो कुछ पूछा है: उन सबका उत्तर क्रमसे देनेके लिये श्रीशुकदेवजीने कहना प्रारम्भ किया।।२९।।

व्याख्यार्थ: भगवद्भक्तोंमें प्रधान राजाने पूर्वोक्त कारणरूप प्रश्नोंके विषयमें जो-जो प्रश्न किये उन सबका आनुपूर्वीसे उत्तर देना प्रारम्भ किया. अर्थात् राजाकी जैसी चाहना थी तदनुसार उत्तर दिया. 'च' देनेका तात्पर्य यह है कि इसके सिवाय भी जो युक्तियुक्त था सो भी कहा।।२९।।

श्रीभागवत महापुराणके द्वितीय स्कन्धकी महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी विवृतिका आठवां अध्याय सम्पूर्ण.

अध्याय ९

तृतीय श्रवणाङ्ग साधन: मनन

जीव और ब्रह्मके संदेहका निवारण

नवमे तूत्तरं प्राह जीव–ब्रह्मस्वरूपयोः।
सन्देहवारकं पूर्व–कथनस्यापि वस्तुताम्।।१का.।।
पारम्पर्यकथा चास्य शुद्ध्याधिक्यवगम्यते।
नान्यथेत्यस्य सन्देह–नाशनाय निरूपिता।।२का.।।

कारिकार्थ: जीव और ब्रह्म के स्वरूपमें जो सन्देहात्मक प्रश्न किया था, उसका निवारण अब इस नवम अध्यायमें करते हैं, और पूर्वमें जो कुछ कह आये, उसकी यथार्थता भी कहते हैं. इस अध्यायमें श्रीभागवत् प्राप्तिकी परम्परा भी कही है, ब्रह्माकी उत्पत्तिकी परम्परा भी बताई है, ब्रह्मादि जीवोंकी शुद्धि दिखाकर उनका वशेषाधिकार प्रमाणित किया है. साक्षाद् भगवान्से ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई है. खास उसको श्रीमद्भागवतका उपदेश भगवान्ने दिया है, इत्यादि परम्पराका निरूपण करके यह दिखाया है कि जो जीव उत्पत्तिसे एवं साधनोंसे शुद्ध होते हैं, वे भगवत्स्वरूप–गुण–लीलारूप भागवतश्रवणके विशेष अधिकारी हैं. उनके आगे कहा गया उपदेश ही सफल होता है. उनकी समझमें ही भगवान्का कथन ठीक बैठता है. दूसरे परम्पर्या कथा इसलिए भी कही गई है कि राजाके हृदयमें किसी तरहका सन्देह न होने पावे. मैंने जो कहा है वह समूल है, भगवन्मूल है, यह राजाको निःसन्देह समझमें आ जावे।।१–२।।

आभासार्थ: जितने भी संदेहात्मक प्रश्न किये गये हैं, उनमें जीव और ब्रह्म विषयक संदेह मूल है. इन दोके विषयमें संदेह दूर हो जाये तो फिर अन्य विषयोंमें कोई संदेह न रहे, इसलिए पहले उनके संदेहका निरास प्राप्त है. उनमें पहले जीवके संदेहको दूर करते हैं 'आत्ममायामृते' इत्यादि तीन श्लोकोंसे.

राजाने 'यद् अधातुमतो ब्रह्मन्' इत्यादि श्लोकोंमें यह पूछा था कि हे ब्रह्मन्! देह–धातु सम्बन्धोंसे रहित इस जीवका धातुओंके द्वारा देहका आरम्भ क्यों कर हुआ! ब्रह्मका जीवत्व क्यों हुआ? इसका उत्तर 'जीव' शब्द ही है. 'जीव प्राण धारणे' इस प्रकृति–प्रत्ययसे 'जीव' शब्दकी सिद्धि हुई है. जिसका अर्थ होता है कि जबसे शुद्ध चेतनको प्राणोंके धारणमें प्रयत्न करनेका अभ्यास हुआ,

तबसे ही यह जीव कहा गया है. जब इसे जीवत्व प्राप्त हुआ तो फिर देहसे सम्बन्ध कराने वाले कारण भी अनेक हो जायेंगे. इसलिए श्रीशुकदेवजी भी पहले चेतनको जीवत्व कैसे ? इसका निरूपण करते हैं:

श्रीशुक उवाच

आत्ममायाम् ऋते राजन् परस्यानुभवात्मनः ।
न घटेतार्थसम्बन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाञ्जसा।।१।।

श्लोकार्थ: अनुभवरूप परब्रह्म(आत्मा)के साथ देहादि पदार्थोंका सम्बन्ध बिना उसकी ही मायाके ओर तरहसे ठीक नहीं बैठता जैसे स्वप्न देखने वालेको उसकी भूलसे ही स्वाप्निक अन्य पदार्थोंके साथ सम्बन्ध हो जाता है. इसी तरह चेतनोंको देहका सम्बन्ध भूलसे होता है।।१।।

व्याख्यार्थ: वेदादि शास्त्रोंसे यह तो सिद्ध है कि परब्रह्म परमात्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है. इस सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्ममें सदानन्दरूप भगवान् एक कोटिमें है, और सच्चिद्रूपभगवान् दूसरी कोटिमें है. ब्रह्मका सद्रूप और सद्धर्म दोनों, आनन्द और चेतन दोनोंके साथ लगा हुआ रहता है. सत्का अर्थ है, नित्य, वर्तमान, सर्वदा अबाधित. इसका अर्थ यह है कि ब्रह्मरूप सर्वदा आनन्दमय है. यह ब्रह्म रूप सर्वदा ज्ञानमय है. यही अर्थ सदानन्द और सच्चित् शब्दोंका है.

इन सदानन्द और सच्चिद्रूप ब्रह्मकी दो प्रकारकी ही मायाशक्ति है. उनमें चिद्रूप भगवान्की शक्ति व्यामोहिका(मोहिनी) माया है. इसका भूल करवा देना ही कर्त्तव्य है. यह व्यामोहिका माया अपने वशमें आये पुरुष(शुद्धचेतन)को भूलमें डाल कर जीव बना डालती है. केवल प्राण धारण करनेके प्रयत्नमें ही जो बचा रहे वह जीव कहा जाता है. इस मायासे मोहित यह जीव इतना व्याकुल(धबराया) हो जाता है कि जिसके द्वारा अहित हुआ है, उसे ही अपना हितकारक समझ कर उसमें लिपटता चला जाता है. भगवान् सदानन्दसे बनी सृष्टिमें सूत्रमय दश प्रकारका जो मुख्य प्राण उसे यह मोहित जीव अपना जीवन समझ लेता है. मुख्य प्राण ही दशेन्द्रियोंमें भिन्न-भिन्न रूपसे स्थित रहता है. इन सबका मूल यह आसन्य प्राण है. यह सच्चित भगवान् जीवरूप इस आसन्य प्राणका ही आधार रखकर स्थित रहता है. इसलिए यह ब्रह्मसे जीव हो जाता है. ('जीव' धातुसे कर्त्रर्थमें 'अच्' प्रत्यय होनेसे 'जीव' शब्द बनता है).

कदाचित् कोई कहे कि बोधस्वरूप जीवको मायासे मोह कैसे हो गया ?

तो कहना होगा कि यद्यपि यह चिद्रूप है, बोधस्वरूप है, तथापि इसका आनन्द स्वरूप इससे पृथक् हो चुका है, इसलिए आनन्दकी प्राप्तिकेलिए वह माया इसे भूल करवा देती है. यह समझता है कि इस मायाके सम्बन्धसे मुझे आनन्द मिलेगा. यों समझकर यह आत्मा उस मायाके साथ सम्बन्ध करता है. आशा ही आशामें इसके सम्बन्धको छोड़ता नहीं यह प्रत्यक्ष सिद्ध है.

आनन्दका और चित्का यह विभाग 'एकोहं बहुस्यां प्रजायेय' आदि श्रुतियोंसे सिद्ध है. एक ही सच्चिदानन्द भगवान्को जब अनेक प्रकारसे अनेक होनेकी इच्छा होती है तब एक स्वरूपके दो आदि भेद कर लेता है. यह इच्छा भी भगवान्का सर्वभवन सामर्थ्य ही है. जब इसे बहुत्व करना होता है तब उसके पहले यह स्वरूप ही धर्मरूपसे प्रकाशित होता हुआ, इच्छारूपसे भी प्रकाशित होता है. बहुभवनके पूर्व यह इच्छारूप धर्म, स्वरूपमें ही सम्मिलित रहती है. जैसे हमारे नेत्रोंकी दृष्टि धर्म है तथापि वह नेत्र स्वरूपमें ही सम्मिलित रहती है. माया प्रभृति सब ही शक्ति धर्मरूपसे प्रकाशित होनेके पहले भगवान्के स्वरूपमें ही सम्मिलित रहती हैं. सत्-चित्-आनन्द धर्म भी हैं, स्वरूप भी. किन्तु पृथक् प्रकाशित होनेके पहले ये स्वरूपमें ही सम्मिलित रहते हैं. इनकी शक्ति भी पृथक् पृथक् है.

उनमें क्रियारूपा शक्ति सद्रूप भगवान्की है. चिदंशकी व्यामोहिका मायाशक्ति, है और आनन्दमय भगवान्की शक्ति सर्वभवनसामर्थ्य है. यही जगत्का कारण है. ये तीनों शक्तियां सच्चिदानन्द परब्रह्मके भावप्रत्यय त्वतलादि धर्म ही है. अर्थात् ब्रह्म'त्व'-ब्रह्म'ता' आदिरूप धर्म ही है. यह भी एक तरहका बहुभवन नहीं है और यह भाव(भवन) स्वरूपसे ही सिद्ध है. स्वरूपको ही जब जैसा बनाना चाहता है, बना लेता है. यह शक्ति भगवान्में स्वतः सिद्ध स्वभाव है. यदि कोई कहे कि यह सर्वभवन सर्वदा क्यों नहीं होता? तो यह कहना होगा कि 'जब-तब' ही इसका उत्तर है. 'सर्व भवनका जब काल आता है, तब सर्वभवन होता. जब वैसा काल नहीं रहता. तब सर्वभवन तिरोभूत हो जाता है. काल जब प्रकट हो जाता है तब वही सर्वभवनका नियामक हो जाता है. इसलिए सर्वदा सर्वभवन होने नहीं पाता. इच्छानुसार तत्कालमें वे-वे कार्य होते रहते हैं. सबसे पहले धर्मोंमें कालका आविर्भाव होता है. कालका संग होनेसे इच्छादि धर्म भी प्रकाशित हो जाते हैं. बहुभवनादि इच्छा प्रभृति भगवान्के ही अंश हैं. ये

इच्छादिक, अन्य पदार्थोंको, जो परब्रह्मके ही अंश हैं, उन्हें सदा अपने स्वरूपमें रखते हैं. भगवान्‌की इच्छाके बिना जगत्‌का एक पत्ता भी इधर-उधर नहीं हिलता.

इससे यह सिद्ध हुआ कि, उन्हीं शक्तियोंके एक अंश इच्छारूपको भगवान् ग्रहण करता है जिससे बहुभवनादि सृष्टिके कार्य प्रचलित होते हैं. यही '**सो अकामयत**' आदि श्रुतियोंमें कहा हुआ 'काम' पदार्थ है. यही '**स द्वितीयम् ऐच्छत्**' '**स ऐक्षत**' '**एकोहं बहुस्यां**' आदि श्रुतियोंमें इच्छारूपसे कहा गया है. भिन्न-भिन्न स्वभाववाली इस इच्छासे ही उस सर्वाश्रय सच्चिदानन्द परब्रह्मके सत् चित् और आनन्द धर्म भी स्वरूपसे जुदे पड़ जाते हैं और जुदे होकर अपने-अपने आश्रय स्वरूपको भी पृथक् कर देते हैं. स्वरूप और धर्मोंके जुदे-जुदे होनेसे ही वह परमात्मा भगवान् सर्वतः पाणिपाद और परिच्छेद वाला हो जाता है, और साकारस्वरूप भी होता है. अब यह त्रिविध भगवान् धर्मयुक्त धर्मी हो जानेसे क्रियावान्, सर्वज्ञ और आनन्दवान् कहा जाता है. यद्यपि त्रिविध यह भगवान् भिन्न-भिन्न स्वरूप है तथापि थोड़े स्वरूपको छोड़कर सर्वत्र मिलित अखंड सा ही रहता है. जो भिन्न रूप है वह इनका कार्य रूप है विश्वरूप है. ''**पादो अस्य विश्वा भूतानिः**'' श्रुतिके अनुसार यह भेदवाला विश्वस्वरूप तो इस व्यापक भगवान्‌का एक अंश है, पाद है, और उसका बाकी रहा त्रिपाद अंश तो सर्वदा सम्मिलितरूप ही रहता है.

ये क्रियावान् सच्चित् और सदानन्द रूप तीनों भगवान् 'पूर्ण' शब्दसे कहे गये हैं. यह बात श्रुतिमें इस तरह कही गई है: ''**पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णम् उदुच्यते, पूर्णस्य पूर्णम् आदाय पूर्णमेवाव शिष्यते**'' अर्थात् सर्वव्यापक और अव्यक्तरूप जो ज्ञानैकघन परब्रह्म है, वह पूर्ण है. सब अंश-कला धर्मोंसे भरा हुआ है और सर्वत्र व्यापक है, आकाशकी तरह. और यह दीखता हुआ सद्रूप विश्वरूप ब्रह्म भी पूर्ण है, व्यापक है. अंशकलादिसे भरा हुआ रहता है. पूर्वोक्त इन 'पूर्ण' शब्द वाच्य दोनों एकपात् त्रिपात् विभूतिरूप ब्रह्मोंसे पूर्णभूत् पूर्णानन्द अभयानन्द भगवान् पुरुषोत्तम सेवित होता है. अर्थात् क्रिया-ज्ञान साधनों द्‌वारा आनन्दमय भगवान् फलरूप होता है. आनन्दरूप फलकी सेवा सद्रूप-चिद्रूप करते हैं. इसलिये इन्हें उपनिषत्‌में पुच्छरूप कहा है. यही आनन्दकी फलरूपता श्रुतिके उत्तरार्धमें स्पष्ट की है.

पूर्वोक्त पूर्णभूत पुरुषोत्तमके प्रसादसे उसके ज्ञानादि धर्मोंकी प्राप्ति करके ये भगवान् पूर्ण होकर स्थिर होते हैं, अर्थात् सत् और चित् आनन्दका सायुज्य सहयोग प्राप्त हो जाता है.

''**आनन्दम् आनन्दमयो अवसाने**'' ''**ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति**'', ''**ब्रह्मविद् आप्नोति परम्**''. सद्रूप भगवान् विश्वरूप कायमें प्रत्येक पदार्थके साथ सर्वदा वर्तमान है. 'है है है' आदि रूपसे.

यहां तक ''**एकोहं बहुस्यां**'' इस इच्छाका, एकांशका विवरण किया. अब '**प्रजायेय**' इस द्वितीय प्रकारका विवरण करते हैं.

इस श्रुतिमें 'बहुस्यां' और 'प्रजायेय' दो अंश हैं. दोनोंका एक ही अर्थ मान लेनेमें तो पुनरुक्ति दोष आता है, इसलिए मानना पड़ेगा कि बहुभवनके ही दो प्रकार हैं: १.एकका बहुत रूपोंमें प्रकाशित होना और २.बहुरूपोंका भी प्रकर्ष(उच्च)-अपकर्ष(नीच)भावसे प्रकाशित होना. क्रियाधर्मवान् सद्रूपब्रह्म, ज्ञानधर्मवान् चिद्रूप अक्षरब्रह्म और आनन्द(प्रीति)धर्मवान् आनन्दमय भगवान् इन तीनोंका बहुभवन हुआ. सद्रूप और उसकी क्रिया भी बहुत और बहुत प्रकारकी हुई. ज्ञान भी जीवादि रूपसे और ज्ञान धर्म रूपसे बहुत और बहुत प्रकारका हुआ. और आनन्दरूप भगवान् भी स्वर्गादि लोकादि रूपसे और अलौकिक स्वरूपानन्दरूपसे बहुत प्रकारसे हुआ, किन्तु इनमें आनन्द उत्कृष्ट हुआ, और सत् और चित् अपकृष्ट हुए. आनन्द फलरूप है और ज्ञान-क्रिया उसकी सेवा करते हैं, साधन हैं. यह पूर्वोक्त श्रुतिके दोनों प्रकार हैं. दोनों ही प्रकार बहुभवन और द्वितीय भवनादिके ही अंश हैं: उत्कर्षापकर्ष होना भी बहुभवनका ही प्रकार है. क्रिया भी उत्कृष्ट-अपकृष्ट, ज्ञान भी उत्कृष्ट-अपकृष्ट और आनन्द भी उत्कृष्ट-अपकृष्ट देखनेमें आ रहा है. सत् और चित् दोनोंके धर्म, क्रिया और ज्ञान उस आनन्द भगवान्की ही शक्तिरूप हो गये. उस समय यह आनन्द भगवान् ज्ञान-क्रिया शक्तिमान् हो गया, और सत् क्रियाधर्मवान् और चित् ज्ञानधर्मवान् रहा.

और फिर जिस समय तीनोंका पुनर्विभागका काल आया, उस समय चिदंशकी मुख्य शक्ति आनन्दमें सहयोग पा चुकी थी, इसलिए चिदंशकी माया-व्यामोहिकाने उसके ज्ञानधर्मका व्यामोहन किया. षडैश्वर्यान्तर्गत ज्ञानधर्मके भुलावेमें पड़ जानेसे चिदंशको जीवत्व प्राप्त हुआ, और सदंशकी क्रियाशक्ति भी आनन्दमें ही जा चुकी थी, इसलिए यह सदंश(जड़) अव्यक्त हो गया. अर्थात्

प्रकृति और प्रकृतिके तत्त्वोंका रूप धारण कर लिया. चिदंशका जीवत्व भी व्यष्टि जीवत्व नहीं, किन्तु मुख्य जीवत्व हुआ, जिसे ''**तन्माया फल रूपेण**'' इस वाक्यमें पुरुषतत्त्व कहा है. जिसका स्वरूप और धर्म ''**ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म**'' इत्यादि भागवतमें कहा गया है.

तदनन्तर सृष्टिके प्रारम्भमें यह अवान्तर सदंश ही सर्व फलपूर्ण सदंश ब्रह्मकी क्रियांशरूप क्रियाओंके अनेक प्रकारसे प्रकाशित होता है, जिसे 'जगत्' कहते हैं. और वह पुरुषरूप मुख्य जीव भी अनेक संख्य व्यष्टि जीवोंके रूपमें अभिव्यक्त होता है. इनकी जीवता मुक्ति पर्यंत रहती है, उसके पहले निवृत्त नहीं होती. इसका कारण सदंश प्रकृतिके द्वारा मोहन हो जाना सदंशका आविर्भाव क्रियाके द्वारा होता है जैसे घटका रूप क्रियाके द्वारा प्रकाशित होता है. किन्तु इस क्रियाका प्रकार श्रौत और पौराण द्विविध है. श्रौत प्रकार भी दो तरहका है: १.''**यथा अग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः**'' आदि श्रुतियोंमें युगपत्सृष्टिका प्रकार कहा है, और २.'**तस्माद् वा एतस्माद् आत्मन आकाशः संभूतः**'' आदि श्रुतियोंमें क्रम सृष्टिका प्रकार है.

तृतीय स्कंध आदिमें पौराण प्रकार नाभिकमल आदिके द्वारा सृष्टि रचना आदि प्रकार कहा है. यह क्रमसृष्टिका एक ही प्रकार है.

यहां एक यह प्रश्न होता है कि वेदमें सृष्टीच्छाका निरूपण 'बहुस्यां'में आ गया है किन्तु पालनेच्छा और संहारेच्छा का निरूपण कहीं देखा नहीं, तो क्या श्रौत मतमें सर्वदा सृष्टि ही होती रहती है, कभी भी स्थिति और संहार होता ही नहीं? नहीं, स्थिति संहार भी होते हैं. स्थिति और संहार के बिना सृष्टि हो नहीं सकती इसलिए ये दोनों तो अन्यथा अनुपपत्तिसे ही सिद्ध हैं, केवल आविर्भाव तिरोभाव मात्रका सहारा होता रहता है. सृष्टिका आविर्भाव 'स्थिति' और सृष्टिका तिरोभाव 'संहार'. क्रियाके आविर्भावसे घटकी सृष्टि-स्थिति, और क्रियाके तिरोभावसे किंवा आकारके तिरोभावसे घटका तिरोभाव या संहार. सदंशकी क्रिया किंवा उसके धर्मोंके तिरोभाव होने पर फिर वह सदंश अव्यक्तका अव्यक्त हो जाता है. ''**अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे, रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्त संज्ञके**''. निष्क्रिय सदंश जो ब्रह्मरात्रिमें अव्यक्त हो चुका है, उसीसे ब्रह्माके दिनमें सारे व्यक्त पदार्थ प्रकाशित होते हैं और फिर रात्रि आने पर उसी अव्यक्तमें ये सब व्यक्तियां समा जाती हैं. पूर्व रूपका तिरोभाव, अन्य रूपका

आविर्भाव, इन दोनों शक्तियोंसे ही सृष्टि–स्थिति–संहार होते रहते हैं. एक सदंशरूप भगवच्चरण ऐसा ही है, जहां यह खेल सर्वदा होता रहता है, बन्द नहीं होता. ये दोनों उस मूलरूप भगवान्के अनुग्रह और उपेक्षा पर निर्भर हैं. कहा भी है कि ''**यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया**''. सृष्टि राशिके जितने भी पूर्व–पूर्व सृष्टिके शब्दजात हैं, 'घट' 'पट' आदि वे सब मूलेच्छासे ही भगवान्में किंवा जीवकी बुद्धिमें बने रहते हैं. यही अन्तर्भूत वेद है, ज्ञान है. जब पुनः सृष्टि रचना होती है, तब ''**वेद शब्देभ्यः एव आदौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे**'' के अनुसार अभिव्यंजक क्रियाके द्वारा सब कुछ होता है. शब्दसमूह सबका सब रहता है, इसलिए प्रत्यय(ज्ञान) का भी अभाव नहीं होता. सृष्टिका उच्छेद भी नहीं होने पाता.

यही बात चिदंशमें भी है. चिद्रूप व्यष्टि जीव मूल चित् ब्रह्मके ज्ञानांश और शक्तिरूपके मोहक ज्ञानांशोंके द्वारा आविर्भाव होने पर प्रकाशित होता है. ये ज्ञान विशिष्ट ज्ञान है. विषयोंका सर्वथा स्वीकार कर लेना उनका अभिमान कर लेना ही जीवका जन्म या आविर्भाव है, और ''**मृत्युरत्यन्त विस्मृति**''के अनुसार सब कुछ एकदम भूल जाना, अभिमानका न रहना ही तिरोभाव या उसका मरण है. यदि कोई कहे कि ज्ञानका तिरोभाव ही हो जाता है तो जीव मुक्त क्यों नहीं हो जाता? तो कहना होगा कि आंतर और बाह्य प्रयत्न(कोशिश) उसका स्वतन्त्र है. वह सर्वदा रहता है, इसलिए यह तिरोभावमें आंतर और आविर्भावमें बाह्य प्रयत्न वाल बना रहता है, इसलिए जीवत्व ग्रहणकेलिए तैयार रहता है, मुक्त नहीं होने पाता. हां, यदि भगवान् इस पर क्षमा करें, अपनी पूरी ज्ञानशक्ति इसको भी दें, तब तो यह उस व्यामोहिका मायाको छोड़ देता है जीवत्वके प्रयत्नका भी त्याग कर देता है. अपने स्व–स्वरूप चिद्रूपमें स्थित हो जाता है और स्वतन्त्र भी हो जाता है, पर जगत्कर्तृत्व शक्ति इसमें नहीं आती क्योकि सर्वभवन सामर्थ्यरूपा शक्ति इसकी नहीं है. वह शक्ति आनन्दरूप भगवान्की है. यह सर्वश्रेष्ठ भी नहीं होता; क्योंकि सर्वश्रेष्ठ तो आनंदमय भगवान् ही है. हीनता तो केवल देखने मात्रकी है. भगवान् यदि चाहें और अपने आनंदादि धर्मोंसे इसका भी सहयोग करलें, तो यह भी आनंदरूप होकर सर्वोत्कृष्ट हो सकता है, पर यह पराधीन है.

यह सृष्टिकी प्रक्रिया है. इस प्रक्रियामें प्रमाण, श्रौतार्थापत्ति है. सब श्रुतियोंकी एकवाक्यता, यह सिद्धान्त माननेसे ही होती है. ''**सदेव सौम्य! इदम् अग्र आसीत्**'' ''**आत्मा वा इदम् एक एव अग्र आसीत्**'' आदि श्रुतियोंमें स्पष्ट है कि

सृष्टिके पूर्व एक ही परब्रह्म पुरुष था, फिर ''**तद् ऐक्षत**'' ''**सो अकामयत**'' इत्यादि इच्छा ही बहुभवनमें कारण थी. और 'प्रजायेय' आदिसे उस बहुभवनका आकार प्रकर्षापकर्ष भी स्पष्ट ही है. ''**तदात्मानं स्वयमकुरुत**'' इत्यादि श्रुतिसे एक ही भगवान् जगत्का उपादान और निमित्तादि कारण है यह भी सिद्ध है. 'पूर्णमिदं' आदि श्रुतियोंमें सच्चिदानन्दके सदसद् तीनों अंश पूर्ण हैं, यह भी सिद्ध है. 'सर्व एवात्मनो' आदिसे युगपत् सृष्टि और 'तस्माद्वा' आदि श्रुतिसे क्रमसृष्टि भी सिद्ध ही है. ''**नामरूपे व्याकरवाणि**'' श्रुतिसे विविधता संकेत करण और प्रवेश भी कह दिया है. ''**पादोस्य विश्वाभूतानि**'' श्रुति सबको ब्रह्मका स्वांश भी कह दिया. ''**मुह्यतीव लेलायतीव**'' श्रुतिसे जीवका बन्ध और ''**तमकृतुं पश्यति वीत शोकः धातुप्रसादात्**'' आदि श्रुतिमें भगवत्कृपासे जीवका मोक्ष भी बता दिया है. इस तरह पूर्वोक्त सिद्धान्त श्रौत है यह स्पष्ट है. इन सिद्धान्तोंमेंसे जो भी सिद्धान्त न स्वीकारा जावे तब ही उस श्रुतिका विरोध आवेगा ही. इससे स्पष्ट है कि इससे जुदी प्रक्रियायें श्रुति-विरुद्ध हैं. जीव भेदका निरूपण आगे करेंगे.

यही बात मूल श्लोकमें संक्षेपसे कही है. कि अपने चिद्रूप स्वरूपकी मायाके मोहके सिवाय इस चिद्रूप भगवान्को देहका सम्बन्ध नहीं हो सकता. 'राजन्' संबोधन देकर दिखाया है कि तुम राजस हो, तुम्हें भी मायाने मोहित कर रखा है. स्वरूपका अज्ञान है, इसलिये दयाके पात्र हो. व्यामोहके अनन्तर ही शुद्ध चेतनको देहका सम्बन्ध होता है. इस विशेषकी सूचना करने वाला विशेषण कहते हैं 'अनुभवात्मनः' अनुभवस्वरूपी शुद्ध चेतनको. यह जीवात्मा भी वस्तु दृष्टिसे तो अनुभवस्वरूप है, तथापि अनुभवरूप सामर्थ्य धर्म आनन्द भगवान्में चला गया है. इसलिये इसे मायाकृत व्यामोह हुआ है. यदि ऐसा न होता तो जैसे देहका सम्बन्ध नहीं होता इसी तरह व्यामोह भी नहीं होता. क्योंकि पदार्थोंके ज्ञानकी तरह इसे स्वरूपका भी अनुभव रहता ही तो फिर व्यामोह क्यों होता? केवल शक्तिका अभाव रहता और मायासे व्यामोह न होता तो-देहका संबंध-निरूपण करनेकेलिये कारण न मिलता.

अब यह प्रश्न हो सकता है कि भले शक्तिसंबन्ध रहने पर भी जबरदस्ती देह संबन्धको नहीं होता, व्यामोह मत मानों तो कहते हैं कि ठीक है. ऐसी अवस्थामें व्यामोह तो होता नहीं, केवल शक्तिका अभाव ही रहता तो सदंशकी तरह जड़वत् यह भी पदार्थ रहता. उसे देहसंबन्ध न होता, इसलिये व्यामोहकी

अपेक्षा थी. विपरीत ज्ञानको व्यामोह कहते हैं. विपरीतज्ञानके होनेसे जीवका देहके साथ सम्बन्ध हो गया. यह अनुभवरूप शक्ति चेतनकी स्वाभाविक शक्ति है. इसलिए अनुभव शक्तिके जानेके अनन्तर ही तुरंत व्यामोह हो गया. यदि अनुभव शक्तिका साहचर्य रहता तो व्यामोह न होता. 'प्रजायेय' इस भगवदिच्छासे ही हीनभाव हुआ है, और हीनभाव होनेसे ही माया दोषारूप हो गई. वास्तवमें सहज शक्ति होनेसे यह दोष नहीं, गुण ही है. तो फिर अनुभवरूप सामर्थ्यकी प्राप्तिकेलिये ही उपाय करना चाहिये, मायाको दूर करनेकेलिये नहीं, यह प्रश्न बना ही रहता है तो कहते हैं कि भले अनुभव शक्तिके प्राप्त कर लेने पर भी जो मायाके द्वारा जीवका हीन भाव आ गया है वह नहीं जायगा. क्योंकि वह भगवान्से पृथक् होकर रही है. इसे बन्धन करनेका अधिकार भगवान्ने दिया है. और भगवान्की इच्छा अप्रतिहत होती है. जहां तक इसे अधिकार दे रखा है, वहां तक तत्कृत व्यामोह हुए बिना नहीं रह सकता. इसलिये इस मायाको तर जानेका उपाय तो करना आवश्यक ही है?

मायाके द्वारा जब चेतनका व्यामोह हो जाता है, तब देहादिके साथ सम्बन्ध होना सुकर हो जाता है. मोहितको अर्थका सम्बन्ध सहज हो सकता है. यह बात दृष्टान्त देकर दिखाते हैं: 'स्वप्नद्रष्टुः इव'. निद्रासे व्यामोहित जीव जैसे स्वप्नमें भगवत्कृत मायिकी आन्तर सृष्टिको देखता है और उसे उसका अभिमान् भी रहता है. कदाचित् कोई कहे कि निद्राकी तरह यदि माया है तो जैसे कालादिके द्वारा निवृत्त हो जाती है इसी तरह मायाका मोह भी थोड़े समयमें अपने आप दूर हो जायेगा, इसके लिये पृथक् उपाय करनेकी क्या आवश्यकता है? एसा कहना ठीक नहीं है. क्योकि मायामें और निद्रामें भेद है. निद्रा बुद्धिकी वृत्ति है. एक देश स्थित है. सर्व देशमें उसका उद्गम नहीं है. इसलिये उसकी निवृत्ति कालसे हो जाती है. किन्तु माया भगवच्छक्ति है. भगवान्की आज्ञासे ही जीवोंको व्यामोह करती है. यह व्यापक है. इसलिये इसके मोहका कालसे दूर होना अशक्य है अतएव इसे दूर करनेकेलिये उपायान्तर करना चाहिये. इस मूल भगवन्मायाके द्वारा निद्राका तिरोभाव होता है, अतएव मनुष्य जागता है. इस तरह इस मूल भगवत्मायाका उनके द्वारा दूर होना अशक्य है.

इस तरहसे स्वप्नके दृष्टान्तसे स्वाप्निक जीवके व्यामोहका निरूपण करके अब उसको इस सृष्टिमें दिखाते हुए उससे कुछ विशेष दिखाते हैं.

'अञ्जसा'. जैसे निद्राके द्वारा यह जीव भगवान्की बनाई स्वप्नसृष्टिको अपनेसे जुदी देखता है और निन्द्रासे ही उसे अपनी समझता है, इसी तरह मूल चिदंशकी मायासे यह व्यष्टि जीव भगवान्की सदंश सृष्टिको जगत्कर्तृ माया–प्रचुर देखता है, और उस भूलके द्वारा ही उसे अपनी मानता है. यही स्वप्नमें और जगत्में विशेष है. ऐसे–ऐसे करोड़ों स्वप्न इस सृष्टिमें होते रहते हैं और यह एक ही(माया) करोडों जन्मोंमें एक ही एक बनी रहती है और इनका व्यामोह भी बना ही रहता है. यह माया क्षेत्रकी–'जगत्की' दर्शन कराने वाली है, बनाने वाली नहीं है।।१।।

आभासार्थ: इस तरह उस जगन्मोहिनी मायाका सम्बन्ध जीवके साथ होता है, यह कह कर उसका अब कार्य बताते हैं:

बहुरूप इवाभाति मायया बहुरूपया।
रममाणो गुणेष्वस्या ममाहम् इति मन्यते।।२।।

श्लोकार्थ: यह जीव इस बहुरूपवाली व्यामोहिका मायाके प्रभावसे आप भी बहुरूपवाला दीखने लगता है और जब उसके गुणों(विषयों)में रमण करने लगता है, तब 'मैं' और 'मेरा' करने लगता है।।२।।

व्याख्यार्थ: इस व्यामोहिकाका मूल आभास है. कुछका कुछ दिखा देना, किन्तु ये माया जगद्वर्ती पदार्थोंको बनाती नहीं है, इसलिए इसे आभास मूल माया कहा है. जगत्कर्त्री माया जुदी है, यह सिद्धांत नृसिंहोत्तरतापिनीमें ''**जीवेशौ आभासेन करोति**'' ''**माया च अविद्या च स्वयमेव भवति**'' इत्यादि श्रुतियोंसे कहा गया है. कुछका कुछ दीखना यह आभासका अर्थ है. अर्थात् अन्यथा दर्शन, विपरीत ज्ञान, उल्टी समझ ये सब आभासके ही अर्थ हैं. अर्थात् यह मोहक माया आभाससे विपरीत ज्ञानसे जीव और ईश को करती है. अर्थात् कुछका कुछ दिखाती है यह वहां सिद्धांत है. मायाको दिखानेका निमित्त मात्र कहा है, किन्तु उपादान नहीं कहा. उपादान कारण तो परमात्मा ही है. वहीं इसके आगे ही कहा है कि '**तस्माद् आत्मन एवं त्रैविध्यं योनित्वमपि**' अर्थात् यह परमात्मा ही माया, अविद्या और जीव –इन तीनों रूपोंको धारण करनेवाला है और सबका उपादान कारण भी यही है.

यह मोहक माया बहुरूप है, अनेक तरहके रूपांतरोंको दिखानेवाली है. अतएव जब यह व्यष्टि जीव उसके साथ सम्बन्ध करता है, तब आप भी बहुरूप जैसा दीखने लगता है और अनेक रूपांतरों वाला अपने आपको मानने लगता है,

हो जाता है: रोगी, बलिष्ठ, दरिद्री, धनी वगैर . 'इव'=जैसा शब्द इसलिए दिया है कि यह माया इस जीवको वास्तविक(सच्चा) स्वरूप देनेमें असमर्थ है. यह स्पष्ट करनेकेलिए 'इव' पद है. आनन्दकी चाहना रखनेवाला यह जीव, यह समझता है कि उसके साथ सम्बन्ध करनेसे मुझे आनन्द मिलेगा? और उसके साथ सम्बन्ध कर लेता है. तब आप भी बहुरूप होकर उसके गुणों(विषयों)में रमण करने लगता है. मायाके गुणोंको आप ग्रहण करना चाहता है, इसलिए 'मैं' और 'मेरा' यह भाव करता है. गुण मायाके हैं. वे इसके हाथ कैसे लग सकते हैं. अतएव उनके आप अपने बनानेकेलिए, मायामें अहं भाव अपनपा जोड़ता है. और उसके विषयोंमें मेरापन-ममत्व जोड़ता है. 'मैं' और 'मेरा' ये दो शब्द मायाके साथ सम्बन्ध बनानेवाले हैं.

इस श्लोकमें अज्ञानी और वैसे जीवोंको देह सम्बन्धी ज्ञानका प्रकार कैसा होता है यह दिखाया है. अर्थात् ऐसे जीव देहको ही अपना स्वरूप समझते हैं, और देहसम्बन्धी पदार्थोंको अपने सम्बन्धी समझते हैं।।२।।

आभासार्थ: इस तरह मायाका कार्य बताकर अब उसके त्यागका उपाय बताते हैं:

यर्हि वाव महिम्नि स्वे परस्मिन् काल-मायययोः।
रमेत गतसम्मोहः त्यक्त्वोदास्ते तदोभयम्।।३।।

श्लोकार्थ: भगवदिच्छावश जब कभी यह जीव चिद्रूप काल और माया को भी नियममें रखनेवाले अपनी महिमारूप आनंद-भगवान्में मोहको छोड़कर रमण करता है, तब ही 'अहं-मम' भावको छोड़कर उदासीन होकर रहता है. अर्थात् मायासे मुक्त हो जाता है।।३।।

व्याख्यार्थ: भगवदिच्छासे ही सब कुछ होता है, यह निश्चय है. यदि व्यष्टि जीवका महिमा-महत्व भगवान् आनन्द है और सत्वादि गुणोंको उभारने वाला काल है, और जगत्को करनेवाली सर्वभवन सामर्थ्य माया है. किन्तु इन दोनोंको अपने वशमें रखनेवाला वह भगवान् है. यह आनन्दमय भगवान् उन काल और माया के कार्योंको अपनी स्वतन्त्र इच्छासे ही दूर छोड़कर सर्वदा स्थिर रहता है. ऐसे भगवान्के स्वरूपमें जब यह व्यष्टि जीव भी रमण करने लगता है, और भगवान्के प्रति कभी भी सन्देह नहीं करता अर्थात् भगवान् सबके मालिक हैं किन्तु मुझे अपने स्वरूपका ज्ञान नहीं कराते हैं, तब वे कैसे स्वामी? इस तरह

भगवान्के मालिकपनमें सन्देह न करे, तब 'अहं-मम' भावको छोड़ देता है, तर जाता है. भगवान्में जब निश्छल प्रीति सम्पादन करता है, तब व्यामोहक माया और उसके गुण, किंवा मायाके कार्य और देहादिक किंवा अहं-मम भाव दोनोंको छोड़कर किसीमें भी आसक्ति नहीं करता, तिहायतकी तरह रहता है, जीवन्मुक्त हो जाता है, कृतकृत्य हो जाता है।।३।।

आभासार्थः इस तरह जीव विषयक सन्देह दूर करके अब 'न विमुह्यतिकर्हिचित्' श्लोक पर्यन्त ब्रह्म विषयक सन्देह दूर करते हैं:

आत्मतत्त्वविशुद्धयर्थं यदाह भगवानृतम्।
ब्रह्मणे दर्शयन् रूपम् अव्यलीकव्रतादृतः।।४।।

श्लोकार्थः आत्माके यथार्थ रूपकी विशुद्धि होनेकेलिए भगवान्ने ब्रह्माकेलिए अपना सत्य स्वरूप दिखाते समय जो कुछ निष्कपट भाव पर प्रसन्न होकर कहा है, सो मैं कहता हूं सुनिये।।४।।

व्याख्यार्थः इस देहादियुक्त अवस्थामें भी जीवकी मुक्ति हमने एक प्रक्रियासे कह दी है. इस विषयमें एक दूषण पहले कह चुके हैं. यदि ब्रह्मको भी देहका सम्बन्ध होता है तो वह भी जीवके तुल्य ही रहा, और ऐसी अवस्थामें वह ब्रह्म सर्वात्मक सर्वव्यापक नहीं हो सकता. ये सब दोष इस प्रकरणमें दूर करने हैं.

यही कहते हैं कि आत्माका जो यथार्थ तत्त्व वास्तविक रूप उसकी विशुद्धिकेलिए भगवान्ने ब्रह्माको अपना सपरिकर रूप दिखाया और उपदेश भी किया. किसी विशेषके द्वारा वस्तुको पहचान लेना यह विशुद्धि कही जाती है. लौकिक अन्वेषणकर्ताओंका ज्ञान किंवा अन्वेषण(खोज) लौकिक भावयुक्त रहता है, अतएव वे लोग जो आत्मतत्त्वकी शुद्धि(खोज) करते हैं वह शुद्धि कही जाती है. पर जीव जिस तरह आत्मतत्त्व समझता है, वह उसका प्रतिभान(समझ) लौकिक है, ऊपर-ऊपरका है. अतएव भगवान्ने उस समझको दूर कर वास्तविक आत्मपदार्थके यथार्थ स्वरूपको दिखाया और उस विषयमें उपदेश भी दिया. यही आत्मतत्त्वकी 'विशुद्धि' है. इतनेसे ब्रह्माको भगवत् तत्त्वका अच्छी तरह बोध हो गया. केवल उपदेश ही दिया हो सो नहीं, भगवान्ने ब्रह्माको अपना स्वरूप दिखाया और आत्मतत्त्व कहा भी. इसका कारण बताते हैं कि भगवान् 'अव्यलीकव्रतादृतं' हैं. ब्रह्माजीने जब भगवान्की आदर सहित सेवाकी तब प्रसन्न होकर उन्होंने अपना स्वरूप दिखाया।।४।।

आभासार्थ: इस तरहसे आगेके प्रकरणमें भगवान्का वचन कहना है यह सूचना करके अब ब्रह्माने भगवत्संतोषार्थ जो निष्कपट व्रत किया उसका निरूपण करते हैं:

स आदिदेवो जगतां परो गुरुः स्वधिष्ण्यम् आस्थाय सिसृक्षयैक्षत ।
तां नाध्यगच्छद् दृशम् अत्र संमतां प्रपञ्चनिर्माणविधिर्यया भवेत्।।५।।

श्लोकार्थ: आदिदेव और जगत्के श्रेष्ठ गुरु वह ब्रह्मा अपने स्थानमें ही बैठा हुआ सृष्टि रचनाकी इच्छासे विचार करने लगा था कि प्रपंचका निर्माण कैसे किया जाय? किन्तु बहुत विचारने पर भी जिस दृष्टि(समझ)से प्रपंचका निर्माण करनेकी विधि मिल जाय, ऐसी योग्य उपाय दृष्टि उसकी समझमें न बैठी, विश्व सर्ग करनेका उपाय ब्रह्माको न सूझा।।५।।

व्याख्यार्थ: लोकमें किसी विशेष नियमको 'व्रत' कहते हैं. ब्रह्माने व्रत धारण किया यह पूर्व श्लोकमें कह चुके हैं. ब्रह्माने निष्कपट व्रत किया इसका यह अर्थ होता है कि अपने सब ही इन्द्रियोंके सब तरहके विषयोंका परित्याग करके प्राण और इन्द्रियोंको रोक लिया, जहांके तहां ठहरा रखे. साधन और फल की एकमुखता जब होती है तो वह व्रत या साधन निष्कपट कहा जाता है. ब्रह्माने व्रत तो किया पर उसका स्वरूप और फल एक विषय नहीं रहा, इसलिए पहले भगवान् प्रसन्न न हुये उसे प्रपंच निर्माणकी बुद्धि न मिली.

ब्रह्माके हृदयमें प्रपञ्च और भगवान्के प्रति भेदभाव था. प्रपंचवर्ती पदार्थ कुछ दूसरे पदार्थ हैं और परमात्मा कुछ और ही पदार्थ है. अतएव ब्रह्माने समझ रखा था कि मैं भगवान्केलिए सृष्टि बनाऊंगा. यों विचारकर ब्रह्म सृष्टिके साधनोंका अन्वेषण करने लगा. किन्तु साधन तो भगवन्मय थे! भगवान् ही साधन और भगवान् ही फल(कार्य)रूप थे. भगवान्के अवयवोंमें ही प्रपञ्चनिर्माणके साधन समा रहे थे, वे सब सर्वदा भगवान्की इच्छानुसार ही कार्य करनेके अभ्यासी थे. ब्रह्मा जिस प्रकार उनके द्वारा प्रपंचनिर्माण करना चाहता था वह प्रकार भगवान्को पसंद नहीं था, इसलिए उसका तप(व्रत) निष्कपट नहीं हुआ. प्रपंचनिर्माणके पदार्थ-साधन बुद्धिमें न फुरे. भगवदभीष्ट पदार्थोंके साथ ब्रह्माको बुद्धिका सम्बन्ध होने न पाया, इसलिए साधनरूप पदार्थोंका साक्षात्कार न हुआ. पदार्थोंका साक्षात्कार न होनेमें ये तीन बातें बाधक थीं.

'आदिदेवो जगतां परो गुरुः'. जीवको जहां तक उससे श्रेष्ठके द्वारा

उसके संदेहोंका निराकरण न हो वहां तक यथार्थ पदार्थोंकी स्फूर्ति नहीं होने पाती. यही बातें ब्रह्माके आगे आईं. वह स्वयं ब्रह्मा(ब्रह्म) शब्दसे प्रसिद्ध था. उससे पृथक् अन्य कोई भी था ही नहीं, जिसके द्वारा संदेह निवृत्ति होती, अतएव उसे शुद्ध ज्ञान न हुआ और फिर उस समय वह आदिदेव था. आप ही केवल देव था. इसलिए अन्य देवकी उपासना करके भी वास्तविक ज्ञान सम्पादन नहीं कर सकता था और दूसरा कोई उसका शिक्षक भी नहीं था, जिससे सीखकर कुछ समझ सके. क्योंकि वह आप ही सारे जगत्का एक ही श्रेष्ठ गुरु था. तीर्थ आदिका आश्रय लेनेसे श्रेष्ठ गुरुका मिलना संभव है किन्तु ब्रह्मासे वह भी संभव नहीं हो सका सो कहते हैं 'स्वधिष्ण्यं' इत्यादि ब्रह्माजीने अपने स्थानमें ही स्थित रहकर सृष्टि रचनाके साधनोंका विचार किया था.

कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि 'ब्रह्मा' इत्यादि सभी विशेषणोंसे यह सूचित होता है कि मैं सबसे श्रेष्ठ हूं, सबसे बड़ा हूं, मुझे सृष्टि साधनोंको समझनेमें अन्य अलौकिक साधनोंसे क्या प्रयोजना है? यों गर्व करके ब्रह्माने भगवान्के शरण जाना प्रभृति मंगल आचरणादि कुछ भी न करके केवल सृष्टिके रचनाकी इच्छासे सृष्टिके साधनोंका साक्षात्कार करना चाहा. ऐसी अवस्थामें भगवदिच्छा परतंत्र सृष्टिके साधनरूप पदार्थ, इसकी जानकारीमें न आये, प्रपञ्चके बनानेका उपाय ब्रह्माकी समझमें न आया.

कितने ही अर्धनास्तिक तार्किक 'अध्यगच्छत्'का अर्थ तर्क, अनुमान आदि आलोचन करते हैं. कहते हैं कि ब्रह्माने तर्क-अनुमानके द्वारा प्रपञ्च निर्माण विधि जाननी चाही, सो न हो सकी. किन्तु यहां अनुमान-तर्कादि प्रस्तुत कार्यकी सिद्धिमें उपयोगी है ही नहीं, इसलिए यहां 'अधिगमन'का अर्थ अपरोक्ष ज्ञान किंवा साक्षात्कार ही है. किसी भी वस्तुको बनानेमें उसके उपादान, निमित्त आदि कारणोंको देख पाने पर ही कार्यसिद्धि होती है. अपरोक्ष ज्ञान ही निर्माणका साधन हो सकता है, तर्क नहीं. यही कहते हैं कि 'प्रपंचनिर्माण' इत्यादि. प्रपंच बनानेका प्रकार जिसके द्वारा समझमें आ जाय ऐसी दृष्टि अर्थात् परोक्ष ज्ञान किंवा साक्षात्कार उसे न हो सका।।५।।

आभासार्थ: निर्माणका प्रकार सब ही ज्ञानसे ही प्रायः सम्पन्न होता देखा गया है, इसलिए ब्रह्माने प्रपञ्चनिर्माणके प्रकारका खूब ही विचार किया. जैसे भगवान्को चिन्तन करनेसे भगवान् मिल जाते हैं, इसी तरह साधनोंका चिन्तन

करनेसे साधन भी मिल जायेंगे, उनका भी साक्षात्कार हो जाएगा. यह भावना ब्रह्माके हृदयमें थी, किन्तु यह भूल है. इससे यह सूचित होता है कि जो साधनोंकी चिन्तामें ही मग्न रहना है, साधनोंके साधनोंका विचार ही नहीं करता वह साधक भ्रममें पड़ जाता है, उसका कार्य निष्फल रहता है. जब भगवान्ने देखा कि यह ब्रह्मा न जानकर भी मेरे साक्षात्कार करनेकेलिए ही ये सब मेहनत कर रहा है तब कृपाकर उन्होंने उसको अपने साक्षात्कार होनेका साधन कहा. यह भगवान्के मुखारविंदसे निकला हुआ वचन मन्त्ररूप है, इसलिए मन्त्रोद्धारकी तरह श्रीशुकदेवजी इसका वर्णन करते है:

स चिन्तयन् द्वयक्षरम् एकदाम्भस्युपाशृणोद् द्विर्गदितं वचो विभुः ।
स्पर्षेषु यत् षोडशम् एकविंशं निष्किञ्चनानां नृप यद् धनं विदुः।।६।।
निशम्य तद्वक्त्रदिदृक्षया दिशो विलोक्य तत्रान्यद् अपश्यमानः ।
स्वधिष्ण्यम् आस्थाय विमृश्य तद्धितं तपस्युपादिष्ट इवादधे मनः ।।७।।

श्लोकार्थ: खूब सावधान चित्त वाले ब्रह्माजीने एक समय उस प्रलयकालीन जलके मैदानमें एक दो अक्षरका वचन, दो वार बहुत समीपमें ही कहा गया सुना. जो स्पर्श अक्षरोंमेंसे १६वां 'त' और २१वां 'प' है. अर्थात् 'तप' कहा जाता है. और हे राजन्! जिसे निष्किंचन महात्मा अपना धन समझते हैं. ''तपः तप'' वाक्य सुनते ही ब्रह्माने बोलनेवालेका मुख देखनेकी इच्छासे दिशाओंका चारों तरफ निरीक्षण किया. किन्तु कुछ भी न देखा, केवल अपने और जलके सिवाय. तब तो फिर अपने स्थानमें आकर निश्चल स्थित हुआ और अपना हित इसीमें समझकर मानो किसीने मुझे 'तप' करनेका उपदेश किया है यह निश्चय कर तप करनेमें मन लगाया।।६-७।।

व्याख्यार्थ: पूर्व प्रकरणकी रीतिसे ब्रह्माने बहुत विचार किया. विचार करते-करते उसे ऐसा मालूम पड़ा कि मानो कोई जलमें डूबा हुआ कह रहा हो ऐसे दो अक्षर समीपमें ही सुने. जिस वाक्यमें दो अक्षर हैं ऐसा पद सुना. वह भी दो बार कहा गया. इससे स्पष्ट होता है कि पदका भेद नहीं था. अर्थात् एक पदका अन्वय एक क्रिया में, और दूसरे पदकी सङ्गति दुसरी क्रियाके साथ. सो नहीं, किन्तु एक पद 'तप' सुबन्त, दूसरा तिडन्त. अर्थात् ''तपका आचरण करो''. 'तपः तप' इससे यह भी सूचित होता है कि अक्षरोंकी तरह पदोंको भी नित्यता है. इस पक्षमें नास्तिकोंकी तरह वर्ण और पद दोनों इस सिद्धांतमें अनित्य नहीं हैं.

'तपः तप' यह दो बार कहा गया पद वाक्यरूप हो गया अर्थात् तिङ सुबन्तका समूह किंवा कारकयुक्त क्रिया हो गई ('तिङ-सुबन्तंच यो वाक्यम्' और 'क्रिया वा कारकान्विता'के प्रमाणानुसार).

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि चिन्तामें निमग्न अतएव व्याकुलचित्त इस तरहसे पैदा हुये शब्दको अर्थ और अन्वयादि सहित वाक्य समझनेमें सावधान कैसे हुआ? इसके उत्तरमें कहते हैं 'विभुः' परब्रह्मोत्पन्न होनेसे यह समझनेकी उसमें सामर्थ्य थी. मन्त्रका जैसे उद्धार होता है इस तरह भगवद्वाक्यका भी उद्धार बताते हैं: 'स्पर्शेषु'. इत्यादि. स्वरोंकी दो तरहसे स्थिति रहती है. स्वतन्त्ररूपसे और व्यञ्जनको प्रधानता देकर. 'अ' यह स्वतन्त्र स्थिति है और 'की' में भी 'ई'की स्थिति है पर व्यञ्जनको प्रधानता देकर. व्यञ्जनकी स्थिति अन्य चिरस्थायिनी होनेसे बोलनेमें सुगमता नहीं होती. इसलिये स्वरको अप्रधान भी रखकर व्यञ्जन बोला जाता है. 'तप-तप' शब्दोंमें साङ्ग व्यञ्जनका निर्देश है, क्योंकि उच्चारणकर्ताने इन दोनों व्यञ्जनोंका स्वतन्त्ररूपसे पृथक् ही उच्चारण किया है इसलिए ये दोनों साङ्ग स्पर्शद्वय कहे गये है.

'क' से 'म' पर्यन्त २५ व्यञ्जन व्याकरणकी परिभाषामें 'स्पर्श' कहे जाते हैं. 'त' और 'प' दोनों स्पर्श हैं. एक सोलहवां है दूसरा इक्कीसवां है. 'क'वर्ग आदि पांच वर्ग माने जाते हैं. एक-एक वर्गमें पांच-पांच व्यञ्जन होते हैं. सब मिलकर २५ व्यञ्जन हैं. इन सबका 'स्पर्श' नाम रखा गया है. उनमें चतुर्थ और पंचम वर्गके आद्य व्यंजन ये 'त' 'प' हैं. स्वर सहित होने पर व्यंजन सार्थक माने जाते हैं. स्वरका त्याग करनेमें कोई कारण नहीं है इसलिए 'अ'कार सहित ही वे कहे गये. अर्थ भी अनेक होते हैं तो यहां जो 'तप तप' शब्द कहा इसका अर्थ क्या है? 'अर्थ' शब्दका भी अभिप्राय प्रयोजन है. यह प्रयोजन अर्थ भी उसका सामान्य है. उसके विशेष अनेक हैं किन्तु प्रयोजन सबके साथ लगा हुआ है. जब 'तप'के धात्वर्थ पर दृष्टि देते हैं तो कहना पड़ता है कि, 'तप' धातुका अर्थ क्लेश है. किसी अदृष्ट फलकेलिए किये जाते भूखे रहना प्रभृति जो कृच्छ हैं वे सब क्लेशात्मक ही हैं. क्लेश तो किसीकी भी चाहनाका विषय नहीं हो सकता. इसलिये वह सार्थ नहीं है यह कहना पड़ेगा. किन्तु जहां अर्थताका बोध कराना होता है, वहां उसके साथ 'अस्य' प्रत्यय लगा दिया है 'तपस'. ''त्वं तपस् तप''. ''हे ब्रह्मा! तू अदृष्ट फलकेलिए क्लेश सहन कर''. किन्तु यहां तो तप तप केवल

धातू मात्रका बोधन कराया है. अर्थ बोधक प्रत्ययका साहचर्य नहीं है, पर वह शब्दसे नही निकलता है तथापि लक्षणासे भी लाना है अन्यथा निरर्थक पदका प्रयोग माना जायगा. शक्य सम्बन्धमें लक्षणा होती है. यह क्लेश किसीके भी साथ सम्बन्ध रखता होना चाहिये, तब ही सार्थ कहा जायगा. ऐसी अवस्थामें तपको भी अर्थना–विषय लक्षणासे बताते हुए कहते हैं कि 'निष्किंचनानां यद् धनं विदुः'. हे राजन्! जो तप निष्किंचनोंका धन माना गया है. जिनके पास कुछ भी लौकिक पदार्थ नहीं हो, उन्हें लोकमें निष्किंचन कहते हैं. पर कुछ तो तापनिवारक होना चाहिये. क्लेश भी किसी तापका निवारक रहना चाहिये, अन्यथा निष्किंचन होकर भी क्लेशका परिग्रह क्यों करे? वे परिग्रह करते हैं इसलिए मालूम होता है कि क्लेश भी किसी तापका निवारक होनेसे निष्किंचनोंकी अर्थनाका विषय है. जिसकी वह रक्षा करते रहते हैं (स्वानन्द) उसमें कोई भी प्रतिबन्ध न आवे इसलिए किंवा उसमें आते हुए विघ्नोंको दूर करनेकेलिए उन्हें उस कृच्छादि तपकी भी आवश्यकता है ही. इसलिए निष्किंचन लोग ही वास्तविक तप करने वाले होते हैं और उसकी रक्षा वे धनकी तरह करते हैं. लौकिक पुरुष जैसे द्रव्यादि धनकी रक्षा करते हैं, इस तरह निष्किञ्चन महात्मा तपकी रक्षा करते रहते हैं. अतएव उनका वही धन कहा गया है. हे राजन्! तुम धनवान् और धन सम्बन्धी काम करते रहते हो, इसलिए इसके माहात्म्यको तुम ही जानते हो इसलिए 'नृपः' यह सम्बोधन दिया गया है. 'विदुः' कहकर लोकका प्रामाण्य दिया है. लोकमें निष्किंचनोंका तपोधन यह नाम प्रसिद्ध है. यत् (जो) शब्दसे अवश्य रक्षणीयता कही गई है.

वायु किंवा जलके सम्बन्धसे भी कभी–कभी शब्द हो जाता है, किन्तु 'तप तप' यह शब्द तो स्पष्ट वर्ण वाला था इसलिए मालूम होता है, किसी चेतन वक्ताने ही कहा है यह निश्चय करके ब्रह्माने चारों तरफ दिशाओंको देखा तो किसी वक्ताको न देखा. मेरे मुखसे भी न निकला, न कोई दूसरा बोलने वाला दीखता है इत्यादि खूब विचार करके और इधर–उधर उसने भ्रमण करके भी निश्चय कर लिया. अब तो अपने स्थान पर बैठकर ही वक्ताकी चिन्ताको छोड़कर वह उस 'तप' पदका ही विचार करने लगा.

आख्यात अर्थात् तिङन्त, क्रियावाचक पद होता है. अन्यका ऐसा रूप हो नहीं सकता, यह निश्चय करके उसने यह समझ लिया कि 'तप' धातुके लोट्

लकारके मध्यम पुरुषका एकवचन 'तप' है और इसे दो बार कहा है. अब जो लोटके अर्थोंका विचार किया जाय तो विधि(आज्ञा) आदि बातसे अर्थ प्राप्त होते हैं किन्तु सर्वप्रथम आज्ञा अर्थ है; उसे छोड़ देनेका कोई कारण मालूम होता नहीं. अत: यह 'तप' विध्यर्थक ही है. यह निश्चय ब्रह्माने कर लिया. प्रत्यक्षार्थक विधिमें लोट और परोक्षार्थक विधिमें लिङका विधान है और प्रेर्य(आज्ञा देनेके योग्य)की परोक्ष अवस्थामें प्रथम पुरुष और प्रेर्यकी प्रत्यक्ष अवस्थामें मध्यम पुरुषका विधान है. 'भवत्' शब्दका प्रयोग रहते भी आज्ञामें अपरोक्ष काल माना गया है. यहां 'तप' क्रियाका प्रयोग अपरोक्ष आज्ञार्थक मध्यम पुरुषके एकवचनमें किया गया है. प्रत्यक्षरीतिसे प्रत्यक्ष हुए मेरे आगे, मेरा दर्शन करते हुए तप कर. इस तरह मानो किसी अदृष्ट पुरुषने आज्ञा की है. इस तरह निश्चय कर ब्रह्माने तपस्या करनेमें मन लगाया।।६-७।।

आभासार्थ: तब फिर वह तप करने लगा, यह कहते हैं:

दिव्यं सहस्राब्दम् अमोघदर्शनो जितानिलात्मा विजितोभयेन्द्रियः ।
अतप्यत स्माऽखिल-लोकतापनं तपस्तपीयांस्तपतां समाहितः।।८।।

श्लोकार्थ: जिसकी समझ कभी खाली नहीं गई ऐसे(अमोघ दर्शन) ब्रह्माजीने प्राण और मन को वशमें किया. ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों जीते. इस तरहसे उस तपस्या करनेवालोंमें श्रेष्ठ ब्रह्माने अखिललोकोंको तपा देनेवाला तप दिव्य, हजार वर्ष पर्यन्त किया और वह साथमें आप फलके विषयमें सावधान भी रहा।।८।।

व्याख्यार्थ: श्रम सहनेका सन्ताप कहना उचित है, योग(एकचित्तता) ज्ञान एवं प्राणोंको रोकनेसे श्रम होता है, यह तीनों तरहका श्रम ब्रह्मासे(सन्ताप) बन सका यह ब्रह्माके तीन विशेषणोंसे सूचित किया है. 'अमोघ दर्शनः' जिसका ज्ञान कभी खाली न जावे. इस विशेषणसे ब्रह्माके ज्ञानकी प्रशंसाकी है अथवा ब्रह्माने जो पहले पदार्थोंका निर्धार कर रखा था उसकी प्रशंसामें यह कहा है. 'जितानिलात्मा' जिसने प्राण और अन्तःकरण को जीता है, इस विशेषणसे और 'विजितोभयेन्द्रियः' जीत ली हैं दोनों तरहकी इन्द्रिय अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और कर्म इन्द्रिय जिसने, इस विशेषणसे ब्रह्माकी योगके द्वारा प्राप्त शुद्धि और तपसे प्राप्त शुद्धि दोनों तरहकी शुद्धि दिखाई है. 'अतप्यत' इस क्रियाका तात्पर्य यह है कि सब इन्द्रियोंके नियत आहार विषयोंका परित्याग कर देनेसे ब्रह्माजीने अपने

देहादिको खूब ही संतप्त कर लिया. ऐसी अवस्थामें ब्रह्माजीमें विद्यमान् भू-भूवादि लोक भी सन्तप्त हो गये. जैसे धूपमें वस्त्रोंको सूखा लेनेसे उनका गीलापन जाता रहता है, इसी तरह ब्रह्माजीके तप करने पर तत्स्थित लोकोंका भी जाड्य जाता रहा. यही बात 'अखिललोकतापनं' सर्व लोकोंको तपा देने(शुद्ध कर देने)वाले इस विशेषणमें कही है.

तपस्यासे साधारण जीवोंमें क्रोध, ग्लानि, उद्वेग किंवा अहंकार आदि दोष आ जाते हैं किन्तु ब्रह्मा असाधारण जीव था इसलिए उनमें पूर्वोक्त दोष न आवे यह बात 'तपतां तपीयान्' इस विशेषणसे कह दी है. अर्थात् ब्रह्माजी तपस्या करनेवालोंमें अतिश्रेष्ठ तपस्या करनेवाले थे और फलप्राप्ति होनेमें सावधान भी थे. जैसे रसोई बनानेवाला रसोइया रसोईमें रस आने पर्यन्त सब तरहकी निगाह रखता है और रसनिष्पत्ति हो जाने पर ताप सहन करना भी छोड़ देता है, यही बात ब्रह्मामें भी रही. ये भी वैसे ही थे।।८।।

आभासार्थ: इस तरह तप करने पर जो फल प्राप्त हुआ सो कहते हैं:

तस्मै स्वलोकं भगवान् समाहितः सन्दर्शयामास परं न यत् परम् ।
व्यपेतसंक्लेश-विमोहसाध्वसं स्वदृष्टवद्भिर्विबुधैरभिष्टुतम्।।९।।

श्लोकार्थ: भगवान्ने भी सावधान रहकर ब्रह्माको अपने लोकके दर्शन कराये. इस लोकसे अन्य कोई भी लोक श्रेष्ठ नहीं है. यही सर्वश्रेष्ठ लोक था. इस लोकमें अविद्यादि क्लेश रजोगुणकृत भूलभुलैया और सत्त्वगुणकृत उच्छाहसे घबरा जाना कुछ भी दोष नहीं रहते और परमात्मदर्शी महात्मा लोग ही इसकी स्तुति करते रहते हैं।।९।।

व्याख्यार्थ: ब्रह्माने भगवान्की क्रीड़ाकेलिए सृष्टि रचनेका विचार किया किन्तु भगवान् इस प्रकारके लोकमें विराज रहे हैं कि उस लोकका पता पड़ना ब्रह्माकेलिए अशक्य था. इसलिए भगवान्ने ब्रह्माके गर्वको दूर करनेकेलिए पहले अपने लोकका दर्शन कराया. अर्थात् यह दिखाया कि 'ब्रह्मणः' तुम मेरी क्रीड़ा होनेकेलिए लोकरचना करना चाहते हो; किन्तु पहले यह तो देख लो कि मैं किस लोकमें निवास करता हूं. मेरे निवास करनेकेलिए कैसा विश्व चाहिये. अर्थात् भगवान्ने ब्रह्माके गर्वको दूर करनेकेलिए पहले अपने निवासके योग्य निज लोकका दर्शन ब्रह्माको कराया. यदि भगवान्को अपने निवासकेलिए स्वयोग्य लोककी रचना न कराना होता तो अपने लोकके दर्शन क्यों कराते? केवल अपने

स्वरूपके ही दर्शन करा देते. इससे स्पष्ट होता है कि ब्रह्माको लोकरचना करनेका जो गर्व था, उसे दूर करनेकेलिए उन्होंने निवासके योग्य अपने लोकका दर्शन कराया. आध्यात्मिक-आधिभौतिक लोकोंको भी स्वरूप और सामर्थ्य प्रदान करनेवाला आधिदैविक लोक दिखाया.

कृत्रिम वैकुण्ठ श्रीलक्ष्मीजीके अधिकारमें है. अतएव वह उनका है, किन्तु यहां 'स्वलोक' शब्द दिया गया है इसलिए मालूम होता है, अपने निजका रहनेका व्यापिवैकुण्ठ(मुख्य अक्षर)धाम दिखाया. यद्यपि केवल ब्रह्माको ही दिखा रहे हैं और मुख्य लोकका ही दर्शन करा रहे हैं, तथापि इस दर्शनसे कुछ भगवान्का कार्य अधिक हो जावेगा? सो नहीं है. किन्तु इस स्वमाहात्म्यके प्रदर्शनसे ब्रह्माजीकी अपनेमें भक्ति होगी. इसलिए ही 'तस्मै' यह पद कहा है. 'भगवान्' यह पद भगवान्के लोकप्रदर्शन सामर्थ्यको प्रकट करनेकेलिए कहा. अन्यथा जो व्यापिवैकुण्ठ लोक जीवसामर्थ्यसे अदृश्य(देखनेमें न आवे) है, वह दृश्य कैसे हो? अर्थात् ऐसा होने पर भी भगवान्ने अपने सामर्थ्यसे ही यह दिखाया. 'समाहितः' पद देनेका कारण यह है कि इस समय तो प्रभुने अपनी दृष्टिको ब्रह्माकी दृष्टिमें प्रवेश कराकर अपने लोकका दर्शन करा दिया, किन्तु फिर आगे इस कार्यके अनन्तर ही यह मेरी दृष्टि पृथक् रही आवे, इसका दृष्टिमें मिल न जाय, इस बातकी भी सावधानी भगवान्ने रखी. दूसरी बात यह भी थी कि इस अक्षरात्मक व्यापिवैकुण्ठका स्वभाव भी यह है कि जीवकी दृष्टिके सामने आते ही वह छिप जाता है. कहीं ऐसा न हो कि मैं ब्रह्माको प्रदर्शन कराऊं और यह लोक उसके आगे प्रकट ही न हो. बस इस बातसे ही भगवान् समाहित(सावधान) रहे. 'पर' शब्दका यह तात्पर्य है कि कृत्रिमवैकुण्ठसे यह लोक श्रेष्ठ था. अथवा अक्षरब्रह्मरूप था. यह नियम है कि जब श्रीपुरुषोत्तम प्रभु-स्वामी रूपसे प्रकाशित होते हैं, तो अक्षरब्रह्म उनके लोकरूपसे प्रकट होता है. अक्षरब्रह्मकी भी अनेक स्फूर्त्तियां(स्वरूपदर्शन) होती रहती हैं किन्तु यहां तो सर्व मुख्य स्वरूपका ही दर्शन कराया. इसी हेतुसे 'न यत्परं' जिससे अन्य कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है, यह वाक्य दिया है.

यह भगवान्का अक्षरात्मक लोक गुणातीत है, प्राकृतिक गुण रहित है, इसलिए प्राकृतिक गुणोंके असाधारण धर्मोंका निषेध करते हैं 'व्यपेत्' इत्यादिसे. संक्लेश, विमोह और घबराहट ये प्रकट गुणके कार्य हैं. ये वहां नहीं थे. उलटी समझ(अविद्या) आदि दोष तमोगुणके हैं. चित्तकी एकदम विचित्रता-भ्रान्तता

रजोगुणसे होती है और साध्वस अर्थात् हर्षके वेगसे किसी अकार्यमें भी प्रवृत्त हो जाना, अकार्यके भयकी खबर न रहना यह सत्त्वगुणका प्रभाव है. 'साधु अस्य ते येन', अच्छी तरह अर्थात् श्रेयके मिससे जो स्थितिसे अन्यत्र फेंक दे वह साध्वस.

स्वरूप और कार्यसे भगवद्धामकी निर्गुणता कह दी. अब व्यवहारसे भी वह निर्गुण ही है सो कहते हैं, कि 'स्वदृष्टवद्भिः' इत्यादि. इस लोकमें व्यवहारसे भी सगुणता नहीं है. अपने आपमें किंवा स्वरूपभूत परमात्माका जिन्होंने दर्शन किया है, ऐसे ब्रह्मवेत्ता लोग जिसका व्यवहार करते हैं, जिसको उपयोगमें लाते हैं. यदि यह धाम सगुण होता तो ब्रह्मवेत्ता लोग उसके पास भी न जाते. ब्रह्मवेत्ता विद्वान् लोग इस भगवद्धामकी सर्वदा स्तुति करते रहते हैं, वे विशेषेण बुध हैं इसलिये प्रत्यक्षानुभवके सिवाय इन लोगोंको भगवद्धामके द्वारा अन्य व्यवहार होनेकी अपेक्षा ही नहीं है. 'अभिष्टुतं'का अर्थ है चारों तरफसे स्तुति. अर्थात् इस भगवद्धामके चारों तरफके पदार्थ इतने उत्तम हैं कि ब्रह्मवेत्ताओंको भी इसकी चारों तरफसे स्तुति करनी पड़ती थी।।९।।

आभासार्थः इस तरह गुणके कार्योंकी सत्ताका निषेध करके अब यह कहते हैं कि यहां गुण भी नहीं है:

प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रमः ।
न यत्र माया किमुतापरे हरेरनुव्रता यत्र सुरासुराचिताः।।१०।।

श्लोकार्थः इस भगवद्धाम व्यापिवैकुण्ठमें रजोगुण तमोगुण सत्त्वगुण और इनके मेलका भी प्रवेश बिलकुल नहीं है. यहां कालका पराक्रम नहीं चलता औरकी बात क्या? यहां माया भी नहीं है. इस धाममें तो सुर और असुर दोनोंसे सेवित हरि(भगवान्)के सेवकगण रहते हैं।।१०।।

व्याख्यार्थः अक्षररूप इस भगवद्धाममें रजोगुण और तमोगुण का प्रवेश नहीं है और रजस्तमसे मिला हुआ सत्त्वगुण भी वहां नहीं है. इससे यह स्पष्ट होता है कि विशुद्ध सत्त्वकी प्रवृत्ति तो वहां होती है. कोई कहे कि यह विशुद्ध सत्त्व यदि अक्षरके ब्रह्मत्वमें बाधक होता हो तो इसकी सत्ता वहां क्यों मानी जाय? तो कहते हैं कि नहीं. यह शुद्ध सत्त्व अक्षरात्मक ही है, इसलिए यह ब्रह्मत्वका बाधक नहीं, प्रत्युत बहुतसी बातोंका साधक है. जैसे वासुदेव भगवान्को बाहर प्रकट होनेमें इस विशुद्ध सत्त्वकी आधाररूपसे अपेक्षा है इसी तरह अक्षरब्रह्म भी जब बाहर प्रकट होता है, भगवल्लोकरूप होता है उस समय उसको भी आधारकी जगह

विशुद्ध सत्त्वकी अपेक्षा रहती ही है. जो ऐसा न हो, तो व्यापिवैकुण्ठादिमें आकार ही न होने पावे. अक्षरब्रह्म अप्रकटाकार है अतएव वही जब लोकरूप होवे उस समय उसमें आकारका समर्पण क्या होवे? इसलिए आकार-समर्पण करनेकेलिए विशुद्ध सत्त्वकी अपेक्षा है ही. यद्यपि आकार समर्पणकेलिए इस अक्षरात्मक व्यापिवैकुण्ठमें शुद्ध सत्त्वकी सत्ता है तथापि स्वरूपके साथ सत्त्वका कोई भी मेल नहीं होता. उसमें आकार आ जाय बस इतना ही सत्त्वका सम्बन्ध होता है. लोकमें सोने, चांदी, पीतलके ढालवा पात्र आदि बनाये जाते हैं. उसमें पित्तल प्रभृति दृव्योंके साथ ढालनेके सांचा वगैरहका सम्बन्ध होता है, जिसके द्वारा उन पित्तल वगैरह द्रव्योंमें घड़े-थाली वगैरहका आकार तो आ जाता है, किन्तु लोहेका या उससे बने सांचेका और कोई अंश पात्रादिमें चौंटता नहीं है. यही बात यहां भी समझ लेनेको है. भगवद्धाम अक्षरमय है, किन्तु अक्षरब्रह्म तिरोहिताकार-निराकार है. अतएव उसको लोकात्मक बनानेकेलिए उसका विशुद्धसत्त्वके साथ सम्बन्ध भगवान् कराते हैं. उस सत्त्व सम्बन्धसे उसमें आकार तो आ जाता है, पर उसमें और कुछ भी गुणका सम्बन्ध नहीं आता. जैसे पीतल वगैरहके बासनोंमें बाहर-भीतर पीतल रहता है, अन्य कोई पदार्थ नहीं रहता, इसी तरह यहां भी अक्षरब्रह्म साकार व्यापिवैकुण्ठ हो जाता है, किन्तु इसके बाहर-भीतर सर्वत्र अक्षरब्रह्मके सिवाय अन्य कोई भी पदार्थ नहीं है. अतः ब्रह्मत्वमें कोई विरोध नहीं आता. यह सत्त्वका सम्बन्ध भी कोई जबरदस्ती कर्मवश होकर नहीं होता, किन्तु क्रीड़ार्थ भगवान्की इच्छा ही ऐसी होती है कि सत्त्वका सम्बन्ध हो.

सर्वनिर्णयप्रकरण निबन्धमें अक्षरब्रह्मका निरूपण कर दिया गया है:

''प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ परमात्माभवत् पुरा,
यद्रूपं समधिष्ठाय तद् अक्षरम् उदीर्यते''

एक बात दूसरी और भी है कि जिस पदार्थमें पदार्थ मात्रको क्षोभ दिलाने वाला काल जहां पहुंच सकता हो वहां ही गुण रह सकते हैं. कालके द्वारा उत्तेजित हुये गुण जगत्का कार्य चलाते हैं. काल यदि इनको क्षोभ न दिलावे तो गुणोंकी स्थिति ही व्यर्थ हो जावे. जगद्रूप कार्यकेलिए ही उनका परिग्रह किया है और क्षोभ हुए बिना ये गुण कोई भी कार्य नहीं कर सकते, ऐसी स्थितिमें कालके बिना गुणोंकी स्थिति निरर्थक ही है तो अक्षररूप व्यापिवैकुण्ठमें जो सत्त्वकी

स्थिति मानी वह भी निरर्थक ही समझी जा सकती है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'न च काल विक्रमः'. इस अक्षरात्मक भगवद्धाममें आकार समर्पणकेलिए यद्यपि विशुद्धसत्त्वकी स्थिति मानी गई है, तथापि कालका पराक्रम वहां नहीं है. साधारणकाल भगवान्का ही एक रूपान्तर है. अतएव वह सत्त्वकी तरह भगवान् अक्षरमें ही रहता है वहां उसका विक्रम नहीं चलता. यदि अक्षरमें कालकी स्थिति सर्वथा न रहती तो फिर 'कदाचित्' कभी-कभी उसका यह व्यापिवैकुण्ठ रूपमें परिवर्तन क्यों होता? सर्वदा ही ऐसाका ऐसा रहता. कदाचित् ही इसका प्रकाश होता है इससे मालूम होता है कि काल स्वरूपसे विद्यमान रहते भी विक्रम नहीं चल सकता. कालका किया क्षोभ इस भगवद्धाममें नहीं है.

भगवान् सच्चिदानन्द स्वरूप हैं. जब सृष्टि रचना करनेकी इच्छा होती है तब अपने सम्मिलित स्वरूपात्मक धर्मोंको इच्छासे पृथक् करते हैं. तब वह धर्मात्मक सच्चिदानन्द अक्षरब्रह्म कहा जाता है, किन्तु जब भगवान् ब्रह्मकी इच्छा सृष्टिके व्याप्त होने लगती है तब उसका आनंदांश कुछ छिप सा जाता है, कुछ सत्त्व वृद्धि हो जाती है. उस सत्त्वसे ही आनन्द कुछ दब सा जाता है. लोकमें भी ऐसा होता है. जब मनुष्य हंसी-खुशीमें बैठा हुआ होता है तब आनन्द बढ़ा हुआ रहता है, किन्तु जब इसे कुछ आवश्यक कार्य उपस्थित होता है, तब उस इच्छासे आनंद कुछ कम हो जाता है. हां चित(ज्ञान) बढ़ा हुआ रहता है. इसी तरह अक्षरमें भी सृष्टिके समयमें सत्त्वसे आनन्दका तिरोभाव सा हो जाता है और उपादानापरोक्षादि ज्ञान बढ़ा हुआ रहता है. अतएव "**स एको ब्रह्मण आनन्दः**" आदि आनन्दवल्लीमें कही हुई ब्रह्मानन्दकी गिनती ठीक-ठीक बैठ जाती है. यदि आनंद अंश तिरोहित(इव) जैसा न हो जाता तो आनन्दकी गिनती कैसे हो सकती थी. तिरोहित जैसा कहनेका यह तात्पर्य है कि यह आनंदकी गिनती उपचार मात्र है, वास्तविक नहीं है. "**यतो वाचो निवर्तन्ते**" आदि श्रुतिमें ब्रह्मानन्दको अपार कहा है, अमेय कहा है. तथापि जिज्ञासुओंको ब्रह्मानंद समझाना ही है. ऐसी औपचारिक गिनती करके समझाना ही श्रुतिने उचित समझा. अतएव वहांकी गिनतियोंमें सर्वत्र 'स्यात् स्यात्' (संभावनार्थक लिङ्)का उपयोग किया है. अन्दाजसे की गई गिनती वास्तविक नहीं हो सकती. अस्तु गिनती कैसे भी हो किन्तु अक्षरब्रह्म गणितानन्द है, यह ठीक ही है.

इस पर कोई पूछ सकता है कि फिर तो मोहिका माया भी भगवद्धाममें

रही होगी? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'न यत्र माया'. मोहिका माया भी वहां नहीं है. लोकमें आनन्दकेलिये मायाका ग्रहण किया जाता है. तमाशा वगैरह. किन्तु भगवान्ने वास्तवमें अक्षरका सामर्थ्य हटाया नहीं है. उसके आनंदका दिया सामर्थ्य जैसाका तैसा मौजूद रहता है यह बात ''**एतस्य आक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठतः**'' श्रुतिमें 'प्रशासन' शब्दसे स्पष्ट है. आनंदके ही सब सामर्थ्य हैं. अक्षरका प्रशासन सर्वदा स्थिर रहता है क्योंकि ''**स एको ब्रह्मण आनन्दः**'' इत्यादिमें अक्षरमें भी छिपी हुई आनंदकी नित्य सत्ता स्वीकारी गई है, इसलिये जब इस अक्षरका सालोक्य हो जाता है, अर्थात् अक्षरात्मक व्यापिवैकुण्ठ लोकमें जब जीव(शुद्ध-चेतन) पहुंच जाता है, तब ही इसे ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्ति होती है. ऐसी हालतमें यदि वहां मायाका प्रवेश होता तो वहां पहुंचने पर चेतनको ब्रह्मभाव कैसे होता? इसलिये कहना पड़ता है, वहां पहुंच जाने वालोंमें किंवा उस लोकमें मायाका कोई भी कार्य देखने सुननेमें नहीं आता, इसलिये वहां माया व्यामोहिका नहीं है यह स्पष्ट है. जब माया ही नहीं है तो फिर मायामें बंधे हुये अन्य जीवोंकी तो वहां बात ही कैसी?

यदि कोई यह कहे कि भगवान्की सेवा करनेवाले पराधीन हैं यह तो मानना ही पड़ता है. ऐसी अवस्थामें पराधीनोंको बद्ध जीव कहना भी ठीक होता है तो उनका निषेध क्यों करते हो? उसके उत्तरमें कहते हैं 'हरेरनुज्ञता' इत्यादि. उन भगवद्भक्तोंका व्रत भी भगवान्के सदृश होता है. अनशन(उपवास)को लोकमें 'व्रत' कहते हैं. भगवान्का स्वभाव शरणागतपालन व्रत है और वह अनशनात्मक भी है. जिस अवस्थामें जो रहना चाहता या आना चाहता है उस जीवको उसी अवस्थामें रहने देना, आने देना और फिर उसका हित कह देना यह शरणागत पालन है. ''**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**'' गीताका भी यही तात्पर्य है. शबरी, चैद्य आदिको उसी अवस्थामें रखते हुये उनका वास्तविक हित किया. यह सामर्थ्य केवल भगवान्में है; किन्तु व्यापि वैकुण्ठमें रहने वाले नारदादि पार्षद प्रभृति भी ऐसे हैं. क्योंकि वे भगवान्के 'अनुव्रत' हैं. भगवान्का दिया हुआ ही बल उनमें हैं, भगवान्के अनु=पश्चात् अर्थात् उनके सामर्थ्यसे ही इनका व्रत है. जैसे भगवान् वैसे उनके भक्त भी हैं. भगवान्का व्रत शरणागत पालन है, अनशनात्मक हैं, तो भक्तोंका भी ऐसे ही हैं. जिस तरह भगवान् सर्वोद्धार करनेकेलिए लोकमें प्रकट होते हैं, इसी तरहमें आज्ञावर्ती भगवदीय भी

लोकमें सबका उद्धार करानेकेलिए प्रकट होते हैं. लौकिक भोग किंवा कर्मफलोंका भोग न करना, यही अनशनात्मक व्रत भगवान्का है. '**अनश्नन् अन्यः अभिचाकशीति**' श्रुतिः. ऐसा ही व्रत इन भागवतोंका है. ये भी कर्मवश हो कर न तो प्रकट होते हैं और न उन्हें कर्मफल भोगने ही पड़ते हैं.

और दूसरी बात यह भी है कि जिस समय ये भगवद्गण भगवल्लोक वैकुण्ठमें निवास करते हैं उस समय सुर और असुर दोनों इनकी पूजा करते हैं, आज्ञा धारण करते हैं. सुरगण सत्त्वगुणका परिणाम(फल) हैं. और असुर रजोगुणके परिणाम स्वरूप हैं. तमोगुणकी तो वहां संभावना भी नहीं है. ऐसी अवस्थामें यदि भगवान्के अनुचरोंमें भी विशुद्ध सत्त्वके सिवाय प्राकृत सत्त्व और होते तो फिर सात्विक-राजस सुरासुर, इनकी अर्चना क्यों करते. भगवद्भक्त भी सात्विक-राजस और सुरासुर भी सात्विक-राजस. फिर तो दोनों समान हो गये! पूजा कैसी? किसी तरहका भी उत्कर्ष न होनेसे समान समानकी पूजा नहीं करता. भगवान् जब लोकमें अवतार लेते हैं, तब असुर उनके साथ युद्ध करनेकेलिए आते हैं. और किसी तरहसे भी हो, पर कितने ही समय पर्यन्त भगवान्के सम्बन्धसे परम सुखका अनुभव कर जब पीछे हार जाते हैं तो फिर उन्हें वैसा सुखका अनुभव होता नहीं है, इसलिए वैकुण्ठमें भगवत्सम्बन्धके परमसुखका नित्य अनुभव करते भगवद्भक्तोंको देखकर वे लोग उनकी स्तुति करते हैं. उनकी इस तरह पूजा करते हैं. ''वाह वाह! ये लोग धन्य हैं, जो इस तरह सर्वदा भगवत्सुखका अनुभव करते हैं'' इत्यादि. प्रह्लाद आदि असुर तो भगवद्भक्तोंकी साक्षात् पूजा भी करते हैं. और सुरगण तो भगवान्के आवरण(परिवार)रूपसे भक्तोंका पूजन करते हैं ।।१०।।

आभासार्थः अब भगवद्भक्तोंका रूप भगवान्के समान है. इसका स्पष्ट निरूपण करते हैं:

श्यामावदाताः शतपत्रलोचनाः पिशङ्गवस्त्राः सुरुचः सुपेशसः।
सर्वे चतुर्बाहव उन्मिषन्मणिप्रवेकनिष्काभरणाः सुवर्चसः।
प्रवालवैडूर्यमृणालवर्चसः परिस्फुरत्कुण्डलमौलिमालिनः।।११।।

श्लोकार्थः श्याम और स्वच्छ स्वरूपवाले, पीताम्बर धारण किये हुये, शीत मधुर प्रकाश युक्त कोमल श्रीअंग वाले, सबके सब चार-चार भुजाओंसे शोभित, चमचमाते मणिश्रेष्ठोंसे जड़े हुये सुवर्णाभरण धारण किये हुये, आत्मकान्तिसे शोभित प्रवाल-वैदूर्यमणि और मृणालके समान है प्रभा जिनकी

ऐसे, और चमकते हुये कुण्डल और मस्तककी रत्नमालाओंसे शोभित, भगवद्भक्त पार्षद वहां सर्वदा निवास करते हैं।।११।।

व्याख्यार्थ: भगवान्के सोलह गुण प्रसिद्ध हैं. भगवान् सच्चिदानन्दात्मक हैं अतएव एक-एकके धर्मात्मक स्वरूपके पांच-पांच गुण होनेसे पन्द्रह और समुदायका एक गुण, यों सोलह . यह अक्षरात्मक भगवल्लोक सम्पूर्ण सच्चिद्रूप है. आनंदांश तिरोहित है, यह पहले कह चुके हैं. इसलिये सच्चिदात्मक लोकके सच्चिदात्मक पार्षदोंके गुण दश ही हैं. आनंदांश पृथक् हो गया है, इसलिये भगवदीयोंके उन दश गुणोंका निरूपण करते हैं. 'श्यामावदाताः' इत्यादि .

यह अक्षरब्रह्म लोक रूपसे प्रकाशित हुआ है, इसलिये श्यामत्वादिके लिये युक्ति देनेकी आवश्यकता नहीं है. यहांके निवासी पार्शद इन्द्रनील मणिकी तरह श्याम और स्वच्छ स्वरूप थे. मध्याह्नके सूर्यमण्डलके मध्यभागकी तरह किंवा जिस अग्निकी ज्वाला निकल चुकी है. ऐसे अग्निके नील प्रकाशकी तरह वे नीलोज्वल थे. इस तरह उनकी शुद्धता निरूपण की. अब सौंदर्य निरूपण करते हैं. कमलके पत्तोंकी तरह मनोहर गुलाबी और तीखे नेत्र वाले. इस तरह सब ही पार्षदगण स्वरूपसे समान हैं यह कह दिया. अब उनकी अन्य सामग्री भी समान है यह कहते हैं: 'पिशङ्गवस्त्राः' सबके सब पीत वस्त्रोंको धारण कर रहे थे.

यहां किसीको यह प्रश्न हो सकता है कि सूर्यमण्डलके मध्यभागकी तरह श्यामावदात स्वरूप बताया तो उनका प्रकाश भी बड़ा गरम होगा, असह्य होगा? इसका उत्तर देते हैं 'सुरुच'. असह्य प्रकाश नहीं था और चन्द्रकी तरह अल्प प्रकाश भी नहीं था, किन्तु सबकी ओज-कान्ति शीतल और सप्रकाश थी. जैसे घटादि पदार्थको प्रकाशित करनेकेलिये बाह्य उजालेकी जरूरत होती है, इस तरह इनका दर्शन होनेकेलिये अन्य प्रकाशकी अपेक्षा नहीं थी, ये स्वयं प्रकाशमान थे. ये सब अति कोमल थे. दिव्य रूप, गन्ध, शब्द, रस और स्पर्श ये पांच गुण विशुद्ध सत्त्वके हैं, सो इनमें विद्यमान थे. यह पांच विशेषणोंसे कह दिया. (१.रूपं= श्यामावदाता २. गन्धः= शतपत्रलोचनाः ३. शब्दः= पिशंगवस्त्राः. वासः छन्दोमयं सम्य वेदस्य शब्दरूपात्वात् ४. रसः= सुरुचः ५ स्पर्शः= सुपेशलाः (पो. कण्ठमणि शास्त्री)

अब चैतन्यके भी पुरुषार्थादि पांच गुण है. उनका भी 'सर्वे चतुर्बाहवः' आदि पांच विशेषणोंसे निरूपण करते हैं:

सब ही भगवद्भक्त लोग चार भुजा युक्त थे. अर्थात् यह स्पष्ट होता था कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थ इन लोगोंको हस्त प्राप्त थे. और चमकते हुये अत्युत्तम हीरा प्रभृति मणि इनके सुवर्णके पदकोंमें जड़े हुये थे. इस तरहके आभूषण इन लोगोंने धारण कर रखे थे. यद्यपि गृह आदि जड़ पदार्थोंकी भी रत्नादिसे शोभा बनाई जाती है, तथापि यहां पदक कहे गये हैं. हारोंमें पदक चेतनोंके ही होते हैं. जैसे महापुरुषोंकी और दिव्य-स्त्रियोंकी देहमेंसे चैतन्य कान्ति देहमेंसे प्रकाशित होती रहती है, इस तरह ये भी 'सुवर्चा' थे. अर्थात् इनके देहमेंसे भी चैतन्य कान्ति बाहर प्रकाशित होती रहती थी किन्तु परस्पर कुछ भेद था. अभी तक सब ही विशेषणोंसे इन सबका तुल्य ही स्वरूप था, ऐसा मालूम हुआ. किन्तु नहीं, सबमें ही अपने अपने विशेषोंसे परस्पर कुछ भेद भी था, यह कहते हैं: 'प्रवाल' इत्यादि .

प्रवालकी कान्ति दूसरी और वैडूर्य मृणालकी कान्ति दूसरी होती है. जैसे प्रवालोंके गुलाबी रंगमेंसे एक गौर कान्ति निकलती है. इसी तरह पार्षदोंके भी श्रीअंगोंमेंसे एक तरहकी श्याम और गौर स्वच्छ कान्ति निकलती थी. ये लोग भिन्न साधन विषयोंको लेकर भगवान्की भक्ति करने वाले थे यह दिखानेकेलिये यहां इनकी कान्तिके भेदोंका प्रदर्शन कराया है. वैडूर्य मणि (लेसनियां)की रंगत कुछ गंभीर, पीली कुछ श्याम, ऐसी अनेक तरहकी होती है. मृणालकी कुछ हरित कान्ति और प्रवालोंकी हलकी गुलाबी होती है. कितने ही व्रत-तीर्थादिके द्वारा भगवद्भक्त हुये हैं, कितनों ही में परिचर्या(चाकरी)के द्वारा भगवद्भक्ति प्राप्तकी है, और कोई-कोई भगवन्-माहात्म्यको जानकर ही भक्त हुये हैं अतएव भक्तिके प्रकार भी अनेक हो गये हैं. यद्यपि सबके सब भक्त हैं, पार्षद हैं, समान रूप हैं, तथापि पूर्वमें की हुई भक्तिके साधन और भक्तिके प्रकार अनेक होनेसे ये अनेक रूप थे. इन विशेषणोंमें इनके आध्यात्मिक और आधिदैविक स्वरूपोंका भी परोक्ष रूपसे वर्णन है. भक्ति इनका आध्यात्मिक स्वरूप है और आनंद आधिदैविक. भगवत्सेवा करते समय चलन होनेसे इनके कुण्डल और मस्तककी रत्नमालायें चमकती जाती थी. रत्नजटित मुकुटके चलन होनेसे और कुण्डलोंके भ्रमणसे मालूम होता है कि भगवान्कीसेवा करनेमें इन्हें पूर्ण उत्साह था. इससे मालूम होता है कि भजन(सेवा)का आनंद इनमें प्रतिष्ठित था।।११।।

आभासार्थ: इस तरह वहां रहनेवाले सेवक निर्दोष हैं यह दिखाकर इस

लोककी भगवल्लोकता सिद्ध करनेकेलिये अब वैकुण्ठके गुणोंका वर्णन दो श्लोकों में करते हैं:

भ्राजिष्णुभिर्यः परितो विराजते लसद् विमानावलिभिर्महात्मनाम्।
विद्योतमानः प्रमदोत्तमाद्युभिः सविद्युदभ्रावलिभिर्यथा नभः।।१२।।

श्लोकार्थ: यह व्यापिवैकुण्ठ सर्वज्ञ प्रायः पार्षदोंके उत्तमोत्तम सुन्दर देदीप्यमान विमानोंकी पंक्तियोंसे बड़ा शोभित है. और जैसे बिजली सहित मेघ पंक्तियोंसे आकाश चमकता रहता है, इस तरह यह लोक भी दिव्य महिला सहित पार्षदोंसे शोभायमान हो रहा है।।१२।।

व्याख्यार्थ: सेवकोंका और भगवान्का विषयानन्द क्रमसे कहा जाता है. इसमें भी भगवान् पहले अपने सेवकोंको ही सुखी देखना चाहता है, इसलिए पहले सेवकोंके विषयानन्दका निरूपण किया जाता है.

विषयभोग रागादिमें प्रधान प्रमदा गिनी जाती है और उनके रहनेके स्थानोंमें विमानोंकी भी गणना प्रथम है, पर ये सब भगवत्कृत है. अतएव ईश्वरकी तरफसे आते हुए मृत्यु आदिका कुछ भी भय यहां नहीं है. और इसीसे उन्हें अपना और सब पदार्थोंका विज्ञान बना हुआ है. इस तरह चार तरहके गुणोंसे विषयानन्दका उत्कर्ष दिखाते हैं. प्राकृतिक गुणकृत कर्मवश होकर जो विषयानन्द प्राप्त होता है, उसमें न तो उत्तम फल है, न उत्तम साधन है, न उत्तम भोक्ता है और न उत्तम विषयानन्द है. यहां चारों प्रकारसे उत्तमता विद्यमान है. आत्मपरमात्मज्ञान सहित भोक्ताओंका निरूपण 'महात्मनां' शब्दसे कर दिया और 'लसद्-विमानावलिभिः' तथा 'प्रमदोत्तमाद्युभिः' उत्तम विषयानन्दका निरूपण करा दिया और यह सब भगवद्रूप है, भगवत्कृत है, अतः साधन और फल की उत्तमोत्तमता कह दी गई.

यदि कोई कहे कि विषयकोटिमें तो खान-पान प्रथम गिना जाता है, तो फिर यहां अन्नादिका वर्णन क्यों नहीं किया? इसकेलिए कहते हैं कि अन्नादिकी तो शेषमें गणना की गई है. मुक्त जीव निर्दोष होते हैं. अतएव यहां अन्न-रस आदिका निरूपण नहीं किया. अन्नका ही अंग रस है. यही सब विशेषणोंके द्वारा कह दिया गया है. चमचमाते विमानोंकी पंक्तियोंसे यह लोक सब तरहसे शोभित था. अपने वैकुण्ठ लोककी शोभा बढ़ानेवाले विमानादि पदार्थ भगवान्ने ही प्रकट कराये थे, इसलिए यहां भय-दुःखादिकी शंका नहीं है. ये विमान और

प्रमदोत्तमा आदि भी भगवान्ने अपने सर्वज्ञ भक्तोंको भोगनेकेलिए दिये हैं.

अथवा 'महात्मा' शब्दका यह अर्थ है कि 'जो लोग' परिच्छेदको छोड़कर पूर्णताको प्राप्त हुए हैं, वे महात्मा-उत्तम, उत्तम महिलागण इनके भोगकेलिए दी गई हैं. प्रमदोत्तमाओंके बिना विषय भोगमें राग हो नहीं सकता. इसलिए इन लोगोंको जो विषयका भोग करनेमें राग हुआ है, वह विषयकृत है, कर्मकृत नहीं है. विषय स्त्री आदि तो भगवदिच्छासे भगवत्कृत है, अतएव दोषाभाव भयाभाव है. आनन्दवल्ली उपनिषद्में परब्रह्मानन्दको समझनेकेलिए आनन्दोंकी कई बार गणनाकी है, अतएव सर्वोत्कृष्ट आनन्दका निरूपण अक्षर-ब्रह्ममें "**स एको ब्रह्मण आनन्दः**" कहा है. उस विषयानन्दको पृथक् दिखानेकेलिए ही पुल्लिंगका निर्देश है. यदि स्वरूपानन्दको कहना होता तो 'ब्राह्मण आनन्द' होता. ब्रह्मका आनन्दरूप विषय पृथक् है और वह सर्वश्रेष्ठ है. "**रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते**" इत्यादिमें यही आशय है. यही बात यहां है. ब्रह्मका आनन्द ही यहां विषय है. उसके रसको जाननेवाले ये महात्मा भगवद्भक्त पार्षद हैं. अतएव भगवत्कृत भगवद्विषयानन्दका रागतः स्वरसतः वे लोग भोग करते हैं. विषयकृत अर्थात् भगवद्धर्म आनन्दने ही अपनेमें इन लोगोंकी आसक्ति(राग) कराई है, यह भगवदिच्छा ही है. इसलिए निर्दोषत्व निर्भयता विद्यमान है.

इन प्रमदोत्तमाओंकी कान्तिसे यह लोक प्रकाशमान हो रहा है. यद्यपि लोक भी अपने प्रकाशसे प्रकाशित है ही, तथापि प्रमदोत्तमाओंका प्रकाश उससे भी विशेष है. जिससे उनके भोगमें राग होता है. इन प्रमदोत्तमाओंकी कान्ति भी पुरुष सहितोंकी ही है. इसको दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं 'सविद्युदभ्रावलिभिः' इत्यादि. जिस तरह बिजली सहित मेघसमूहोंसे आकाशकी शोभा होती है इस तरह इस लोककी शोभा हो रही थी।।१२।।

आभासार्थः इस तरह सेवकोंके महाभोगका उपपादन करके अब भगवान्का भी महाभोग कहते हैं:

श्रीर्यत्र रूपिण्युरुगाय-पादयोः करोति मानं बहुधा विभूतिभिः ।
प्रेङ्खं श्रिता या कुसुमाकरानुगैः विगीयमाना प्रियकर्म गायती।।१३।।

श्लोकार्थः जिस वैकुण्ठमें साकार प्रत्यक्ष हुई श्रीलक्ष्मी अपनी विभूति रूपा सहेलियोंको साथ लेकर भगवान्के चरणारविन्दोंका बहुत तरहसे सम्मान करती रहती है; और वसन्तके परिकर भ्रमरोंसे अपनी स्तुति कराती हुई, आप

स्वयं अपने प्रेष्ठ स्वामी भगवान्के चरित्रोंका गान हिंडोला पर झूलती हुई गाती है ।।१३।।

व्याख्यार्थ: जिस समय भगवान् अपनी इच्छादि द्वादश किंवा अनेकों शक्तियोंके रूपमें प्रकाशित हुआ, उस समय उन शक्तियोंमें सर्व प्रथमा 'श्री' हुई. जैसे मनुष्यका बल, प्रयोगके पूर्व उसके शरीरमें ही विद्यमान रहता है, इसी तरह यह 'श्री'शक्ति भी पहले भगवान्के स्वरूपमें ही सम्मिलित थी. किन्तु जब भगवान् पुरुषोत्तम व्यापिवैकुण्ठ स्वामी होकर प्रकट हुए, तब 'श्री' भी उनकी भार्याकी तरह भोग्यरूपसे प्रकट हुई. यही कहते हैं कि 'रूपिणी'. यह भी सच्चिद्रूपा है. इसका शरीर(आकार) आनन्दरूप है. इसीलिए यह अपनी विभूतियोंसे भगवान्के चरणारविन्दोंका बहुमान करती है. वास्तवमें यह लक्ष्मी अक्षरब्रह्मका ही एक आनन्द है. भगवान्के चरणारविन्द भी अक्षरानन्दरूप हैं यह कह चुके हैं. अतएव यह उनका बहुमान करती है. इसका यह तात्पर्य है कि वह अपने एक भागका ही सन्मान करती है. अपने चरणोंको ही आनन्दयुक्त करती है. यही सन्मान कहा जाता है. जैसे लोकमें स्त्री आनन्दरूप गिनी जाती है. तथापि उसे आभूषण और सुन्दर वस्त्रोंसे विशेषकर आनन्दप्रदा बनाई जाती है. इसी तरह अक्षरात्मक आनन्दरूप भगवच्चरणोंको यह श्री अपनी विभूतियोंसे अधिक आनन्दयुक्त करती है. भिन्न-भिन्न श्रुतिवाक्योंने जिनका गान किया है, वह भगवान् 'उरुगाय' है. **'तद् विष्णोः परमं पदम्' 'विष्णोर्नु कं वीर्याणि' 'त्रेधोरुगायः'** इत्यादि श्रुतियोंका अर्थ भगवान् पुरुषोत्तम हैं. इन्हींके चरण अक्षरब्रह्म है यह 'शश्वत् प्रशान्तं' आदि श्लोकमें कह चुके हैं.

इस तरह आनन्दरूपा इस लक्ष्मीका तो भगवान्केलिए प्रयोजन था. उसका निरूपण करके अब चिद्रूपा उसी लक्ष्मीका अपनेलिए जो प्रयोजन है उसका निरूपण करते हैं: 'प्रेङ्खश्रिता' जो लक्ष्मी हिंडोला पर बैठी हुई चित्तविनोदार्थ भगवद्गुण गाती है. जिस समय श्रीभगवती हिंडोले पर बैठती है तब वसन्त ऋतुके सेवक भ्रमरगण आते हैं और लक्ष्मीके पृथक्-पृथक् श्रीअंगोंमें आभूषणरूपसे धारण किये पुष्पोंकी सुगन्ध लेनेकेलिए तथा बहुत काल पर्यन्त हमारे निकट रही आवे, इसलिए भी उसके गुणोंका गान करते हैं. इस तरह भ्रमर अपने स्वार्थकेलिए लक्ष्मीजीका गान करते हैं. किन्तु स्वयं लक्ष्मी तो अपने स्वार्थकेलिए प्रभुके चरित्रोंका गान करती है. पृथक् स्थिति ही लक्ष्मीका स्वार्थ है.

यदि ऐसा न करें तो अक्षरानन्दरूपा होनेसे वह अक्षरमें समा जाय. इसीलिए अक्षरके साक्षात्सम्बन्धको बचानेकेलिए प्रेङ्ख पर स्थित होती है. यह लक्ष्मी मनको अक्षरसे पृथक् पुरुषोत्तममें लगाये रहती है, उनके गुणगान द्वारा. इसलिए अक्षरासक्ति नहीं होने पाती, अन्यथा "**ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति**"के अनुसार ब्रह्मलय मुक्ति हो जाय. इस लयको बचानेकेलिए यह स्वयं भगवद्गुणोंका गान करती रहती है. यहां फलकी पूर्वावस्थारूप वसन्त है. अर्थात् भगवत्प्राप्तिरूप फलके पूर्वमें जो एक तरहका परमसुख होता है उसीको वसन्त ऋतु समझना चाहिए. इसके अधिष्ठाता देवगण ही भ्रमररूप इस आनन्दरूपा लक्ष्मीकी स्तुति करते हैं क्योंकि यह उनकी भी फलरूपा है. इससे यह स्पष्ट होता है कि अब अक्षरैक्यका भय नहीं रहा. श्रीपुरुषोत्तमासक्त भगवद्भक्तगण अक्षरसायुज्यसे डरते हैं. श्री भगवदीय हैं, भगवदासक्त हैं, इसलिए अक्षरैक्यसे डरती हैं. इसीलिये बचनेकेलिये पुरुषोत्तमके गुणोंका ही गान करती है. ऐसी अवस्थामें अक्षरैक्यका भय निवृत्त हो गया. लक्ष्मीजीको जब भगवान्की सेवादिका कार्य नहीं रहता उस समय अक्षरैक्यसे अपनी रक्षा करनेकेलिये अपने प्रिय पुरुषोत्तमकी लीलाओंका गान करती रहती है. 'कर्माणि' न कहकर 'कर्म' कहा (किंवा 'गायती'में जो) एकवचन कहा उसका यह तात्पर्य मालुम होता है कि लक्ष्मी अपना उद्धार चाहती है।।१३।।

आभासार्थ: इस तरह भोग्यरूपा लक्ष्मीका निरूपण करके अब उसके भोक्ता भगवान्का वर्णन करते हैं:

ददर्श तत्राखिलसात्त्वतां पतिं श्रिय: पतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम्।
सुनन्दनन्दप्रबलार्हणादिभि: स्वपार्षदमुख्यै: परिसेवितं विभुम्।।१४।।
भृत्यप्रसादाभिमुखं दृगासवं प्रसन्नहासारुणचारुलोचनम्।
किरीटिनं कुण्डलिनं चतुर्भुजं पीताम्बरं वक्षसि लक्षितं श्रिया।।१५।।

श्लोकार्थ: उस व्यापिवैकुण्ठमें ब्रह्माजीने सब सात्विकोंके पति लक्ष्मीजीके पति, यज्ञपति और सर्व जगत्के ही पति, श्रीभगवान्को सुनन्द, नन्द, प्रबल, अर्हण आदि अपने पार्शद श्रेष्ठोंसे सेवित देखे. वे सुप्रसन्न होकर दासगणके ऊपर अनुग्रह करनेकेलिये तैयार थे. उनके सुन्दर नेत्रकमल निर्मल हाससे गुलाबी हो रहे थे. उनका देखना ही लोगोंको मस्त करनेवाला था. श्रीमस्तक पर किरीट, कानोंमें कुण्डल धारण कर रखे थे. चार भुजाओंसे शोभित थे और पीताम्बर धारण किये थे. वक्षस्थलमें लक्ष्मीका चिह्न भी शोभित था।।।१४-१५।।

व्याख्यार्थ: व्यापि वैकुण्ठ स्थित सब ही दिव्य पदार्थोंका ब्रह्माने प्रत्यक्ष किया. क्योंकि भगवान्ने इसलिये ही अपने लोकके दर्शन उन्हें कराये थे. अब लोकमें विराजमान और सर्वसामग्री युक्त भगवान्का वर्णन करते हैं.

लोकमें और भगवान्के परिकरमें विश्वकी रचना सामग्री आ जाती है यह आगे स्पष्ट होगा. भगवानने अपना आविर्भाव सच्चिदानन्द होकर ही किया. इसका आशय इतना ही है कि विश्वकी रचना करनेमें सदात्मक चिदात्मक और कुछ आनंदात्मक पदार्थोंकी भी अपेक्षा रहेगी, इसलिये उसका परिज्ञान ब्रह्माको पहलेसे ही हो जाय. उनमें पहले भगवान्को सात्वतपति कहा है अर्थात् विशुद्ध सत्त्वके निधि भगवान् हैं. सत्त्वात्मक पदार्थ अनेक हैं उन सबके स्वतंत्र उपयोग करनेवाले भगवान् हैं. भगवत्सेवक देवगण धार्मिकगण और सात्विक इनमें तीनोंके भगवान् पति हैं. भगवान्के जितने भी लोकमें अवतार होते हैं वे सब इन पूर्वोक्त जीवोंकी कार्यसिद्धिकेलिये होते हैं.

भगवान् लक्ष्मीपति हैं. जब भगवान् अपने भोगकेलिये जगत्का निर्माण करते हैं तब सबको लक्ष्मीरूप ही बनाते हैं. 'श्रीर्यत्र' इस श्लोकमें लक्ष्मीका स्वरूप अक्षरब्रह्मका आनंद कह चुके हैं. और इस श्लोकमें यह कहा कि भगवान् जब अपने भोगकेलिये जगत् बनाते हैं, तब उसे लक्ष्मी सा ही बनाते हैं. इसका यह गूढ़ तात्पर्य है कि पहली ब्राह्मसृष्टि अक्षरमय है. यही आध्यात्मिक है. सबमें वस्तुतत्त्व रूपसे अक्षरब्रह्म समा रहा है. यह सृष्टि भगवद्भोग्या है. आध्यात्मिक और आधिदैविक दोनों तरहका जगत् लक्ष्मीरूप है, अक्षरानंदात्मक है. इससे यह सूचित किया गया है कि राम-कृष्णादि अवतारोंमें उनके भोगयोग्य जो-जो स्त्रियां उपस्थित होती हैं वे लक्ष्मी रूपा हैं. चाहे स्वरूपसे हों चाहे आवेशसे हों.

भगवान् यज्ञके पति हैं, भोक्ता हैं. जब भगवान् वेदोंको बनाते हैं तब अपने भोगकेलिये यज्ञ भी बनाते हैं. इससे यह भी स्पष्ट होता है कि यज्ञ मात्र भगवान्केलिये हैं. और चौथा सिद्धान्त यह है कि भगवान् जगत्के पति भी हैं. यह जगत् भी भगवान्का भोग्य है. भगवान् इस जगत्में जो-जो पदार्थ बनाते हैं वे सब उनकी क्रीड़ाकेलिये हैं.

जगत् तीन प्रकारका है. पहला केवल जीव क्रीड़ार्थ, जीवभोग्य आधिभौतिक जगत्. दूसरा केवल भगवद्भोग्य, भगवत् क्रीड़ार्थ आधिदैविक जगत्. और तीसरा उभय भोग्य उभय क्रीड़ार्थ आध्यात्मिक जगत्. आध्यात्मिक

और आधिभौतिक जगत् अनुप्रवेश्य है, और आधिदैविक जगत् अनुप्रवेशक है. वास्तवमें आधिदैविक जगत्के ही पति–भोक्ता भगवान् हैं. और वैकुण्ठमें तो ये सब पदार्थ मूर्तिरूप हैं, और सत्–चित् रूप हैं. यह बात नमूनाकी रीतिसे इस लोकमें भी दिखाई है. चारोंमें 'पति' शब्द देकर यह कहा है कि पूर्वोक्त अखिल सात्वत्, लक्ष्मी, यज्ञ और जगत् ये चारों पदार्थ भगवान्के भोग्य हैं. आधिदैविक हैं, भगवत्क्रीड़ार्थ हैं. इन आधिदैविक पदार्थोंका अनुप्रवेश्य होने पर ही आधिभौतिक आध्यात्मिक पदार्थोंका भगवान्से सम्बन्ध होता है.

निरोध स्कंध(दशम स्कंध)में भगवान्का जगत्, सात्वत्, लक्ष्मी और यज्ञ इन चारोंके साथ सम्बन्ध वर्णन किया गया है वह सब इनके अनुप्रवेश्य होनेसे ही. इस अध्यायमें जिन पूर्वोक्त चार पदार्थोंका निरूपण हो रहा है वे अनुप्रवेशक हैं और दशम स्कंधमें जिनका सतत्तर(७७) अध्यायोंमें निरूपण किया गया है वे अनुप्रवेश्य हैं. पहले जन्मप्रकरणके स्वरूपप्रतिपादक चार अध्यायोंको छोड़कर तामस प्रकरणके स्वरूप प्रतिपादक चार अध्यायोंको छोड़कर तामस प्रकरणसे गुण प्रकरण पर्यन्त ७७ अध्याय होते हैं. वे निरोध प्रतिपाद्य पदार्थ भी यद्यपि जगत्, सात्वत्, लक्ष्मी, यज्ञ स्वरूप हैं पर वे अनुप्रवेश्य हैं और ये इस अध्यायमें कहे गये जगत्सात्वतादि पदार्थ अनुप्रवेषक हैं. इस अध्यायमें कहे गये, इन पूर्वोक्त पदार्थोंके अनुप्रवेश करने पर ही निरोध स्कंधीय पदार्थ भगवद्भोगके उपयुक्त हुए. उस आगेकी लीलामें उनका भगवत्संबन्ध निरूपित है. अतएव इस श्लोकमें उनके मूलभूत आधिदैविक मूर्तिरूप पदार्थोंका निरूपण किया है. ब्रह्माके द्वारा सब तरहका सर्ग कराना है, अतएव मूर्तिरूप सात्वतादि चारों पदार्थोंका इस समय ब्रह्माको प्रदर्शन करानेकेलिये भगवान्ने पार्षदादि रूपमें ग्रहण कर रखा है. ''अखिलसात्वतां पतिः श्रियः पतिं यज्ञपतिं जगत्पतिं'' इन चार विशेषणोंमें जिन चार पदार्थोंका निरूपण है, वे सब आधिदैविक रूप होनेसे अनुप्रवेशक होनेसे इस लोकमें साकारमूर्ति होकर विद्यमान् हैं.

फिर वहांके स्वामी भगवान्, अपने मुख्य पार्षद सुनन्दादिसे सर्वदा सेवित हैं. क्योंकि भगवान् विभु, सर्व सामर्थ हैं. पार्षदादिका भी सामर्थ्य भगवान्का ही है. सुनन्द, नन्द, प्रबल और अर्हण ये सब भगवद्भक्तिरूप हैं. और सख्य भक्तिको साथ लेकर ये आठ प्रकारके हैं. ये सुनन्दनन्दादि पार्षदगण केवल श्रवणादि भक्तिरूप नहीं हैं किन्तु श्रवणादि भक्तियोंके अधिष्ठाता देवता हैं और श्रवणादि

भक्तियां तदधिष्ठित हैं, इनके नियमनमें हैं. चार पार्षदोंकी गणना नाम लेकरकी गई है, पर अन्योंका नामनिर्देश नहीं किया, क्योंकि भक्तजनमें इन चारोंका प्रभाव विशेष है, और आगे लोकमें इनका प्रभाव बढ़ता रहेगा. सुनन्द-नन्द-प्रबल ये तीनों कीर्तन श्रवण और स्मरणात्मक भक्तिरूप हैं. अथवा श्रवण-कीर्तन-स्मरणोंका क्रम उलटा लेना. स्मरण-कीर्तन-श्रवण. चौथी अर्हणरूपा भक्ति. 'अर्हण' नामसे ही पार्षदोंमें ग्रहण की है. नामकी समानता होनेसे यह पार्षद अर्हण(पूजन) रूपा भक्ति ही ग्रहण किया है. 'आदि' शब्दसे पादसेवन आदिका ग्रहण है. चारको ही नाम ग्रहण पूर्वक गिनाया है. इससे स्पष्ट होता है कि श्रवणादि इन चारोंमें जब सिद्ध हो जाये और फिर वैकुण्ठमें पहुंचे तब बाकी रही भक्तियां सिद्ध होती है. इन सबके स्वामी भगवान् पुरुषोत्तम हैं. यद्यपि ये इस तरह अपने सब ही परिकरसे वेष्टित होकर विराजते हैं, तथापि अनुग्रहकी वर्षा करनेकेलिये तो भृत्योंके तरफ ही झुके रहते हैं. अर्थात् भृत्य-चाकर लोग ही सबकी अपेक्षा भगवान्को अधिक प्रिय हैं. इससे स्पष्ट होता है कि भृत्यों पर सहज स्वाभाविक प्रसाद(कृपा) है. अन्य धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप पुरुषार्थों पर तो क्रमसे साधनादि परम्परासे अनुग्रह होता है. यहां 'धर्म' शब्दसे यज्ञादि, 'अर्थ'से जगत्, 'काम' शब्दसे लक्ष्मी और 'मोक्ष' शब्दसे भगवदीय भृत्य लिखे गये हैं. और पांचवीं प्रेमरूपा भक्ति. इस तरह सपाद एक श्लोकसे पूर्वोक्त पांच पदार्थोंका निरूपण करनेमें आया है. इन पांच पदार्थोंका भोग और इनको अपने नियममें चलाना यह भी इसी श्लोकमें निरूपित है. विशेषकर भृत्यों पर ही प्रसाद करते हैं यह इसमें स्पष्ट है.

एक बात और भी है कि भृत्येत्तर अन्य धर्मादि चार पदार्थों पर किंवा भृत्येत्तर अन्य सब ही पदार्थों पर भगवान्की दृष्टि आसव होती है, मस्ती कर देनेवाली हो जाती है. भगवान्ने जिनको देखा उनको फिर अपने आत्माका स्मरण नहीं रहता, जैसे मदमत्तको. इससे यह भी स्पष्ट होता है कि प्रपञ्चको भूला देनेवाला ज्ञान भगवद्दृष्टिरूप है. सामान्यज्ञान मात्र नहीं. ये सब पदार्थ जो कहे गये हैं वे सब ब्रह्माको समझानेकेलिए कहे गये हैं क्योंकि सर्वमूल सपरिकर भगवान्के स्वरूपकी भी सयुक्तिक संगति ऐसी ही है. अथवा भृत्यों पर प्रसाद करते हैं और कामना रखनेवालोंको मस्त बनाते हैं. यह भिन्न-भिन्न क्रम समझना चाहिए और फिर ये भगवान् निर्मल हास युक्त गुलाबी सुन्दर नेत्रोंसे सुशोभित थे. भगवान्का हास निर्मल और कृपायुक्त है.

सूक्ष्म ध्यान प्रसंगमें कह चुके हैं कि भगवान्का हास उन्मादकारी माया है. यह मायाशक्ति अन्य मायाओंसे जुदी है. जब यह प्रसन्न होती है तब अपने कार्य करनेमें अति समर्थ होती है. इसका कार्य जनको उन्माद करा देना है. यह स्वाभाविकी शक्ति नहीं पर पीछेसे आती है. भूलावा देनेवाली एक माया शक्ति और भी है, किन्तु यह माया शक्ति कुछ दूसरी तरहकी है. इसका भुलावा देना कुछ और है. यह हासरूपा माया कृपायुक्त है और लोगोंको एकदम मस्त कर देने वाली है. कामि लोगों पर इसका चक्र चल जाता है. सामान्य जगत्को छोड़कर सात्वत, लक्ष्मी और यज्ञ ये तीन कामी हैं, कामनावाले हैं. इन पर उन्मादकारी माया अपना असर पहुंचाती है. सात्वत्–भक्त भगवत्कामना वाले हैं. इनको यह माया ऐसा उन्माद(मस्ती) करा देती है कि ये लोग भगवान् अपने प्रियके सिवाय सब जगत्को भूल जाते हैं. यज्ञमें भी स्वर्गादि कामना है. यज्ञादि करनेवाले भी कामी होते हैं. उन पर माया अपना जाल डालकर ऐसा मस्त कर देती है कि वे उत्तरोत्तर कर्मासक्त ही रहते हैं. लक्ष्मी भी आगन्तुक कामिनी है. भगवान्का भोग सम्पादन कराते रहना यह लक्ष्मीका कार्य है. इस पर भी माया अपना उन्माद फैला देती है. अतएव लक्ष्मी मस्त होकर स्वरसतः भगवान्के भोगको सर्वत्र सम्पादित करती रहती है. यही मायाका स्वकार्य है. जब यह प्रसन्न होती है, भगवत्प्रसाद–युक्त होती है तब ही कार्य करनेमें अतिसमर्थ होती है. सात्वत्, यज्ञ और लक्ष्मी ये तीन भगवदीय पदार्थ हैं. इन्हें उन्माद करा देना सामान्य मोहिका मायाका कार्य नहीं है. इसलिए भगवान् अपने प्रसन्न हासरूप माया शक्तिसे कार्य कराते हैं. इस जनोन्मादकरी मायाके द्वारा उन्मादमें आये लोग, ब्रह्मके कार्यमें सम्मिलित हो सकेंगे. ब्रह्माके द्वारा कार्य तो करवाना ही है तो इस युक्तिसे क्यों न कराया जाय, यों समझकर भगवान् प्रसन्न हासयुक्त अरुण सुन्दर नयनोंको स्वीकार करते हैं. 'प्रसन्नहासारुणचारुलोचनम्'. 'अरुण' शब्दसे कुछ थोड़ी ललाई ली गई है और उस ललाईका अल्पप्रकाश भी सूचित होता है. यही नयनोंकी मनोहरता है. अरुण रंगका अल्पप्रकाश कहनेका यह तात्पर्य है कि जगत्का वास्तविक तत्त्व–साक्षात्कार लौकिक जनताको सुखकर नहीं होता किन्तु उसका अल्पप्रकाश ही सामान्य जनताको सुखकर होता है. जगत्को एकदम न जाने तब भी सुखकी ओर प्रवृत्ति न हो. इसलिए यहां उसका अल्प प्रकाश ही सूचित किया है.

शान्तत्व और उत्तमत्व ये दोनों धर्म भगवान्के नेत्रमें रहते हैं.

'चक्षुरमूत्पतङ्गः' इस वाक्यके अनुसार और 'चासौ आदित्य एकविंशः' इस श्रुतिके अनुसार कालाधिदैव सूर्य भगवान्का नेत्र है. इसका तात्पर्य यह है कि जगदन्तःपाति पदार्थ कालमें निहित है, अतएव कालवश होकर ही जाना जाता है. उत्तम भी होता है. सर्वथा अज्ञात पदार्थ समीचीन नहीं होता.

भगवान् आधार भी हैं और आधेय भी हैं. 'सुनन्दनन्द' इत्यादि विशेषणोंसे आधेयका निरूपण हुआ. अब आधाररूपका निरूपण करते हैं. पांच पदार्थोंका आधार भगवान् हैं: किरीट, कुण्डल, चार भुजा, पीतांबर और लक्ष्मीका चिह्न. सो कहते हैं 'किरीटिनं कुण्डलिनं' इत्यादि. किरीट मस्तक पर धारण किया जाता है, कानोंमें कुण्डल. उनके नीचे चार भुजाएं हैं. उनसे भी नीचे पीताम्बर है. मध्यमें लक्ष्मीका चिह्न समझना. जिन-जिन लोकोंको भगवान्के अवयव कह चुके (श्रीअंग) वे-वे सब इस चतुर्मूर्ति भगवान्के आधार पर स्थित हैं. वेद भगवान्का किरीट है. आधिदैविक वेदोंका स्थान सत्यलोक है. यह भगवान्के श्रीमस्तक पर है. योग-सांख्यरूप कुण्डलोंका आधार भगवानके कर्ण हैं. ये श्रीमुखमें ही हैं. ये दोनों तपलोक और जनलोक हैं और इनका भी सग्रीव भगवन्मुख ही आधार है. और महः आदि चार लोकोंका आधार भगवान्की चार भुजायें हैं. श्रीका आधार आनन्द(सुख)रूप स्वर्गका आधार भगवान्का वक्षस्थल है. इस तरहसे सब ही यह विश्व-कार्य, भगवान्के आधार पर ठहरा हुआ है. इतने निरूपणसे यह सिद्ध होता है कि भगवान्से अपने विराट्रूप भगवान्का वास्तविक रूपसे ब्रह्माको साक्षात्कार कराया. जिससे उसे आगे सृष्टिरचना करनेमें सरलता हो सके।।१४-१५।।

आभासार्थः आधेय स्वरूपका निरूपण करते हैं:

अध्यर्हणीयासनम् आस्थितं परं वृतं चतुः-षोडश-पञ्च-शक्तिभिः ।
युक्तं भगैः स्वैरितरत्र चाध्रुवैः स्व एव धामन् रममाणम् ईश्वरम् ।।१६।।

श्लोकार्थः ब्रह्माने पूज्य आसन पर विराजमान चार, सोलह और पांच शक्तियोंसे घिरे हुये अन्यत्र अनित्य और भगवान्में ध्रुव अपने षट् ऐश्वर्योंसे युक्त और अपने धाममें ही रमण करते हुये भगवान्को देखा।।१६।। (१४-१६ श्लोकोंका एक अन्वय है.)

व्याख्यार्थः धर्मादि सब साधनोंसे अधिक पूजनीय किंवा धर्मादि साधनोंका आसनके साथ सम्बन्ध होनेसे जो आसन सबको अधिक पूजनीय है,

उस आसन पर विराजे हुये. कोई शासनाधिष्ठाता देवताको भगवान् न समझ ले इसलिये 'परं' विशेषण दिया. अर्थात् भगवान् सबसे परे हैं, अगम्य हैं, सबसे श्रेष्ठ भी हैं. अधिष्ठात्री देवता प्रभृति पदार्थोंसे भगवान् उत्तम हैं, सबका नियामक भी हैं. यह आसन भी मुख्य अक्षररूप है. यह अक्षरब्रह्म जब लोकमें प्रकाशित होता है तब लोकात्मक आसनात्मक और चरणात्मक होता है. व्यापि वैकुण्ठादि लोक आधिभौतिक हैं. आसन आध्यात्मिकस्वरूप है और भगवच्चरणारविन्द आधिदैविक अक्षर है. इस आध्यात्मिक स्वरूप आसनके अंश पच्चीस तत्त्व हैं. इन तत्त्वोंका निरूपण आगे तृतीय स्कंधमें आवेगा. पादपीठ पर्यन्तके अंश ये पच्चीस तत्त्व हैं. सो कहते हैं 'वृत्तं चतुः'. भगवान्के सिंहासनके तीन आवरण हैं. कमलकी तरह गोलरूपमें: १.प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व और अहङ्कार ये चार, चतुर्दल कमलकी तरह पहला आवरण है. २.फिर एकादश इन्द्रिय और पांच तन्मात्रा(रूप रस गन्ध स्पर्श शब्द) इस तरह सोलह पदार्थ षोडश दल वाले कमलकी तरह दूसरा आवरण है. ३.अब तीसरा आवरण पांचों महाभूत(पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश) है. इस तरह इस आसनके चारों तरफ तीन आवरण हैं. इन तीनों आवरणोंका उल्लंघन करके जो जा सके वह भगवान्के समीप पहुंचता है. यह भगवान्का आसन सर्वतत्त्वोंसे युक्त अक्षरब्रह्मात्मक है.

ऐसे आसन पर विराजमान भगवान्का ब्रह्माने दर्शन किया. भगवान्के चारों तरफ मूर्त्ति धारण किये ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान और वैराग्य ये छहों ऐश्वर्य सेवक होकर स्थित थे. ये ऐश्वर्यादि छः गुण एक भगवान्में ही नित्य वर्तमान रहते हैं. अन्यत्र किसी भी जीवादिमें इनका आवेश नहीं होता. जिन पार्षद, देवगण और राजा प्रभृतिको भगवान् इनका दान करते हैं वहां भी ये रहते हैं किन्तु अस्थिर. जिन-जिनको भगवान् अपने ऐश्वर्यादिका दान करते हैं, उतने समय पर्यन्त वे भी भगवान् कहे जाते हैं, जैसे भगवान् नारद. नित्य वर्तमान स्वाभाविक ऐश्वर्यादि तो भगवान्में ही रहते हैं. इससे यह स्पष्ट है कि भगवत्व भी भेदभावसे रहता है. भगवान्का भगवत्व भिन्न प्रकारका है और अन्य देव मनुष्यादिमें भगवत्व दूसरे प्रकारका रहता है! ''**ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति**'' ''**यो यच्छ्रद्धः स एव सः**'' ''**स आत्मानं यच्छति**'' इत्यादि वाक्योंमें जो भगवत्व दिया गया है, या साधनोंके द्वारा प्राप्त किया गया है, वह सब साधारण है, अध्रुव ही है और भगवान्का भगवत्त्व किंवा उनके ऐश्वर्यादि छः गुण असाधारण हैं. युक्त जीवोंसे भी भगवान् महान् हैं यह स्पष्ट

है. कृपासे प्राप्त हुये ऐश्वर्यादि भी नित्य नहीं होते.

इस तरह भगवान्के पास भोगकी सब सामग्री विद्यमान् रहती है, इसलिए ये अपने धाममें ही रमण करते हैं, क्योंकि इनका स्वरूप ही आनन्दमय है.

यहां एक विचार होता है कि सुखका अनुभव रहते सुखभोग फल कहा जाता है. यद्यपि भगवान् आनन्दमय हैं, सुखरूप हैं तथापि आनन्द अपनी ही भोगक्रियामें कर्त्ता नहीं हो सकता. अनुभव किये बिना सुखभोग कैसे कहा जाय? इसका उत्तर देते हैं कि 'स्वएव धामन्'. यह भगवान् अपने ही तेजोरूप प्रकाशमें रमण करता है. अप्रकाश अवस्थामें ही दूसरे प्रकाशकी अपेक्षा रहती है, किन्तु जो स्वयं प्रकाश है, उसे प्रकाशांतरकी आवश्यकता नहीं होती. ये भगवान् स्वयं प्रकाशरूप हैं, सर्वसमर्थ हैं, अतएव अपने आनन्द भोगमें दूसरे कर्ताकी अपेक्षा नहीं है. अपने आनन्दका आप ही भोग करनेमें समर्थ हैं. इससे यह भी सूचित होता है कि जीवोंका भगवान् भोग्य है. यह मत भी ठीक नहीं है. जो स्वप्रकाश है वह जीवकृत साधनोंसे प्रकाश्य किंवा भोग्य नहीं हो सकता, जैसे आकाश. वह स्वयं अपने स्वरूपसे अपनी इच्छाप्रकाश्य भी भोग्य भी हो जाय यह बात दूसरी है. स्वप्रकाश रहते भी सबका नियन्ता है. सबको अपने वशमें रखता है, अपने नियममें चलाने वाला है. इसको किसीके साथ कहां भी रमण करनेकी अपेक्षा नहीं है, तथापि सबका नियमन तो करता ही है।।१६।।

तद्दर्शनाह्लाद–परिप्लुतान्तरो हृष्यत् तनुः प्रेमभराश्रुलोचनः।
ननाम पादाम्बुजम् अस्य विश्वसृग् यत् पारमहंस्येन पथाधिगम्यते।।१७।।

श्लोकार्थः जो भगवान् परमहंसोंके मार्गसे जाना जा सकता है, उस भगवान्के दर्शन करनेसे ब्रह्माका हृदय हर्षमें मग्न हो गया, शरीरमें रोमञ्च हो गया. प्रेमप्रवाहके अश्रुओंसे नेत्र भर गये और ऐसी अवस्थामें ही विश्वसृष्टा ब्रह्माने भगवान्के चरणकमलोंमें प्रणाम किया।।१७।।

व्याख्यार्थः भगवान्का यह स्वरूप विश्वसर्गकी रचना करनेके सब सन्देहोंको दूर करनेवाला था. अतएव इसका दर्शन करके ब्रह्माको बड़ा ही हर्ष हुआ और उस आनन्दानुभवसे जो संतोष या उससे ब्रह्माका हृदय सराबोर हो गया, अतएव प्रणाम किया.

किसी तरहकी कामना होनेसे ही मनुष्य कुछ श्रम करता है. जहां तक सिद्धि नहीं होती तब तक हृदय उस कामनासे कुछ साकांक्ष और अपूर्ण रहता है.

ऐसे समय यदि आनन्दानुरूप फलकी प्राप्ति हो जाय तो, फिर जितना चाहिए था उससे भी अधिक फल मिल जाय तब तो, तप करने वालेका हृदय आनन्दसे परिप्लुत हो जाता है. जिस प्रकार नदीमें महापूर आने पर छोटे-छोटे गड्ढे भर जाकर एकदम उभरने लगते हैं. इसी तरहकी स्थिति ब्रह्माकी भी हुई. उसका भी चित्त पूर्वमें कामनासे इच्छावाला और अपूर्ण था, किन्तु जब चाहनासे भी अधिक सपरिकर उसको सामग्री सहित भगवान्का दर्शनरूप फल मिल गया, तब तो हर्ष भारसे चित्त उभर पाया और इसीसे ब्रह्माको कुछ बोलनेका भी सामर्थ्य थोड़ी देर न रहा.

आनन्दने जब अन्तःकरणके कोने-कोनेको भर दिया तब वह बाहर भी प्रवाहित होता चला सो कहते हैं: 'हृष्यन्तनुः' शरीर हर्षसे रोमाञ्चित हो गया. ऐसी अवस्थामें ज्ञानशक्ति भी आनन्दमें डूब गई. अत: अन्य फलको भी उसने न होने दिया यह स्पष्ट करनेकेलिए 'प्रेमभराश्रुलोचनः' कहा. प्रेमप्रवाहसे उत्पन्न हुए ब्रह्माके नेत्रोंमें भर गये. पहले भी ब्रह्माका भगवान्में प्रेम था पर प्रवाह आनेसे जब हृदयरूप आधार पूरा-पूरा भर गया तब वहांसे निकलकर वह आनन्द नेत्रोंमें आया. नेत्र ज्ञानोत्पत्तिमें सहायक हैं. अतएव वहां उसका परिचय कराकर उनके द्वारा जलरूपसे निकल पड़ा. प्रेमका भार जब बढ़ा तब भार न सहनेसे पसीना भी हुवे. सर्वदा आनेका इनका स्वभाव नहीं है, इसलिए 'अश्रु' शब्दका प्रयोग किया है. ऐसी अवस्थामें ब्रह्माको अन्य कर्तव्यकी कुछ सूझ न पड़ी, तब भगवच्चरणोंके आगे नम्र हो गया. प्रणाम भी भक्तिमार्गके अनुसार किया, इसलिए 'पादाम्बुज' कहा. ब्रह्माको जिस रूपके दर्शन करनेकी आकांक्षा थी उसीके चरणोंके आगे प्रणाम किया, यह दिखानेकेलिए 'अस्य' इस सामान्य शब्दका प्रयोग किया. अपेक्षाको दिखाते हैं 'विश्वसृक्'. ब्रह्माको विश्वकी रचना करनी है अतएव विश्वके मूल रूपको देखनेकी अपेक्षा थी. सो उसकी पूर्ति भगवान्ने कर दी. यहां एक यह प्रश्न हो सकता था कि दर्शन हो जाने पर सायुज्य(अभेदभाव-ऐक्य) क्यों न हो गया? नमन ही कैसे किया? इस प्रश्नका भी उत्तर 'विश्वसृक्' पदसे दे दिया. फलदान करना भगवान्ने अपने हाथमें रखा है. ब्रह्माको भगवान्ने विश्वरचना करनेकेलिए उत्पन्न किया है, यह विश्वरचना करनेका अधिकारी है, अतएव इससे काम लेनेकेलिए सायुज्य न दिया गया.

फिर भी आशंका रहती है, कि भगवच्चरणारविन्द तो सबके प्रति समान हैं और समर्थ भी हैं, तो फिर भले विश्वरचना करनेका अधिकार रहा आवे,

सायुज्य क्यों न मिला? इसका समाधान करते हैं कि 'यत् पारमहंस्येन' इत्यादि. परमहंस(ज्ञान) मार्गसे ही दर्शन प्राप्त होने पर उसको प्राप्ति(सायुज्य-एकता) होती है, सो यहां कुछ है नहीं. ब्रह्माका मार्ग ग्रहणका है, परमहंसोंका मार्ग त्यागका है. वे लोग विश्वको विश्वरूपमें त्यागना चाहते हैं और ब्रह्मा विश्वका उस रूपमें ग्रहण करना चाहता है, इसलिए भगवत्साक्षात्कार हो जाने पर भी इसको सायुज्य न मिला।।१७।।

आभासार्थ: इस तरह नमस्कार करके जब ब्रह्माजी चुप हो गये और कुछ भी बोल न सके, तब स्वयं भगवान्ने ही ब्रह्माके मनकी बातको बाहर प्रकाशित की:

तं प्रीयमाणं समवस्थितं तदा प्रजाविसर्गे निजशासनार्हणम् ।
बभाष ईषत् स्मितशोचिषा गिरा प्रियः प्रियं प्रीतमनाः करे स्पृशन् ।।१८।।

श्लोकार्थ: भगवान्के दर्शन पा जानेसे ब्रह्मा प्रसन्न हो रहे थे और प्रजाका निर्माण करनेकेलिए तैयार बैठे थे, ऐसे समय सर्वप्रिय भगवान् अपनी आज्ञाका पालन करने योग्य और अपने प्रिय ब्रह्मासे उसके हाथका स्पर्श करते हुए कुछ हंसनेसे प्रकाशवाली वाणीसे बोले।।१८।।

व्याख्यार्थ: कार्यके सम्पादनमें तीनकी अपेक्षा रहती है: साधन, फल और प्रकार की. यहां भगवान्को ब्रह्माके द्वारा विश्वरचना करानी है. विश्वरचना हो जाना यह फल है, तदर्थ साधनोंकी सम्पत्ति भगवान्ने अपने स्वरूपमें दिखा दी. अब प्रकार बाकी रहता है. उसके लिये कहते हैं कि 'यत्र' इत्यादि. पूर्वोक्त साधन सम्पादनका और ब्रह्मासे भाषण करनेका तात्पर्य कहते हैं कि जिस विषयमें साधन और फल दोनों सम्पादन करके हृदयमें रख लिये हैं, उस विषयमें प्रकार कुछका कुछ न हो जाय, हमारा अभीष्ट ही प्रकार है, इसलिए और विश्व रचना रूप फलकी सिद्धिकेलिए ही यह पूर्वोक्त साधन, दर्शन और भाषण ब्रह्माको उत्साह दिलाना है. यदि ये सब अभीष्ट न होता तो भगवान् चुप ही रहते. किन्तु नहीं, भगवान्ने उसका स्पर्श करके भाषण करते हुए ब्रह्माका उत्साह बढ़ाया ही. ब्रह्माने भी उत्साह सम्पन्न होकर भगवत्सम्पादित साधनोंमें जो कुछ अपना इच्छित प्रयोजन था. उसे आगे जाकर कहा. भगवान् उस पर प्रसन्न थे अतएव पहले करें पीछे भी जो-जो ब्रह्माने चाहा सो सब दिया.

यद्यपि भगवान्ने अपने लोक और सपरिकर स्वरूपमें विश्वरचनाके

साधनोंका दर्शन ब्रह्माको करा दिया है, तथापि लोकरीतिसे जहां तक इस विषयमें उपदेश न करे वहां तक ब्रह्मा भी भगवान्‌के अभीष्ट प्रकारसे विश्वकी रचना नहीं कर सकता. इसलिए भगवान्‌ने चार श्लोकमें परोक्ष भाषा द्‌वारा साधन सम्पादनका भी उपदेश कर दिया. अब तो अपने इच्छित कार्यके विषयमें वर याचना बाकी थी, सो उसकेलिए भगवान्‌ने इसके हृदयमें प्रेरणा की. यदि भगवान् अपने इच्छित कार्यानुसार प्रेरणा न करते तो कार्य कराना भगवान्‌का अभीष्ट रहते भी ब्रह्मा तो आज्ञाके परवश होकर जबरदस्ती करता, इसमें प्रकारांतरसे हो जानेकी सम्भावना थी. पदार्थोंका दर्शन कर लेने पर भी, समझ लेने पर भी विश्व रचनाका प्रकार कुछका कुछ हो जाता. इसलिए भगवान्‌की यह इच्छा हुई कि मेरी इच्छाके सदृश इच्छा ब्रह्माके हृदयमें पैदा कराकर उसके द्‌वारा ही अपना इच्छित कार्य कराना उचित है. बस इस भगवदिच्छासे ही ब्रह्मा कुछ बोल न सका. 'प्रियमाणं समवस्थितं'. भगवान्‌ने जब ब्रह्माको दर्शन दिये तब भगवद्‌वस्तुके महत्त्वसे हो, चाहे भगवान्‌के साथ सम्बन्ध रहनेसे हो, किंवा अपने इच्छित मनोरथकी सिद्धि हो जानेसे हो, किसी तरहसे भी हो, पर ब्रह्माजी उस समय भगवान्‌के दर्शन करके खूब ही प्रीति युक्त हो रहे थे. तपका श्रम कुछ न रहा. स्वस्थ हो कर बैठे थे. यदि प्रसन्न और स्वस्थ न रहते तो भगवान् आज्ञा ही न करते. अतएव मानना पड़ेगा कि ब्रह्माजी उस समय सर्व दोष रहित हो चुके थे. ऐसे समय भगवान् उससे बोले. पहले कुछ हृदयमें क्लेश था भी, पर भगवान्‌के दर्शन कर लेनेसे सब क्लेश दूर हो चुका था.

क्लेश रहित और सुखी स्वस्थ होकर जब बैठे तब ही भगवान्‌ने समझा कि प्रजानिर्माणकेलिए हमारी आज्ञाका पालन करनेका सामर्थ्य इसमें है. इस तरहके ब्रह्माको देखकर और उसकी स्वरूपयोग्यताको समझकर अपने कार्यमें सहकार करनेकी योग्यता दिखानेकेलिए कुछ बातचीत आरम्भ की. निष्प्रयोजन भी कुछ न कुछ बात करना ही प्रयोजन नहीं था; किन्तु यह बोलना महत्प्रयोजनक था यह दिखानेकेलिए 'गिरा' इस वाणीको करण(साधन) मात्र रखा.

यहां एक यह आशंका होती है कि ब्रह्माने भगवान्‌के दर्शन पा लिये. स्वयं उत्तमाधिकारी तो है ही और फिर ऊपरसे भगवान्‌का प्रवचन सुनेगा तो ब्रह्माको वास्तविक तत्त्वज्ञान हो जाएगा. ऐसी अवस्थामें विश्व रचनाका कार्य भी शिथिल हो जायगा. इसका समाधान करते हैं, कि 'ईषत्स्मित' इत्यादि. विश्ववर्ती

सब ही पदार्थों(वस्तूओं)में एक वास्तविक वस्तु स्वरूप(तत्त्व) पृथक् ही रहता है. उसकी समझ हो जानेसे फिर जीव निकम्मा हो जाता है. भेदभाव जाता रहता है. क्रियायें शिथिल हो जाती हैं. सो न होने पावे, इसलिए भगवान्ने अपने भाषणमें मन्दहासको साथ रखा. भगवान्की मुसक्यान मायाका मोह है, यह पहले कह चुके हैं. यद्यपि भगवान्के वचनामृतसे ब्रह्माको तत्त्वज्ञान हुआ, किन्तु मन्दहाससे कुछ मोह भी रहा. यह 'ईषत्' पदका तात्पर्य है. यद्यपि मायाका मोह सब कुछ भुला देनेकेलिए समर्थ है, तथापि यह जगत्कार्य तो ब्रह्म(भगवान्)की इच्छामात्रसे ही होगा, इसलिए मोहका कार्य अल्प ही हुआ. सामान्य जीवोंके समान एकदम न हुआ. भगवान्ने मन्दहास किया है: हासका क्या स्वरूप है, यह ब्रह्माको समझमें आया अतएव उसको वैराग्यादि होना था, सृष्टि कार्य कैसे हुआ. यह प्रश्न हो सकता है. यह ज्ञान फलपर्यन्त न पहुंचने पाया, क्योंकि 'ईषत्स्मित' था. भले ब्रह्माको वस्तुस्वरूपका ज्ञान हो जावे, पर इसका फल वैराग्य, मोक्ष आदि इस समय न हो, यह मन्दहासका आशय है. फल भी अनेक हैं. उनमें ब्रह्माको मोक्षरूप फल ही न होवे, किन्तु सर्वज्ञपन और अलौकिक तेज भले ही हो, यह 'शोचिष' शब्दका तात्पर्य है. स्मितमें ही है प्रकाश जिसका किंवा स्मितकी तरह है प्रकाश जिसका, यहां दोनों ही समास हो सकते हैं.

जो कार्य असाधारण हों और स्वयं अपने ही करना हो वह दूसरेके हाथ नहीं सौंपा जा सकता, उसे दूसरा नहीं कर सकता. ऐसी आशंका मानकर 'प्रिय' शब्द कहा है. अर्थात् जो अपना प्यारा हो वह उस असाधारण कार्यको ही करता है. विश्वरचना करना यह कार्य केवल भगवान्का ही कर्तव्य है, ब्रह्मा यदि भगवान्को प्रिय न होता तो विश्वरचना नहीं कर सकता था. किन्तु यह भगवान्को प्रिय है. अतएव वह भगवान्के कर्तव्यको ही करता है. इसलिए ब्रह्माको 'प्रिय' कहा. अब यहां यह विचार होता है कि, भगवान्को ब्रह्मा पुत्रादि सम्बन्धसे प्रिय है, किंवा स्वभावसे प्रिय है. दोनोंमेंसे एक भी तरह मानने पर "**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**" (गीता) इस प्रतिज्ञाका विरोध आवेगा. यह शास्त्र तो कह रहा है, मुझे स्वभावसे किंवा सम्बन्धसे कोई प्रिय नहीं है, किन्तु जो कोई भी सुरासुर-मनुष्य आदि मेरा जिस प्रकारसे भजन(सेवा) करते हैं, मैं भी उनका उसी प्रकारसे भजन करता हूं. यहां केवल स्नेह मात्रको कारण कहा है. अतएव यहां भी ब्रह्माको 'प्रिय' कहकर अपने आपको भी 'प्रियः' कहा है. अर्थात् ब्रह्मा

भगवान्में स्नेह करता है, इसलिए प्रतिज्ञानुसार भगवान् भी ब्रह्मामें स्नेह करते हैं. ब्रह्मामें रहा हुआ स्नेह, अपने स्नेहमें कारण कहा. 'प्रियः' इति. इससे 'ये यथा मां' इस प्रतिज्ञाका आशय स्पष्ट कर दिया गया है.

तो भी यहां एक प्रश्न और भी होता है कि जैसे "**उतत्वः पश्यन्नददर्श वाचम्**" के अनुसार साधारण अधिकारी भगवद्वचनोंका साक्षात्कार कर लेता है, तथापि उनके अर्थ किंवा आशयको नहीं जानता. यहां अर्थावगम नहीं होता यह कहा है, वैसे ही वहां भी भगवान्के बोलने पर भी यदि ब्रह्मा उसके अर्थ किंवा आशयको न समझे तो क्या हो? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं 'प्रीतमनः'. भगवत्कर्तव्यको ब्रह्मा करना चाहता है, इसलिए भगवान्का मन प्रसन्न हो गया. इसलिए प्रसादसे ब्रह्माको भगवान्के वाक्योंका अर्थावगम भी हुआ ही. 'करे स्पृशन्' हाथसे हाथको छूकर, इसलिए कहा कि भगवान्ने अपनी क्रियाशक्ति ब्रह्माको प्रदान की. ज्ञानशक्ति तो वाक्योंके द्वारा पहुंच ही जायगी. इस तरहसे क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति दोनों संपत् मिल चुकी तो ब्रह्मा भगवदिच्छित कार्य कर सकेगा, यह भरोसा हो गया।।१८।।

आभासार्थः बाहिर कार्य करनेमें मन स्वतन्त्र नहीं होता किन्तु वाणी बाहरका कार्य कर सकती है, इसलिये अब भगवान्की वाणीका निरूपण करते हैं:

श्रीभगवानुवाच

त्वयाहं तोषितः सम्यग् वेदगर्भ! सिसृक्षया।
चिरं भृतेन तपसा दुस्तोषः कूटयोगिनाम्।।१९।।

श्लोकार्थः हे अन्तर्ज्ञान सम्पन्न! तुमने मुझे विश्व रचना करनेकी इच्छा प्रकट करके और चिरकाल तपस्या करनेसे प्रसन्न कर लिया है, जो कूट योगी उपायचतुर नहीं होते, वे मुझे स्वाभाविक संतोष नहीं पहुंचा सकते।।१६।।

व्याख्यार्थः ब्रह्माने तो विश्वरचनाकेलिये तप किया था, वर मांगनेकेलिये नहीं, फिर भगवान्ने वरदान दिया इसका कारण क्या? इस आशंकाका उत्तर देते हैं कि 'त्वया अहं तोषितः'. 'सिसृक्षा'केलिये जो तप किया बस उसीसे मैं प्रसन्न हो गया हूं. पुराणादि सृष्टिशास्त्रोंका यहि मुख्य सिद्धान्त है कि जो अपने सम्पूर्ण प्रयत्नसे भगवान्की इच्छाके अनुसार कार्य करे वही भगवान्के यहां प्रधान पुरुष समझा जाता है, जो भगवान्की प्रसन्नताकेलिये भगवान्कीसेवा करता है वह मध्यम पुरुष है और जो अपने स्वार्थके लिये ही भगवान्की सेवा करता है वह

अधम है. ब्रह्माने प्रथम पक्षका स्वीकार किया है इसलिये भगवान् उस पर अतिप्रसन्न हुये. कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि यद्यपि तीनों ही भगवान्की सेवा करते हैं तथापि भगवच्चिन्तित कार्यमें साहाय्य करें, पूर्ण प्रयत्न करके भी भगवदिच्छानुसार कार्य करें वह सेवकोंमें उत्तम है. लोक और शास्त्र में भी यही सिद्धान्त स्वीकृत है.

उत्तमश्चिन्तितं कुर्यात् प्रोक्तकारी तु मध्यमः।
अधमोऽश्रद्धया कुर्वन्नकर्तोच्चरितं पितुः ।। नीति
य एषां पुरुषः साक्षाद् आत्मप्रभवम् ईश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः।। (भाग.एका.)

मनुष्य मात्रका पिता भगवान् है. पिताके इच्छित कार्यको करनेवाला उत्तम पुत्र है, कहने पर करने वाला मध्यम, अश्रद्धासे करने वाला अधम है, और न करने वाला तो मूत्रकी तरह त्याज्य है. ब्रह्मा भी भगवान्का आत्मज है अतएव ब्रह्माको आत्मभूः कहते हैं. भगवान्के हृदयमें इच्छा सृष्टि रचना करनेकी है. तदनुसार विश्व रचना करनेकी ब्रह्माके मनमें भी इच्छा हुई और उसकेलिये ब्रह्माने अपने सम्पूर्ण प्रयत्नसे चिरकाल पर्यन्त दुष्कर तप किया तब भगवान् उस पर अति प्रसन्न हुये यह ठीक ही है. अतएव मूलमें 'सम्यक्' कहा है. अर्थात् हे ब्रह्मन्! तुमने मुझे अच्छी तरह प्रसन्न किया है.

यहां यह विचार होता है कि ब्रह्माको इस सिद्धान्तका प्रकाश कैसे हुआ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'वेदगर्भ'. भगवान्ने पहले ही ब्रह्माके हृदयमें वेदोंको पहुंचा दिया है. ब्रह्माके गर्भमें वेद भरे हैं और वेदोंका यह सिद्धान्त है कि सृष्टिके सब ही समझदार पुरुषोंका कर्त्तव्य है कि वे भगवत्कार्य करें. विश्वरचना करना यह इस समय भगवान्का कार्य है. उसीको ब्रह्मा भी करना चाहता है, यही बात वेदोंमें कही गई है. "**प्रजापतिः अकामयत**" इत्यादि. प्रजापतिने चाहा कि मैं प्रजाकी रचना करूं. ऋतुओंकी अभिमानी देवताओंने प्रजाकी चाहना की. उन्हें प्रजा(विश्व) न मिली, तब उन्होंने मिलकर उद्योग किया, 'हम प्रजा पैदा करें' इत्यादि. सृष्टिमें वर्तमान यह यज्ञकर्ता पुरुष अपने सर्वस्वरूप वीर्यको विश्वरचनामें ही लगाता चला आ रहा है. विश्वरचना भगवत्कार्य है इन श्रुतियोंमें विश्वरचनाकी ही चर्चा है, व्यक्तिगत पुत्रोत्पादन स्वार्थकी नहीं. व्यक्तिगत पुत्रोत्पादन स्वार्थ सेवा है, और विश्वरचना भगवत्कार्य है, भगवत्सेवा है. कितने ही मीमांसक "**रेतः**

सिश्चति'' इन श्लिष्ट शब्दोंको देखकर उन श्रुतियोंका अर्थ लौकिक पुत्रोत्पादनमें ले जाते हैं, यह उनका भ्रम है. यदि ये श्रुतियां लौकिक बातको ही कहती तो अनुवाद हो जानेसे अप्रमाण हो जाती. अनुवादमें स्वतंत्र प्रामाण्य नहीं होता. अतएव 'गर्भ' शब्द दिया है, इसका तात्पर्य यह है कि जो लोग ऊपर-ऊपरसे ही वेदको जानते हैं वे उसके अन्तर्वर्ती आशयको नहीं जानते. उनका सिद्धान्त ग्राह्य नहीं है. ब्रह्माको ही वेदोंका स्थिर ज्ञान है, तदन्य पुरुषोंकी बुद्धिमें जो वेद(ज्ञान) आया है वह अनित्य है. पूर्वोक्त सिद्धान्त पुराणोंसे पुष्ट हुआ है, निर्बल नहीं है.

भगवान् आज्ञा करते हैं कि ब्रह्मन! तुम्हारे हृदयमें विश्व रचना करनेकी इच्छा हुई, बस इतनेसे ही मैं प्रसन्न हो चुका था. उस पर भी फिर जो तुमने तप रूप महान क्लेश सहा, इससे तो मैं बहुत ही संतुष्ट हुआ हूं. यह बात 'चिरं भृतेन तपसा' वाक्यसे कही. भगवान्को सन्तोष होनेमें पृथक्-पृथक् दो कारण कहे १.विश्व रचनाकी इच्छा और २.बहुत काल तपस्या. इसमें विश्वरचनेच्छा मुख्य कारण है, क्योंकि यदि ब्रह्माके हृदयमें सृष्टि रचनेकी इच्छा पैदा न होती तो केवल तप करनेसे भगवान् प्रसन्न होते या न भी होते. अतएव 'सिसृक्षया' वहां* ही अंग हो जाती है तथापि सिसृक्षा मुख्य तो है ही इसलिये 'सिसृक्षया' यह हेतु पृथक् कहा. इन्द्रियों-वृत्तियोंको सन्तापके द्वारा नियमित कर देना ही तप कहा जाता है. वह समूहात्मक एक बारमें ही पैदा होता है. बीच-बीचमें कुछ अन्तर पड़ जानेसे उसके तिरोभावकी आशंका रहती है, किन्तु साधकके प्रयत्नसे यदि वह निरंतर चलता रहे, तिरोभावको प्राप्त न हो, तो बहुत उत्कर्षको प्राप्त होता है. ठहर-ठहर कर किया गया तप तो शुष्क तपकी तरह व्यर्थ ही है. ऐसे तपसे कुछ संस्कार जमा रहे यह हो सकता है, किन्तु उससे फलकी प्राप्ति होना अशक्य है. ब्रह्माके तपको कोई ऐसा न समझले इसलिये 'चिरं भृतेन' तपस्याके बीचमें (मध्य में) अन्य प्रयत्नसे रहित एक ही तप देहको नियमित बनाता हुआ, जीवका भगवत्कार्यमें अधिकार सम्पादन करता है, अतएव भगवान्को सन्तोष पहुंचाया और विशेष सामर्थ्य कर दिया. इसलिये तपको दीर्घ काल पर्यन्त चलता रखना चाहिये, इत्यादि जो शास्त्रके वाक्य हैं वे ठीक हैं.

(*.सिसृक्षार्थं तपः कृतमिति परार्थत्वात् सिसृक्षा मुख्यमङ्गीत्यर्थः तपस्त्वङ्गम्. तथापि सुबोधिन्यां 'तत्रेवाङ्गं भवतीति' उच्यते. सिसृक्षा मुख्यमित्यपि उच्यते. तत्रेवेत्यनेन तपो गृहीते अङ्गी भवतीति पंक्तेराशयो नावगम्यते. दे.र.ना.)

यहां ब्रह्माको एक आशंका हो सकती है, कि मेरे केवल तप करने मात्रसे भगवान्को सन्तोष हुआ है, और सिसृक्षाकी चर्चा तो भगवान्ने मुझे खुश करने केलिये की है. ऐसी ब्रह्माकी बुद्धि न हो जाय, इसलिये इस बुद्धिको दूर करने केलिये कहते हैं कि 'दुस्तोषः कूटयोगिनाम्'. तपको धारण करनेकेलिये योगकी अपेक्षा है. चित्तवृत्तिकी एकाग्रता अपेक्षित है. सिसृक्षाकी एकाग्रता तपको धारण करनेका आधार है. विश्वरचना करनेकी इच्छा भगवत्कार्य है. इसलिये जो योगिजन भगवत्कार्य नहीं करते, केवल निराधार श्रम मात्र करते हैं, वे वास्तविक तपस्वी नहीं कहे जा सकते. तपका स्वरूप आगे स्पष्ट कहेंगे. जिस योगमें तप न हो वह शून्य ही है. ऐसा योग भ्रमसे तपः सहित मालूम देता है. ऐसे योगी कूट(झूठे) योगी कहे जाते हैं. भगवान् कहते हैं कि ऐसे योगियोंसे मैं दुस्तोष हूं. अर्थात् दुःखसे प्रसन्न होता हूं. पश्चात्तापका दुःख बना रहता है. प्रसन्न भी होना पड़ता है, क्योंकि उनका वह योग–एकाग्रहता जबरदस्तीका है हठका है. अतएव ये विचारे अपने देहको व्यर्थ ही पीड़ा दे रहे हैं, और देते रहेंगे भी इसलिये उनके देह पर दया खाते हुवे मुझे प्रसन्न होना पड़ता है. जैसे कोई किसीके यहां धरना(खाये पिये बिना) देकर बैठ जाये, और तो फिर उसे दुःखी देखकर बे मनसे भी उसका कहा करना पड़ता है. इसी तरह।।१९।।

आभासार्थः अब भगवान् ब्रह्माको वर मांगनेकेलिये प्रेरणा करते हैं:

वरं वरय भद्रं ते वरेशम् अभिवाञ्छितम्।
ब्रह्मन् श्रेयःपरिश्रामः पुंसां मद्दर्शनावधिः।।२०।।

श्लोकार्थः हे ब्रह्मन्! मैं सब पुरुषार्थोंको देनेवाला हूं इसलिए जो तुम्हारी इच्छामें आवै वैसा वर मांग लो. तुम्हारा श्रेय होगा. साधक लोग जो श्रेयकेलिये परिश्रम करते हैं वो परिश्रम मेरे दर्शन होनेके पहले–पहले है दर्शन होनेके अनन्तर सब परिश्रम दूर हो जाता है।।२०।।

व्याख्यार्थः वरकी इच्छासे ही कार्य करते रहना चाहिये. किन्तु वर तो अपनी इच्छाका पदार्थ है; इसलिये कामना करनेसे मेरा नाश न हो जाय, ऐसी शङ्का मत करो. 'भद्रं ते' तुम्हारा कल्याण होगा. भले तुम वर मांगो, तुम्हें मैं तुम्हारी इच्छाके अनुसार वर दूंगा. फिर भी तुम्हारी कुछ भी हानि नहीं होगी, तुम्हारा श्रेय ही होगा. चिन्ता करनेकी कोई बात ही नहीं है; क्योंकि मैं जानता हूं कि उस वरका उपयोग तुम मेरे कार्यमें ही करोगे. वर मांगना मेरे स्वरूपप्राप्ति

पर्यन्तका हो सकता है. इन सब वरोंके दान करनेका सामर्थ्य अन्य किसीमें भी नहीं है; इसलिये वह सामर्थ्य मैंने अपने हस्तमें ही रखी है. अन्य देवगण भी वर देते हैं पर उनके दिये हुये वर, वर नहीं वराभास हैं, क्योंकि उनसे उन लोगोंकी इच्छापूर्ति नहीं होती. इच्छाका दुःख दुगना-चौगुना होकर लगा रहता है और उनके दिये हुये वरका सुख, दुःखमिश्रित ही रहता है. इसलिये ऐसा वर देनेवाले वे वरेश नहीं पर वराभासेश हैं, झूठे योगियोंकी तरह. इसलिये वरका विशेषण 'अभिवाञ्छित' कहा है. अर्थात् यह वर तुम्हारी इच्छाके अनुकूल हो और वास्तवमें श्रेष्ठ हो.

यहां एक प्रश्न होता है कि इस समय जो आपका संतोष हुआ है, वह तप करनेसे हुआ है. तो फिर अब जब कभी मुझे कुछ चाहना होगा तो पुनः तप करनेसे उसकी प्राप्ति हो जायेगी, वर मांगनेका क्या प्रयोजन है? इसका उत्तर देते हैं कि 'ब्रह्मन् श्रेयः परिश्राम' इत्यादि. श्रेयकेलिये जो परिश्रम करते हैं, वह मेरे दर्शन कर लेने पर्यन्त होता है. अर्थात् मेरे दर्शन कर लेनेके बाद उसके सब श्रेय पूर्ण हो जाते हैं, उसका कोई भी कल्याण बाकी नहीं रहता. फिर उसे अपने कल्याणकेलिये परिश्रम नहीं करना पड़ता. तात्पर्य यह है कि ब्रह्मा एक तुम ही नहीं, पर कोई भी पुरुष यदि मेरे दर्शन कर ले तो फिर उसे भी अपने कल्याणके लिये श्रम नहीं करना पड़ता. 'मद्दर्शन'का अर्थ पुरुषोत्तमदर्शन है; पुरुषदर्शन या अवतारदर्शन नहीं. अर्थात् पुरुष(अक्षरादि) किंवा वामनादि अवतारोंका दर्शन कर लेने पर नहीं; किन्तु पुरुषोत्तमके दर्शन हो जानेके बाद जीवको कुछ परिश्रम नहीं करना पड़ता. इसलिये तृतीय स्कंध आदिमें जहां "**भूयस्त्वं तप आतिष्ठ**" इत्यादि भगवान्ने कहा है, वहां कहनेवाले पुरुषोत्तम नहीं हैं, पर उनके अवतार पुरुष हैं. वे शेषशायी भगवान् पुरुषावतार हैं. पाद्म(कला)सृष्टि द्वारक है, और ब्राह्मसृष्टि पुरुषोत्तम द्वारक है. इस तरह अन्य स्थलोंमें भी विरोधका परिहार कर लेना चाहिये।।२०।।

आभासार्थः यहां एक यह आशंका होती है कि और तरहसे यदि अपना मतलब सिद्ध हो जाता हो तो फिर बड़े लोगोंसे भीख क्यों मांगनी चाहिये? बहुतसे लोग उद्योग करने पर परिश्रमसे अपने इच्छित पदार्थकी प्राप्ति करते देखे ही गये हैं. इस आशंकाका उत्तर देते हैं कि यह तुम्हारा इच्छित पदार्थ अन्य प्रकारसे सिद्ध नहीं हो सकता. इसके पहले जो मेरे लोक रूपमें भी जो विश्वसम्बधि पदार्थोंकी

उत्पत्ति हुई है, वह तुम्हारे तप करनेसे नहीं हुई है, पर ऐसी मेरी ही इच्छा थी. यह कहते हैं:

मनीषितानुभावोऽयं मम लोकावलोकनम्।
यदुपश्रुत्य रहसि चकर्थ परमं तपः॥२१॥

श्लोकार्थ: मेरी आज्ञाको सुनकर जो तुमने एकान्तमें बैठकर परम तपस्या की और फिर जो मेरे लोक व्यापिवैकुण्ठका दर्शन किया यह सब मेरी इच्छाका ही प्रभाव है. तुम्हारा तप और मेरे लोकका दर्शन दोनों मेरी इच्छासे हुआ है.*

(*.२०-२१ दोनों श्लोकोंसे यह सिद्धान्त स्पष्ट होता है कि साक्षात् प्रकट होकर यदि भगवान् आज्ञा करें तब ही सेवक भगवान्से याचना करे अन्यथा कभी भी किसी तरहकी प्रार्थना प्रभुसे न करे.)

व्याख्यार्थ: मेरे मनोरथका यह प्रभाव है. मेरी ही यह इच्छा हुई कि यह ब्रह्मा मेरे लोकका दर्शन करले. यदि मेरी ऐसी इच्छा न होती तो अक्षरब्रह्मात्मक मेरे लोकका नेत्रोंसे दर्शन हजार उपाय करनेसे भी नहीं होते. यह तो प्रमेय-सामर्थ्य है. प्रमाणबलमें तो ऐसा वेदवाक्य है कि "**पराञ्चि खानि**" अर्थात् भगवान्ने चक्षु आदि इन्द्रियोंको बाह्य पदार्थोंको देखनेवाली बना दी. अतएव जीवेन्द्रियां बाहर देखती हैं. आत्मामें आये हुये पदार्थोंको नहीं देख सकती. वास्तवमें देखा जाय तो लौकिकेन्द्रियां बाह्य पदार्थोंको भी सम्पूर्ण रीतिसे नहीं देख सकती. जितनी उनकी योग्यता है उतना ही देख सकती हैं. योगी लोगोंकी आंखें भी अपने चक्षुबलसे आकाशको नहीं देख सकते. आकाश ही स्वयं ऐसा पदार्थ है, जो स्वयं सबकी आंखोंमें आ जाता है.

यदि कोई कहे कि असामर्थ्य रहने पर भी तप आदिका सामर्थ्य आ जानेसे फिर आंखें देख सकती हैं. यह भी ठीक नहीं है. सामर्थ्याधान भी अक्षरके पूर्व-पूर्वके पदार्थोंको दिखा सकता है; किन्तु अक्षरब्रह्मस्थ पदार्थोंका दर्शन विपुल सामर्थ्यसे भी नहीं हो सकता.

यहां एक यह आशंका हो सकती है कि भगवान्की इच्छा होने पर भी ऐसा क्यों हुआ? तप और इच्छा दोनों ही भगवान्की शक्तियां हैं, तुल्य हैं. फिर तप करनेसे तो दर्शन नहीं हो सकते और इच्छा होनेसे हो सकते हैं, यह क्यों? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'अनुभाव: अयम्' समान शक्ति होने. यह कार्य केवल मेरी इच्छासे ही नहीं हुआ है, किन्तु यह इच्छाका अभाव है. सब शक्तियोंके

मध्यमें इच्छाशक्ति सर्वोत्कृष्ट है. इच्छाशक्ति सबका मूल है. अन्य शक्तियां तो इच्छा शक्तिके अधीन हैं, साध्य हैं. इसलिये यह ठीक है कि मेरे लोकका जो दर्शन हुआ है, वह मेरी इच्छाका ही प्रभाव है. इच्छाका प्रभाव पृथक् है और सर्वोत्कृष्ट है.

अब यदि कोई कहे कि इच्छासे ही भगवल्लोकका दर्शन हुआ तो फिर ब्रह्माका तप करना व्यर्थ हुआ? और यदि ऐसा ही था तो फिर तप करनेके पहले ही उसे वैकुण्ठ दर्शन क्यों न हो गया? इसलिये मानना पड़ेगा कि वैसी इच्छाको पैदा करनेकेलिये किंवा स्वतन्त्ररीतिसे भगवल्लोक दर्शनका कारण होनेसे तप भी यहां कहना था. इसका उत्तर कहते हैं कि 'यदुपश्रुत्य' तप करनेकी आज्ञा मैंने ही दी थी. जिस समय तुम्हारी दृष्टिमें कुछ नहीं आता था, उस समय 'तप तप' इन शब्दोंको सुनकर उसी शून्य अवस्थामें तुमने परम तप किया था. 'रहसि' यह विशेषण आगे-पीछे दोनों बार लगाया है. इसका यह तात्पर्य है कि जिस समय 'तप तप' यह शब्द सुना तब एकान्त था, कोई दूसरा था ही नहीं, इसलिये यह शब्द भगवान्का ही था, यह विश्वास हो जाय. और तदन्तर एकान्तका यह तात्पर्य है कि एकान्तमें किया हुया तप स्थिर रहता है. सबको विदित हो जानेसे बड़ाई होती है और उससे उसका नाश हो जाता है. यह तप स्वरूप और फल दोनों दृष्टियोंसे उत्कृष्ट हुआ, इसलिये 'परमं' कहा, और ऐसा होना भी भगवान्की इच्छाका ही प्रभाव था।।२१।।

आभासार्थ: ऐसी अवस्थामें जब आपने ही तपकी आज्ञा की तो फिर लोकावलोकनमें आपकी इच्छा कहां रही? आपकी आज्ञानुसार तप किया और तपसे दर्शन हुये. इसका उत्तर कहते हैं:

प्रत्यादिष्टं मया तत्र त्वयि कर्मविमोहिते।
तपो मे हृदयं साक्षाद् आत्माहं तपसोऽनघ!।।२२।।

श्लोकार्थ: हे अनघ(निष्पाप) ब्रह्मन्! तुम जिस समय कर्तव्यविमूढ़ हो रहे थे, तब मैंने ही तप करनेकी आज्ञा दी. इससे तपके द्वारा दर्शन देना, यह मेरा ही मतलब था. तप मेरा हृदय है, और तपका आत्मा भी मैं हूं।।२२।।

व्याख्यार्थ: ब्रह्मा अपने कर्त्तव्यसे ही बेखबर थे. विश्व रचना करनेकेलिये व्याकुल तो थे, किन्तु उन्हें प्रयोजनका सन्देह हो रहा था कि क्या अपनेलिये विश्व बनाऊं या दूसरोंके लिये बनाऊं? तब प्रयोजनके सन्देहको दूर करनेकेलिये

तपकी आज्ञा हुई. कार्यकेलिये नहीं, अर्थात् तपसे प्रयोजनका सन्देह दूर हो गया, पर कार्य करनेकी शक्ति तो भगवन्मनीषितसे प्राप्त हुई. इस तरह तपका प्रयोजन कहकर, अब तकका स्वरूप कहते हैंः 'तपो मे हृदयम्'. जैसे भगवान् ऐश्वर्यादि छह गुणवाले हैं, इसी प्रकार तप भी ऐश्वर्यादि छह गुणवाला है. इस तरह जब तपके षट् गुण आदिकी समझ हो जाती है, तब फिर तपसे क्या हो सकता है? यह आशंका अपने आप दूर हो जाती है. अर्थात् जैसे भगवान् सब कुछ कर सकते हैं, इसी तरह तप भी सब कुछ कर सकता है, यह विश्वास हो जाता है. 'तप मेरा हृदय है'. अन्तरङ्ग शक्ति है. 'साक्षात्' कहनेसे बढ़ाकर कहनेकी आशंका दूर कर दी गई है. अर्थात् तप साक्षात् भगवान् स्वरूप ही है. ''**यस्य ज्ञान मयं तपः**'' जिस भगवान्का तप ज्ञानमय है इस वाक्यमें हृदयको ज्ञान–तपोमय कहा है. भगवान्का हृदय ज्ञानका वैभव(ऐश्वर्य) है. तपका उपादान भी भगवान् ही है. जिस तरह भगवान्का स्वरूप उपादान होता है, उसी तरह भगवान्के धर्म भी उपादान होते हैं. सारा जगत् भगवत्स्वरूपोपादानक है, किन्तु यहां स्वरूपकी तरह धर्म भी तपो रूपमें कार्योपादान हुआ है. इसलिये उस दृष्टिसे उसे आत्मा कहा है. इसका तात्पर्य यह होता है कि जो कार्य भगवान् कर सकते हैं, उसे तप भी कर सकता है, क्योंकि अवतारोंकी तरह भगवान्का ही एक रूपान्तर तप है।।२२।।

आभासार्थः फिर भी यहां एक विचार होता है कि क्या भगवान्के बराबर ही तपका भी सामर्थ्य हो सकता है? भगवान् तो सब जगत्का कर्ता है. क्या तप भी विश्वरचना कर सकता है? वहां कहते हैं 'सृजामि बिभर्मि' इत्यादिः

सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः।
बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुःसहं तपः।।२३।।

श्लोकार्थः मैं तपसे सब जगत्को सृजता हूं, फिर तपसे रक्षण करता हूं, और तपसे ही इसका प्रलय करता हूं; इसलिये यह तप मेरा दुःसह पराक्रम है।।२३।।

व्याख्यार्थः यद्यपि सृष्टिरचनामें तप करण(साधन) ही है तथापि करणादि कारक भी अपने व्यापारमें कर्ता हो जाते हैं इस नियमसे वह कर्ता भी है. इस तरह तपका स्वरूप और उसके कार्य कह दिये. ऐसी अवस्थामें भगवान् और तप दोनों समान हो जाते हैं. तो फिर यह आशंका बनी ही रहती है कि विश्वरचना कार्यमें एकसे ही काम चल जायगा, दोकी क्या अपेक्षा है? या तो तप व्यर्थ है, या

भगवान् व्यर्थ है. इसका समाधान करते हैं कि 'वीर्यम्' अर्थात् तप तो मेरा पराक्रम रूप धर्म है. मेरा धर्म ही कहीं-कहीं धर्मी हो जाता है, यह बात दूसरी है. किन्तु वास्तवमें धर्मसे धर्मी मैं तो जुदा ही हूं. कार्यसाधक धर्मसे धर्मी व्यर्थ नहीं हो सकता, और न वह साधन भी व्यर्थ हो सकता है. अपने-अपने व्यापारमें दोनों ही अपेक्षित हैं. धर्मोंके रहते भी उनके उपजीव्य आश्रय किंवा प्रेरणा कर्ताकी अपेक्षा अवश्य है, इसलिये यह सिद्ध है कि तप भी मेरा ही रूपान्तर है. जब मैंने तप करनेकी आज्ञा दी थी तब भी स्वरूपका ही उपदेश किया था, यह समझना चाहिये. दोनोंमें बस इतना फरक है कि कुछ मेरा स्वरूप क्रियाके द्वारा प्रकाशमें आता है, और कुछ स्वरूप ज्ञानके द्वारा प्रकाशित होता है. तप रूप तो क्रियाके द्वारा ही प्रकाशित होता है, इसलिये जिसे करनेकेलिये मैंने उपदेश दिया है, उस तपसे जो होता है वह मुझसे ही होता है. इस भेदको समझकर तुम्हें भी बहुत आग्रह करना उचित नहीं है।।२३।।

आभासार्थ: इस तरह जब भगवान्ने युक्तिप्रदर्शन पूर्वक ब्रह्माको वर मांगनेकेलिये आज्ञा की तब ब्रह्मा भी पहली आज्ञामें जो उसे भूलसे दोष मालूम दिया था उसका परिहार करता हुआ वरको प्रार्थना करता है: 'भगवान् सर्वभूतानां' इत्यादि पांच श्लोकोंसे:

ब्रह्मोवाच

भगवन् सर्वभूतानाम् अध्यक्षोऽवस्थितो गुहाम्।
वेद ह्यप्रतिरुद्धेन प्रज्ञानेन चिकीर्षितम्।।२४।।
तथापि नाथमानस्य नाथ नाथय नाथितम्।
परावरे यथा रूपे जानीयां ते त्वरूपिणः।।२५।।
यथात्ममायायोगेन नानाशक्त्युपबृंहितम्।
विलुम्पन् विसृजन् गृह्णन् बिभ्रद् आत्मानम् आत्मना।।२६।।
क्रीडस्यमोघसङ्कल्प ऊर्णनाभिर्यथोर्णुते।
तथा तद्विषयां धेहि मनीषां मयि माधव।।२७।।
भगवच्छिक्षितम् अहं करवाणि ह्यतन्द्रितः।
नेहमानः प्रजासर्ग बध्येयं यदनुग्रहात्।।२८।।

श्लोकार्थ: हे भगवन्! आप सब प्राणियोंके साथी हो. अतएव प्रत्येकके हृदयाकाशमें विराजते हो, और मेरे भी. अतएव अपने अनिवार्य विज्ञानके द्वारा

मेरे कर्त्तव्यकी इच्छाको भी जान ही रहे हो. तथापि जो कुछ मैं मांगू, उसे पूरी करो. मेरी यह याचना है कि अरूपी आपके दो रूप हैं. एक असङ्ग, सबसे अलग रहने वाला, और दूसरा ससङ्ग, सबके समझमें आ सके ऐसा. इन दोनों रूपोंको पर और अपर कहते हैं. अतएव पहली मांग तो यह है कि मैं आपके इन दोनों रूपोंको समझ जाऊं. दूसरा यह है कि आप अपनी निज शक्तिको सम्मिलित रखकर उसकी अवान्तर अनेक शक्तियोंसे युक्त होकर इस आत्मरूप जगत्को अपने आप ही कभी छिपा लेते हो, कभी बाहर छोड़ देते हो, कभी ग्रहण करते हो, कभी पोषण पहुंचाते हो. इस तरह अव्यर्थ इच्छा वाले आप जैसे मकड़ी अपने जालेसे खेल करती है उसी तरह आप भी खेल करते रहते हो. मैं चाहता तो हूं कि हे ऐश्वर्यपति! इन सब विषयोंकी बुद्धि मुझमें भी धर दी जावे. और एक यह भी प्रार्थना है कि प्रजासर्गके विषयमें आप मुझे कुछ शिक्षा दीजिये. आपकी शिक्षाको मैं सावधान रहकर पालन करूंगा, और जिस सिखावनके अनुग्रहसे मैं विश्वरचना करते समय उस कार्यमें आसक्त हो न जाऊं।।२४-२८।।

व्याख्यार्थ: इस वाक्यसमूहसे ब्रह्माने चार पदार्थ चाहे हैं. उनमें पहली प्रार्थना दोष दूर करनेके विषयकी है. सो कहता है कि 'हे भगवन्!' पहले सहसा भगवान्के सामने आ जानेसे वक्ताको कुछ घबराहट हो गई थी, इसलिए कुछ भी बोल न सका. बोलनेका सामर्थ्य दब गया. अब जब आपने बातचीत की और इसका स्पर्श भी किया तब वह सावधान होकर अपनी बातको युक्ति सहित निवेदन करता है. भगवन्! इस सम्बोधनका प्रयोग करके ब्रह्मा यह स्पष्ट करता है कि मैं आपके इस समयके स्वरूपको समझ गया हूं. आप ऐश्वर्यादि युक्त हो. आप सबके आन्तरिक आत्मा हो. सबके हृदयकी बातोंको जानते हो इसलिए जो कुछ मेरा मनोरथ है उसे आप जान ही रहे हो, तो फिर समझी हुई बातको कहना पिसे हुयेको पीसना मात्र है. अब मैं क्या निवेदन करूं? फिर भी यदि आपकी यही इच्छा हो कि 'यह कुछ मांगे तो देऊं' यह बात दूसरी है.

अथवा किसीको यह संदेह हो कि लोक भगवान्का तत्त्व क्यों नहीं जान सकते? तो ब्रह्मा कह सकता है 'भगवन्!' अर्थात् आप भगवान् हैं, इसलिये आपका रहस्य जानना कठिन है. इस पक्षमें भी भगवान्की सर्वज्ञता प्रकट की. अतएव अपना मनोरथ कहनेकी अपेक्षा नहीं है, किन्तु आपकी आज्ञाका पालन करना तो आवश्यक है. यह बात दूसरे श्लोकमें स्वयं कहेगा. अभी तो भगवान्के

विषयमें जो कुछ समझा है उसे प्रकाशित करता है. वर्तमान सब ही पदार्थोंके आप अध्यक्ष हैं. अर्थात् सबको सब कार्योंमें प्रवृत्त करते हो, और सबको अपने नियममें रखते हो. जैसे लोकमें कर्माध्यक्ष होते हैं, इस तरहसे आप सारे विश्वके अध्यक्ष हैं. इससे यह स्पष्ट किया कि भगवान्की आज्ञाके बिना पदार्थोंका कोई भी बाह्य किंवा आन्तर धर्म पैदा नहीं होता. मेरे हृदयमें जो कामना उत्पन्न हुई है, उसे आपने ही पैदाकी है, और अब आप ही उसकी पूर्त्ति भी करोगे. इसका भार मुझ पर नहीं है. अपने पुत्रोंका भरण पोषण सब कोई करता है. और फिर आप सबके हृदयाकाशको अपने स्वरूपसे भरकर बैठे हो, इसलिये आपको सबकी इच्छायें समझमें आ रही हैं. और आगे क्या अपना और क्या सबका कर्त्तव्य है सो भी आप जानते हैं; क्योंकि आपका ज्ञान सर्वोत्कृष्ट है, कालादिसे न रोका जा सके ऐसा है. कार्यको समझनेके समय, कार्यको करनेके समय, और उसके सर्वांशों तक पहुंचनेकेलिये भी किसी अंशमें भी आपके ज्ञानकी कोई भी किसी तरह भी रुकावट नहीं कर सकता. सबकी इच्छाओंको आप ही पैदा करते हैं. जहां इच्छायें पैदा होती हैं, उसी स्थान पर विराजमान रहते हो, अतएव आपका सब कुछ जाना हुआ है. इसीसे न तो आपको कुछ पूछने योग्य है, और न मुझे कुछ कहनेका है, तथापि आपने जो आज्ञाकी उसका पालन करनेके लिये तो कुछ करना ही होगा, सो कहता है, 'तथापि'. केवल एक विनय है कि मेरी याञ्चा योग्य है वा अयोग्य, इसका विचार मत करिये. मैं जो कुछ मांगू उसे कृपा कर दे दीजिये. यहां 'नाथृ' धातु याञ्चा अर्थमें है. मांगा हुआ अवश्य देना ही चाहिये. इसका कारण कहता है कि 'हे नाथ!' सेवकोंको अपने मालिकके सिवाय दूसरी गति ही नहीं है, इसलिये स्वामीका कर्त्तव्य है कि वह अपने सेवककी मांगको दे ही. इस तरह प्रार्थनाका सामान्य स्वरूप कहकर अब दो प्रार्थना विशेष कहता है 'परावरे' इत्यादि. मुझे इस बातका बड़ा सन्देह रहता है कि सर्वश्रेष्ठ आप कौन हैं? और आपसे अश्रेष्ठ पदार्थ क्या हैं? आपका पुरुषोत्तम रूप क्या है? और यह दीखता हुआ रूप क्या है? ये दोनों पर और अवर रूप जानना चाहता हूं. कहनेका तात्पर्य यह है कि पुरुषोत्तम पर रूप और अक्षर अवर रूप, प्रकट अवर रूप और अप्रकट वर रूप, अवतार अपर रूप और अवतारी पररूप –इन सबके स्वरूपको मैं जानना चाहता हूं. आप मुझे ऐसा वर दीजिये कि मैं ये सब कुछ समझ जाऊं.

यदि कोई कहे कि ये सब ईश्वरके रूप तो वेदोंमें ही प्रसिद्ध हैं. वेदके

अनुसन्धान करने पर समझमें आ सकते हैं. वहांसे ही जान लीजिये, वरदान मांगनेकी क्या अपेक्षा है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'ते तु अरूपिणः'. 'तु' शब्द कहता है कि वेदके अन्वेषणसे आपके वास्तविक स्वरूपका बोध होना अशक्य है. वेदमें जितने भी रूपोंका निरूपण है वे सब ईश्वरके हैं. आपका ऐश्वरीय स्वरूप भी एक है. अतएव वेदोक्त वे सब रूप ऐश्वर्य सम्बन्धी ही हैं. ईश्वरके ही हैं. वेदप्रतिपादित सब रूप एक ईश्वरके ही हैं. वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य धर्म सम्बन्धी पांच रूप आपके अन्य भी हैं. इतना होते भी आपका निरूपण पूरा नहीं हो जाता. आप तो अनिरूपित अकथित ही रह जाते हो. मैं इस समय आपके इन धर्म(गुण)सम्बन्धी छहों रूपोंका प्रश्न नहीं कर रहा हूं, किन्तु पर और अवर रूपोंको जानना चाहता हूं. जिस समय आपके निज स्वरूपका अनेक धर्म रूपोंमें बहुभवन हुआ उस समयके वे धर्मरूप छः हों किंवा अनन्त हों, भलें रहें आवें. मुझे उनके विषयमें जिज्ञासा नहीं है.

मैं तो यह जानना चाहता हूं कि जो धर्माकारसे भी कभी प्रकाशित नहीं हुआ है, सर्वथा बुद्धि और शब्द दोनोंसे अभी अस्पृश्य है, उस मूल रूपका जो सर्व श्रेष्ठ स्वरूप है, वह क्या है. वह रूप 'पर' कहा जाता है, और दूसरा अवर रूप वह है जो धर्माकारादि रूपोसे प्रकाशित होनेके अनन्तर जगद्वर्ती सब ही रूपोंके द्वारा सर्वत्र फैल चुका है. इन दोनोंके जानलेनेका वर मैं चाहता हूं. इससे मुझे आपके सर्वादि और सर्वान्तिम रूपका परिज्ञान हो जायगा. और साथमें मुझे यह भी समझमें आ जायगा कि मेरा इतना कर्त्तव्य है. यह समझ हो जाना भी मेरे कर्मका अंग है. क्योंकि यह ज्ञान पदार्थ(कर्मके लिये) है 'शेषः पदार्थत्वात्' इस न्यायके अनुसार 'पर' ज्ञान कर्मका अंग है.

इस तरहसे ब्रह्मा भगवान्के आदिरूप और अन्तिमरूपके ज्ञानकी प्रार्थना करके अब मध्यस्थ सब ही भगवान्के रूपोंको जान लेनेकी प्रार्थना करता है 'यथात्ममाया'. इस तरह भगवत्कृपासे सब ही भगवान्के रूपोंको जब ब्रह्मा जान लेगा, तब उन-उन भगवद्रूपोंके उपयोगकेलिये कौन-कौनसी सृष्टि बनानी होगी यह सुगम हो जायगा. सृष्टिरचना किस तरह करना और कैसी सृष्टि करना यह ज्ञान तो ब्रह्माको पहलेसे है ही, इसलिये वह सृष्टिके ज्ञानकी प्रार्थना नहीं करता. किंवा आगे सृष्टि करनेकी इच्छाके समय एक-एक अंशरूपसे उसकी भी प्रार्थना करेगा. मध्यस्थ रूपोंके ज्ञानकी प्रार्थनाका ही स्वरूपविवरण डेढ़ श्लोकमें है. जिस

प्रकारसे आप अपनी साक्षात् पुरुषोत्तमस्वरूपकी कार्यकारणरूपा, सर्वभवन-सामर्थ्य मायाका सब तरहसे उपयोग करके उस त्रिगुणस्वरूपाके ही तीनों गुणोंके सम्बन्धसे नाना पदार्थ, उत्पत्ति आदि, और अनेक शक्ति आदिको उन भावोंसे युक्त अपने रूपको भी विशेष रूपसे बाहर प्रकाशित करते हैं. शक्ति आदिके सहयोगसे भगवान्का रूप ही विशिष्ट(विशेष युक्त) दीखने लगता है, यह तात्पर्य है. ब्रह्म अपनी आत्माको ग्रहण करता है इसका तात्पर्य यह है कि विशेष रूपसे प्रकाशित हुये उस आत्माको आप स्वीकार करता है. अर्थात् ब्रह्म विशेष रूपसे प्रकाशित हुये उस आत्माको आप ही स्वीकार करता है. जैसे कोई ग्राहक नवीन अज्ञात वस्तुको ग्रहण करता है. 'बिभ्रत्'का तात्पर्य है कि उत्पन्न हुये अपने ही स्वरूपको भाररूपसे आप ही धारण करता है. आप ही कर्ता, आप ही करण, आप ही कर्म, आप ही आधार और आप ही आधेय होता है. यह ब्राह्म सर्गकी व्यवस्था है. जिस समय आप इस भारको धारण करनेकी इच्छा नहीं रखते तब विलुम्पन्, सब सृष्टिका लोप कर देते हो. इस तरह आप ही सर्व कारक रूपमें कीड़ा करते हो. यह आपकी क्रीड़ाका ज्ञान मुझे हो जाय यह मेरी प्रार्थना है. यदि ऐसी कृपा आप कर दें तो मेरा कार्य सुगम हो जायगा.

यहां एक प्रश्न हो सकता है कि यदि भगवान् ही सब कुछ कर देंगे तो फिर ब्रह्मा क्या करेगा? इसका उत्तर देते हैं कि 'अमोघसङ्कल्पः' इति. सफल है संकल्प जिसका ऐसे भगवान् हैं. भगवान् विचार मात्रसे सब कुछ कर देते हैं, केवल कृति ही ब्रह्मासे करवाते हैं. यहां यह भी प्रश्न होता है कि भगवान् ही अकेले सब कुछ जगत्की रचना करते होंगे, इसलिये मालूम पड़ता है कि वह तो ब्रह्मा आदिके रूपोंको बना लेता होगा और ब्रह्मा सब अन्य निर्माण करता होगा? इसके उत्तरमें दृष्टांत सहित कहते हैं कि 'ऊर्णनाभिः' जिस तरह मकड़ी किसी अन्य साधनकी अपेक्षा रखे बिना अपने स्वरूपभूत लार(डोरी)से ही जालादि बनाती है, और क्रीड़ा करती है. लारके डोराका जाल बुनती है, उसकी रक्षा करती है और जब चाहती है उसे खा जाती है. इसी तरहसे भगवान् भी अपने स्वरूपसे जगत् बनाता है, अपने स्वरूपसे रक्षा करता है और जब चाहता है तब अपने स्वरूपमें उसे समेट लेता है. यह दृष्टांत केवल एकाकीके जगत् बनने मात्रमें है, किन्तु प्रकृतिका प्रकार स्वरूप और भगवान्का वह स्वरूप तो फिर भी मेरी समझमें नहीं आया. इसलिए मुझे दो समझकी चाहना है. १.आश्रय ज्ञानकी और

२.स्वरूप ज्ञान की. ऊर्णनाभिका दृष्टांत तो चेष्टा मात्रमें दिया है. एक बात और भी है कि लोकमें देखा गया है कि पदार्थोंमें दोष भी है, इसलिए सम्भव है कि भगवान्से उत्पन्न हुए विश्वमें भी दोष हो सकते हैं. अतएव इसका स्वरूप भी अवश्य जान लेना चाहिये. यह माना कि कार्य करनेमें किसीकी भी भगवान् अपेक्षा नहीं रखता, इस विषयमें मकड़ीका दृष्टांत दिया है, किन्तु फिर भी आश्रयरूप देश-काल आदिकी अपेक्षा तो रहती ही है. इसलिये उत्पादित वस्तुका भी स्वरूपज्ञान होना आवश्यक है. दृष्टांत मात्रसे इन सब बातोंका ज्ञान नहीं हो सकता और मैं इसमें असमर्थ हूं, इसलिए ये सब ज्ञान आप ही मुझे दे दीजिये यह प्रार्थना करता है. 'तथा तद्विषयां देहि' इति. भगवान् ही जगत्को बनाता है इसमें तो कोई विवाद है नहीं. 'यतो वा इमानि' इत्यादि श्रुति भी केवल भगवान् जगत्को बनाता है, इतना मात्र कहती है, किन्तु उस जगत्का स्वरूप नहीं बताती. अतः आप ही मेरे हृदयमें उस ज्ञानको मेरी बुद्धिमें स्थापन कर दो. केवल उपदेश दे देनेसे ही कार्य सिद्धि नहीं होगी. आप मेरे पिता हो. मैं प्रार्थना करुं तदनुसार आपको करना उचित है यह सम्बोधनके द्वारा सूचित करता है: 'हे माधव!' हे महालक्ष्मीके धव=पति! लक्ष्मीके आप पति हो तो लक्ष्मीका कहा आपको करना पड़ता होगा. मैं भी आपका पुत्र हूं, इसलिए मेरा कहा भी आपको करना उचित है.

इस तरहसे ब्रह्मा ज्ञानके विषयमें प्रार्थित दो वरोंका निरूपण करके अब क्रियाके विषयमें भी दो वर मांगता है. शिक्षा और गर्वाभाव. 'मैं आपकी इस आज्ञाके अनुसार जगद्रचना करुं वैसी कुछ शिक्षा मिलनी चाहिये और जगद्रचनासे मुझे कभी भी अभिमान न होने पावे'. इसमें पहले शिक्षाके विषयमें कहता है: 'भगवच्छिक्षितम्'. आप मुझे सिखाईये कि इस प्रकारसे सृष्टिकी रचना करो. अन्य विषयोंको छोड़कर केवल इच्छित कर्तव्य विषय कर बोध कराने वाली क्रियाका नाम 'शिक्षा' है. उस क्रियाका बोध कराने वाला 'शिक्षक' कहा जाता है. जिसको शिक्षा दी जाती है, वह शिक्षित उस क्रिया ज्ञानका आश्रय होता है. यहां पढ़नेमें या खेलनेमें 'शिक्षां प्राप्तः शिक्षितः' ऐसी जगह यद्यपि शिक्षा कर्म भावको प्राप्त हुई है, तथापि वह गौण हो गई है, अतएव वही क्रिया कर्मभावको छोड़कर आश्रयभावको ही प्राप्त हो रही है और उस क्रियाका आश्रय(लिखन व पढ़न) कर्म भावको प्राप्त होता है. यहां तो पहले कोई शिक्षा दी गई नहीं है. अब

आगे देना चाहता है और जो दी जायगी, तो वह कर्मभावको ही प्राप्त होगी. इसलिए उसका आश्रय तो विषय ही होगा. उसका आश्रय ब्रह्मा नहीं होगा.

यह विषय जगद्रूप है. ऐसी अवस्थामें यह तात्पर्य होता है: हे भगवन्! जिस जगत्को पैदा किया जावेगा, उसमें जैसी शिक्षा उचित हो, वह मुझको आप दें. पीछे मैं उस तरहकी शिक्षा लेकर जैसा उचित होगा वैसा करूंगा. चटसाल प्रभृतिमें गुरु पट्टी पर अक्षर लिख देते हैं और बच्चेसे कहते हैं कि, इस अक्षर पर हाथकी पेंसिलवाली अंगुली फेरते रहो. यह बालक तदनुसार अंगुली फेरता रहता है. अक्षर लिखना आ जाता है. छपे हुए अक्षरों पर भी गुरु बच्चेका हाथ अपने हाथमें लेकर अंगुली फिरवा सकता है और ऐसा कोई-कोई करते भी हैं किन्तु उसमें बहुत मेहनत करनी पड़ती है और पट्टी पर अक्षर लिख देकर उसके ऊपर उसकी अंगुली फिरवाकर सिखानेमें गुरुको मेहनत कम पड़ती है. मेरे हृदय पर जगत्के संस्कार पैदा करके मुझे उस पर सिखाया जाय, उसकी अपेक्षा तो अपनी इच्छानुसार जगत् बनाकर मुझे सिखाया जाय यही सहज है, इसमें मेरा हित भी है. नमूनेके अनुसार पदार्थ बना देनेवाला कसूरवार नहीं होते. इसी तरह आप जिस प्रकारका जगत्* बनाकर देंगे, मैं भी उसी प्रकारसे आगे सीखनेकेलिए उस पर वैसी ही अपनी क्रिया करूंगा.

(*. ब्राह्मकल्पीय जगत् आधिदैविक है और साक्षात् भगवद्रूप है. इसमें जगत्का स्वतंत्र कोई भी अंश नहीं है इसी जगत्का निरूपण 'न यद् इदम् अग्रे आस' इत्यादि श्रुति स्तुतिमें किया है. यह प्राथमिक जगत् है ब्रह्म रूप है आनंदमय है और केवल सत्य है. इस परसे द्वितीय जगत् होता है. वह पाद्म जगत् है. जिसकी प्रतिज्ञा यह ब्रह्मा कर रहा है और जिसकी शिक्षा भगवान् देंगे. फलक पर अक्षरोंकी तरह, वह प्राथमिक मूल जगत् है. ब्रह्माका बनाया मायाकरणक द्वितीय जगत् आध्यात्मिक है. इसकी ही सूचना ब्रह्मा कर रहा है ''भगवच्छिक्षितम् अहं करवाणि''.)

यहां कोई कहे कि इस तरह करनेसे कदाचित् तुम्हें आलस्य हो जाय और हृदयमें ज्ञानसम्पादन करके पैदा करनेमें आलस्य न होगा, तो इसका उत्तर देता है कि 'अतन्द्रितः'. मैं कुछ भी आलस्य न करता हुआ आपकी आज्ञाका पालन ही करूंगा. और यह ठीक भी है. अर्थात् आपकी आज्ञा पालन करनेमें किसीको भी आलस्य नहीं हो सकता.

यहां यह प्रश्न होता है कि ऐसी प्रार्थना क्यों करते हो? तो ब्रह्मा उत्तर देता है कि 'नेहमानः'. इति. विश्वके सर्गको तैयार करनेमें जब लग जाऊंगा तब

आपकी शिक्षाके किंवा आपके ही अनुग्रहसे बंधन न होवे, इसलिए ऐसी प्रार्थना करता हूं. भगवान्‌की शिक्षासे विरुद्ध करनेसे ही बंधन हो सकता है और जब आपकी शिक्षाके अनुसार ही कार्य करूंगा तब आपके अनुग्रहसे ही सृष्टिमें आसक्ति न होगी. यदि कोई भगवान्‌के विषयमें कहता हो तो उसका भी यही उत्तर है कि प्रजासृष्टिमें यदि विषमता किंवा निर्दयता आवे तब ही भगवान्‌को उस प्रजासर्गसे बन्ध प्राप्त हो, किन्तु शिक्षा देनेमें तो भगवान्‌को वैषम्य और निर्दयता प्राप्त नहीं हो सकती।।२४-२८।।

आभासार्थः इस तरह जगत् बनानेकी शिक्षामें शिक्षाकी प्रार्थना करके अब जगत् बनानेमें जो दोष आता है, सो न आने पावे, यह प्रार्थना करता है.

यावत् सखा सख्युरिवेश ते कृतः प्रजा विसर्गे विभजामि भोजनम् ।
अविक्लवस्ते परिकर्मणि स्थितो मा मे समुन्नद्धम् अदोऽजमानिनः।।२९।।

श्लोकार्थः शिक्षादान, ज्ञानसम्पादन आदिके द्‌वारा आपने सखाके समान मुझे अपनी समानता दे दी, अतएव मैं इस विविध जगत्‌की रचनामें विविध प्रजाओंका विभाग करूंगा और उनके भोग्य पदार्थ भी रचूंगा. मैं आपकी सेवामें अक्लेश सावधान स्थित होऊंगा, किन्तु मेरी यह प्रार्थना है कि ''मैं अजन्मा हूं, सृष्टिकर्त्ता हूं'' यह दृढ़ अभिमान मुझे न होने पावे ऐसी कृपा करो।।२९।।

व्याख्यार्थः सखा अपने सखाकेलिए जितना कुछ कर सकता है, उतना भगवान्‌ने मुझे कर दिया. अर्थात् जगत्कर्तृत्वकी जगह मुझे स्थापन करके मेरा पुरस्कार किया. ठीक है ऐसा होनेसे भी हुआ क्या? तो कहता है कि 'प्रजा विसर्गे विभजामि भोजनम्'. जब भगवान्‌ने मुझे अपनी बराबरी दे दी तब मैं भी इनकी सेवा ही करूंगा. वास्तवमें चित और आनंद दोनों भगवद्धर्म समान ही हैं. उनमें भगवान् आनंदरूप हैं. और ब्रह्मा चिद्रूप हैं, किन्तु क्रिया-ज्ञान शक्ति दोनों आनंदकी होनेसे भगवान्‌में ही रही. अब ब्रह्मा जगत्‌की सृष्टि कैसे कर सकेंगे? क्रिया और ज्ञान शक्ति दोनों आनंद धर्मकी ही है, तो चित और आनन्द की वास्तवमें मित्रता रहते भी भगवान् आनन्दरूप हैं, इसलिए वे दोनों शक्ति भगवान्‌के पास ही रही, ब्रह्माके पास न आई. तब भगवान्‌ने पूर्व प्रार्थनाके अनुसार ज्ञानादि शक्तियोंका भी दान करके ब्रह्माको अपने समान कर दिया. अर्थात् जगत्सर्ग करनेमें समर्थ बना दिया. तब ब्रह्मा सर्व शक्तिसम्पन्न होकर बोला कि ''हे भगवान! अब मैं इस विविध जगत्‌में प्रजाओंका विभाग करता

हूं''. जड़-चेतन आदि सब ही पदार्थ प्रजा हैं. 'प्रकर्षेण जायन्ते ताः प्रजाः'. बहुतायतसे जो पैदा होवे वो प्रजा. जड़-चेतन दोनों ऐसे हैं. ऐसा होने पर भी इन दोनोंमें आपसमें उच्च-नीच भाव भी होता है. इसलिए भी प्रजा कहाती है.

यह भेद और प्रकर्षापकर्ष क्या है? कितने ही जीव और जड़ पदार्थ सात्त्विक होते हैं, कितने राजस और कितने हो तामस भी होते हैं. यह गुणकृत भेद है. ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य आदिमें उच्च-नीचका भाव होनेसे विविधता हो जाती है और फिर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप धर्म, जो कि पुरुषार्थोके उपयोगी हैं, उनका भी भेद होनेसे प्रजामें विविधता आती है. इस प्रकारसे मैं प्रजाओंका विभाग वर्गीकरण करूंगा और उनके उपयोगमें आनेकी वस्तुयें भी विविध प्रकारसे तैयार करूंगा. अथवा जिस समय प्रजाओंका सर्ग करूंगा, उसी समय उनके उपयोगमें आनेके पदार्थोंका भी निर्माण करूंगा.

यद्यपि भागवतके उक्त मूल श्लोकमें मुझे आपने अपना सखा बना लिया यह साक्षात् ब्रह्माने नहीं कहा है. अथवा सखाकेलिए सखा जितना करता है, उतना आपने कर दिया, यह साक्षात् नहीं कहा है. तथापि 'यावत् सखा सख्युः' इन तीन पदोंके कहनेसे 'करोति' अपने आप आ जाता है. अर्थात् 'जितना सखा सखाकेलिए' ये तीन पद आ जाते हैं, तब 'करता है' यह अपने आप आ ही जाती है. और 'इव' पदसे भी 'तावत्-उतना' यह अर्थ आ जाता है. कितने ही विवेचक 'यावत्' शब्दको 'विभजामि'के साथ जोड़ते हैं और अर्थ करते हैं, कि जहां तक मैं प्रजाओंका विभाग करता हूं, वहां तक मुझे अभिमान न चढ़े. इस तरहसे पदोंका सम्बन्ध करते हैं. किन्तु वहां भी 'तावत्' पदका अध्याहार तो करना ही पड़ता है और थोड़ेसे कालकेलिए मद न आवे, यह प्रार्थना करना ठीक भी नहीं है. उक्त अर्थ करनेमें तो पदकी न्यूनता भी नहीं है.

अस्तु इससे भी क्या लाभ है? इस प्रश्नका उत्तर देता है: 'ते परिकर्मणि'. मैं यह भी चाहता हूं कि आपकी सेवामें या आज्ञामें बिना घबराहटके स्थिर होकर रहूं. इस तरह भगवान्के सख्य मिलनेसे मुझे यहां ये तीन पदार्थ प्राप्त हुए, १.जगत्को उत्पादन करनेकी शक्तिका लाभ, २.प्रजाओंके विभाग करनेकी सामर्थ्य और ३.आपकी सेवामें किसी तरहकी घबराहट न होना. यद्यपि ये तीनों लोकमें गुण कहे जाते हैं, तथापि मुझ जैसे तुच्छकेलिए तो ये ही दोषरूप हो जाते हैं. अतएव इन दोषोंसे मुझे यह अभिमान होगा कि मैं किसीसे भी नहीं पैदा हुआ

'अज' हूं. अतएव अजन्मा ही हूं. ये गुण मुझे भगवान्‌की कृपासे प्राप्त हुये हैं, यह अहसान मानना तो दूर रहे, किन्तु ऐसे अभिमानसे तो ब्रह्मा भगवान्‌से अपना जन्म भी नहीं मानता. यह बढ़ा-चढ़ा अभिमान है, किन्तु मैं आपसे प्रार्थना करता हूं कि यह अभिमान मुझे न हो।।२९।।

आभासार्थ: इस ब्रह्माने श्रीभगवान्‌से चार वर मांगे: १.पर अवरका ज्ञान, २.क्रीड़ाका ज्ञान, ३.जगत्‌की रचना सिखाना और ४.गर्व न होना. इन वरोंमें क्रमसे दो ज्ञानमें दो श्लोक हैं. अर्थात् 'ज्ञानं परमगुह्यं मे' इस श्लोकमें भगवान्‌ने ब्रह्माको पर-अवर रूपका ज्ञान दिया. 'यावान् अहं' इस श्लोकमें भगवत्क्रीड़ाके ज्ञानका दान दिया. जगत्‌की रचनामें चतुःश्लोकी कही है और इन सबको समझ लेनेसे ही गर्वका भी अभाव हो जायगा, यह बात अन्तिम श्लोकमें कही है.

अब पहले दोनों प्रकारके ज्ञानका निरूपण करते हैं:

श्रीभगवानुवाच

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया।।३०।।

श्लोकार्थ: हे ब्रह्मन्! विज्ञान सहित मेरे स्वरूपका ज्ञान, उसका रहस्य और अङ्ग भी मैं तुझे कहता हूं सो ग्रहण कर।।३०।।

व्याख्यार्थ: मुझ पुरुषोत्तमका ज्ञान परम गुह्य है. वह वाणीसे कहनेमें नहीं आता. अब इस समय जैसा तू मुझे देख रहा है, वैसा ही मैं पुरुषोत्तम हूं. यही मेरा रूप पहला है और यही अन्तिम भी है. इस रूपको मेरे सिवाय अन्य कोई भी नहीं जानता. इसलिये अब मैं ही तेरे आगे अपने स्वरूपको साधारण रीतिसे कह देता हूं, सो तू ग्रहण कर. अर्थात् भगवान्‌की बुद्धिमें सिद्ध ही स्थित रहा जो भगवान्‌के गुणोंका ज्ञानावतररूप भगवज्ज्ञान उसको तू ग्रहण कर. भगवान्‌के सब ही पदार्थ सिद्ध हैं. बने बनाये हैं. साध्य-बनाये जाने योग्य नहीं है. इसलिए कहा कि भगवान्‌के हृदयमें स्थित जो भगवत्स्वरूपका ज्ञान मैं तेरी बुद्धिमें धर देता हूं, सो ग्रहण कर. भगवान्‌की समझ यदि कही जाय तो भगवत्कृपा बिना समझमें नहीं आती, इसलिए भगवान् ही ब्रह्माको कृपा करके वरकी तरह देते हुए कहते हैं, कि 'गृहाण'. यह तू ले. अर्थात् भगवान्‌ने अपने स्वरूपज्ञानको उपदेश पूर्वक ब्रह्माको दिया. उस ज्ञानके परिकरको कहते हैं 'यद् विज्ञानसमन्वितम्'. जो लोग ज्ञानका अर्थ स्वरूपज्ञान अर्थ करके 'विज्ञान' पदका अर्थ, उसीका अनुभव करते हैं, सो

ठीक नहीं है. क्योंकि उस ज्ञानका अनुभव तो अभी हो चुका ही है, फिर विज्ञानका अर्थ अनुभव नहीं हो सकता किन्तु ''ददर्श तत्राखिल सात्त्वतां पतिं'' इस प्रकरणमें जो भगवान्‌को चार प्रकारके पति कह आये, उन चारों प्रकारके पति सम्बन्धी ज्ञानको ही यहां 'विज्ञान' शब्दसे कहा है. उस पतिचतुष्टय ज्ञानमें सम्पूर्ण विश्व और विश्वपति विविध ज्ञान आ चुका है. इस समय भी भगवान्‌ने ब्रह्माको वही विविध ज्ञान सहित गुह्य ज्ञान दिया. उस ज्ञानका रहस्य सुनन्दनन्दन आदि पार्षद हैं. इनका भक्तिरूप भी एक स्वरूप है. अर्थात् भगवान्‌के स्वरूपज्ञानके साथ भगवान्‌ने ब्रह्माको अपनी भक्तिका भी दान किया. ज्ञानका रहस्य भगवान्‌की भक्ति है. इसके साथ उनके अंगका दान भी दिया. ''भृत्य-प्रसादाभिमुखम्'' आदि श्लोकोंमें भगवान्‌की कृपा आदिका जो निरूपण किया, वह भगवत्कृपा इस ज्ञानका अंग है. सो भी भगवान्‌ने ब्रह्माको दिया. मूल श्लोकमें 'च' इसलिए कहा है कि बाकी जो कुछ रह गया हो, वह सब कुछ यहां ले लिया जाये. और विशेष क्या, हे ब्रह्मन्! वैकुण्ठमें जो कुछ तुमने देखा उस सबका तुम्हें ज्ञान हो जाये।।३०।।

आभासार्थः अब दूसरे ज्ञानका निरूपण करते हैं:

यावान् अहं यथाभावो यद्‌रूपगुणकर्मकः।
तथैव तत्त्वविज्ञानम् अस्तु ते मदनुग्रहात्।।३१।।

श्लोकार्थः जितना मैं हूं; जिस प्रकारकी मेरी सत्ता है, और जिस रूप और गुणों की सत्ता मुझमें है, उन सबका वास्तविक ज्ञान तुझे मेरे अनुग्रहसे हो जावे.

व्याख्यार्थः जितने नाप-तौलका मैं हूं, जितना लम्बा-चौड़ा मैं हूं, और सब कार्य करनेकेलिये जिस प्रकारका मेरा सर्वशक्तिरूप भाव(स्थिति) है, और जो-जो मेरे रूप-गुण-कर्म आदि हैं; उन सबका तात्त्विक वास्तविक ज्ञान, मेरी कृपासे ही तुझे हो जाओ. अर्थात् मेरे स्वरूप-गुणोंका, मेरी शक्तियोंका, मेरे रूपोंका और मेरी लीलाओंका यथार्थज्ञान(अनुभव) तुझे सब तरहसे हो जाओ ।।३१।।

आभासार्थः इस तरह भगवान्‌के दोनों ज्ञानोंका निरूपण करना किसीके लिए शक्य नहीं है. कदाचित् भगवान् ही उनका निरूपण करें, तो भी ब्रह्माके हृदयमें उनका स्फुरण होना असम्भव है; इसलिये भगवान्‌ने ही उनको वरकी तरह

दिया और तदनन्तर अब शिक्षाकेलिये आगेके चार श्लोक कहते हैं:

अहम् एवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम् ।
पश्चाद् अहं यद् एतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्।।३२।।

श्लोकार्थ: सृष्टिके पहले मैं ही था, और मैं था ही. मुझसे अन्य कुछ नहीं. सत्, असत् और उससे परे सब कुछ मैं ही था. सृष्टिके पीछे भी मैं ही हूं. जो कुछ यह है वह भी मैं हूं, और जो बाकी रहता है, वह भी मैं ही हूं।।३२।।

व्याख्यार्थ: जिस रूपका जगत् भगवान्को बनाना है, उसके सिखानेकी प्रार्थना ब्रह्माने शिक्षामें कर दी. उसका उत्तर भगवान् देते हैं. 'अहमेव'. मैं ही जगत् रूप हो गया हूं. जगत् कोई दूसरा पदार्थ नहीं है. यह जो इसका रूप ओर तरहका दीख रहा है वह मेरी मायासे दीखता है. जैसे घटमें आकाश मालूम पड़ता है इसी तरह जड देहादिके मध्यमें जीवकी प्रतीति भी मायासे ही हो रही है. घट और आकाश में किंवा देह और जीव में जो आधाराधेयभाव दीख रहा है, किंवा घट बाह्य है और आकाश भीतर है, किंवा देह बाह्य है और जीव आंतर यह जो बाह्याभ्यंतरभाव दीख रहा है, इसका कारण भी मैं ही हूं. अर्थात् मैं ही(भगवान् ही)आधार-आधेय और बाह्य-आंतर हूं. सब कुछ मैं ही हूं. स्वरूपसे सब कुछ जगत् मूल भगवान् है, किन्तु इसकी प्रतीति(समझ) और तरहकी हो रही है, वह मायासे हो रही है और अनुप्रवेश करनेवाला जीव है. इसका तात्पर्य यह है कि प्रवेश-अनुप्रवेश दो वस्तु हैं. एक रूपसे भगवान् सर्वत्र देहादिमें प्रविष्ट हैं ही. किन्तु पुनः वही भगवान् जीवरूप धारण करके फिरसे प्रवेश करता है, इसलिए यहां जीवको अनुप्रवेशक कहा. यह बात आगे "**यथा महान्ति**" श्लोकमें स्पष्ट कहेंगे. इस तरह जब सब कुछ जगत् सर्व प्रकारसे भगवान् ही है तब कहते हैं कि 'अहं'(भगवान्) ही सब कुछ है, यह समझकर, हे ब्रह्मन्! तुम्हें अपना स्वस्वरूप ब्रह्मस्वरूप जानना चाहिये. यही शिक्षा है. इस तरह तू अपने आपको भगवान्का स्वरूप मानकर भगवत्स्वरूप इस जगत्को प्रकट करेगा, तो तुम्हें गर्व न होगा और गर्वके कारण जो भूल होती है, वह भी न होगी. यह पांच श्लोकोंका सम्मिलित तात्पर्य है. यह पूर्वोक्त आशय प्राथमिक ब्राह्म सृष्टिके विषयमें कहा है.

अब यहां भगवान् ही सम्पूर्ण जगत् कैसे हो जाता है, इस प्रश्नका उत्तर देते हुये "**तज्जलान्**" इस वेदोक्त हेतुको विस्तारसे कहते हैं. प्रथम श्लोकका अर्थ करते हैं कि सृष्टिके पहले मैं ही था और कुछ नहीं था. वेदमें कहा है कि "सृष्टिके

पहले एक नारायण ही था, न ब्रह्मा और न शंकर''. ''यह सम्पूर्ण जगत् सृष्टिके पहले वासुदेव भगवान् था न ब्रह्मा और न शंकर''. इससे स्पष्ट होता है कि सृष्टिके पूर्वमें एक मैं(भगवान्) ही था. मुझसे भी पूर्व कुछ था यह शंका भी नहीं करनी चाहिये. जगत्के पहले मैं और मुझसे भी पूर्व कोई अन्य पदार्थ था, यह आशंका तो तब हो सकती है कि जब मैं कभी भी न होऊं, सो यह मेरे विषयमें सम्भव ही नहीं है. वेदमें भी भगवान्को सर्वदा वर्तमान कहा है. इसलिए मूलमें कहते हैं कि ''सृष्टिके पहले मैं था ही'' कभी भी ऐसा न हुआ कि मैं न होऊं. वेदके एक और भी वाक्यमें कहा है कि ''अग्रे सृष्टिके पूर्वमें हे सौम्य! यह सारा जगत् सद्रूप भगवद्रूप था'' और 'एक अद्वितीय था' अर्थात् भगवान् था और भगवान्के सिवाय कुछ भी अन्य नहीं था.

यदि कोई कहे कि श्रुतिमें कहा है कि ''यह जगत् पहले असत् था फिर असत्से सत् हुआ''. इसका उत्तर यह है कि यह श्रुति तो कहती है कि आजकल जैसा जगत् दीख रहा है, सृष्टिके पूर्वमें इस तरह व्यवस्थित रूपमें नहीं था. यदि बिलकुल ही असत् होता तो उससे सत् कैसे पैदा होता. असत्से सत्की उत्पत्ति होनेमें 'नासतो विद्यते भावः' इस वाक्यमें विरोध आवेगा. गीतामें कहा है कि असत्का कभी भाव सत्ता नहीं होता. यदि कहो कि 'न असद् आसीत्' अर्थात् प्रलयके समय असत् और सत् दोनों ही नहीं थे. इस श्रुतिमें असत् और सत् दोनोंके ही होनेका निषेध है, तो इसका उत्तर देते हैं कि यह श्रुति तो स्थूल-सूक्ष्म कार्य पदार्थका निषेध कर रही है. स्थूल कार्यको सत् कहते हैं और सूक्ष्म कार्यको असत् कहते हैं. यदि कहो कि 'यह सम्पूर्ण जगत पहले जल ही था' इस श्रुतिमें सृष्टिके पहले जलका निरूपण है, तो इसका भी यह उत्तर है कि यह अवांतर सृष्टिके निरूपणमें कहा है. प्राथमिक सृष्टिमें तो भगवान् ही था, जल नहीं. अवांतर(बीचकी) सृष्टिमें, सृष्टिके प्रारम्भमें यह जगत् अनेक प्रकारके जल ही था यह इस श्रुतिका तात्पर्य है. '**अव्यक्तादीनि भूतानि**' इस गीताके वाक्यमें तो 'अव्यक्त' शब्दसे ब्रह्मका ही निर्देश है. जहां कहीं भी जगत्का किसी पदार्थमें लीन होनेका कहा है, वहां भी उसकी सत्ता ही कही गई है. यह जगत् अव्यक्तमें लीन हो गया. यह कहनेका भी यही तात्पर्य है कि पहले था, फिर पीछे उसमें लीन हो गया. पहलेसे ही लीन था, यह अर्थ नहीं होता. ''**प्रकृतिं पुरुषं चैव**'' इस गीताके वाक्यमें भी अवांतर कारणका निरूपण है. सांख्यके मतका अनुवाद

करके मतांतरका ही निरूपण किया है. ''**आसीद् ज्ञानमयो ह्यर्थः**''. इस भागवतके वाक्यमें ज्ञानमय परब्रह्म सबके पहले था यह कहा है. इसलिए इसके विरुद्ध गीताका सिद्धांत नहीं हो सकता. अन्यथा इसका विरोध आवेगा. ''**तम आसीत्**'' इस श्रुतिमें जो तमका निरूपण है, वह भी प्रकृतिका नहीं है, किन्तु 'तमः' शब्द वाच्य ब्रह्म ही कहा है. ''**किमावरीवः**'' इस श्रुतिमें भी विकल्प रूपमें ब्रह्मका ही निरूपण है. ''किस पदार्थको ढके और किसके सुखार्थ ढके'' इस श्रुतिमें प्रकृतिका होना निषेध किया है. प्रकृतिको कार्यका आश्रय कहनेका प्रयोजन हो नहीं सकता क्योंकि कार्यसे प्रकृतिका अस्तित्व माना गया है. जब कार्य ही प्रथम नहीं है तब प्रकृति कहांसे आई. जो कार्यसे ही अनुमान की जाती है वह कार्यके पूर्वमें नहीं हो सकती है.

अब और भी जो कोई भी वाक्य बच गये हों वे भी सब उन-उन अनेक रूपोंसे ब्रह्मका ही निरूपण करते हैं, इसलिए सृष्टिके पूर्वमें एक रूपसे रहे ब्रह्मकी सत्तामें बाधक नहीं हो सकते. सृष्टिके पहले एक भगवान् ही था, यह सिद्धान्त श्रुति सिद्ध है, इसलिये उस समय अन्य पदार्थोंका मूलमें निषेध करते हैं. 'न अन्यत्' ब्रह्मसे अन्य कुछ नहीं था. यद्यपि वेदमें सत् और असत् का निरूपण आता है; तथापि वह भगवान्से अन्य नहीं था किन्तु ब्रह्मरूप ही था. अतएव कहा कि 'सदसत्परम्'. सत् और असत् और इन दोनोंसे पर-श्रेष्ठ काल आदि भी ब्रह्मसे अन्य नहीं था. जो कुछ था वह मैं(भगवान्) ही था यह सिद्ध हुआ. यदि कहो कि कुछ नहीं था, यह कहनेसे पहले अभाव था, ऐसा मानना पड़ेगा तो कहते हैं कि वेदान्तके सिद्धान्तमें तिरोभावसे पृथक् अभाव कोई पदार्थ है ही नहीं. यदि कहो कि तिरोभाव ही सही. तिरोभाव तो सृष्टिके पूर्व मानना पड़ेगा तो उत्तर देते हैं, कि आविर्भाव और तिरोभाव तो ब्रह्मकी ही शक्ति है, और '**पूर्ववद् वा**' उस अधिकरणसे कहा गया है कि ब्रह्मकी शक्ति और ब्रह्मके धर्म भी सृष्टिके पूर्व निकले नहीं थे. 'आगे' शब्दसे जो कालकी सत्ता मालूम पड़ती है वह भी निरूपणके समयके कालको लेकर ही समझानेकेलिये कहा गया है. कालकी सृष्टि भी प्रकृतिकी तरह अवान्तर सृष्टि है; इसलिये अब यह सिद्ध हुआ कि सृष्टिके पूर्वमें भी भगवान् एक ही था.

अब सृष्टिकी अवस्थामें इस जगत्का क्या स्वरूप है? यह कहते हैं. कि 'पश्चाद् अहं यदेतच्च'. अर्थात् सृष्टि होनेके अनन्तर भी मैं ही हूं. यह सम्पूर्ण जगत्

मेरा ही स्वरूप है. मेरा स्वरूप ही सब कुछ होनेकी सामर्थ्य रखता है, इसलिये सबसे पहले चेष्टारूपसे कालका आविर्भाव हुया. फिर उस मेरे स्वरूपका ही सत् चित् आदि गुणरूपसे, मोहिनी प्रकृति आदि शक्तिरूपसे और फिर इस विद्यमान जगत् रूपसे प्रादुर्भाव हुआ. यह बात "**स आत्मनं स्वयम् अकुरुत**" उस भगवान्ने अपने स्वरूपको ही विविध रूपोंमें प्रकट किया इस वेद वाक्यमें कही है. असत् पदार्थकी कभी सत्ता नहीं होती. खरगोशके सींग असत् हैं, वे कभी सत्य नहीं हो सकते इसलिये भगवान् ही सब कुछ जगत् हो जाता है यह ठीक है. 'यदेतत् च'. यह सामने दीखता हुआ जगत् भी मैं ही हूं. न दीखता हुआ और प्रसिद्धिमें न आया बाकी रहा जगत् 'च'कारमें ले लिया गया है. अर्थात् वह सब कुछ भी मैं ही हूं. इसमें जीव भी आ गये. 'त्वम् एतच्च' ऐसा पाठ हो तो जीव–जड़रूप सब ही जगत् मैं(भगवान्) हूं. यह अर्थ समझना. यह मुख्य ब्रह्मवाद है. ब्राह्म सर्ग है. आधिदैविक विश्व है.

यहां एक यह प्रश्न होता है कि पदार्थोंकी स्थिति और शब्दप्रमाणमें विरोध आता हो तो शब्दप्रमाण मान्य नहीं हो सकता. उदाहरणतया, भगवान् सर्व दोषोंसे रहित हैं और जगद्वर्त्ति विकार आदि दोष हैं. जगत्को भगवान् माननेमें भगवान्में ये दोष आवेंगे. इसलिये 'अहमेव आसमेव अग्रे' यह शब्दप्रमाण, प्रमाण नहीं हो सकता. दूसरी अड़चन यह आवेगी कि जब नि:संकोच सब ही विश्व ब्रह्म माना जायगा तब उपदेश देने योग्य कोई नहीं रहेगा. क्योंकि सब ही भगवान् हो जायेंगे और जब उपदेश्य ही न रहेगा, तब शास्त्रकी भी अपेक्षा न रहनेसे शास्त्रका उच्छेद हो जायगा, और जगद्हित करनेकी भी अपेक्षा न रहनेसे हित न करनेका दोष भी सर्वत्र फैल जायगा. सब ही भगवान् हो जायेंगे तो कोई एक पुरुषोत्तम नहीं रहेगा. इसलिये अनेक दोषोंसे दूषित होनेसे यह ब्रह्मवाद मानने योग्य नहीं है.

इस आशंकाका उत्तर कहते हैं कि जहां मनुष्यका प्रत्यक्ष ज्ञान न पहुंचता हो वहां श्रुतिके कथनानुसार ही पदार्थोंकी व्यवस्था मानना उचित है वेदमें "**तद् एजति तद् न एजति**" इत्यादि वाक्योंसे एक ही ब्रह्ममें परस्पर विरुद्ध धर्म कहे गये हैं; इसलिये वेदानुयायीको एक ही धर्मोंमें विरुद्ध धर्म मानने चाहिये, क्योंकि वे दोनों धर्म वेदने ही कहे हैं. अनुकूल धर्म मुख्य हैं और विरुद्ध धर्म गौण यह अपनी बुद्धिसेकी गई व्यवस्था प्रमाण नहीं हो सकती है. क्योंकि प्रत्यक्षगम्य विषयमें ही

मनुष्यबुद्धिकी व्यवस्था चल सकती है. ब्रह्म और ब्रह्मके धर्म प्रत्यक्षगोचर नहीं हैं, इसलिये गौण-मुख्य भावका नियम कौन कर सकता है? ब्रह्मके विषयमें विचार करनेवालोंकी बुद्धि भी सर्वदा वेदके वाक्योंका ही आश्रय लेगी. यदि कहो कि **'उदिते-जुहोति' 'अनुदिते जुहोति', 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'** इन विरुद्ध वाक्योंकी जैसे शाखान्तर कर्म मानकर व्यवस्था करदी गई है, इसी प्रकार यहां भी कितने ही वाक्योंको उपासना परक मानकर प्रमाणकी समानता मान ली जाय, विरुद्ध धर्म क्यों माने जाये? तो उत्तर कहते हैं कि उपासनापरक मानकर भी विरुद्ध धर्मोंको झूठे या उपाधिमें नहीं मान सकते. क्योंकि वेदने उन्हें खास ब्रह्ममें और सत्य माने हैं. विरुद्ध धर्मोंको उपाधि मान लेनेसे किंवा कल्पित मान लेनेसे श्रुतिका प्रामाण्य अमान्य हो जाता है. और उपाधिको ब्रह्मसे पृथक् माननेमें द्वैत मानना होगा. यदि उपाधिको झूठी मानो तो फिर वे विरुद्ध धर्म ब्रह्ममें ही मानने होंगे. इसलिए श्रुतिको ही स्वतन्त्र प्रमाण मानकर व्यवस्था करना उचित है, और यह ठीक भी है. 'नातिरात्रे' इत्यादि पूर्वोक्त विरुद्ध श्रुतियोंको ही बलवत प्रमाण मानकर जैसे शाखान्तर विकल्प पक्ष माना है और व्यवस्थाकी है इसी तरह यहां भी 'तदेजति' आदि वेदवाक्योंको स्वतन्त्र प्रमाण मानकर ब्रह्मको सर्वविरुद्धधर्मोंका आश्रय मानना ही पडेगा. मनुष्यके देह इन्द्रियोंमें विद्यमान एक एक पदार्थ परस्पर विरुद्ध वर्तमान है; तथापि प्रत्यक्षबलसे उन्हें मानने ही पड़ते हैं. और उसे एक मनुष्य मानना ही पड़ता है. इसी तरह श्रुतिके बलसे ब्रह्मको विरुद्धधर्माश्रय मानना उचित है. भगवान्, भगवान् रहते भी जगद्रूप होते हैं. यह ठीक ही है, क्योंकि श्रुति कहती है. जिस विचारसे किसी भी उचित वाक्यका विरोध न आवे सबका समन्वय हो जावे, वैसा ही विचार, विचार कहा जाता है. 'यः सर्वशक्ति.' इत्यादि वाक्योंमें भगवान्को सर्वसमर्थ कहा है. यह सर्वशक्तिमत्व ही श्रौत मीमांसा है. भगवान्को सर्वशक्ति मान लेनेमें सब विरुद्धवाक्योंकी और सब धर्मोंकी व्यवस्था अपने आप हो जाती है.

ब्रह्मके स्वरूपोंमें जो कुछ अन्यथा दीखता है, जो कुछ ऊंचा-नीचा भेदभाव दीखता है वह सब ब्रह्म ही है. उसका दिखानेवाला भी भगवान् है, क्योंकि भगवान्का स्वरूप ही तादृश है. हमें हमारी दृष्टिसे जगत्में जो कुछ दूषण किंवा दूषित पदार्थ दीखते हैं, वह सब भगवान् ही हैं. ऐसा होने पर भी वह निर्दोष है, निर्गुण है, सर्व समर्थ है.

जितने विरुद्ध पक्ष हैं वे सब परब्रह्ममें शोभित हैं. इसमें सब कुछ सुन्दर ही हो जाता है. इस तरह उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तीनों अवस्थामें एक ब्रह्म ही ब्रह्म है. यह ब्रह्मवाद सिद्ध करके अब कहते हैं कि ''यो अवशिष्येत सो अस्मि अहम्''. अर्थात् तीनों अवस्थाओंके अनन्तर जो बाकी रहता है वह भी मैं ही हूं।।३२।।

आभासार्थः इस तरह ''**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**'' इस वेद वाक्यमें दिये गये 'तज्जलान्' इस हेतुका विवेचन करके यह सिद्ध कर दिया कि सम्पूर्ण जगत् ही परब्रह्म है और यह आत्मा ही प्रमेय भी है. तो अब यह आशंका होती है कि फिर ये वेदादि शास्त्र किसलिये बनाये गये? सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है तो फिर भेदको लेकर चलने वाले शास्त्र, 'यह करो, यह मत करो' 'यह अच्छा, यह बुरा' इत्यादि प्रमाणशास्त्र व्यर्थ हो जाते हैं! इसका उत्तर देते हैं कि, यह भी एक भगवान्की ही लीला(क्रीड़ा) है. सब कुछ ब्रह्म है. सब कुछ एक ही है तो फिर एकतामें भगवल्लीला नहीं हो सकती और प्रवृत्तिका संकोच भी नहीं हो सकता. यह करने योग्य है और यह नहीं करना चाहिये. यह प्रवृत्तिका संकोच तो रहना चाहिये. अतएव उस एक ब्रह्मस्वरूपमें भी गुण और दोषों का निर्माण करके भगवान् अपनी मायासे ही सब क्रीड़ाको चला रहा है. उस मायाका निरूपण करते हैं:

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तं विद्याद् आत्मनो मायां यथाभासो यथा तमः।।३३।।

श्लोकार्थः वस्तुके बिना ही जो कुछ समझमें आता है और जो वस्तु ही समझमें नहीं आता और आत्मामें भी जो कुछका कुछ समझमें आता है, और आत्मा समझ नहीं, यह उस भगवान्की माया शक्ति है. जैसे आभास, प्रतिबिम्ब और अन्धकार।।३३।।

व्याख्यार्थः वस्तु स्वरूपमें जो कुछ कुछका कुछ भान होता है, वह भगवान्की मोहिनी माया है. यह जीवोंको भूल कराती रहती है. वास्तवमें वस्तुमें कुछका कुछ दिखाना इसका ही कार्य है. यह माया जीवको मोहित करके जीव सम्बन्धी अन्तःकरण–बुद्धि आदिको भी भूलमें डाल देती है. इस मायासे मोहित हुई बुद्धि जगद्वर्त्ती पदार्थोंको कुछका कुछ समझ बैठती है. पदार्थ, किन्तु, अन्यथा नहीं होते. बुद्धिको मोक्षार्थ तैयार करनेकेलिए ही तो वेदादि प्रमाण हैं और वेदशास्त्रोक्त साधन भी बुद्धिको तैयार करनेकेलिए ही है. कितने ही प्रमाण

और साधन, बुद्धिजनित दोषोंकी निवृत्ति करनेवाले हैं और कितने ही प्रमाण-साधन बुद्धिमें गुणोंका आधान करनेवाले हैं. यह माया भी बुद्धिमें ही दो प्रकारसे भ्रम(भूल) पैदा कराती है. विद्यमानको प्रकाशित न होने देना और जो नहीं है उसे प्रकाशित कर देना. किसी देशकी बात किसी स्थानमें और किसी कालकी बात किसी कालमें दिखाती है. यही बात मूलमें कहते हैं 'अर्थं ऋते यत् प्रतीयेत, न प्रतीयेत च'. अर्थात् पदार्थमें वह पदार्थ तो नहीं दीखता, अर्थके बिना कुछ अन्य ही दीखने लगता है. ऐसी अवस्थामें पदार्थोंकी यथार्थताको दिखानेकेलिये वेदादि प्रमाणोंकी रचना भगवान्ने की है.

यहां यदि कोई पूछे कि उस पदार्थको वैसा क्यों नहीं मान लेते, भ्रम क्यों मानते हो? इसलिए ही कितने ही वादी जगत् और जगद्वर्ती पदार्थोंको मायिक-झूठे मानते हैं. इसका उत्तर देते हैं कि ठीक है, ऐसा हो सकता है, यदि विचारमें बैठ जाय? सबको यथार्थ ज्ञान करानेवाला वेद सम्पूर्ण जगत्को ब्रह्म कह रहा है और ब्रह्मवेत्ताओंका अनुभव भी ऐसा ही होता है. भ्रान्त मनुष्योंको जो दिखाई दे रहा है वह तो वस्तुकी यथार्थतामें प्रमाण नहीं माना जा सकता. यदि भ्रमदृष्टिको प्रमाण मान ली जाय तो जगत्को भी भ्रम मानना पड़ेगा और भ्रमरूप ही मिले, सो मिलता नहीं. कालान्तर देशान्तरमें जगत् जगद्रूप ही मिलता है, भ्रम नहीं. इसलिए मानना पड़ेगा कि जगत्रूप विषयमें कोई एक दूसरी ही विषमता आकर बैठ गई है. विषय पर जब कोई अन्य विषयता आ जाती है और जब उस विषयता सहित विषयका ग्रहण दृष्टि करती है, तब वह विषयताके रूपमें ही उस विषय(पदार्थ)को देखती है. यही अन्यथाभान कहा जाता है. यदि यह कोई दूसरी ही विषयता नेत्रके आगे न आती तो पदार्थोंके अपने स्वरूपमें स्थिर रहनेसे भ्रमदृष्टि निर्विषयया ही रहती. अर्थात् कहीं भी भ्रम नहीं होता. इसलिए यह सिद्ध होता है कि कहीं दूसरी जगह रहा हुआ भ्रम मायाके द्वारा आगे आये हुये पदार्थ पर लाया जाता है, क्योंकि यह माया दृष्टिका ही अनुरोध करने वाली होती है. इसलिए अधिकारके अनुसार जीवसृष्टिको आगे रखकर यह व्यामोहिका माया पदार्थोंको उल्टा-सुल्टा दिखाती है. इस तरह यह सारे जगत्में बुद्धिके भ्रमको फैलाती है. अर्थात् अन्यत्र स्थित विषयताको अन्यत्र ले आती है. विषयता मायाजन्य है और विषय भगवान् है, जैसे सीपमें चांदीका भान. चांदीमें चांदीपन रहना चाहिये, सीपमें सीपपन. सीप भी भगवद्रूप पदार्थ है और चांदी भी. किन्तु माया चांदीपनके भानको सीप पर

ला देती है. अन्यत्र स्थित विषयताको अन्यत्र ले आती है यह भ्रम है, यह माया जन्य है. जगद्वर्त्ती पदार्थ भगवान् है. इनका एक स्वभाव स्थिर है, किन्तु विषयता (भ्रम) निःस्वभाव है, स्थिर नहीं है. डोरीमें सर्पका भ्रम थोड़ी देर ही रहता है क्योंकि उसका वह स्वभाव ही नहीं है. यह माया आत्माकी ही शक्ति है, इसलिए यह भी निःस्वभाव नहीं है. भूलवा देना यही इसका स्वभाव है, क्योंकि बुद्धि मात्र चैतन्यकी ही क्रीड़ा है. यह माया उस बुद्धिको ही मोहित कर देती है. जब जीवमें ब्रह्मभाव प्रकाशित होता है तब यह माया बुद्धिको मोहित करना छोड़ देती है. जगद्वर्त्ती भगवदीय पदार्थ भगवद्विषयक ज्ञान पैदा करते हैं, इसलिए व्यामोहिका माया उन सब पदार्थोंके विरुद्ध रहती है. इससे यह सिद्ध होता है कि विषयतासे पैदा हुआ ज्ञान भ्रम है और विषय जनित ज्ञान यथार्थ होता है.

यह बात जैसी जड़ जगत्में हैं आत्माके विषयमें भी वैसी ही है. सो कहते हैं कि 'च आत्मनि' . यह माया आत्मामें स्थित वस्तुको भी नहीं प्रकट करती है. किन्तु जो नहीं है उसको प्रकाशित करती है. यहां प्रश्न हो सकता है कि यह जगद्रूप विषय, ब्रह्मसे जुदा ही है यह क्यों न मान लिया जाय? इसका उत्तर देते हैं कि 'तद् विद्याद् आत्मनो मायां'. वास्तवमें जगत् ब्रह्मरूप है. किन्तु यह इसका रूप प्रकाशित नहीं होता और कुछका कुछ रूप ही प्रकाशित हो रहा है. यह दोनों कार्य मायाके हैं. जगत् झूठा नहीं है पर माया इसे असत्य दिखाती है, सत्यस्वरूप नहीं दिखाती है. यह दोष, वस्तुस्वरूप जगद्ब्रह्मका नहीं है. यह दोष मायाका है, इसलिये इसे माया ही जानिये. इस मायाके दोषसे जगत्को ही ब्रह्मसे जुदा पदार्थ माननेकी आवश्यकता नहीं है. सीपमें चांदीका जो भ्रम हो रहा है, इस भ्रमज्ञानमें सींप किंवा चांदी कारण नहीं है, क्योंकि वे दोनों निश्चित स्वभावके ही हैं,और भ्रम तो नियत स्वभाव नहीं होता है. विषय जगत् और चक्षु दोनों नियत स्वभाव हैं, इसलिये वे भ्रमके कारण नहीं हो सकते. भ्रमका कारण तो माया ही है. इस विषय में दृष्टान्त देते हैं 'यथाभासो यथा तमः'. जैसे कभी-कभी दो चन्द्रका भ्रम होता है. यह मायासे ही होता है. दो चन्द्र दीखते हैं, इस प्रतीतिके अनुरोधसे कोई भी बुद्धिमान पुरुष दो चन्द्र नहीं मान लेता; किन्तु उसे भ्रम माया या भूल ही मानता है. इसी तरह जगत्में जो विषयता जुदी दीख रही है वह मायासे पैदा हुई है. बुद्धि तो चैतन्यका विलास है, इसलिये मायाजनित नहीं हो सकती. यदि बुद्धि माया जनित होती तो ब्रह्मवेत्ताको भी बुद्धि तो होती ही है तो उसको भी भ्रम होना

चाहिये. किसी ब्रह्मवेत्ताको भ्रम नहीं होता और बुद्धि तो रहती ही है. इसलिये बुद्धि मायाजन्य नहीं है, विषयता ही मायाजन्य होती है. यदि ब्रह्मवेत्ताको भी भ्रम मान लिया जाय तो फिर ज्ञानमात्र भ्रम हो जायेगा और ब्रह्मज्ञान भी भ्रम समझा जायेगा. कुछ रहेगा ही नहीं.

यह विषयता दो प्रकारकी है: एक आच्छादिका–ढक देनेवाली और दूसरी अन्यथाप्रतीतिहेतुभूता–कुछका कुछ दिखा देनेवाली. दोनों तरहकी विषयता मायासे ही पैदा होती है. जैसे आभास–प्रतिबिम्ब. आभासरूपा विषयता कुछका कुछ दिखा देने वाली है. यहां प्रश्न होता है कि विषयता तो केवल बुद्धिको बहका देनेवाली है तो फिर उससे पदार्थ कैसे पैदा हो जाता है? आभासमें तो एक पदार्थ और पैदा हो जाता है. दूसरी आंशका यह भी है कि विषयको छोड़कर कहीं भी विषयता नहीं देखी. घटमें ही घटत्व रहता है. घटको छोड़कर घटत्व कहीं अन्यत्र जाता नहीं देखा. इसका उत्तर मूलमें देते हैं कि 'यथा तमः' जैसे अन्धकार. अन्धकार विषयता है. यह तेजके अभावमें दृष्टिगोचर होता है यह भी मायाजन्य विषयता ही है. जहां प्रकाशका अभाव है वहां ही यह माया अपनी विषयता–अन्धकारको पैदा करती है. यही माया व्यामोहिका है, इसलिये उलूक पक्षियोंके प्रति माया अन्धकार पैदा नहीं करती. उल्लू तो तेजके अभावका ही ग्रहण करते हैं. उनकी दृष्टि कोमल होती है, इसलिये बहुत विशेष प्रकाश उनकी दृष्टिका बाधक हो जाता है. अतएव ये पक्षी प्रकाशके अभावमें पदार्थोंको सुखसे देख लेते हैं. पदार्थोंको देखनेकेलिये प्रकाश न तो विषय(देखनेकी वस्तु)का कुछ सुधार करता है और न हमारी दृष्टिका सुधार करता है. दृष्टिका सहकारी मात्र है. किन्तु रात्रि आदिमें जब तेजका अभाव होता है तब माया वहां अपनी विषयता अन्धकारको पैदा कर देती है, तब हमारी दृष्टि उस अन्धकारका ग्रहण करती है, वस्तुका ग्रहण नहीं करती. इसलिये अन्धकारको दूर करनेकेलिये प्रकाशकी अपेक्षा होती है और लोकमें भी यह प्रतीति इसी तरहसे है.

यह अन्धकाररूप विषयता चक्षुसे ही ग्रहणकी जाती है अन्य इन्द्रियोंसे नहीं. अर्थात् वस्तुसे जुदा अन्धकारको ग्रहण करती है. यह बात भ्रमणमें स्पष्ट हो जाती है. जब हम अपने आपको चक्कर देकर खड़े होते हैं तो मकान वगैरह फिरते दीखते हैं. यहां मकान प्रभृतिसे जुदा भ्रमण है, यह स्पष्ट हो जाता है. शास्त्रमें भी **''यथैव भानोरुदयो नृचक्षुषां तमो निहन्याद् नतु तद् (सद्) विद्यते''** इस वाक्यमें

तमस्को एक मायिक जुदा ही पदार्थ माना है और वह असत् है, सत् नहीं. यह तमस् चक्षु सम्बन्धी ही है इसीको सूर्यका उदय नाश कर देता है. स्वभावसे ही अन्य जगद्वर्त्ती पदार्थकी तरह तमस् कोई सत्य पदार्थ नहीं है. किन्तु मायाजन्य असत् है. यदि कोई सत्य पदार्थ होता तो स्पर्श भी होता और उस समय भी वस्तुज्ञानका प्रतिबन्धक होता. सो होता नहीं. अन्धकारका स्पर्श नहीं होता और न वह किसी वस्तुका स्पर्श करनेमें बाधक होता हैं. तमस् यह एक नमूना दिखाया है. इस तरहके और भी पदार्थ ले सकते हैं. जैसे प्रतिबिम्ब. काचमें जब हम अपना मुंह देखते हैं तब वह मोहिनी माया बीचमें एक दूसरा मुख पैदा कर देती है. कितने ही कहते हैं कि वह कोई दूसरा मुख नहीं है, किन्तु चक्षुकी किरणें जब कांचसे रुककर पीछे लौटती हैं तब अपने ही मुखको देखती हैं. मनुष्य भूलसे दूसरा मुख मान लेता है. यह मत किन्तु ठीक नहीं है. जहां आगे-पीछे या आडे-टेढ़े अनेक दर्पण रख लिये जाते हैं वहां सैकड़ों प्रतिबिम्ब और कांच वगैरह दीखने लगते हैं. चक्षुकी परावृत्ति माननेमें ये नहीं हो सकता. सन्मुख स्थित कांचसे अटककर अपना चक्षु ही यदि अपने मुखको देखता तो सम्मुखमें ही दीखता और एक ही मुख दीखता. क्योंकि मुख तो एक ही है. अनेक दीखते हैं और आडे-टेढ़े रखने पर भी दीखते हैं. इसलिये प्रतिबिम्ब एक मायिक पदार्थ जुदा ही है, जिसे मायाने पैदा कर दिया है और असत्य है. यह वस्तु ही ऐसी है, न होते रहते भी दीखती है. अथवा यही आभास पदार्थ माना जाय. इसलिये कहना होगा कि दर्पण देखनेके समय द्वितीय मुख पैदा हो जानेकी तरह, किंवा तेजके अभावमें अन्धकार पैदा कर देनेकी तरह भगवान्की माया मोहित पुरुषकी बुद्धिमें दो तरहको विषयता पैदा कर देती है १.आच्छादिका और २.अन्यथा भासिका. उनमें एक विषयता वस्तुकी ब्रह्मरूपताको प्रकाशित नहीं होने देती और दूसरी विषयता जगद्रूपा कुछका कुछ है. यह ब्रह्मरूप विषयके आडे आ जाती है, तब दृष्टि उसे ही देखती है. ब्रह्मरूपको नहीं देख पाती. इन दोनों तरहकी मायाजन्या विषयताको दूर करनेकेलिये वेदादि प्रमाण बनाये गये हैं।।३३।।

आभासार्थः इस तरह प्रमेय भगवत्स्वरूप, प्रमाण वेदादिका निरूपण करके अब विषय-जगद्रूप भगवान्का निरूपण करते हैं:

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्।।३४।।

श्लोकार्थ: जैसे समस्त छोटे-बड़े भौतिक पदार्थोंमें महाभूत उनके कारणभूतसे प्रविष्ट होते हुए भी अप्रविष्ट ही हैं, उसी प्रकार मैं भी सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मरूपसे स्थित हुआ भी वास्तवमें उनसे पृथक् ही हूं।।३४।।

व्याख्यार्थ: वेदमें दो-दो प्रकारसे पदार्थोका निरूपण किया है. साकार-निराकार, सावयव-निरवयव, पूर्ण और (परिच्छिन्न)नपातुला. ये दोनों जिस प्रकार ज्ञानका विषय हो जाय अर्थात् जिस निरूपणसे ये दोनों समझमें आ जावे उस प्रकारके निरूपणका यह प्रारम्भ है. यदि यह निरूपण न किया जाय तो दोनोंमेंसे एक पक्ष(पदार्थ) मायिक हो जाय. वेद तो दोनोंको ब्रह्म कहता है. ऐसी दशामें यदि एक साकार या निराकार मायिक ठहर जाय तो वेद एक अंशमें झूठा सिद्ध हो जाय. सो न हो, दोनों तरहका भगवान् वेदका विषय रहा आवे. सब ही वेदको प्रमाणता सिद्ध हो जाय, इसलिये *विषयका निरूपण करते हैं 'यथा महान्ति'. पृथ्वी, जल, अग्नि आदि महाभूत स्थूल-सूक्ष्म, ह्रस्व-दीर्घ, सरल-वक्र आदि कार्योंमें कारणरूपसे प्रविष्ट हैं और फिर कार्यरूपसे अनेक प्रकार अनुप्रविष्ट हुए हैं और प्रथमतः विद्यमान रहनेसे अप्रविष्ट ही है, और कहीं-कहीं अनुप्रविष्ट नहीं भी हैं.

(*. वेदेन हि यहांसे लेकर 'विषयोनिरूप्यते' पर्यन्त ३, ४ पंक्ति सुबोधिनीमें 'यथा महान्ति' इस श्लोकका निचोड़ परोक्ष भाषामें कह दिया है. वह इस तरहसे: पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश बड़े भूत हैं और घट आदि पदार्थ छोटे भूत हैं किन्तु ये सब जुदे-जुदे मालूम पड़ते हैं. पृथ्वीसे अग्नि, अग्निसे जल इत्यादि और जो इन महाभूतोंसे बने छोटे भूत घट आदि हैं वे भी पंच महाभूतोंसे बने रहने पर भी जुदे-जुदे दीखते हैं इसका क्या कारण है? इसका उत्तर देते हैं कि ''प्रविष्ठानि अनुप्रविष्टानि, अप्रविष्टानि''. मूलभूत आप श्रीकृत तो किसीके प्रत्यक्षमें आते ही नहीं है. जो भी प्रत्यक्षमें आ रहे हैं वे सब पञ्चीकृत हैं. सुपञ्चीकृत महाभूत साक्षात् ब्रह्म है जो सच्चिदानन्द है. उन सच्चिदानन्दात्मक महाभूतोंसे ये पञ्चीकृत महाभूत और सम्पूर्ण जगद्वर्त्ती पदार्थ तैयार हुये हैं. इनमें साकार-निराकार सावयव-निरवयव पूर्ण-परिच्छिन्न सब पदार्थ आ रहें हैं. ये सब भगवान् हैं, इसका वेद वर्णन करता है. पञ्चीकृत पदार्थोंमें आकाश है. यह सब पदार्थोंसे पृथक् दीखता है और निराकार भी है, यह क्यों? इसका उत्तर यह है कि ''प्रविष्टानि अप्रविष्टानि''. पञ्चीकरणमें प्रत्यक्ष महाभूत प्रत्येक महाभूतमें भागतः प्रविष्ट हैं. ऐसा होनेसे ही वे अपने-अपने दर्शनीय स्वरूपमें आये हैं. फिर जब इनसे कार्य होते हैं तब ये उन कार्योंसे कहीं पुनः प्रविष्ट होते

हैं और अप्रविष्ट भी हैं. घड़ेमें मिट्टीकी अवस्थासे ही आकाश प्रविष्ट है, किन्तु फिर भी घटाकाशरूपसे वह अनुप्रविष्ट है और अपने स्थानमें पहलेसे ही विद्यमान था, इसलिये वह अप्रविष्ट भी है. इसी प्रकारसे परब्रह्म भगवान् भी सच्चित् आदि रूपसे सम्पूर्ण जगत्में प्रविष्ट है और फिर देहादि कार्योंके बन जाने पर जीव और अन्तर्यामी रूपसे अनुप्रविष्ट है. किंवा तत्त्वोंमें भी देवरूपसे पुनः प्रविष्ट होते हैं,और सृष्टिके पहले ही नित्य वर्तमान हैं इसलिए अप्रविष्ट भी रहते हैं यह श्लोकका सम्पिण्डित तात्पर्य है.)

इसी प्रकारसे ही मैं भी(भगवान् भी) सदादि स्वरूपसे सर्वत्र विद्यमान रहते भी कारण रूपसे (तत्त्व रूपसे) प्रविष्ट होता हूं और जीवादिरूपसे अनुप्रविष्ट होता हूं. वास्तवमें तो सर्वत्र पहलेसे ही विद्यमान होनेसे प्रविष्ट नहीं हूं, न कारण रूप. प्रविष्ट और अनुप्रविष्टके अन्वयको लेकर दो वाक्य होते हैं, इसलिये 'पुनः' शब्द कहा है. किंवा महाभूत और भगवान् दोनोंके दो वाक्य होते हैं और दोनोंमें 'न'कारका अन्वय है, इसलिये पुनः शब्द कहा, अन्यथा 'न'कारका अन्वय 'महान्ति भूतानि' इसके साथ ही होता.

कारण कार्यमें प्रवेश करता है और कार्य भी कारणमें (समवेत)मिला ही पैदा होता है. यदि कार्यमें कारणका पीछे भी प्रवेश न रहता तो पटरूप कार्यकी उत्पत्ति निराधार माननी पड़ती, किन्तु ऐसा नहीं है. तन्तु कारण रूपसे प्रथम विद्यमान रहते हैं, किन्तु पट–कार्य हो जाने पर भी वे प्रवेश करते ही हैं, पहले उनका कारण रूप है, और होनेके अनन्तर उनका रूप आधाररूप है. यदि आधाररूपसे कारणका अनुप्रवेश न हो तो पटकी उत्पति ही न हो. और यदि पट समवेतरूपसे न पैदा होता हो तो फिर हर कहीं पैदा होने लगे. तन्तुओंसेही पट, मिट्टीसे ही घट पैदा होता है यह नियम न रहे. कारणमें कार्य, समवाय सम्बन्धसे मिला हुआ ही पैदा होता है. इसलिये ही पूर्वोक्त नियम प्रत्यक्ष हैं, जैसे घट भगवान्, तैसे शब्द. शब्दके कारणोंमें शब्द पहलेसे ही वर्तमान है और मिला हुआ ही प्रकाशित होता है. यदि कोई कहे कि घड़ा नित्य कहां है, उसे तो कुम्हार बनाता है, नित्य होता तो बनाया कैसे जाता? इसका उत्तर देते हैं कि कुम्हार तो प्राकृत विषयतारूप, किंवा सत्यासत्य घटको बनाता है भगवद्रूप घटको नहीं बनाता. भगवद्रूप घट तो नित्य है. नित्य ही घट पश्चात् उसमें अनुप्रवेश करता है. "**गुणं युगपदा विशत्**" "**तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**" आदि भागवत–वेद आदिके वचनोंसे यह स्पष्ट है. शब्द भी नित्य है किन्तु तालु, ओष्ठ पुट आदिकी चेष्टासे

अभिव्यक्त होता हुआ श्रोत्रोंमें उत्पन्न कहा जाता है. यही अनुप्रवेश पटमें भी है अन्यथा पट निराधार पैदा होता, पर होता नहीं है. यदि तन्त्वाधार पटमें आधार रूपसे तन्तु प्रविष्ट न हुये होते तो तन्तुओंकी प्रतीति पटमें न होती, पर होती तो है. अथवा भ्रान्त मानी जाती, किन्तु सो नहीं है. प्रतीति होती है और वह भ्रम भी नहीं है. इस प्रमाणसिद्ध पदार्थको प्रसिद्ध करनेकेलिये यदि युक्ति लड़ाई जाय तो वह स्वयं भ्रमरूपा सिद्ध होगी.

यद्यपि ब्राह्म और पाद्म दोनों विश्व भगवद्रूप हैं तथापि दोनों भिन्न-भिन्न हैं. जैसे घटित पात्र और पूरित पात्र. यद्यपि दोनों ताम्रसे ही बने हैं तथापि भिन्न-भिन्न हैं. वेदोक्त ब्राह्म जगत्में भी दो क्रम हैं: १.युगपत और २.क्रमिक सर्ग. पौराणिक सर्गमें भी दो भेद हैं. पूरित पात्रकी तरह जो पाद्म सर्ग है वह. उसमें कुछ मायाका भी अंश है और जैसे पूरित पात्रमें आकार सांचेका रहता है और सब अंश ताम्र ही ताम्र है. इस पौराण पाद्मसर्गमें दो बीज हैं: आत्मा और माया. वैदिक ब्राह्म जगत्में मायाका कोई भी अंश नहीं, सब कुछ आधार-आधेय ब्रह्म ही ब्रह्म हैं. जैसे घटित पात्रमें आकार आदि सब कुछ घड़के तैयार किये जाते हैं इस तरह ब्राह्म जगत्में भी ''**एकोहं बहुस्यां**'' इस इच्छासे और ''**तस्माद्वा एतस्मात्**'' इस वाक्यसमूहसे क्रमसे सब कुछ भगवान् होता जाता है. इसमें अन्यका किसीका सम्बन्ध नहीं है. इसी ब्राह्मसृष्टिमें दूसरा युगपत्सर्ग है. ''**यथाग्नेः क्षुद्राः**'' ''**तथा अक्षरात् संभवतीह विश्वं**'' इत्यादि वाक्योंमें ब्राह्म युगपत्सर्गका निरूपण है. इसमें भी दूसरे किसीका सम्बन्ध नहीं है, शुद्ध ब्रह्म ही ब्रह्म है. ''**इदं सर्वं यद् अयम् आत्मा**'' ''**सर्वं खलु इदं ब्रह्म**'' ''**पुरुष एव इदं सर्वम्**'' ''**स आत्मानं स्वयम् अकुरुत**'' इत्यादि श्रुतिसमूह केवल ब्रह्मसे ही विश्वकी उत्पत्ति कह रही है. शुद्ध ब्रह्म मात्र है. किन्तु पाद्मसर्ग पुराणोक्त है. यह पूरित पात्रकी तरह द्विबीज है. जैसे पात्र बनानेवाले पात्रका सांचा बनाकर पीतलके रसको उसमें भर देते हैं. वह रस सांचेमें जाकर पात्रका आकार ग्रहण करता है. इसमें दो कारण हैं: पीतल और सांचा. इसी तरह ब्रह्म अपनी माया(प्रकृति)शक्तिका सहयोग करता है तब यह विश्वाकार हो जाता है. इसमें दो बीज हैं: ब्रह्म और माया. यह सत्यानृतका मेल है. इस विषयमें

'**द्वे अस्य बीजे**'
'**द्विधा समभवत् बृहत्**'
'**माया[1] नाम महाभाग! ययेदं निर्ममे विभुः**'

'सदसद्रूपया[२] चासौ गुणमय्यागुणो विभुः'

इत्यादि पुराण वाक्य प्रसिद्ध हैं. इस तरह ये तीन प्रकारके सर्ग हैं. इनकी पारमार्थिकी सत्ता है. अब एक अन्य भी विश्व है जो माया मनोमय है और जिसके विषयमें ''**विद्धि माया मनोमयम्**'' ''**मायामयं वेद स वेद वेदम्**'' इत्यादि पुराणवाक्य हैं. इसकी प्रातिभासिक सत्ता है, किंवा वाचनिकी सत्ता है. यह जगत् केवल कहने मात्रका है, वास्तवमें असत् है. इस तरह चार प्रकारका जगत् है और तीन प्रकारकी सत्ता है यह सिद्ध होता है. यदि खपुष्पादिकी वाचनिक सत्ताको भी सत्ता स्वीकार किया जावे तो फिर चार ही प्रपंच और चार ही सत्ता होती है. उनमें दो प्रपंच उत्कृष्ट(ब्रह्म)सत्तावाले हैं. एक वैदिक ब्राह्मकल्पीय जगत् और दूसरा पाद्मकल्पीय पौराण प्रपंच. तीसरा पौराण प्रपंच निकृष्ट मायिक व्यवहारिक सत्तावाला विश्व है. चौथा विश्व बिल्कुल असत् है. जिसकी सत्ता केवल वाचनिकी है, तथापि सब प्रपंचोंमें भगवान्की स्थिति तो है ही, कहीं किसी रूपसे तो कहीं किसी रूपसे. ये बात ''**सो अनुप्रविष्टो भगवान्**'' ''**परेण विषता स्वेन मानया**'' इत्यादि भागवतमें सिद्ध है.

इसलिए एक ही महाभूतको आधारत्व आधेय और विशेष आधेयत्व सिद्ध है. कारणकालमें और कार्यकालमें सब ही पृथ्वी आदि महाभूतोंको आधारत्व और आधेयत्व है. इस पक्षमें सप्तभेद ही होते हैं, इसलिये पक्षान्तर कहते हैं कि 'अथवा'. पृथ्वी आदि पांचो महाभूत पांच प्रकारसे कारण हैं, इसलिये वह अप्रवेश है. वहां कार्योंमें पहलेसे ही विद्यमान है. इसलिए इस तरह भी अप्रवेश है और स्वयं महाभूत हैं ही, इसलिए भी अप्रवेश कहा जाता है. यह अप्रवेश तीन प्रकारका है और प्रवेश दो प्रकारका है. कारण प्रवेश सहित प्रवेश और विशेषरूपसे पृथक् प्रवेश होनेसे. इस तरह 'तथा तेषु' इस मूलके कथनानुसार पांच प्रकार हुये. अब 'न तेषु' भी मूलमें पद है. तदनुसार पांच प्रकार अन्य भी होते हैं. इस तरह जैसे पंच महाभूत दस प्रकार(कार्य और कारण)से विद्यमान है, यही दस प्रकार भगवान्में भी है. इससे यह सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण विश्वमें दशविध लीलायुक्त भगवान् दस तरहसे ज्ञातव्य हैं. इस तरह निरूपण करनेमें वेदोंको किसी अंशमें भी अप्रामाण्य नहीं आता है।।३४।।

आभासार्थः इस तरहसे भगवत्स्वरूपका वेदोंका और विषय जगद्रूप भगवान्का निरूपण करके कहीं कुछ निरूपण करनेसे रह गया हो तो उसकी

आशंका दूर करनेकेलिये प्रमेय, प्रमाण और विषय तीनोंमें युक्ति कहते हैं:

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः।
अन्वय–व्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा।।३५।।

श्लोकार्थ: परमात्माके तत्त्वको जाननेकी इच्छा रखनेवालेको इतना जानना आवश्यक है कि अन्वय और व्यतिरेक से जो सब जगह और सब कालमें विद्यमान रहता हो वही असल तत्त्व है और वही परमात्मा भी है।।३५।।

व्याख्यार्थ: 'एतावदेव जिज्ञास्यम्' जिज्ञासाके अनुसार ही वस्तुका निरूपण होता है. यहां प्रमेयादि तीन पदार्थोंकी ही जिज्ञासाकी गई है. अन्य मोहक शास्त्रोंकी तरह सोलह पदार्थोंकी नहीं. सोलह पदार्थोंकी जिज्ञासाका आत्माकेलिए कुछ भी उपयोग नहीं है. आत्माकेलिए ही सब कुछ विचारणीय होता है. सो कहते हैं: 'तत्त्वजिज्ञासूना आत्मनः'. १.भगवान्का स्वरूप ही प्रमेय है. ज्ञानका साधन होनेसे, ज्ञानका विषय होनेसे और ज्ञानरूप होनेसे. यहां 'प्रमेय' शब्दसे भगवत्स्वरूप लिया गया है. अर्थात भगवत्स्वरूपका उपयोग ज्ञानरूपसे होता है. २.प्रमाण अर्थात् वेद और वेदोक्त साधन यज्ञादि. वेद कर्मका प्रतिपादन करते हैं और भगवद्भक्तको काम्यादि कर्मोंसे वैराग्य है, अतएव वैराग्योपयोगी होनेसे वेदादि प्रमाणको यहां 'वैराग्य' शब्दसे कहा है और ३.'विषय' शब्दसे दशविध लीलामें भक्ति(स्नेह). सम्पूर्ण विश्व ही विषय है, यह विरुद्ध धर्मोंका आधार है. यह दश प्रकारकी लीलाओंकी भक्तिमें उपयोगी होती है. इसलिए 'विषय' शब्दसे विश्वरूप दशविध भगवल्लीलाओंकी भक्ति कही गई है. आत्माके उद्धारमें इन तीनोंका ही उपयोग है और जो कुछ शास्त्रोक्त साधनादि हैं वे सब देहादिके उपयोगी हैं. इस तरह इन प्रमेयादिके निरूपणसे ही अन्य शास्त्रोक्त आन्तर साधनादिका निराकरण करके इन तीनोंके विषयमें युक्तिका निरूपण करते हैं. 'अन्वयव्यतिरेकाभ्यां' इत्यादि. 'अन्वय–व्यतिरेकाभ्यां' यह युक्ति है और 'यत्' शब्दसे अप्रमेयादि उद्देश कहा है. 'अनु एति इति अन्वयः'. पदार्थ मात्रके साथ जो लगाव है वह अन्वय, और जो सबसे बढ़ जाय वह व्यतिरेक.

इस विश्वमें असल तत्त्व क्या है? इसका उत्तर इतना ही है कि जो तत्त्व इस सारे विश्वके साथ लगा हुआ रहे और जो इससे बढ़कर भी विद्यमान रहे वह तत्त्व ही असल तत्त्व है. यही इस सिद्धान्तको समझनेके लिये उपपत्ति(युक्ति) है. भगवान् परब्रह्म सच्चिदानन्द है. यह वेदसे सिद्ध है. सत्–चित्–आनन्द इन

तीनोंमेंसे पहले 'सत्' भगवान्‌को ही लेते हैं. इस विश्वमें सत्‌का अन्वय है अर्थात् यह सत् भगवान् सबके साथ लगा रहता है. घट है, पट है, जल है, वस्तु है, इत्यादि सम्पूर्ण जगत्‌के साथ 'है'का अन्वय हो रहा है. केवल सत्‌का ही नहीं चित्त और आनन्दका भी अन्वय हो रहा है. सब ही पदार्थोंके साथ ज्ञान लगा हुआ है, और सब ही पदार्थके साथ प्रियता लगी हुई है. ये अस्ति-भाति-प्रिय सत्-चित्-आनन्द तीनों जगद्‌वर्त्ती सब पदार्थोंके साथ लगे हुये हैं. इस तरह सर्वत्र सच्चिदानन्द भगवान्‌का ही अन्वय है. इस अन्वयसे सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण जगत् सच्चिदानन्दमय है. यदि सब जगत् भगवद्रूप न होता तो सत्-चित् आदि पद साथमें न लगाये जाते और उनका अनुभव भी न होता.

अब व्यतिरेक. अपने विशेषसे जो सबसे अधिक ही रहता रहे वह व्यतिरेक. विचारना यह है कि घट-पटादि जगत्‌से क्या अधिक रहता है. घटसे घट तो अधिक है नहीं, और पटसे पट भी अधिक नहीं है, किन्तु सत् ही घटसे अधिक रहता है. ''घटः सन् पटः सन्'' घट है, पट है. यहां घटसे अधिक सत् ही रहता है. इस तरह जो पदार्थ सर्वत्र सबसे बढ़ा हुआ रहे वह ब्रह्म ही है. इसलिए ब्रह्मका ही सर्वत्र अन्वय है और ब्रह्म ही सबसे बढ़ता रहता है, इसलिए सबका वस्तुतत्त्व ब्रह्म ही है.

यहां यह प्रश्न होता है कि ब्रह्मत्वको सिद्ध करनेकेलिए एक अन्वय ही बहुत था फिर व्यतिरेक क्यों कहते हो? तो उत्तर देते हैं कि केवल अन्वयसे जगत्‌का ब्रह्मत्व सिद्ध नहीं होता. क्योंकि जगत्‌में जगत्‌का भी अन्वय रहता है इसलिए व्यतिरेक भी साथमें दिया है. यद्यपि घटसे जगत् व्यतिरिक्त है तथापि जगत्‌से जगत् व्यतिरिक्त नहीं हो सकता. आकाशकुसुम वन्ध्यापुत्र आदि यद्यपि जगत् ते व्यतिरिक्त हैं तथापि उनके साथ सत्‌का अन्वय नहीं है. सत् तो जगत्‌से व्यतिरिक्त है और उसका अन्वय भी है. भगवान् भी सत् है और कारण भी सत् है. अब इससे यह सिद्ध हो चुका कि जिसका अन्वय और व्यतिरेक हो वह भी सब कुछ है. सदादि रूपसे भगवान्‌का अन्वय-व्यतिरेक है, इसलिए भगवान् ही विश्वरूप हैं.

एक बात और भी है जो वस्तु सर्व स्थलोंमें विद्यमान रहती हो वह वस्तु ही सब कुछ है और यह भी अन्वय-व्यतिरेकसे. देश-कालसे जिसका नाप-तौल न हो सकता हो वह ही सब कुछ है. मायामें अन्वयका परिच्छेद है, किन्तु

मायाके विषय आभासादिमें सत्का अन्वय नहीं है. यदि कहो कि आभास सत्से व्यतिरिक्त नहीं है सो नहीं, किन्तु व्यतिरिक्त है ही. इसका उत्तर यह है कि आभास स्वयं ही असत् है और भगवान् तो सम्पूर्ण जगत्में है, मायामें भी है और सबसे अतिरिक्त सदादिमें भी है. इस तरह कालमें भी विद्यमान है. अब यह सिद्ध हो गया कि एक ही घटरूप विषयमें ही कारण भी सत् है, कार्य भी सत् है, आधार भी सत् है और आधेय भी सत् ही है, और सत्(वर्तमान) रहकर व्यतिरिक्त भी है. दृष्टान्त भी यही है, मृत्तिका ही घट नहीं है. यदि ऐसा होता तो मृत्तिका अवस्थामें भी घटकी प्रतीति होती और घटका उपयोग भी होता. न प्रतीति होती और न कोई घट कहता भी. इसलिये मृद् ही घट नहीं है. घट कोई अलग है भी. इसी तरह दृष्टान्तमें भगवान् भी जगत्में पांच प्रकारसे अन्वयको प्राप्त होता है: कारण, कार्य, आधार, आधेय और इनसे अतिरिक्तके साथ भी भगवान्का अन्वय है.

दृष्टान्तमें घटका व्यतिरेक भी ५ प्रकारसे है. पटादिसे घट व्यतिरिक्त है. कारणसे व्यतिरिक्त है, अन्यसे भी व्यतिरिक्त है, आविर्भावसे व्यतिरिक्त है तथा तिरोभावसे भी व्यतिरिक्त है. घटका आविर्भाव भी होता है और तिरोभाव भी है. यही बात दृष्टान्तमें भी है. एक ही घटादि जगत्में आविर्भाव-तिरोभावके द्वारा पूर्वोक्त दस प्रकारसे भगवान् विद्यमान है. इस प्रकारसे भगवान् दश लीला सहित ही सब जगत्में विद्यमान रहता है. इस रीतिसे इस विश्वका वास्तविक स्वरूप भगवान् है. देश(अधिष्ठान)की प्रतीति तो मायिक है(प्रातिभासिक है) और कालकी प्रतीति लीलाकृत है. 'चेष्टाम् आहुः' इस तरह सिद्ध हुआ कि देश, काल और वस्तुसे नपातुला नहीं और देश काल वस्तुओंका वस्तुस्वरूप अहं (भगवान् में) ही हूं और यह सर्वात्मा भगवान् ही जिज्ञास्य(जानने योग्य) है. यह उपपत्ति ग्रन्थ (पंचमाध्यायसे दशमाध्याय पर्यन्त)से विचारा गया है और यही प्रथमाध्याय से चतुर्थ पर्यन्तके ग्रंथमें विचारा गया है. श्रुति भी सम्पूर्ण जगत्को भगवद्रूप कहती है: ''**पुरुष एव इदं सर्वम्**'' ''**वितस्तिम् अधितिष्ठति**'' ''**न यतो अस्ति किञ्चित्**'' ''**प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्**'' इति च.

इस तरह भगवद्दत्त ब्रह्माका शिक्षा निरूपण हुआ.. इसका सार यह है कि सम्पूर्ण जगत् भगवान्का ही स्वरूप जानो किन्तु भगवान् तो जगत्से भी अधिक है, इसलिए जगतमें आसक्ति नहीं करनी चाहिये. एक-एक पदार्थमें सर्व लीला सहित भगवान् विद्यमान है, और देश-काल-वस्तुरूप होता हुआ भी

देश–काल–वस्तुओंसे अधिक अलग भी रहता है।।३५।।

आभासार्थ: इस तरह शिक्षाका निरूपण करके अब यह कहते हैं कि जगत्कर्त्तापनके गर्वको दूर करनेकेलिये भी इस शिक्षाका अनुसन्धान ही उपाय है:

एतन् मतं ममातिष्ठ परमेण समाधिना।
भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्।।३६।।

श्लोकार्थ: ''सब कुछ भगवद्रूप है, अन्यथाप्रतीति मायासे होती है. भगवान् सर्वलीला सहित और सर्व दोष रहित हैं'' इस प्रकारके मेरे मतमें परममोक्ष समाधिके द्वारा तुम प्रतिष्ठित हो. सभी जगत्के कल्प–विकल्पोंमें मेरी माया तुम्हें कभी भी बाधक नहीं होगी।।३६।।

व्याख्यार्थ: भगवान् ही सब कुछ है. इस भगवत्स्वरूपमें जो कुछ अन्यथाभान हो रहा है वह भगवान्की मायासे हो रहा है. इस जगत्में सब जगह सर्वलीला सहित भगवान् ही विद्यमान है और वह सब दोषोंसे रहित है. यह भगवान्का मत है. इस मेरे मतको भगवच्छास्त्र समझकर दृढ़ स्वीकार कर. जिस प्रकार उन–उन मतोंमें वे–वे मतानुसारी लोग प्रतिष्ठा पा रहे हैं इसी प्रकार हे ब्रह्मन्! इस मेरे मतमें तुम प्रतिष्ठा पाओ. ध्यान रखना इस मतमें विभिन्न बुद्धि–कुतर्क बहुतसे उपस्थित होंगे, उन्हें तुम अपने अनुभवसे दूर करते रहना. सो ही कहते हैं 'परमेण समाधिना'. चित्तकी एकाग्रताको समाधि कहते हैं. इस बातको सूक्ष्म दृष्टिसे समझना. ऊपर–ऊपरसे देखने या विचारने से यह मेरा मत समझमें नहीं आयेगा. जब यह मेरा मत समझमें आ जायगा तब तुम या कोई भी महाकल्प और अवान्तर कल्पोंमें भी सृष्टि–प्रलयके समय भूल न खाओगे. अथवा कभी भी न भूलोगे. जिसके हृदयमें यह मत समा गया है उसे मेरी माया न भुलावेगी. इस मतका और मायाका परस्पर विरोध है. जहां यह मत नहीं है वहां ही मेरी माया मोह करा देती है।।३६।।

आभासार्थ: इस तरह भगवान्ने ब्रह्माको उपदेश देकर जो कुछ किया सो कहते हैं:

श्रीशुक उवाच
सम्प्रदिश्यैवम् अजनो जनानां परमेष्ठिनम्।
पश्यतस्तस्य तद्रूपम् आत्मनो न्यरुणद् हरिः।।३७।।

श्लोकार्थ: अजन्मा भगवान् पुरुषोत्तमने प्रजाओंके परम पति ब्रह्माको

इतना आदेश देकर ब्रह्माके देखते-देखते श्रीहरिने अपना स्वरूप छिपा लिया ।।३७।।

व्याख्यार्थ: इस प्रकार अच्छी तरह अनुभवमें आ जावे वहां पर्यन्त अपना मत ब्रह्माको कहकर श्रीहरि भगवान्ने अपना रूप बाहरसे छिपा लिया. यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि भगवान् सर्वरूप है तो अपने रूपको भी इस जगत्में क्यों न स्थापित रहने दिया. ऐसा करते तो सृष्टिका कार्य सुगम हो जाता? इसका उत्तर देते हैं 'अजनः'. भगवान् साधारण जन नहीं है. जनोंसे पृथक् है. भगवान्का जो रूप ब्रह्माने देखा था वह विश्वरूप नहीं था. वह तो जगद्वर्त्ती सब ही रूपोंसे जुदा, आधिदैविक रूप था. इसलिए इसके ध्यान करनेसे ही जगन्निर्माण कार्य हो सकता है किन्तु देखकर करनेसे नहीं हो सकता. क्योंकि यह प्रतिकृति(छवि)रूप नहीं है. दुनियामें जो जन हैं वे तो जनकी प्रतिकृति हैं. अजन नहीं है. तो फिर ब्रह्मा जनसृष्टिमें निर्माणको कैसे समझ सकेगा? तो कहते हैं कि 'जनानां परमेष्ठिनाम्' अर्थात् पैदा होनेवाले प्राणियोंका ब्रह्मा परम नियामक है, आन्तरपति है.

परमे पदे तिष्ठति सः 'परमेष्ठी'. जिससे जन पैदा होते हों, जिसके सामर्थ्यसे स्थिर रहे और जिसके अधीन रहते हों उस पद पर जो स्थित हो वह 'परमेष्ठी' कहा जाता है. अर्थात् ब्रह्मा जनोंकी उत्पत्ति आदिका अधिकारी है. अतएव भगवान्का वह रूप ध्यानके द्वारा जगन्निर्माणकार्यमें उपयोगी होगा. साक्षात् नेत्रके सामने रहनेकी अपेक्षा नहीं. यदि नेत्रके सामने वह रूप रहता तो भी वैसा जगत् तो ब्रह्मा फिर भी नहीं बना सकता था. इसलिए भगवान्ने उस रूपको दिखाकर जल्दी ही छिपा लिया. यदि कहो कि भगवान् तो परम कृपालु हैं फिर उस रूपको क्यों छिपा लिया? तो कहते हैं कि 'हरिः'. ब्रह्मा और प्राणियोंके दुःख दूर करनेवाले भगवान् हैं, अर्थात् चिरकाल दीखता रख लेनेसे ब्रह्मा कदाचित् उसको रखनेकेलिए आग्रह करे तो उसे दुःख होगा, इसलिए दिखाकर उसकी प्रार्थनाके पहले ही छिपा लिया।।३७।।

आभासार्थ: इसके बाद जो हुआ सो कहते हैं:

अन्तर्हितेन्द्रियार्थाय हरये विहिताञ्जलिः।
सर्वभूतमयो विश्वं ससर्जेदं स पूर्ववत्।।३८।।

श्लोकार्थ: जब भगवान्ने नेत्रगृहीत रूपको छिपा लिया तब सर्वभूतमय

ब्रह्माने भी भगवान्‌को हाथ जोड़कर पूर्वकल्पकी तरह इस जगत्‌को पैदा किया।।३८।।

व्याख्यार्थ: इन्द्रियोंका जो अर्थ–गोचर, वह इन्द्रियार्थ. भगवान् ब्रह्माकी इन्द्रियोंके विषय भी हुए और छिप गये. भगवान् किसीकी इन्द्रियोंसे जाने नहीं जाते तथापि अपनी इच्छासे भक्तोंकी इन्द्रियोंके विषय हो जाते हैं. वास्तवमें तो भगवान् ही सबके परमपुरुषार्थरूप हैं और सामान्यत: पदार्थरूप भी स्वयं हैं. अतएव चेतन पक्षमें अपने भक्तोंकी मुक्ति करनेकेलिए उनकी इन्द्रियोंको साक्षाद् दर्शन देते हैं, विषय हो जाते हैं. और जड इन्द्रियोंके पक्षमें उनको भी कृतार्थ करने किंवा उनके अधिष्ठाताओंको कृतार्थ करनेकेलिए इन्द्रियगोचर हो जाते हैं. यदि भगवान् ब्रह्माके इन्द्रियार्थरूप ही रहे आते तो सर्व समष्टिरूप ब्रह्मा और उसके अंशरूप व्यष्टि देवगण निरिन्द्रिय रह जाते, इसलिए भगवान् उनके दु:खकी निवृत्तिकेलिए इन्द्रियार्थ होकर अब छिप गये. उन्होंने अपना इन्द्रियार्थ रूप हटा लिया. यही भगवान्‌का 'हरित्व' है. हरिरूप हो जानेसे ब्रह्माका उपकार ही हुआ. अतएव ब्रह्माने भगवान्‌के हाथ जोड़े. अथवा हाथ जोड़ना ही जीवका विशेष हित है. भगवान् यदि जीवोंका उपकार करे तो जीवोंको उसे अपनी अञ्जलिमें ग्रहण करना चाहिये. यही जीवोंका कर्तव्य है. असमर्थ जीव भगवान्‌का प्रत्युपकार किंवा सेवा भी करता है. बस भगवान्‌का स्वरूप देख लिया यही बड़ा उपकार हुआ. अज्ञ जीवों पर भगवान् कृपा करें और वे, बेसमझीसे निषेध न कर दें, यही उनका सत्कार्य बहुत है. शास्त्रसे प्रमाण तो विहित है ही, सो ब्रह्माने स्वयं कर दिया. इससे स्पष्ट होता है कि ब्रह्माको भगवान्‌का किया उपदेश स्मरणमें था. भगवद्‌वचनका स्मरण रहनेसे ब्रह्मा अब सर्व जीवमय हो गया. देह और आत्मा दोनों सर्व भूतमय हो गये. क्योंकि 'भूत' शब्दसे प्रादुर्भाव मात्र लिया जाता है. जो–जो प्रादुर्भाव प्राप्त हो सकता है, तन्मय ब्रह्मा हो गया. अर्थात् विश्व जड़–चेतनमय हुआ. अथवा भगवान्‌की आज्ञासे जितना कुछ जड़–चेतन जगत् प्रकट हुआ, वह ब्रह्मामें प्रविष्ट हो गया. ब्रह्मा उस समय ब्रह्मरूप* ही हो गया और ब्रह्मरूप होकर उसने स्वरूपभूता विश्वसृष्टिका निर्माण किया. तब ही वैषम्य और निर्दयपन न हुआ, क्योंकि वह विश्व भगवत्स्वरूप ही था, कोई अन्य नहीं. भेद होनेसे ही वैषम्य–नैर्घृण्य दोष आते हैं. अतएव ब्रह्मा दर्शनके समयका हो गया और उसने जगत् भी दर्शनके समयका ही बनाया. अर्थात् पूर्वमें जब भगवान्‌ने

अपने दर्शन दिये थे, उस समय भगवान्ने ब्रह्माको आधिदैविक रूप दिया था, सो अब जगत् बनाते समय भी वह पूर्ववत् हो गया और दर्शनमें जैसा जगत् भगवान्ने रचा था, किंवा अपने स्वरूपसे रचा था, ब्रह्माने भी उसके सदृश विश्व रचना की।।३८।।

(*. ब्रह्मकल्पमें आधिदैविक कारणसे आधिदैविक कार्य ही प्रकाशित होता है, इसलिये इस प्राथमिक सृष्टि समयमें ब्रह्मा आधिदैविक स्वरूप हो गया.)

आभासार्थ: इस तरह कार्य पर्यन्त पहुंचा देने वाले भगवान्के उपदेशका निरूपण करके उस उपदेशका प्रचार बताते हैं:

प्रजापतिर्धर्मपतिः एकदा नियमान् यमान्
भद्रं प्रजानाम् अन्विच्छन् आतिष्ठत् स्वार्थकाम्यया।।३९।।

श्लोकार्थ: एक दिन सब धर्मोंके स्वामी ब्रह्मा प्रजाओंका कल्याण करनेकी इच्छासे अपने भगवदुक्त पुरुषार्थकी सिद्धिकेलिए यम-नियमोंका आचरण करते थे।।३९।।

व्याख्यार्थ: भगवान्के उपदेशसे जिस प्रकारसे मैं कृतार्थ हुआ है, उस तरहसे सब ही कृतार्थ हो, यह प्रजाओंका कल्याण चाहने वाला, किन्तु वैसा इन लोगोंका अधिकार नहीं है और अधिकार प्राप्त कर सके ऐसी उनकी शक्ति भी नहीं है. यह भी आशंका करके यह विचार किया कि "**यस्मिन् जाते एताम् इष्टिः निर्वपति**" इस श्रुतिमें यह सिद्ध है कि पिताका किया कर्म पुत्रोंको पहुंचता है, इसलिए पुत्रोंको कल्याणकेलिए स्वयं ब्रह्माने यम और नियम किये. किन्तु पितृकृत शास्त्रविहित धर्म ही पुत्रोंको मिलता है अन्य नहीं, इसलिए दूसरा प्रकार कहते हैं कि 'प्रजापतिः'. जैसे पतिका किया पत्नीकेलिये प्राप्त होता है उस तरह ब्रह्माका यमनियमानुष्ठान प्रजाओंको मिलेगा यों समझकर वे किये. अब एक प्रश्न यह होता है कि यह भी नियम स्त्रीकेलिये है, अन्यके लिये नहीं. तो उत्तर देते हैं कि ब्रह्मा धर्मका भी नियामक है, अतएव नियामक जिसके पास जानेकेलिए प्रेरणा करेगा, धर्म उसके पास ही जायगा. इसलिये 'धर्मपतिः' कहा. 'एकदा' एक दिन अर्थात् जिस दिन निश्चिन्त अवस्था थी उस दिन. किंवा भगवान्के आशय जाननेकेलिए जब ब्रह्मदेव प्रचारका विचार कर रहे थे. जल पीकर ही रह जाना इत्यादि यम है और अहिंसा आदि नियम कहे जाते हैं. इन्द्रिय, अन्त:करण आदिको नियममें रखना ही यम-नियमका तात्पर्य है. जैसे लौकिक क्रियाओंमें

प्रवृत्त हो रहे इन्द्रियोंको रोककर वैदिक क्रिया कर देना. वैसे ही अन्तःकरणको भी लौकिक ज्ञानसे हटाकर वैदिक ज्ञानमें लगा देना ही यम-नियमका काम है. ये दोनों ब्रह्माने प्रजाओंकेलिये किया. यदि कहो कि ब्रह्माको इतना आग्रह क्यों हुआ तो कहते हैं कि 'स्वार्थ काम्यया'. भगवदुक्त अपने प्रयोजनकी इच्छासे. भगवान्ने आज्ञाकी थी कि इस मेरे मतका अवस्थान करना, इस आज्ञासे भगवान्के मतकी अवस्थिति चारों ओर करनी चाहिये. अवस्थिति प्रचारसे ही हो सकती है. और एक बात यह भी थी कि 'जो अपने आश्रितकी रक्षा न कर सके वह पति ही नहीं' इस वाक्यके अनुसार प्रजाओंको कृतार्थ न करे उसका स्वामित्व ही निरर्थक है, यह समझकर अपने स्वार्थकेलिए ही ब्रह्माने यमादिका अनुष्ठान किया।।३९।।

आभासार्थः ब्रह्माका यमनियमानुष्ठान सफल हुआ सो कहते हैं:

तं नारदः प्रियतमो रिक्थादानामनुव्रतः।
शुश्रूषमाणः शीलेन प्रश्रयेण दमेन च।।४०।।

श्लोकार्थः दायादोंमें सबसे विशेष आज्ञाकारी और अतिप्यारा पुत्र मायेश भगवान्की मायाको जाननेकी इच्छा रखता, मनन करनेवालोंमें प्रधान और महाभागवत नारद मुनिने, हे राजन् अपनी नम्रतासे इन्द्रियोंके दमनसे और अपने सुन्दर स्वभावसे सेवा करके पिता ब्रह्माको प्रसन्न कर लिया।।४०।।

व्याख्यार्थः पूर्वोक्त धर्माचरणयुक्त ब्रह्माको नारदने प्रसन्न किया. यहां दो श्लोकोंका एक ही अन्वय है. 'पर्यतोषयत्' क्रिया दूसरे श्लोकमें है इसलिए 'नारं द्यति सः नारदः'. नर समूहको अर्थात् जीवोंके जीवभाव दूर करे, अथवा जीवोंके हृदयको भगवान्के विराजनेका स्थान बना दे, वह नारद कहलाता है. इसलिए भगवन्मतका प्रचार करनेमें नारद ही अधिकारी है. शास्त्रमें कहा है कि अपनी सम्पत्ति प्रिय पुत्रको देवे और दायादोंमें नारद ही ब्रह्माको अति प्रिय पुत्र था. सम्पत्तिके अधिकारी पुत्रोंको रिक्थाद कहते हैं. सम्पत्ति अनेक प्रकारकी होती है. यहां तो यह भगवन्मतरूप सम्पत्ति सर्वोत्तम है. इसके देनेका सर्वोत्तम अधिकारी प्रियतम पुत्र है. जैसा यह प्रियतम पुत्र है वैसा ही यह रिक्थ है.

एक बात और भी है. नारद केवल अति प्रिय ही नहीं था पर ब्रह्माकी आज्ञा पालन करनेवाला सेवक भी था. स्वामी जो कहता है उसके अनुकूल सेवक करता है. इसलिए ब्रह्मा जो आगे करना चाहता है, उस कार्यका साधक

नारद ही है और फिर सेवा करनेवाला है. शास्त्रमें कहा है कि सेवारतको ही ज्ञान देना उचित है. सेवाकर्त्ताको ही ज्ञान सफल होता है. सेवा भी स्वच्छन्द नहीं किन्तु शीलके अनुसार, अर्थात स्वामीका जैसा स्वभाव हो वैसी सेवा, उसको जैसी रुचे वैसी, अपने स्वभावसे की गई सेवा भी रोचक ही हो सकती है. यह सेवा अहंकारसे की गई अच्छी नहीं कही जाती किन्तु विनयसे, नम्र सेवकसे की गई सेवा ही फलप्रद होती है. यह सेवा इन्द्रिय दमनपूर्वक. इन्द्रियचपल सेवकको सेवामें शंका रहती है इसलिए स्वामीको प्रसन्नता नहीं होती. मूलमें 'च' दिया है इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्माको प्रसन्न करनेके साधन और भी स्तुति प्रभृति नारदने किये।।४०।।

आभासार्थः यह कहा:

मायां विविदिषुर्विष्णोः मायेशस्य महामुनिः।
महाभागवतो राजन्! पितरं पर्यतोषयत्।।४१।।

श्लोकार्थः हे राजन्! महाभाग महामुनि नारदने मायेश भगवान् विष्णको जाननेकी इच्छा रखनेवाले पिता ब्रह्माको सब प्रकारसे सन्तुष्ट किया।।४१।।

व्याख्यार्थः यह सेवा नारदने अपने आप पुत्र धर्म समझ कर नहीं की, किन्तु अन्य कार्यकेलिये की सो कहते हैं: 'मायां विविदिषुः' इति. मायेश भगवान्को मायाको समझनेकेलिये सेवा की. 'मायेश' यह सम्बन्धिका निर्देश किया है इसलिये यहां माया, जगत्कारणभूता सर्वभवनसामर्थ्यरूपा ली गई है, मोहिनी माया नहीं. ''**परास्य शक्तिः विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च**'' इस वेद वाक्यके अनुसार भगवान्की विविध प्रकारकी तीन प्रधान शक्तियां हैं, ज्ञान-बल-क्रिया. उनमें सृष्ट्युत्पत्तिके समय बलरूपा सर्वभवनसामर्थ्यका उपयोग करते हैं. और स्थिति-संहारमें मोहिनी ज्ञान और क्रिया शक्तिका उपयोग करते हैं. इसके किसी पूर्व कल्पमें भगवान् मायाके द्वारा ही विश्वरूप हुये थे. नारदको यह स्मरण था. अतएव वह जान रहा है कि सर्वदा भगवान् मायासे ही विश्वरूप होता है. किन्तु इस विषयमें इतना ही फरक है कि इसी कल्पमें मायाको कारणरूपसे ग्रहण करते हैं अन्य किसी समय ग्रहण नहीं करते. दोनों प्रकारमें ही जगत पदार्थोंमें किसी तरहका फरक नहीं आता. यह माया समझमें आ सके ऐसी है, अतएव यदि इसे कोई पूछना चाहे तो पूछ सकता है. सृष्टिमें मायाका सहयोग इसलिये किया जाता है कि विश्व व्यवहार्य पदार्थ है, और केवल ईश्वरमें व्यवहार

होना अयोग्य और अशक्य होता है. क्योंकि भगवान् मन और वाणी से परे हैं. और देश-काल-वस्तुसे नपेतुले नहीं हैं, देश-काल-वस्तुओंमें भी समाये हुये हैं. इन भगवान्की सहयोगिनी ज्ञान-बल-क्रियारूपा मायाको, तथा निज अंशरूपा मायासे मोह करनेवाली और दश लीला विभेद कराने वाली मायाको भी जाननेकी इच्छा नारदको थी. यह सब बात 'मायेशस्य' इस पदसे कही. मायाकी व्यवस्था करनेवाला भगवान् ही है. इसलिये मायाको साधन बनाता है. 'महामुनि'का तात्पर्य यह है कि नारद खूब ही मननशील हैं इसलिये मोहिनी मायाके स्वरूपको जानता है. इससे यदि कभी उससे भी मुठभेड़ हो जावे तो उसे भी दूर करनेकी शक्ति रखता है. मुनि तो अपने हितको ही जानता है और महामुनि तो परम हितको भी जानता है. और दूसरी बात यह है कि नारद महाभागवत है, इसलिये दशविध लीलाओंको सुननेका अधिकारी है. 'राजन!' सम्बोधन कहनेका तात्पर्य यह है कि आप भी वैसे हो, विश्वासकेलिये 'पितरं' कहा. उसको 'पर्यतोषयत्' अच्छी तरह सन्तोष पहुंचाया।।४।।

आभासार्थ: फिर इसके आगे क्या हुआ सो कहते हैं:

तुष्टं निशम्य पितरं लोकानां प्रपितामहम्।
देवर्षि: परिपप्रच्छ भवान् यन् मानुपृच्छति।।४२।।

श्लोकार्थ: लोकोंके परमपितामह और अपने पिता ब्रह्माको प्रसन्न हुआ जानकर देवर्षि नारदने जो आप मुझे पूछते हैं वही ब्रह्मासे पूछा.

व्याख्यार्थ: 'निशम्य' पदमें नि-शम्य दो पद हैं. 'शम्य'का अर्थ है, जानना और 'नि'का अर्थ अच्छी तरह. अर्थात् ब्रह्माकी प्रसन्नता अच्छी तरह जान ली तब. 'पितरं'(पितासे), पदमें पूछनेकी योग्यता बताई है. मायाका प्रश्न नारदने केवल अपने लिये ही नहीं किया, किन्तु सब लोगोंकेलिये किया है. यह 'लोकानां प्रपितामह' वाक्यसे कहा है. '**अनुशिष्टेन हि भाव्यं पितुः पुत्रेण**'. अर्थात् पुत्रको पितासे सब कुछ सीखना चाहिये. इस वाक्यानुसार जब पिता ब्रह्मा मुझे शिक्षा देंगे तो मेरा भी कर्तव्य है कि तदनुसार मैं भी पुत्रप्रायः प्रजाओंको सिखाऊंगा. यह भी नारदने समझ लिया. नारदको 'देवर्षि' कहा इसका यह तात्पर्य है कि देवोंके उपास्य मन्त्रका भी जिसने दर्शन किया है वह नारद ब्रह्माके हृदयकी बातको कहने पर न समझेगा ऐसा तो विचार भी न करना. 'परिपप्रच्छ' अर्थात् साधन हितका प्रश्न किया. हे राजन्! जैसे तुमने मुझसे पूर्वपक्षरूपसे पूछा

वैसे नारदने भी ब्रह्मासे पूछा. 'भवान् यन् मानुपृच्छति' आप जो मुझसे पूछते हैं सो।।४२।।

आभासार्थ: ज्ञान–वैराग्य और विचार तो पहले जान ही लिये थे अब तो सर्वसन्देह दूर करने वाला भक्ति विषयक तीसरा प्रश्न नारदने पूछा. सो कहते हैं:

तस्मा इदं भागवतं पुराणं दशलक्षणम्।
प्रोक्तं भगवता प्राह प्रीतः पुत्राय भूतकृत्।।४३।।

श्लोकार्थ: जगत्कर्त्ता ब्रह्माने अपने पुत्र इस नारदको भगवान्के कहे गये दश लक्षणवाले 'भागवत' नामक इस महापुराणको प्रसन्न हो कर कहा.

व्याख्यार्थ: दश लक्षणवाले अन्य भी पुराण हैं. उनमें जगत्के दश प्रकार कहे हैं, किन्तु वे (लौकिक) हैं. वे यहां न समझे जावे इसलिये कहा, भागवतम्. यह पुराण भगवान्ने कहा है, और भगवान्का स्वरूप ही इसमें कहा गया है. 'भागवत' शब्दसे प्रथम सिद्धान्त कहा और 'पुराण' शब्दसे द्वितीय लौकिक सिद्धान्त भी कहा. सम्पूर्ण जगत् साक्षात ब्रह्म है, यह वेदोक्त प्रथम सिद्धान्त है. ब्रह्म माया मिश्र है यह पुराणोक्त द्वितीय सिद्धान्त है. मायिक है, यह तृतीय सिद्धान्त है. और केवल वाचनिक है यह चतुर्थ. 'इदं' कहकर तृतीय और चतुर्थ सिद्धान्तकी भी सूचना कर दी है. 'इदं' (ये)से अपने हृदयस्थ सिद्धान्तका निर्देष है. इससे यह दिखाया है कि पूर्व चतु:श्लोकीमें जो चार सिद्धान्त कहे– प्रमाण, प्रमेय, विषय और उपपत्ति –इन्हें भी नारदसे कह दिये. प्रमाणकी सत्यता सिद्ध करनेकेलिये वक्तृपरंपरा कहते हैं: 'प्रोक्तं भगवता'. यह भागवत भगवान्ने मुझसे कही थी. यदि कहो कि यह तो परम समाधिगम्य ज्ञान है, आपसे भगवान्ने कैसे कह दिया? तो कहते हैं कि वे अति प्रसन्न हुये थे. इसलिये, और मैं पुत्र हूं इसलिये कहना आवश्यक भी था.

यहां एक यह प्रश्न होता है कि नारदने तो मायाके स्वरूप जानने चाहे थे, सो मायिकी लीला उसे न कहकर सिद्धान्तका कथन क्यों किया? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'पुत्राय' पुत्र यदि अमार्ग पर जाता हो तो निवारण करके सत्य मार्गका उपदेश करना पिताका धर्म है. ब्रह्मा सर्व प्राणियोंका कर्त्ता है, अतएव नारदके द्वारा उसने सबके उपयोगी अर्थका भी प्रकाश किया. क्योंकि वह भूतकृत है।।४३।।

आभासार्थ: नारदने ब्रह्माकी इच्छाके अनुसार कार्य किया यह भी कहते हैं:

नारदः प्राह मुनये सरस्वत्यास्तटे नृप।
ध्यायते ब्रह्म परमं व्यासायामिततेजसे।।४४।।

श्लोकार्थः तेजस्वी श्रीवेदव्यास मुनि जिस समय सरस्वतीके तट पर पूर्ण परब्रह्मका ध्यान कर रहे थे, उस समय वहां जाकर नारदने परब्रह्मका स्वरूप भागवत कहा.

व्याख्यार्थः वेदव्यासकी योग्यता, परब्रह्मरूप भागवतके श्रवण करनेकी थी. यह दिखानेकेलिये चार विशेषण कहे हैं. उनमें 'मुनये' मननशील कह कर चौथी योग्यता प्रकटकी है. मुनि ही अपने आपको भगवान् रूपसे ध्यान करता है. 'मैं ही ब्रह्म हूं'. यह चतुर्थ(कनिष्ठ) अधिकार है. 'अहं ब्रह्मास्मि'. अब प्रथम सर्वश्रेष्ठ योग्यता दिखाते हैं कि 'परं ब्रह्मध्यायते' पूर्ण ब्रह्मका ध्यान करते. दश लीलाओंका सब तरह ज्ञान होनेकी योग्यताकेलिये यह विशेषण दिया है. जो महापुरुष पूर्ण पुरुषोत्तमका ध्यान करता है, वह उसकी दशविध लीलाओंको जान सकता है. 'व्यासाय' वेद विस्तार करने वाले. सबकी बुद्धियोंमें ज्ञानका विस्तार करनेकेलिये वेदोंका निर्माण है. उसका विस्तार करनेवाला ही व्यामोहिका मायाको जानता है. यह तृतीय योग्यता है. 'अमित तेजसे' अलौकिक तेजवाले. परब्रह्मके ज्ञानमें अलौकिक ज्ञानप्रकाश सहायक होता है. यह तेज ब्रह्मज्ञान साध्य है. ब्रह्मज्ञानसम्पन्न अलौकिक तेज भगवज्ज्ञानमें उपयोगी होता है, यह द्वितीय योग्यता है।।४४।।

आभासार्थः इस तरह परंपराके कथनद्वारा साधारण रीतिसे सब दोषोंका परिहार करके प्रश्नरूपसे जो पदार्थ पूछे गये थे, उनका निरूपण करनेकेलिये कहते हैं:

यद् उताहं त्वया पृष्टो वैराजात् पुरुषाद् इदम्।
यथासीत् तद् उपाख्यास्ये प्रश्नान् अन्यांश्च कृत्स्नशः।।४५।।

श्लोकार्थः तुमने जो मुझसे पूछा कि उस विराट् पुरुषसे यह जगत् किस प्रकार हुआ, तथा तुमने और भी जो-जो प्रश्न किये, उन सबका मैं क्रमशः यथावत् उत्तर देता हूं. तुम सावधान होकर सुनो.

व्याख्यार्थः 'उत' जो भी कुछ, अर्थात् दूषणको छोड़कर केवल प्रश्नरूपसे पूछी बात सो भी यदि पूछा जाय तो भी मुझे कहना ही चाहिये, इसलिये मैं कहूंगा. इस प्रश्नमें सामान्य और विशेष रूपसे दो प्रकारभेद हैं. उनमें प्रश्नका

सामान्य रूप यह है कि विराट् पुरुषसे सब विश्व कैसे हुआ? और विशेष रूपसे उसके सब भेदोंके प्रश्न हैं. यही बात 'प्रश्नान् अन्यांश्च' वाक्यसे कही है. अन्यान् कहनेसे उस मुख्य प्रश्नके उपयोगी और भी जो कुछ प्रश्न हैं, उन्हें भी कहूंगा. 'च'कारसे यह भी कहा है कि उनसे अन्य भी जो दूसरोंने भी किये होंगे, उन्हें भी कहूंगा. 'कृत्स्नशः' अर्थात् एक-एक प्रश्नका अनेक प्रकारसे निरूपण किया जाता है।।४५।।

श्रीभागवत महापुराणके द्वितीय स्कन्धकी महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी विवृतिका नौवां अध्याय सम्पूर्ण.

अध्याय १०

तृतीय श्रवणाङ्ग साधन: मनन

भागवतके दस लक्षण और प्राकृत सर्गका क्रम

इत्याक्षेप–समाधाने निरूप्य हरिजीवयोः।
उपपत्त्या तयोरेव रूपदेहाविहोदितौ।।का.१।।
दशधा ज्ञायते रूपं हरेर् अन्यत् त्रिधा मतम्।
आध्यात्मिकादिभेदेन गुणतः कर्मतोऽपि हि।।का.२।।

कारिकार्थ: इस तरहसे पूर्वाध्यायोंमें हरि और जीव के स्वरूप और रूपके विषयमें जो–जो आक्षेप हो सकते हैं, उनका समाधान करते हुवे, उन दोनोंके ही रूप–देहका युक्तिके द्वारा निरूपण किया. ''यथा महान्ति'' आदि श्लोकोंमें भगवान्का रूप दश प्रकारका और जीवका देह किंवा रूप आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक प्रकारसे तीन प्रकारका है. यह स्पष्ट होता है. श्रीहरिका देह गुणोंसे दश प्रकारका और जीवका देह कर्मसे तीन प्रकारका है।।१–२।।

आभासार्थ: नवमाध्यायमें ब्रह्माके उपदेशमें भगवान्ने चार पदार्थोंका निरूपण किया. प्रमाण, प्रमेय, विषय और शिक्षा. उनमें तृतीय(विषय)को छोड़कर बाकी रहे तीन पक्षोंका श्रुति आदिमें निरूपण सिद्ध है. इसलिए उनका विस्तार न कहकर एक विषय(भगवद्रूप जगत्)में ही दश अलौकिक लीला विद्यमान हैं, इसलिए अब इस दशमाध्यायमें उन लीलाओंका ही निरूपण स्वरूप और लक्षण से करते हैं. यद्यपि अन्य पुराणोंमें बहिर्मुख रूपसे उन लीलाओंको ही लौकिक दश पदार्थोंके रूपमें सिद्ध कही है. तथापि यही श्रीमद्भागवतमें वे नहीं हैं, किन्तु भगवल्लीलारूप अलौकिक पदार्थ हैं, सो कहते हैं.

श्रीशुक उवाच

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणम् ऊतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः।।१।।

श्लोकार्थ: श्रीशुकदेवजीने कहा कि श्रीभागवतमें सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय ये दश

भगवान्‌की लीलायें कही गई हैं।।१।।

व्याख्यार्थ: यहां श्रीभागवतशास्त्रमें किंवा श्रीभागवत सिद्धान्तमें सर्गसे लेकर आश्रय पर्यन्त दश पदार्थोंका निरूपण है. इन दशों पदार्थोंका अर्थ आगे तृतीयादि स्कन्धोंके व्याख्यान समयमें विस्तारसे कहेंगे. तथापि यहां साधारण रीतिसे कहते हैं.

यही दश धर्म उद्देशाध्याय(द्वितीयाध्याय)में अदीनत्वादि रूपसे कहे हैं जिनका व्याख्यान विस्तारसे विवरणाध्याय(सातवां)में किया गया है.

अदीनत्व और सर्ग लीला एक है. अपेक्षासे दीनत्व रहता है, किन्तु किसीकी भी अपेक्षा न रहनेसे अदीनत्व होता है. अपनी लीलाओंका निर्वाह करनेकेलिए स्वयं ही भगवान् जगद्वर्त्ती पदार्थोंका रूप धारण करते हैं. इसलिए यही अदीनत्व लीला है. यही सर्ग है. अशरीर व्यापक परब्रह्मका पुरुष शरीर स्वीकार करना सर्ग है. सर्गमें कार्योंके कारणोंकी उत्पत्ति होती है, जिससे कार्योत्पत्ति सुगम हो जाती है.

दूसरी लीला विसर्ग है. यह भी लीला है. बिना परिश्रम कोई कर्म करना अर्थात् पुरुष रूपसे ब्रह्मा आदिकी उत्पत्ति होना विसर्ग है. कारण विशिष्ट कार्योंकी उत्पत्ति विसर्ग कहाता है. सर्ग एक तरहसे भगवान्‌की शक्ति और धर्मों का अविकृत परिणाम है और यह परिणाम भगवत्स्वरूप स्वभावका कार्य है और विसर्ग भगवत्स्वरूप जन्म और कर्म का कार्य है.

विसर्गमें उत्पन्न पदार्थोंकी मर्यादाओंको नियत करके जहांका तहां उनका पालन करना स्थान लीला है, और यही भगवान्‌का हसित है. निर्देशक नाटक तैयार करके जैसा रंगमंच पर उन-उन पात्रोंको उनकी मर्यादाओंमें स्थापन करता है इसी तरह भगवान् भी अपने स्वरूपमें ही जगन्नाटक तैयार करके, उन पात्रोंको मर्यादासे स्थापन करके आप हंसता है, प्रसन्न होता है. अन्यथा एक इस भगवत्स्वरूपमें विभिन्न मर्यादायें कैसे हो सकती हैं.

मर्यादास्थितोंकी अभिवृद्ध करना, बढ़ाना ही पोषण है. स्वामीकी दृष्टि पडनेसे कार्यकर्ता लोक पुष्ट होते हैं, बढ़ते हैं. भगवान् भी अपने अनुचरों पर करुणावलोकन रखते हैं, जिससे वे बढ़ते हैं.

पुष्टोंका वासनानुसार आचरण ही ऊति है. यह ऊति भगवान् भ्रू(भौ) है. जैसे-जैसे भगवान्‌की भ्रू चलती है, वैसे-वैसे अन्तःकरणमें वासनाओंका उद्भव

होता है.

उन ऊति आचरणोंमें भी सदाचार किंवा सद्धर्म मन्वन्तर है. यही भङ्ग स्वरूप है. सद्धर्म या सदाचार से सामान्य आचरणका किंवा आचरण कर्ताका भङ्ग– रुकावट हो जाती है.

उन सद्धर्म किंवा सदाचारमें भी भगवान्की भक्ति ही ईशानुकथा है. भक्तोंकी वंशानुकथासे भगवान्का उल्लास होता है, इसलिये ईशानुकथाको उल्लसित कहा है.

भक्तोंके प्रपंचका न रहना ही निरोध है. यही संसूचन है. स्वरूप फलको जिससे सूचना मिलती है, वह कार्य संसूचन है.

जिन भगवच्चरित्रोंसे भक्तोंका हृदय प्रपञ्चसे हट जाय, भगवान्में ही लग जाय, वह फलका संसूचन और वही निरोध है.

निष्प्रपञ्च होने पर भगवत्स्वरूपका लाभ ही मुक्ति है. यही भूरित्व है. भगवत्प्रवेश होनेसे व्यापकत्व–बहुत्व ही मुक्ति है. एक भगवान् ही मुक्त है, किन्तु अन्य जीव भी मुक्त हो, यह भूरित्वका भाव है.

मुक्तोंका ब्रह्मरूपसे स्थिर–स्थित होना आश्रय है. यही अनुग्रह कहा जाता है. भगवान् जब अनुग्रहरूप होता है, तब ही किसीको अपने आपमें स्थापन करता है. पोषणका अर्थ अनुग्रह किया है और आश्रयको भी अनुग्रह कहा है. इसका तात्पर्य इतना ही है कि चतुर्थ लीलारूप 'अनुग्रह' रूढ़ शब्द है. इसका अर्थ कृपा किंवा स्वीयत्वेन स्वीकार भी होता है. किन्तु दशम लीला किंवा आश्रय वाचक 'अनुग्रह' शब्द यौगिक है अर्थात् 'अनु पश्चात् ग्रहस्वरूप करणं अनुग्रहः'. मुक्ति हो जानेके अनन्तर जीवको भगवान् स्वस्वरूप बना लेते हैं, ब्रह्मरूप कर लेते हैं. यहां यह अनुग्रहका भिन्न ही अर्थ है.

यह व्यवस्था समष्टिरूप ब्रह्मकी हुई. अब व्यष्टिरूप जगत्के प्रत्येक पदार्थोंमें भी यही सर्गादि नव लीला है और दशम आश्रय है. पट पदार्थमें कारण रूपसे भगवान्की स्थिति सर्ग है. पटमें तन्तुओंकी स्थिति है किन्तु अव्यक्त(छिपा हुआ) और सद्रूपसे है. इसी प्रकार प्रत्येक घटादि पदार्थामें कारणरूप भगवान्की जो अव्यक्त और सत्रूपसे स्थिति है वह सर्ग है. सत्कार्यवादका यह सिद्धान्त हैं कि कारणमें पहलेसे ही कार्य विद्यमान रहता है. कर्तृ क्रियासे तो वह प्रकाशित मात्र होता है. तदनुसार कारणोंमें कार्यरूपसे पहले ही विद्यमान रहना 'विसर्ग' है.

कार्यरूप भगवान् भी नित्य होनेसे कारणोंमें पहलेसे ही रहता है. तन्तुओंमें पट सिद्ध होता है, किन्तु पटमें तन्तुओंकी प्रतीत होती रहती है और यदि तन्तुओंमें पहलेसे ही पट न होता तो पट बनानेवाले तन्तुओंका ही ग्रहण न करते. सब वस्तुओंमें वस्तुके स्वरूपसे किंवा मूलरूपसे उन-उन नियमोंका होना 'स्थान' है. जैसे कपासका वस्त्र, रेशमका पीताम्बर, मृत्तिकाका घट इत्यादि घट-पटादिकी मर्यादा, किंवा कपास-रेशम-मृत्तिका पतला-लम्बा-चौखूटा-गोल आदिका नियम यह 'स्थान' है. जल लाना आदि कार्योंकी सिद्धिकेलिए सर्वसमर्थ भगवान्का उन वस्तुओंमें प्रवेश करना ही 'पुष्टि' या 'पोषण' है. यही अभिवृद्धि भी है. जैसे तन्तुओंकी किसी तरहकी आनुपूर्वीसे स्थिति ही पटकी अभिवृद्धि हो जाती है. भगवान्का भी आनुपूर्वी द्वारा प्रवेश ही अभिवृद्धि या पोषण है. ब्रह्मज्ञानीको 'घटो ब्रह्मरूपः' घट ब्रह्म है यह प्रतीति सिद्ध होनेकेलिए ब्रह्मरूप घटमें जल आनयनरूप घटीय कार्यकी समझ होते रहना 'ऊति' है. यही वासना है. ब्रह्मज्ञानमें ही घटीय कार्यका भी भास न रहना वासना है, इसलिए यह ऊति कहाती है.

इस तरहसे सब पदार्थोंमें भगवान्के अन्वयसे भगवान्की ये तीन लीलायें पांच प्रकारकी हैं. व्यतिरेकसे भी पांच प्रकारकी है. सबमें मिले रहना अन्वय और सबसे अलग रहना यह व्यतिरेक. नैयायिकोंका व्यतिरेक पदार्थ यहां नहीं समझना, क्योंकि ब्रह्मका अभाव कभी होता ही नहीं. अतएव सबसे पृथक् या बढ़ते रहना ही व्यतिरेक कहा जाता है. अतएव वेदमें भी ''**अत्यतिष्ठद् दशांगुलम्. सजातो अत्यरिच्यत**'' बढ़ जानेको ही अतिरेक कहा है. अनन्त रूपसे पृथक् रहना या बढ़े रहना यह व्यतिरेक. भगवान् कारणसे भी पृथक् रहता है और कार्यसे भी. इसलिए वस्तुस्वरूपसे व्यतिरिक्त भी है. ऐसी अवस्थामें यह भगवान् 'मन्वन्तर' सद्धर्म होता है. 'सतां धर्मः सद्धर्मः' सत्पुरुषोंका जो नियत अवश्य कार्य, वह सद्धर्म है. यही भङ्ग है. स्वरूपसे हटना भङ्ग है. कर्ममात्र या चेष्टामात्र देहका स्वभाव है, स्वरूप है. किन्तु वेदविधिके द्वारा प्राप्त कर्म उससे व्यतिरिक्त है. उससे कुछ हटा हुआ है. यद्यपि यह विधिविषयक कर्म भी प्रापंचिक है, तथापि उससे व्यतिरिक्त है. भगवान् अपने कारण रूपसे व्यतिरिक्त घटभाव कार्यरूपसे सत्पुरुषोंके कर्मका साधन होता है. यह व्यतिरिक्त रूप सद्धर्म या मन्वन्तर कहा जाता है. अष्टमस्कंधमें सद्धर्भ या मन्वन्तरका निरूपण है.

यही प्रापंचिक पदार्थ रूप भगवान् जब पुष्टिभक्तिका विषय और केवल

भगवत्सेवा विषयक धर्म रूपसे लौकिक और वैदिक धर्मोंसे व्यतिरिक्त–पृथक् रूपको धारण करता है तब 'ईशानुकथा'रूप होता है. यही भगवान् जब स्वरूपको ही चाहने वाले लौकिक किंवा वैदिक भक्तोंको लौकिक–वैदिककी आसक्ति छुडाकर, उनको अपने अतिरिक्त स्वरूपमें रोक देता है, तब वह 'निरोध' कहा जाता है. यह भी परित्यागरूप होनेसे व्यतिरिक्त रूप ही है. निरोधरूप होकर भी भक्तोंके जीवभावको छुड़वाकर और अपने भी वैसे लौकिक सदृश(जिसमें भक्त आसक्त हुये हैं) रूपसे उन्हें हटाकर परित्याजनरूप जब हो जाता है, तब वह 'मुक्ति'रूप कहा जाता है. 'परितः त्यागः परित्याजनम्'. जीवभावादि सबका त्याग ही मुक्ति है. यह भी भगवान्की व्यतिरेकरूपसे लीला है, सो स्पष्ट ही है.

यदि घट आदिमें देखें तो घट–पटादिमेंसे जब भगवान् सहयोग आदिको छोड़ कर केवल अनुभव मात्र रहता है तब मुक्ति लीला कही जाती है. इन पूर्वोक्त नव प्रकार और नवों स्वरूपोंका जो आधार होता है वह 'आश्रय' कहा जाता है. यहां यदि कोई यह प्रश्न करे कि इन सर्गादिके स्वरूप और प्रकारोंका इस तरह निरूपण क्यों किया? तो इसका उत्तर यही है कि श्रुति–स्मृति और पुराणों में इन स्वरूप और प्रकारों के सूक्ष्म रीतिके कहीं–कहीं वचन आते रहते हैं. उनका कोई अन्यथा अर्थ न कर दे इसलिये ऐसा व्याख्यान करना पड़ा. यदि ऐसा हो तो अर्थका अनर्थ हो जाय. इससे यह भी स्पष्ट होता है कि श्रीभागवत शास्त्र सर्वोद्धारक है सर्वनिर्णायक है और सर्वनिर्वाहक है।।१।।

आभासार्थः यहां प्रश्न होता है कि श्रीभागवत शास्त्रमें दश पदार्थोंके निरूपण कैसे हो सकते हैं? ऐसा होनेसे तो अनेक शास्त्र माने जावेंगे. एक शास्त्रमें एक ही प्रतिपाद्य विषय हो सकता है. सम प्रधान रूपसे बहुतसे प्रतिपाद्य एक शास्त्रमें नहीं हो सकते? उसका उत्तर देते हैं, कि:

दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानाम् इह लक्षणम्।
वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा।।२।।

श्लोकार्थः दशम–आश्रय भगवान्को सबमेंसे पहचान लेनेकेलिए ही इस भागवत शास्त्रमें महात्मा लोगोंने श्रुतिके आशयानुसार सरल रीतिसे सर्ग आदि नव पदार्थोंका लक्षण कहा है।।२।।

व्याख्यार्थः दशम आश्रयको ढूंढकर निकाल लेनेकेलिये यहां श्रीभागवतमें दशम आश्रय है. उसको किसी–किसी नियत विशेषके द्वारा

शोधकर पहचान लेना विशुद्धि है. यह श्रीभागवत्में होती है. जगत्के सब ही पदार्थ भगवद्रूप हैं, अतएव उनमें सबमें ही भगवद्रूप दश धर्म रहते हैं यह सिद्ध हो चुका है. उन्हें विशेष भी कहते हैं. इन धर्म या विशेषोंसे ही पदार्थकी पहचान होती है, उनमें एक ग्राह्य बाकीके त्याज्य हैं. आश्रयको ही ग्रहण करना पहचानना है. ऐसी अवस्थामें यदि बाकीके नव पदार्थोंका निरूपण न किया जावे तो किसको लेना और किसको छोड़ना यह शोध ही न हो सके. अतः आश्रयको पहचान लेनेकेलिये यह नियम करना पड़ता है कि जहां तक प्राकृत गुणोंका सम्बन्ध मालूम पड़े वहां तक वह पदार्थ त्याज है. यदि ऐसा न करे अर्थात् गुणसे भी सम्बन्ध रखें, तो भगवान्के आश्रयमें व्यभिचार दोष होवे.

तो अब ये सर्ग आदि नव उस आश्रयके ही एकके पीछे एक धर्म हैं; इसलिये सबसे पीछे जो बाकी रहता है वह ग्रहण करनेयोग्य है. इसका यह तात्पर्य होता है कि जैसे गहूं प्रभृतिको तुष आदि वस्तुको ढंक देनेवाले होते हैं, इसी तरह ये धर्म भी आश्रयको ढंक देनेवाले हैं. यह दिखा देनेकेलिये ही भागवत शास्त्रमें इनका निरूपण है. जब इनका निरूपण हो जाता है, तब आश्रय दूसरे इन पदार्थोंसे स्पष्ट और शुद्ध निरूपित हो जाता है, पहचाना जाता है. इसलिये इन नव धर्मोंके भी लक्षणोंका निरूपण करना उचित है. यही मूलमें कहा है 'लक्षणम्'. जैसे गलकम्बल(सास्ना) गायका लक्षण होता है, इसी तरहसे भागवतमें सर्ग आदिके लक्षण कहे जाते हैं, स्वरूप नहीं. स्वरूप तो उन-उन स्कन्धार्थोंके निरूपणके समय कहेंगे.

इनका यही लक्षण है इसमें क्या प्रमाण है? तो कहते हैं कि 'वर्णयन्ति'. बड़े लोग वर्णन करते हैं, यही इसका प्रमाण(सत्यता) है. ये लक्षण भगवान् है. इसलिये इनका वर्णन कोई क्षुद्र नहीं कर सकता. इसलिये कहते हैं 'महात्मना'. बड़े लोग. बड़ा है अन्तकरण जिनका, उनके अन्तःकरणमें भगवच्चरणारविन्द (माहात्म्य)का विक्रम जब होता है तब वे 'महात्मा' कहे जाते हैं और तब ही ऐसे लोग भगवान्के स्वरूपोंको जान लेते हैं.

यहां पर एक प्रश्न होता है, पहचानने योग्य भगवान् हैं, और उसके सामर्थ्यसे ही जब अन्य पदार्थोंको जानते हैं, यह बल तो प्रमेयका ही बल हुआ. प्रमाणका बल कहां रहा? तो शास्त्रने वर्णन किया है यह कैसे? तो इसका उत्तर देते हैं, कि 'श्रुतेन अर्थेन अञ्जसा'. वेदार्थके अनुसार सहजमें. वेदादि शास्त्रोंमें जो

पदार्थ कहे गये हैं वे सब भगवत्स्वरूप ही कहे गये हैं, क्योंकि वेदमें कहा है कि ''सब वेद(ज्ञान) उस भगवान्के स्वरूपका ही निरूपण करते हैं'', ''सैकडों जीव जिस भगवान्में समा जाते हैं'', ''सब ही जीव जहां एक होते हैं'' –वह भगवान् आश्रय है. यहां अनुग्रहके प्रमाण और प्रमेय तीनोंको एक आश्रय भगवान्में ही समाप्तिकी गई है. इसलिये प्रमाण भी भगवद्बलसे निरूपणमें बलवान होता है. अनुग्राहक जीव, प्रमाणज्ञान और प्रमेयवस्तुजात जहां जाकर अन्तमें एक हो जावें, वह आश्रय है. जैसे सत्व–रजस्–तमस् तीनों एक दूसरेमें प्रवेश करनेसे नव हो जाते हैं, इसी प्रकार जीव, ज्ञान और वस्तु तीनों आपसमें मिलकर नव सर्गादि पदार्थ उस आश्रयके लक्षण हो जाते हैं.

सर्ग, विसर्ग और स्थान प्रमेयरूप लक्षण हैं. कारण कि श्रुतिमें शुक्र शब्दसे वस्तुजातका कारण कहा है, और सबका कारण तो प्रमेयरूप भगवान् ही प्रधान हैं. दूसरा पोषण, ऊति और मन्वन्तर ये तीन प्रमाणरूप लक्षण हैं, क्योंकि वेदोक्त ज्ञान ही इनमें प्रधान है. और ईशानुकथा, निरोध और मुक्ति में ज्योतिः जीवजात ही लक्षण हैं. क्योंकि भक्त, निरूद्ध और मुक्त तीनों जीव जात हैं. और ये नवों उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय स्वरूप भी हैं. सर्ग, विसर्ग और स्थान ये तीन उत्पतिरूप हैं. पोषण, ऊति, मन्वन्तर तीनों स्थितिरूप हैं, और ईशानुकथा, निरोध और मुक्ति प्रलयरूप हैं.

इनमें महाभूत आदि कारणोंसे, उनके गुणरूप कार्यसे और आधाररूप भगवान्से **उत्पति** होती है. अनुग्रहसे विलासरूप भ्रूचलनसे और सद्धर्मसे **स्थिति** होती है, और अहंता–ममतारूप संसारका **प्रलय** भी भक्त और भगवत्कथारूप भक्तिसे होता है. जीवदेहका प्रलय ही निरोध है और जीवत्वका प्रलय ही भक्ति है. इसलिये ईशानुकथा, निरोध और मुक्तिसे **प्रलय** होता है. इसलिये कहना होता है कि वेदार्थके अनुसार और वेदोक्त साधन युक्तिसे ही महात्मा लोग इन सर्गादिका वर्णन करते हैं. उसमें भी सम्पूर्ण रीतिसे और सरलतासे क्लिष्ट कल्पनासे नहीं।।२।।

आभासार्थ : उन लक्षणोंको कहते हैं:

भूत–मात्रेन्द्रिय–धियां जन्म सर्ग उदाहृतः।
ब्रह्मणो गुणवैषम्याद् विसर्गः पौरुषः स्मृतः।।३।।
स्थितिर्वैकुण्ठविजयः पोषणं तदनुग्रहः।

मन्वन्तराणि सद्धर्म ऊतयः कर्मवासनाः।।४।।

श्लोकार्थः महाभूत मात्रा इन्द्रिय और बुद्धिका गुणोंके फेरफारसे जो ब्रह्मसे जन्म उसे 'सर्ग' कहा जाता है. विराट् पुरुषसे जो सृष्टि होती है, वह 'विसर्ग' कहलाता है. भगवान्का विजय ही 'स्थिति' कहलाती है. भगवान्का अनुग्रह ही 'पोषण' कहा जाता है. सद्धर्मका नाम 'मन्वन्तर' है और कर्म वासना ही 'ऊति' है।।३-४।।

व्याख्यार्थः

(१) पांच महाभूतः पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश. रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये पांच तन्मात्रा. आंख, कान, नाक, रसना और त्वचा ये पांच ज्ञानेन्द्रिय. पाणि, पाद, गुदा, लिङ्ग और जिह्वा ये पांच कर्मेन्द्रिय. दश इन्द्रिय, चित्त अहंकार बुद्धि और मन ये चार अन्त करण, ये चौबीस 'तत्त्व' कहे जाते हैं. इन चौबीस तत्त्वोंके कारण होते हैं तीन प्राकृत गुणः सत्त्व रजस् तमस्. इनके विषम(कम-बढ़)पनसे सबका आविर्भाव होता है. इन सबका मूल कारण ब्रह्मरूप महत् तत्त्व. इन २८ तत्त्वोंका जन्म ही 'सर्ग' कहा जाता है. यह सर्ग दो प्रकारका हैः प्रत्येकका और इकट्ठे सबका. गुणोंकी विषमता भी चार प्रकारकी है. तीन गुणोंकी प्रत्येककी और इकट्ठे सबकी. गुण अकेले-अकेले भी घट-बढ़ होते हैं और इनके समुदायकी भी विषमता होती है. अथवा तीनोंकी विषमता ही ली गई है. इस तरह २८ तत्त्व, तीन गुण और तीन उनकी विषमता ये सब सर्गके भेद ३३ या ३४ होते हैं. सर्गनिरूपक तृतीय स्कंधके अध्याय (३३).

(२)अब विसर्गका लक्षण कहते हैंः 'विसर्गः पौरुषः स्मृतः' विराट् पुरुषसे जो पैदा हुये वे सब विसर्ग कहे जाते हैं. इसमें महापुरुषोंकी स्मृति ही प्रमाण है. पुरुषसे तीन लोकका भेद हुआ. फिर उन तीनोंके भी भेद हुये वे सब ३१ होते हैं. वेदमें कहा है कि आठ वसु लोक हैं. ग्यारह रुद्र लोक हैं और द्वादश आदित्य लोक हैं, भूः-भूवः-स्वः त्रिलोकी हैं. आठ वसु भेद भू लोकके हैं. ग्यारह रुद्रलोके भेद भूवर्लोकके हैं और स्वर्लोकके बारह आदित्यलोक भेद हैं. इस तरह ३१ भेद विसर्गके हैं. विसर्ग निरूपक चतुर्थ स्कंधके ३१ अध्याय हैं.

(३) वैकुण्ठ भगवान्के विष्टि जय-मर्यादापालनका नाम 'स्थिति' है. प्राकृत तत्त्वों पर विजय-मर्यादा पालन कराना चौबीस प्रकारका है. जीव और ब्रह्मके

भेदसे दो तरहका भी है. इसलिए स्थान २६ प्रकार है.

(४) पुष्टिका लक्षण बताते हैं: वैकुण्ठ भगवान्ने जिनको जीता है, अपने अधीन किया है, उन पर जो अनुग्रह वह 'पोषण'. उन २६में भी मर्यादाकेलिए सातको छोड़कर बाकी रहे उन्नीसों पर अनुग्रह करते हैं. पांच महाभूत और जीव और अन्तर्यामी पर अनुग्रह नहीं है. उन पर मर्यादा ही है.

(५-६) ऊति और सद्धर्म दोनों वासना रूप हैं. धर्मसे वासना तैयार होती है, इसलिए यहां उलटफेरसे कह रहे हैं कि 'मन्वन्तराणि सद्धर्मः'. सत्पुरुषोंका धर्म तीन प्रकारसे होता है. काय, वाणी और मन से. कायिक धर्म दश प्रकारका और वाचनिक भी दश प्रकारका. क्योंकि ये दोनों दशेन्द्रियसे होते हैं. और मानस धर्म चार प्रकारका है, क्योंकि यह अन्तःकरणसे होता है. अन्तःकरण चार प्रकारका है. ''इष्टकी चिन्ता करता है. अपेक्षितको लाकर अधिकको हटाकर इष्टका विचार करता है. इष्टकी चाहना करता है और हित ही करूंगा यह निश्चय करता है''. इस तरहसे अन्तःकरणमें चार प्रकार सद्धर्म हैं. सद्धर्म सब इन्द्रियोंसे भी होता है. वीर्य और अपानको नियममें रखनेसे नीचेकी इन्द्रियां भी धर्ममें कारण होती हैं. ठहरना, लेना, तृप्ति, पैदा करना, जड़ता, ताप और हठको दूर करना और शब्दादिके देने प्रभृति कर्म(सद्धर्म) दश प्रकारसे देहमें भी रहते हैं. इन्द्रिय, देह और अन्तःकरणोंके धर्मोंको मिलाकर २४ प्रकार होते हैं. यही अष्टम स्कंधके अध्याय भी २४ हैं.

कर्मवासनाओंको 'ऊति' कहा है. सप्तम स्कंध ऊति स्कंध है. ज्ञानेन्द्रिय और अन्तःकरण को छोड़कर शरीर और कर्मेन्द्रियां सद्धर्म वासनाओंको पैदा करते हैं. अतएव शरीर दश और पांच कर्मेन्द्रिय जन्य यों १५ वासना होती हैं और यही सप्तम स्कंधके अध्याय भी हैं।।३।।४।।

आभासार्थ: ईश्वर और उसके अनु(भक्त)की कथाका लक्षण कहते हैं:

अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्त्तिनाम्।
पुंसाम् ईशकथाः प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिताः।।५।।

श्लोकार्थ: भगवान्के अवतारोंकी चरित्र वार्ता और अनेक आख्यानोंसे भरी हुई भगवान्के भक्तोंकी कथायें ईशकथा कही जाती हैं।।५।।

व्याख्यार्थ: (७) ईशानुकथा दो प्रकारकी है. भगवान्की और भगवान्के भक्तों की. उन दोनोंके लक्षण कहते हैं. उनमें पहले ईशकी कथा कहते

हैं:'अवतारानुचरितं'. सब प्राणियोंके दु:खोंको दूर करनेकेलिए प्रकट हुये भगवान्के चरित्र ईशकथा हैं और भगवान्के अनुचरोंकी कथायें दूसरा लक्षण है. जैसे भगवान् सब प्राणियोंके दु.खोंको दूर करते हैं, वैसे ही उनके भक्त भी दीनोंके दु:खोंको दूर करते हैं. इसलिए वे 'तदनु'-अनुचर शब्दसे कहे गये हैं. यहां 'ईश' शब्दके साथ 'हरि' शब्द विशेषण दिया है, इसलिये दु:ख दूर करना और सुख पहुंचाना दोनों भगवान्के कर्त्तव्य हैं. दोनों ही भगवद्नुचरोंके भगवद्भक्तोंके गुण भेदसे नव प्रकार होनेसे दुखनिवारण भी सत्त्वादि भेदसे नव प्रकारका हो जाता है. भगवान्का भी चरित्र कर्म-ज्ञान-भक्ति तीन भेदसे तीन प्रकारका होता है. इसी प्रकारसे भगवद्भक्त ज्ञानी लोग भी अज्ञानियोंके अविद्यास्वरूप दु:खोंको दूर करते हैं. वे एक तरहके हैं. इस तरह दु:ख दूरीकरणके विषयमें तेरह भेद होते हैं. सुख पहुंचानेके विषयमें भी भगवद्नुचर लोग दीनोंके सर्वेन्द्रियोंको सुख पहुंचाते हैं, इसलिए दश प्रकारके हैं और उनके भगवान् एक प्रकारके हैं, इसलिये दोनों पक्ष मिलकर २४ भेद होते हैं और २४ अध्याय नवम स्कंधके हैं. उनके प्रत्येकका वर्णन करनेकेलिए अनेक प्रकारके उपाख्यान कहे हैं।।५।।

आभासार्थ: निरोध और मुक्ति का लक्षण कहते हैं:

निरोधोऽस्यानुशयनम् आत्मनः सह शक्तिभिः।
मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।।६।।

श्लोकार्थ: अपनी सब शक्तियोंको साथमें लेकर सर्वव्यापक भगवान्का प्रपंचमें प्रकट होकर क्रीड़ाके अनुकूल जो शयन-सावधान स्थिति सो 'निरोध' कहलाता है. बदले हुए अपने रूपको छोड़कर अपने निज स्वरूपमें जाकर स्थित होना ही 'मुक्ति' है।।६।।

व्याख्यार्थ: (८) यह सर्वव्यापक भगवान् जब अपनी शक्तियोंको प्रपंचमें लीलानुकूल रीतिसे सुलाकर पीछे उनका उपभोग करनेकेलिए आप भी लीलानुकूल शयन करें यह 'निरोध' कहा जाता है. 'अस्य' 'इसका' शब्दका तात्पर्य यह है कि अपने आत्मारूपसे आगे ही प्रकाशमान परमात्माको अंगुलीसे दिखा रहे हैं. 'आत्मनः'का यहां अपनापा लिया गया है. इसलिए देह सहित स्वरूप लिया गया है. अर्थात् भगवान् जब प्रपंचमें क्रीड़ानुकूल स्थिति करते हैं तब आनन्दमय किंवा सत्त्वमय देह सहित ही

विराजते हैं. ऐसी अवस्थामें जब अपनी शक्तियोंके साथ ऐसा कहा जाय तो देह और स्वरूप दोनोंकी ही शक्तियां ली जाती हैं. इसलिए मूलमें 'अस्य' 'इसका' पद कहा है. 'इदं' शब्दका प्रत्यक्षमें ही प्रयोग होता है. भगवान्के स्वरूपका कभी प्रत्यक्ष नहीं, किन्तु देह सहितका तो अनुग्रहसे हो सकता है. इसलिए अस्य शब्दसे यही देह और भगवत्स्वरूप दोनों लिये गये हैं. देहको ७२ नाड़ीरूप शक्तियां हैं और भगवत्स्वरूपकी 'श्री' आदि द्वादश मुख्य शक्तियां हैं. शयन तीन प्रकारका है: जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति. जागृत-स्वप्न, देह और आत्मा दोनोंका मिलकर है और सुषुप्ति आत्माका है. किंवा पक्षान्तरमें तीनों शयन दोनोंके हैं. इस तरह सब ८७ भेद होते हैं. यही ८७ अध्याय दशम स्कंधमें हैं. अघासुर वधके ३ अध्याय प्रक्षिप्त हैं.

(९) जीवका अन्यथा(बदला हुआ) रूप तत्त्वरूप है. यद्यपि २८ तत्त्व प्रकृतिके मिलकर बने हैं, अतएव ये जीवका असली रूप नहीं है, तथापि अध्यास(भूल)से यह जीव स्व-स्वरूपको तत्त्वरूप समझ बैठा है. इसलिए यहां उसे 'अन्यथारूप-बदला रूप' कहा गया है. कहनेका तात्पर्य यह है जीवका रूप तो शुद्ध ज्ञानमय एक ही है, किन्तु उसकी अवस्था दो हो जाती हैं: सामान्य और विशेष. दैवी अवस्था सामान्य है, किन्तु उसमें भी मर्यादारूपा और पुष्टिरूपा दो विशेषावस्था हैं. मुक्तिमें तत्त्वोंका परित्याग सबसे पहले अपेक्षित है. तदनंतर मर्यादा मुक्तिमें ब्रह्मसायुज्य और ब्रह्मसहयोग दोनों मुक्ति हैं. तत्त्वरूप परित्याग भी मुक्ति है. यह लक्षण दोनोंमें समान होता है, यह इसलिए मुक्तिका लक्षण है. तत्त्व २८ हैं, रूप एक है और अवस्था दो हैं. इस प्रकार सब ३१ भेद हैं. एकादशके अध्याय भी ३१ हैं।।६।।

आभासार्थ: आश्रयका लक्षण कहते हैं:

आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते।
स आश्रय: परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते।।७।।

श्लोकार्थ: जगत्का आविर्भाव और तिरोभाव जहांसे होता हो यह निश्चय है कि वह आश्रय है. उसे 'परब्रह्म' और 'परमात्मा' आदि शब्दोंसे कहते हैं।।७।।

व्याख्यार्थ: (१०) आश्रयका लक्षण दो प्रकारका है: भक्तिमार्गके द्वारा भी आश्रय होता है और ज्ञानमार्गके द्वारा भी आश्रय होता है. 'आश्रीयते

असौ आश्रयः'. जिसका सब आश्रय लें अथवा जो सबका आश्रय आधार हो, वह परब्रह्म आश्रय है. वेदमें कहा है कि जैसे सब तरहके जलोंका आधार समुद्र है इसी तरह विविध विश्वका एक स्थान एक आधार परब्रह्म है. भक्तिमार्गमें शरणागति द्वारा आश्रय होता है और ज्ञानमार्गमें सायुज्य (ऐक्य)के द्वारा. इसलिए ही दो प्रकारसे आश्रयका लक्षण कहा है. शास्त्रमें भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग दोनों ही हैं.

यहां कदाचित किसीको यह आशंका हो कि प्रपत्ति और सायुज्य के कहनेसे चेतनोंका ही भगवान् आश्रय है, जड़ पदार्थोंका नहीं. तो इस आशंकाको दूर करनेकेलिए कहते हैं कि 'उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयैर्वा'. इस पक्षमें जड़-चेतन सबका ही भगवान् एक आधार होता है.

उत्पत्तिमें भी आश्रय है, स्थितिमें भी और प्रलय अवस्थामें सबका आधार रहता है. इन तीनोंमें क्रिया और ज्ञान का सम्बन्ध है, इसलिए दोनोंके प्रकारसे आश्रय कहते हैं. प्रथम क्रियासे पांच प्रकारका आश्रय होता है और ज्ञानमें आठ प्रकारसे आधार है. कर्मेन्द्रिय पांच हैं इसलिए आश्रयके भी पांच प्रकार हैं. पांच ज्ञानेन्द्रिय, चित्त, बुद्धि, मन ये तीन ज्ञानके साधन होते हैं इसलिए आठ प्रकारसे ज्ञानाश्रय हैं. क्रिया और ज्ञान दोनोंसे मन सम्बन्ध रखता है, इसलिए जब ज्ञानाश्रयमें ग्रहण कर लिया तब कर्मेन्द्रियमें सम्मिलित करनेकी अपेक्षा नहीं है और अन्तःकरणके अहंकारको आश्रयका हेतु नहीं माना गया. इस प्रकार क्रिया-ज्ञानके मिलकर १३ प्रकार होते हैं. यह आश्रय भगवान् ज्ञान-क्रया द्वारा दो राशिमें बट जाता है. उनमेंसे पहले क्रियाके द्वारा आश्रयका निरूपण करते हैं: 'आभासश्च'. यहां 'आभास' शब्दसे उत्पत्ति ली गई है. तम=अन्धकार भी लिया है. अन्धकार भी उत्पन्न हुआ है. होना, पैदा होना, बढ़ना, बदलना, क्षीण होना, नष्ट हो जाना ये छहों विकार 'आभास' शब्दसे लिये गये हैं. 'आभास' शब्द ही कह रहा है कि वास्तवमें ये छहों विकार मायिक पदार्थोंके ही होते हैं. ब्रह्मरूप जगद्विषयके नहीं. इनका आश्रय भी भगवान् मायिक और विषयताके ही हैं. जगत् तीन प्रकारका है यह पहले कह चुके हैं. उनमें दो प्रकारका जगत् ब्रह्मरूप है. नित्य वर्तमान रहता है, उसकी उत्पत्तियां या छः भाव विकार कैसे हो सकते हैं? इसीलिए उत्पत्ति न कहकर आभास कहा. आभास ब्रह्मरूप रहते भी कुछ नहीं. ऐसी अवस्थामें यह पदार्थ मायिक पदार्थ और विषयताका ही आश्रय

आधार हो सकता है, सत्य नित्य ब्रह्मरूप विश्वका नहीं. निरोध अर्थात् नाशाश्रय भी मायिक और विषयता दोका ही है, सत्य विश्वका नहीं. वास्तवमें तो इन उत्पत्ति आदिका भी आधार विषयता ही है.

यह आश्रयत्व कर्तृत्वको लेकर है और तब ही क्रियाके द्वारा आश्रय हो सकता है. 'आभास' और 'निरोध' शब्दसे उत्पत्ति और प्रलय लिये गये हैं. इन दोनोंके अन्दर बाकी रहे भावविकार आ जाते हैं. आविर्भाव-तिरोभाव जहां कमी वेशीसे एक होते हैं वहां दूसरे भावकी उत्पत्ति हो जाती है. अर्थात् आविर्भाव-तिरोभावमें जब अपेक्षित न्यूनाधिक्य कर देनेसे ये-ही वृद्धि विपरिणामादि भावविकार हो जाते हैं. जैसे पूर्व रूपका परित्याग तिरोभाव और दूसरे किसी अन्य रूपका आविर्भाव उत्पत्ति, यही लोकमें 'वृद्धि' आदि शब्दसे कही जाती है और यही बदलना है. आविर्भावकी कुछ न्यूनता और वस्तुके तिरोभावकी मात्रा कुछ अधिक यही 'अपक्षय' कहलाता है. इस तरह उत्पत्ति-प्रलयमें ही स्थिति-वृद्धि आदि आ जाते हैं और यही सिद्धान्त निश्चित भी है. अर्थात् चतुर्मुख आदि ऐसे नहीं है. कारण कि भगवान्से ये भावविकार केवल पैदा होते हैं इतना ही नहीं है किन्तु भगवान्की सत्तासे ही इनका प्रकाशन-स्थिति दर्शन भी होता है. 'च'से यह भी ज्ञात होता है कि उनका स्वभाव भी भगवान् ही बनाते हैं. उनका प्रकाशन करनेसे और स्वभाव सम्पादन कर देनेसे अस्ति(है), भाति(जाना जाता है) प्रिय(अच्छा, प्यारा) ये तीनों विषयतागत होनेसे भगवत्कार्य हैं और उनका कारण होनेसे भगवान् आश्रय हैं, किन्तु अपने सच्चिदानन्दोंका नहीं, वे तो स्वरूप हैं. उनमें आधाराधेय द्वैत भाव किंवा कार्य-कारण भाव नहीं हो सकता.

कहनेका तात्पर्य यह है कि सृष्टिके पूर्व तो भगवान्

''सदेव सौम्येदमेव''

''एकमेव अद्वितीयं ब्रह्म''

''यतो वाचो निवर्तन्ते''

''यत्तद्द्रेश्य'' थे.

अतएव उस समय और सृष्टि-प्रलयमें भी उनका यही रूप रहता है. फिर यह 'आभासश्च निरोधश्च' क्या और यह कैसे ? इसकी समञ्जसता करनेकेलिए ही मूलमें 'आभास' शब्द दिया है और श्रीमद्वल्लभाचार्यजीने भी 'आभास उत्पत्तिः', यहांसे लेकर 'एतदेव तस्याधिष्ठानत्वम्' पर्यन्त सुबोधिनी ग्रन्थ कहा है.

'आभासश्च' यह श्लोक भगवान्को क्रियाके द्वारा आश्रय कह रहा है. भगवान् क्रियाका कर्त्ता है इसलिए आधार है. जगत्की उत्पत्ति आदि कुल विकार इसके करनेसे ही होते हैं. इसलिए इस जगत्का और उत्पत्ति आदिका आश्रय-आधार भगवान् ही हैं. इसलिए वास्तवमें मायिक उत्पत्ति आदिका और मायिक पदार्थोंका ही आश्रय है. किन्तु स्वरूपका किंवा स्वरूपात्मक जगत्का आश्रय नहीं है. इससे यह भी स्पष्ट होता है कि विषयताका ही आश्रय है और निरोध-तिरोभाव भी दोनों तरफकी विषयताओंका ही होता है, आधिदैविक सत्य जगत्का नहीं क्योंकि वह जगत स्वरूपात्मक है. इसीलिए मूलमें 'यतः' अव्यय दिया है. मायिक पदार्थोंका भगवान्में लय नहीं है यह दिखा रहा है. मायिक जगत्में अस्ति, भाति और प्रिय जो दीख रहे हैं ये भी वषयतास्थित ही भास रहे हैं, भगवद्धर्म किंवा भगवत्स्वरूपात्मक नहीं. ये तीनों भगवत्कृतिजन्य हैं और कृतिके कर्त्ता स्वयं हैं. इतने मात्रसे वैसे विश्वका आश्रय भगवान् हैं. अर्थात् दीखते हुए जगत्में जो सत्ता, ज्ञान और आनन्द मालूम दे रहे हैं वे मायिक विषयताओंके ही है. भगवत्स्वरूपात्मक सच्चिदानन्द नहीं है.

'यतश्चाध्यवसीयते' इस मूलमें 'यतः' ये अव्यय पद है. इसका तात्पर्य भी यही है कि भगवान् सम्पूर्ण जगत्का प्रकाशक है. अतएव उत्पत्ति आदि भाव-विकारोंका भी प्रकाशक है. और इस प्रकाश कारणको ही लेकर भगवान्को आश्रय कहा है 'यतः आभासः'. तो इससे यही स्पष्ट होता है कि भगवान् दोनों तरहकी विषयताओंको प्रकाश पहुंचाता रहता है. यही उसका आश्रयपना या आधारत्व है. अर्थात प्रकृति और पुरुष से पैदा हुई जगद्रूपा विषयता जो सांचेकी तरह उपयोगमें आती है, उसमें भगवान् प्रवेश करते हैं और इस विषयताके जो जगदाकार हैं, उनके अस्ति-भाति-प्रिय रूपोंको बनाता रहता है. बस यह प्रवेश करके उसके रूपोंको प्रवेशित करवाते रहना ही भगवान्का आधारत्व, आश्रयत्व और अधिष्ठानत्व है. यही कहते हैं कि 'स आश्रय इति' वह भगवान् इस जगत्का आश्रय है, प्रकाशक है. भगवान् सच्चिदानन्दरूप हैं, इसलिए इन्हींके प्रवेश प्रकाशसे पूर्वोक्त अस्ति-भाति-प्रिय रूप धर्म समझमें आ रहे हैं.

यही भगवान् श्रुति-स्मृति आदि शास्त्रोंमें अनेक नामोंसे कहा जाता है, यह दिखानेकेलिए और सब शास्त्रोंके साथ भागवतका समन्वय होनेकेलिए उन नामोंका निर्देश करते हैं: वेदमें 'परब्रह्म नामसे कहा जाता है. गीतामें यही भगवान्

''परमात्मा' कहा जाता है. 'शब्द्यते' इस पदका यह अर्थ है कि कहने मात्रके ये दोनों मोक्ष हैं. वास्तवमें पदार्थ तो दोनों एक ही हैं. वेद ब्रह्मा और वर्णों को भी 'ब्रह्म' कहते हैं, सो कोई इन्हें न समझ ले इसलिए यहां 'पर' शब्द कहा है. 'पर' शब्दसे जीवको भी कहीं कह दिया है, सो कोई उसे न समझ ले इसलिए 'ब्रह्म' पद कहा है. इसलिए पर-ब्रह्म दोनों पद सार्थक हैं।।७।।

आभासार्थः इस तरह क्रियाके आश्रय भगवान्का निरूपण करके अब ज्ञानाश्रयका निरूपण करते हैं:

योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः।
यस्तत्रोभयविच्छेदः स स्मृतो ह्याधिभौतिकः।।८।।

श्लोकार्थः जो आध्यात्मिक पुरुष है, वही आधिदैविक पुरुष है, किन्तु इन दोनोंमें विच्छेद-भेदभाव करानेवाला(देह) है, वह आधिभौतिक पुरुष कहा जाता है।।८।।

व्याख्यार्थः आगेके श्लोकमें ज्ञानरूप भगवान्का निरूपण करना है. इसलिए जाननेयोग्य भगवान्का निरूपण करते हैं. ज्ञेय भगवान् आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक रूपसे, तीन प्रकारका है. 'आत्मानं अधि' अर्थात आत्माके भीतर वह अध्यात्म. यहां आत्मा देहको कहा है. देहका आश्रय लेकर ठहरने वाले इन्द्रिय, अन्तःकरण और प्राण ये सब अध्यात्म पदार्थ कहे जाते हैं. इन अध्यात्मोंको अधिकारमें रखकर जो रहता है, वह शरीर स्थित आत्मा(जीव) आध्यात्मिक पदार्थ है. यह वह पुरुष है, जिसको हम श्रोता-वक्ता आदि शब्दोंसे समझते हैं और कहते भी हैं. और जो पुरुष इस जीवात्माके भी भीतर बैठकर इसका शासनकर्त्ता है उसे अन्तर्यामी किंवा आधिदैविक पुरुष कहा है. दश इन्द्रिय हैं और दश ही उनके अधिष्ठाता देव हैं. ये देव इन्द्रियोंके अधिष्ठाता इन्द्रियोंको कार्यमें प्रवृत्त करते हैं किन्तु इन दशों देवगणोंको स्व-स्व कार्यमें चलाना जीवात्मा-आध्यात्मिक पुरुषका कार्य है. इस आध्यात्मिक पुरुषका और इन्द्रियाधिष्ठाता देवोंका भी नियमन करनेवाला यह आधिदैविक पुरुष है, जिसे वेदादिशास्त्रोंमें अन्तर्यामी कहा है. यह आधिदैविक पुरुष ही आध्यात्मिक पुरुष है. एक ही आत्मा इन्द्रियोंका भी नियामक है और वही इन्द्रियाधिष्ठाता देवगणोंका भी नियामक है. यह नियामक पुरुष ही आध्यात्मिक(जीव) और आधिदैविक(अन्तर्यामी) दो शब्दोंसे कहा जाता है. इन्द्रियोंको नियमन करते समय 'जीवात्मापुरुष' कहा जाता

है और अधिष्ठाता देवोंका नियमन करते समय 'अन्तर्यामीपुरुष' शब्दोंसे कहा जाता है. देवगणोंको नियममें रखनेका सामर्थ्य अन्तर्यामीका है. इसलिये ही शास्त्रोंमें अन्तर्यामी जीवात्माको भी पूज्य कहा गया है.

एक ही नियामक जीव और अन्तर्यामी दो शब्दोंसे कैसे कहा जाता है? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं कि एक ही पदार्थका दो तरहका विच्छेद करने वाला और दो नाम करानेका कारण आधिभौतिक पुरुष है, जिसे हम देह कहते हैं. यह आधिभौतिक पुरुष है. पंच महाभूतोंका आश्रय लेकर रह रहे जो रूप, रस, गंध, स्पर्श, गंध ये 'अधिभूत' कहे जाते हैं. इन सबका समुदाय अवयवी यह देह ही आधिभौतिक है. देहके रहनेसे ही इन्द्रियाभिमानी देवता और इन्द्रियोंका प्रेरणाकर्त्ता भी रह सकता है. यदि थोड़ी देरकेलिए महाभूत तन्मात्राओंका समूह देह न रहे तो न इन्द्रियप्रेरक रहे जायेगा और न इन्द्रियाभिमानी रहेगा. क्योंकि दोनों वास्तवमें एक ही आत्मा है. यह देह ही दोनों आत्माओंका भेद कराने वाला है. इस सिद्धान्तमें महापुरुषोंकी स्मृति गीता प्रभृति ही प्रमाण है ।।८।।

आभासार्थ: इस तरह ज्ञेयपदार्थका निरूपण करके अब ज्ञेयविषयक ज्ञानके आधार आश्रयका निरूपण करते हैं:

एकम् एकतराभावाद् यदा नोपलभामहे।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः।।९।।

श्लोकार्थ: ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता –इन तीनोंमेंसे एकके अभावमें एक भी नहीं पाया जाता, क्योंकि एकके बिना दूसरा हो नहीं सकता. ऐसी अवस्थामें जो तीनोंको जानता है, वह स्वाश्रयका भी आश्रय है।।९।।

व्याख्यार्थ: ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय –तीनोंको जो जाने वह आश्रय वास्तव है. यहां यह प्रश्न होता है, कि इन तीनोंको तो जीव भी जानता है और अन्तर्यामी भी. इसलिए आश्रयका लक्षण अतिव्याप्त हो जायगा! अर्थात् एकको छोड़कर दूसरेमें भी चला जायगा, यह दोष है. तो कहते हैं कि चतुर्थ स्वाश्रयाश्रयके रहनेसे यह दोष नहीं आता. सो इस तरह: ''मैं घटको जानता हूं'' इस वाक्यमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीन पदार्थ हैं. मैं ज्ञाता है, घट ज्ञेय है और इन दोनोंका साधन करण ज्ञान है. इन तीनोंमेंसे अपने सिवाय किसी एकके भी अभावमें एककी भी सत्ता नहीं रहती. अर्थात् तीनोंमेंसे यदि एक भी हटा लिया जाय तो कोई भी नहीं रहता. ज्ञेय हटा लिया जाय तो ज्ञाता किसका? और ज्ञान भी किसका? कुछ भी न

रहेगा. इस तरह एकके न रहनेसे कुछ भी नहीं रहता. तीनों बने रहें तभी तीनों रह सकते हैं. एक भी अन्य दोके भावमें ही रह सकता है, अभावमें नहीं. ऐसी अवस्थामें 'सापेक्षम् असमर्थं भवति' एक-दूसरेकी अपेक्षा रखनेसे दोनों असमर्थ हो जाते हैं इस न्यायके अनुसार तीनों एक-दूसरेकी अपेक्षा रखते हैं, इसलिए ज्ञाता आदि तीनों असमर्थ हैं, यह शंका हो सकती है. इसके उत्तरमें कहते हैं कि नहीं यहां तीनों असमर्थ नहीं हैं. क्योंकि तीनोंको सामर्थ्य पहुंचानेवाला एक तुरीय पदार्थ और भी है. वह चतुर्थ व्यापक ज्ञानात्मा त्रितयको जानता है.

कदाचित् कोई कहे कि अन्तर्यामी ही अपने-अपने तिगट्टेको जान सकता है फिर तुरीय स्वाश्रयाश्रयकी अपेक्षा क्या है? तो उत्तर देते हैं कि अन्तर्यामी भी अपने नियमनरूप कार्यमें लग रहा है इसलिए अपने तिगट्टेको नहीं जानता. जैसे देह और जीव तीनोंको नहीं जानता इसी तरह अन्तर्यामी भी तीनोंको नहीं जानता यह स्पष्ट है. ऐसी अवस्थामें जो तुरीय ज्ञानात्मा सर्वव्यापक, सर्वाश्रय, भगवान् तीनोंको जानता है, वह वास्तवमें आश्रय है. उसका एक दूसरा भी नाम है. 'आत्मा'=सब जगह जो पहुंचा रहे, सबमें भरा रहे वह आत्मा. इसलिए इस आत्माका ही एक लीलास्वरूप आत्मा भी आत्मा कहा गया है. वह सर्व देह व्यापक होनेसे 'आत्मा' है और यह सर्व विश्व व्यापक होनेसे आत्मा है. गीतामें कहा है कि ''**अहम् आत्मा गुडाकेश! सर्व भूताशय स्थितः**'. अर्थात् हे अर्जुन! सर्व प्राणियोंके हृदयाकाशमें स्थित मैं ही आत्मा कहा जाता हूं. यह आश्रयरूप भी भगवान्का एक पृथक् रूप ही है अथवा ज्ञानको आश्रय देनेमे जो आत्मारूपसे माना जाता है, वह यह भगवान् ही है इसीसे इसे तुरीय किंवा ज्ञानाश्रय कहते हैं.

यहां एक यह प्रश्न भी होता है कि जब ज्ञात्रादिकों भी त्रितय ज्ञान नहीं है, इसलिए चतुर्थको ज्ञानाश्रय मानते हो, फिर इसको अपना ज्ञान नहीं है अथवा अपने अधिष्ठाताका ज्ञान नहीं है, इसलिए इसका भी एक पंचम आश्रय और मानना पड़ेगा. इसका उत्तर देते हैं कि वह स्वाश्रय है. अपने स्वरूपका ही आश्रय लेकर ठहरा हुआ है. इसको अन्य आश्रयकी अपेक्षा नहीं है. 'स्वाश्रयाश्चासौ आश्रयश्च स्वाश्रयाश्रयः'. अर्थात् सर्वाधार यह तुरीय आत्मा अपना भी आश्रय है और अन्य पदार्थोंका भी आश्रय है. इससे यह स्पष्ट होता है कि यह स्वाश्रयाश्रय आत्मा अन्यानपेक्ष स्वयंप्रकाशरूप है।।९।।

आभासार्थः इस तरह दश लक्षणोंका निरूपण करके अब तीनका (ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता) निरूपण करनेकेलिए विराट् पुरुषका उपपत्ति सहित निरूपण करते हैं

पुरुषोऽण्डं विनिर्भिद्य यद् आदौ स विनिर्गतः।
आत्मनोऽयनमन्विच्छन् अपोऽस्राक्षीच्छुचिः शुचीः।।१०।।
तास्ववात्सीत् स्वसृष्टासु सहस्रं परिवत्सरान्।
तेन नारायणो नाम यद् आपः पुरुषोद्भवाः।।११।।

श्लोकार्थः सृष्टिके आरम्भमें जब यह पुरुष अण्डका भेदन करके बाहर निकला, तब अपने रहनेकेलिए उसने स्थानकी इच्छा की. स्वयं पवित्र था. इसलिए अपने रहनेके जलको भी पवित्र किया. अपने ही पैदा किये, उन जलोंमें यह भगवान् हजारों परिवत्सर पर्यन्त निवास करता रहा. इसीलिए भगवान्को 'नारायण' कहते हैं. नर पुरुषसे उत्पन्न हुवे जलोंको 'नार' कहते हैं. यहां पुरुषसे जल पैदा हुये हैं और उन जलोंमें भगवान्ने निवास किया है, इसलिये ये भगवान् 'नारायण' कहे गये हैं।।१०-११।।

व्याख्यार्थः ''**यावान् अयं वै पुरुषः**'' इस वाक्यमें नाम और रूप दोनों जीवके समान हैं. ऐसा भगवान्केलिए उचित नहीं है. यह आक्षेप किया है. इसका समाधान करते हैं कि जीवके और भगवान्के शरीर और नाममें विलक्षणता है. क्योंकि भगवान्के रूप और नाम अपनी स्वतन्त्र इच्छासे होते हैं, कर्मपरवश होकर नहीं. इसलिए पुरुषमें और जीवमें समानता नहीं हो सकती, यह दिखाते हैं. उसमें पहले नामका निर्वचन करते हैं: 'पुरुषो अण्ड' इत्यादि दो श्लोकोंसे.

विराट् पुरुषने ब्रह्माण्डको कटाहसे पृथक् करके नारियलके गोलेकी तरह अपने आपको प्रकाशित किया. अर्थात् अपने सब कार्य करनेमें वह समर्थ हो गया, अथवा विश्वके एक देश अण्डको ही भेदन करके बाहर निकला. उस समय जलादिके आवरणकी व्यवस्था नहीं थी. ''दशोत्तराधिकैर्यत्र'' इत्यादि वाक्यके अनुरोधसे विराट् भगवान्की स्थिति अण्डमें कही है. वास्तवमें तो कटाहसे अण्डको अलग करके भगवान् विराट् पुरुष बाहर आया यही ठीक है. इसीसे अपनेलिए उसे आश्रयकी अपेक्षा हुई. पहले अण्ड ही आश्रय रूपसे था. जब उसका भङ्ग हो गया तब आश्रयकी अपेक्षा हुई, इसलिए जल पैदा किये. स्वयं ज्ञानपूर्ण शुद्ध अवतार है. इसलिए उसने अपना आश्रय भी शुद्ध ही तैयार किया. सबकी जलसे शुद्धि होती है, इसलिए जलको पैदा किया. जल भी जब

झाग, तरंग आदि रहित रहता है तब शुद्ध कहा जाता है. अपने पैदा किये जलोंमें विराटने निवास किया. भगवान्के सिवाय जीव आदि इस तरह जलको पैदा करनेमें और उसमें ठहरनेमें शक्तिमान नहीं है.

'स्वसृष्टासु' कहनेसे जलका महत्त्व दिखाया और अपना भी महत्त्व दिखाया है. जीव आदिका कोई अन्तर न होनेसे जीवगत अशुद्धिका निवारण किया. यह जलका निवास निश्चल-चेष्टा रहित भावसे हुआ.

'सहस्रं परिवत्सरान्'. यह भगवान् नारायण दिव्य ब्राह्म मान(नाप)से एक सहस्र वर्ष पर्यंत स्थित रहता है अथवा शयन करता है. एक सहस्र वर्ष शयन करके निश्चल विचारस्थित होकर फिर सृष्टिरचना करता है. यह इतने काल निश्चल स्थिति किसकेलिए? तो कहते हैं कि अपने भीतर सब जीवोंके व्यवहारनिर्वाहार्थ तैयारी करनेमें इतना समय देना उचित ही था. इसीसे इस पुरुषका नाम 'नारायण' हुआ. नर-समूह नार, यह नरसमूह ही है अयन-घर जिसका वह 'नारायण'. यदि कोई कहे कि पुरुषकी तो जल हीमें स्थिति कह आये हैं फिर नार-अयन कैसे कहते हैं तो उत्तर देते हैं कि 'यदापः पुरुषोद्भवाः'. ये जल पुरुषसे ही पैदा हुये हैं. ये जल पुरुष शब्दसे कहने योग्य नरसे ही पैदा हुये हैं. पहले पुरुष ही था और यह नारायणसे पूर्व था इसलिए 'नर' कहा गया, क्योंकि इसमें पुरुषोत्तमका आवेश हुआ था. इस नरसे जो उत्पन्न हुये वे जल 'नारा' कहे गये और वे जल ही जिसके अयन वह नारायण हुआ. इस तरह भगवान्का स्वरूप और नाम दोनों अपने स्वरूपमेंसे बनाये कार्यसे ही है, इसलिए यह प्राकृत तुल्य भी नहीं है और न जीव तुल्य है।।१०-११।।

आभासार्थः एक और भी कारणसे भगवच्छरीर और नाम प्राकृत शरीरादिके समान नही हैं.

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
यद् अनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यद् उपेक्षया।।१२।।

श्लोकार्थः द्रव्य पृथिव्यादि, कर्म उत्पत्त्यादि, काल भूतादि, स्वभाव और जीव ये सब जिस भगवान्के अनुग्रहसे रहते हैं और जिनकी थोड़ी भी उपेक्षासे नहीं रहते हैं।।१२।।

व्याख्यार्थः कर्म जो अन्तःकरण पर संस्काररूपसे जमा रहता है वह अध्यात्म, अदृष्ट आदि, पंचमहाभूतादि द्रव्य अधिभूत, आधिदैविक पदार्थ काल

जो सबको वशमें रखता है और सब कार्यमें निमित्त है, सबको बदल देनेका कारण स्वभाव और भोक्ता जीव. इनमें कोई भगवत्कृपासे अवान्तर उपादान है, कोई निमित्त कारण है, कोई चेष्टा कराने वाला है, कोई हेतु है, और कोई सुख-दुःखादिका भोक्ता है. यही बात कहते हैं कि 'यदनुग्रहतः'. यह सब भगवान् विराट् पुरुषके अनुग्रहसे होता है. 'एव' शब्दसे यह कहते हैं कि जीवगण विशेष करके भगवत्कृपाके अधीन हैं. 'च' कहकर यह भी दिखीया है कि अन्य-अन्य साधन दण्ड-दानादि भी भगवत्कृपासे ही हैं अर्थात आविर्भूत रहते हैं, कार्य करनेमें सफल होते हैं. भगवान्का अनुग्रह इन पर न हो तो अव्यक्त पुरुष इन पदार्थोंको अपनी तरफ खींच ले, अव्यक्त बना दे. जैसे व्याघ्र पशुको अपना रूप दे देता ह, खा जाता है. यही कहते हैं कि 'न सन्तीति'. भगवान्की उपेक्षासे ये सब कुछ भी नहीं रहने पाते. इस विषयमें भगवान्को क्रोधकी अपेक्षा नहीं है किन्तु भगवान्की दृष्टि हट जानेसे ही अव्यक्त इनका उपसंहार कर लेता है. इससे 'यावान् कल्पविकल्पेषु' इत्यादिको जो कालादिके आक्षेप किये थे, उन सबका समाधान यहां कर दिया, यह समझ लेना चाहिये।।१२।।

आभासार्थ: भगवान् अनन्त हैं, यह सृष्टि आदि कार्य कैसे करता है? यह शंका यहां नहीं करनी चाहिये सो कहते हैं:

एको नानात्वम् अन्विच्छन् योगतल्पात् समुत्थितः।
वीर्यं हिरण्मयं देवो मायया व्यसृजत् त्रिधा।।१३।।

श्लोकार्थ: स्वप्रकाशरूप यह भगवान्को जब एकसे नाना होनेकी इच्छा हुई, तब यह योगशय्यासे उठा और अपने आनन्दमय हिरण्मय पराक्रमको उसने अपनी सर्वभवनशक्तिसे सत्, चित्, आनन्द रूपमें तीन प्रकारसे प्रकाशित किया।।१३।।

व्याख्यार्थ: जलरूप शय्यामें सोते हुए भगवान्ने 'मैं एक ही अनेकरूप होऊंगा' यह इच्छा की, तब जैसे पुरुष पलंगसे उठता है, इस तरह उस जलतल्पसे उठे. अर्थात् उनके वीर्यमें कई क्षोभ हुये. तब उनके अपने स्वरूपको ही अनेक रूपमें प्रकट करनेकी इच्छा हुई. यह वास्तवमें वासुदेव भगवान् हैं और इनकी माया शक्ति स्त्री है. उसको उस समय साधन बनाकर इसके पासमें रहने मात्रसे अपने आपमें विद्यमान् सबके बीजरूप सच्चिदानन्द पराक्रमको उन्होंने सत् चित् और आनन्द रूपमें तीन तरहसे प्रकट किया. अर्थात् सद्रूप, चिद्रूप और

आनन्दरूप तीन पदार्थ पैदा किये।।१३।।

आभासार्थ: इन तीन भेदोंको ही गिनते हैं

अधिदैवम् अथाध्यात्मम् अधिभूतम् इति प्रभुः।
यथैकं पौरुषं वीर्यं त्रिधा भिद्यत तच्छृणु।।१४।।

श्लोकार्थ: सर्वसमर्थ प्रभुने एक अपने पौरुष-वीर्यको ही अधिदैव, अध्यात्म और अधिभूत रूपसे तीन तरह पृथक्-पृथक् जैसे किया सो सुनो।।१४।।

व्याख्यार्थ: सबसे पहला आनन्दका अंश अधिदैव पदार्थ है. इसके अनन्तर चित् रूप अध्यात्म पदार्थ है और इसके अनन्तर अधिभूत सद्रूप पदार्थ है. सद्रूप जड पदार्थ है. चिद्रूप जीव आदि पदार्थ है और आधिदैव आनन्दरूप अन्तर्यामी-स्वर्गादि पदार्थ हैं. इन पदार्थोंको कैसे बना सके सो कहते हैं 'प्रभु'. वे सर्व समर्थ हैं इसलिए बना सके. इति शब्दका अर्थ प्रकार है. अर्थात् जिस प्रकारसे इन तीनका निर्माण किया ऐसे-ऐसे अन्य भी प्रकारोंका निर्माण किया. इससे यह भी स्पष्ट होता है कि सब ही प्रकारके पदार्थ आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक तीन भेदोंसे भिन्न-भिन्न ही बनाये. प्रकारके भेदसे भी त्रिविधता होती है, सो कहते हैं 'यथा एक' अर्थात् यद्यपि भगवान्को अपने त्रिविध होनेमें प्रकार विशेषकी अपेक्षा नहीं है. इच्छा मात्रसे ही त्रिविध हो सकते हैं तथापि किसी समय प्रकार विशेषके द्वारा भी त्रिविध होते हैं. सो कहते हैं: 'एकं अभिद्यत' भगवान् अखण्ड व्यापक था, किन्तु जैसे उसके अनेक प्रकार भिन्न-भिन्न हो गये, सो सुनो।।१४।।

आभासार्थ: सो ही कहते हैं कि:

अन्तःशरीर आकाशात् पुरुषस्य विचेष्टतः।
ओजः सहो बलं जज्ञे ततः प्राणो महान् असुः ।। १५ ।।

श्लोकार्थ: शरीरके भीतर अवकाश-आकाशके होनेसे जब विराट् भगवान् चेष्टा करने लगे तब इन्द्रिय, अन्तःकरण और देहादि पदार्थोंको क्रमसे ओजस् सहस् और बल मिलने लगे, तब फिर महत्तत्वका एक अंश लौकिक वायुसे भिन्न प्राण पैदा हुआ ।। १५ ।।

व्याख्यार्थ: शरीरके मध्य हृदयके स्थानमें जो आकाश है उस अवकाशके कारणसे ही पुरुषने विविध चेष्टा करनी प्रारम्भ की. यद्यपि

पुरुषकेलिए देहरूप स्थान मिल गया था, तथापि अवकाश न होनेसे विविध क्रियायें नहीं हो सकती थी, किन्तु हृदयाकाशमें पूर्ण अवकाश मिल जानेसे विचेष्टा होने लगी. नारायण पुरुष जब शरीरके भीतर ही चेष्टा करते थे, तब यह शक्ति उनकी ही थी. अर्थात् देहेन्द्रियान्तःकरणप्राणोंकी यह शक्ति नहीं थी. इनकी ही विविध चेष्टाओंसे इन्द्रिय अन्तःकरण और देह में सामर्थ्य आई. भगवान्की चेष्टासे इन्द्रियोंको 'ओजस' नामकी शक्ति मिली. अन्तःकरणको 'सहस्' नामक सामर्थ्य मिली और देहको 'बल' नामकी शक्ति मिली. तब फिर सर्वत्र 'प्राण' नामक भगवान् प्रकाशित हुआ. कोई इसे लौकिक वायु न समझ ले इसलिए कहते हैं: महान्. यह प्राण महत्तत्त्वका ही अंश था, महाभूतमें गिना जाता वायु पदार्थ नहीं. इन्द्रियान्तःकरणदेहादिमें अन्य भी प्राणांश प्राण हैं, इसलिए प्राणको विशेषण दिया है: 'असुः'. 'सुः' यह श्वास वायुका अनुकरण(शब्दकी नकल 'सुः') है. जो 'सुः' न हो वह 'असुः' कहा जाता है. अर्थात् भौतिक वायुसे प्राण जुदा ही पदार्थ है।।१५।।

आभासार्थ: भगवान्की चेष्टासे ही देहेन्द्रियान्त:करणोंको शक्ति मिलती है और प्राण भी उसीसे प्रकाशित होता है, यह कह दिया. अब उस प्राणका माहात्म्य कहते हैं:

अनु प्राणन्ति यं प्राणाः प्राणन्तं सर्वजन्तुषु।
अपानन्तम् अपानन्ति नरदेवम् इवानुगाः।।१६।।

श्लोकार्थ : जिस प्रकार राजाके ही सहारेसे उसके नौकर जीवित रहते हैं, उसी तरह सब प्राणियोंके अन्य प्राण इन्द्रियस्थ इस मुख्य प्राणके चलते रहने पर चलते रहते हैं और मुख्य प्राणके निकलनेसे ही निकलते हैं।।१६।।

व्याख्यार्थ: पहले अध्यायोंमें राजसाहङ्कारसे प्राण आदि उत्पत्ति कही है. वे आधिदैविक रूप थे और ये आध्यात्मिक रूप हैं. यह मुख्य प्राण जब आता जाता रहता है, तब इन्द्रियस्थ अन्य प्राण अपना-अपना कार्य करते रहते हैं. 'अन्य प्राण' शब्दसे यहां इन्द्रियस्थ प्राण लिये गये हैं. इसमें भी जब यह प्राण केवल स्वरूपस्थ रहे, तब नहीं, किन्तु जब यह अपना प्राण न कार्य करता रहता है, तब अन्य प्राण उसका उपजीवन करते हैं. इससे स्पष्ट होता है कि इन्द्रियादिकी क्रिया मुख्य क्रियाकी अपेक्षा रखती है. तब यह व्यवस्था इसके सब ही शरीरोंमें हो गई सो कहते हैं 'सर्वजन्तुषु'. ब्रह्मासे लेकर तृण-गुल्मादि पर्यन्त जब ये प्राण

चले जाते हैं तब इन्द्रियादि स्थित प्राण भी नष्ट हो जाते हैं. यह उपलक्षण नहीं है. यह दृष्टान्तसे कहते हैं 'नरदेवमिवानुगा'. जैसे राजाके नौकर राजाके पीछे ही जीते हैं।।१६।।

आभासार्थ: इस तरह प्राणका माहात्म्य कहकर आगेकी सृष्टिको कहते हैं:

प्राणेन क्षिपता क्षुत्तृड् अन्तरा जायते प्रभोः।
पिपासतो जक्षतश्च प्राङ्मुखं निरभिद्यत।।१७।।
मुखतस्तालु निर्भिन्नं जिह्वा तत्रोपजायत।
ततो नानारसो जज्ञे जिह्वया योऽधिगम्यते।।१८।।

श्लोकार्थ: मुख्य प्राणने जब इधर-उधर हलचल मचाई तब इस पुरुषको देहके भीतर भूख और प्यास लगने लगी और जब प्यास-भूखकी वृत्ति हुई तब पूर्व दिशामें मुखका छिद्र हुआ. मुखमें तालुआ निकला. उस तालुमें जीभ निकल आई, फिर उस मुखमें स्वाद लेनेकेलिए नाना रस पैदा हुए, जिनका स्वाद जीभसे जाना जाता है।।१७-१८।।

व्याख्यार्थ: वात पित्त कफ आदि मल पदार्थोंको इधर-उधर ले जानेमें ही प्राण साधन है. वस्तुओंको इधर उधर फेंक देनेकी शक्ति प्राणकी है. इसलिए अन्त:स्थित वस्तुओंको जब प्राणने इधर-उधर फैलाना प्रारम्भ किया तब भूख और प्यास पैदा हुई. कितने ही कहते हैं कि भूख-प्यास एक प्रकारकी अग्नि है. बहुतोंका मत है कि मृत्यु ही भूख प्यास है. कितनोंका यह मत है कि भूख-प्यास एक तरहकी गर्मी है. वास्तवमें तो वैश्वानर भगवान् ही भूख और प्यासकी दो वृत्ति हो जाता है. प्राण भगवान्के आवागमनका जो हृदय पर संघर्ष होता है, उससे वैश्वानर अग्नि प्रकट होता है. उसकी ही ये दो वृत्तियां हैं. ये उदरमें रहती हैं. इन वृत्तियोंसे ही पिपासा और अन्नग्रहण की इच्छा होती है और बहिःस्थित अन्नजलादिरूप पदार्थांको भूख प्यासकी इच्छा होने पर ग्रहण करता है. इसलिए इसके पूर्व भागमें मुख निकला. पुरुष ही अपने चारों तरफ दिशाओंकी सृष्टि कर लेता है. पूर्व दिशामें इसके मुखछिद्र निकल आया. फूटा नहीं किन्तु दरवाजेकी तरह छिद्र हो गया. इस छिद्रात्मक मुखमें, मुखके ही कारण, तालु निकल आया. जिह्वाके और मुखके ऊपरी भागमें. अर्थात् ऊपर और नीचेके भागमें इन्द्रियाधिष्ठाता देव पदार्थोंको ग्रहण करनेकेलिए तालुरूप स्थित हुए. उसी तालुमें 'जिह्वा' नाम इन्द्रिय प्रकाशित हुई. उस जिह्वामें ही 'रसना' इन्द्रिय भी रहनेसे

मधुर-अम्ल आदि नाना रसस्वाद आने लगे. यद्यपि कारण होनेसे सब ही रस और विषय जिह्वामें विद्यमान हैं और पैदा होते हैं, तथापि भगवदिच्छासे सब रस बहिःस्थित होकर ही प्रकाशित होते हैं. इससे यह स्पष्ट होता है कि अन्नादिकी यही व्यवस्था होती है. अर्थात् उनका भी रसास्वाद बहिःस्थित होकर ही होता है. अन्तःस्थिति पक्ष मानें तो भी तालूकी क्रियासे तालूके द्वारा क्षुत्-तृषा आदिकी शान्ति की जाती है. इसलिए सपरिवार मुखका निर्माण किया गया. दीमक जैसे काष्ठादिको बाहरसे यथास्थित रखकर अन्तःभाग खा जाती है और जैसे हाथी कपित्थ जैसेको तैसा रखकर अन्दरसे खा लेता है, उसी तरह बाहरसे रसास्वादके विषयमें तो सन्देह ही नहीं है.

श्रृंगार आदिको भी रस कहते हैं. सो यहां वे रस न समझ लिये जावे, इसलिए 'जिह्वया यो अधिगम्यते' कहा. जिन रसोंको यह विराट् जिह्वाके द्वारा विषयरूपसे ग्रहण करता है।।१७-१८।।

आभासार्थः इसके अनन्तर इस मुख स्थानमें ही एक दूसरी इन्द्रिय और भी पैदा हुई सो कहते हैं:

विवक्षोर्मुखतो भूम्नो वह्निर्वाग्व्याहृतं तयोः।
जले वै तस्य सुचिरं निरोधः समजायत।।१९।।
नासिके निरभिद्येतां दोधूयति नभस्वति।
तत्र वायुर्गन्धवहो घ्राणो नसि जिघृक्षतः।।२०।।

श्लोकार्थः इस भूमा भगवान्को जब बोलनेकी इच्छा हुई, तब वहां अग्नि देवता और वाक् इन्द्रिय स्थित हुई और उन दोनोंके हेतुसे विराट् पुरुषकी बोलचाल प्रारम्भ हुई. कारण कि जलमें इस वाक्का बहुत समय पर्यन्त निरोध ही रहा था. हवाके जब चिर समय पर्यन्त फटकारे लगे तब उस मुखके पास ही नासिकाके गोलक अथवा नासिकाके छिद्र निकल आये. नाकके द्वारा गन्धादिका ग्रहण करनेकी इच्छासे उस नासिकामें गन्धको वहन करनेवाला वायु और घ्राण इन्द्रिय स्थित हुए।।१९-२०।।

व्याख्यार्थः वेदरूपा वाणी किंवा ज्ञान सहित वाणी बोलनेकी इच्छा वाले व्यापक आकाशरूप भगवान्के विवरात्मक मुखसे, कारण कि आकाशमें ही शब्द उत्पन्न होता है, वाणी पैदा हुई. जैसे तालू रूपमें जिह्वा रहती है इसी प्रकार मुखके मध्यमें आकाश होता है और उस आकाशमें वाक् इन्द्रिय रहती है.

इसमें पहले अग्नि देवताका निवास कहा. क्योंकि वाक् स्त्री है, वह अपने पति वह्निके बिना बाहर नहीं आ सकती, इसलिए पहले देवताका निरूपण किया. इससे अन्यत्र भी पहले देवता पीछे इन्द्रियका निरूपण समझ लेना चाहिये. 'व्याहृतं तयोः'. बोली उन दोनोंसे सम्बन्ध रखती है. इसलिए वाणीका व्यापार देवताके शासनमें इन्द्रियसे किया जाता है, केवल इन्द्रियसे नहीं यह सिद्ध किया गया. यह बात सब ही जगह नियत है.

इसी तरह जब विराट् पुरुषका संचालन हुआ तब भीतर ही वायु प्रकट हुआ. जब यह वायु भीतर भर गया तब इसने व्याकुलता पैदा कर दी. इसकी निवृत्तिकेलिए नासिकाके गोलक फूट निकले. यद्यपि यहां बहिःस्थित पदार्थोंको ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं है, तथापि अन्तःस्थित वायु ही गन्धग्रहणमें निमित्त है. सो कहते हैं 'दोधूयति नभस्वति'. नभस्वान् वायु जब एकदम फटकार देने लगा. यह व्यवस्था वायुको देवता माने तब रहती है. और जब अश्विनीको देवता मानते हैं, तब वायु भी गोलक स्थान है और अश्विनीकुमार देव हैं. अथवा वायु ही देवता है. गंधको ले जानेवाला वायु है, किंवा घ्राण इन्द्रिय है. दोनोंके मध्यमें विशेषण देनेका तात्पर्य यह है, गन्ध ही दोनोंका विषय है. 'घ्राण' नामक इन्द्रिय है. नासिका ही गोलक है. अथवा गोलकका आधार है. गन्धको ग्रहण करनेकी जब भगवान्की इच्छा हुई नाकमें घ्राण इन्द्रिय उत्पन्न हो गई. 'निरभिद्यत' अर्थात् बाहर प्रकाशित हुआ. इस तरह सर्वत्र यथा योग्य क्रियाओंका निवेश कर लेना चाहिये।।१९-२०।।

आभासार्थः इस प्रकार मुख और नासिकाका उपपादन करके नेत्रोंका निरूपण करते हैं:

यदात्मनि निरालोकम् आत्मानं च दिदृक्षतः।
निर्भिन्ने अक्षिणी तस्य ज्योतिश्चक्षुर्गुणग्रहः।।२१।।
बोध्यमानस्य ऋषिभिः आत्मनस्तद् जिघृक्षतः।
कर्णौ च निरभिद्येतां दिशः श्रोत्रं गुणग्रहः।।२२।।

श्लोकार्थः जब इस विराट् पुरुषने अपने आपको प्रकाश रहित देखा और उसे देखनेकी इच्छा हुई, तब उसके आंखके गोलक(स्थान) निकले और उनमें सूर्य देवता और चक्षु इन्द्रिय स्थित हुये. जिससे रूप-गुणका ग्रहण होने लगा. ऋषिगण जब विराट् भगवान्की स्तुति करने लगे, तब अपने स्वरूपको

जाननेकेलिए जब सुननेकी इच्छा हुई, तब उसके कानके गोलक बन गये और उनमें दिग्देवता और श्रोत्र इन्द्रिय स्थित हुये, जिससे शब्दका ग्रहण होने लगा।।२१-२२।।

व्याख्यार्थ: जब विराट्के देहमें अप्रकाश था अर्थात् 'मैं कैसा हूं' यह जब उसे न दीखने लगा, 'मैं किस प्रकारके स्थानमें रह रहा हूं' किंवा अपने सम्बन्धी सब कुछको देखनेकी जब उसको इच्छा हुई तब आंखें बनी. भगवान्की चक्षु आदि इन्द्रियको भौतिक आलोककी अपेक्षा नहीं है, यह कह दिया है. सो न तो भगवान्की मायाकृत भूल है और न विषयताजन्य अन्धकारकी रुकावट ही है. अप्रकाश तो अदर्शनसे ही होता है. सो भगवान्को असम्भव है.

यहां देवता सूर्यकी किरणें हैं, किंवा सूर्य ही है. सूर्यका आधिदैविक रूप ज्योति है और सूर्य शब्दसे कहा जाता आध्यात्मिक रूप मण्डल है. किरण या प्रकाश आधिभौतिक है. वहां आधिदैविक ही अभीष्ट है, इसलिए 'ज्योतिः' शब्दका प्रयोग है. यहां चक्षु इन्द्रिय है और गुण रूप है. पांच गुणोंमें रूप ही प्रसिद्ध है. इसलिये देवता और इन्द्रिय दोनोंसे रूप गुणका ग्रहण होता है यह कहा. इसके बाद महापुरुष भगवान्की मन्त्ररूप ऋषियोंने स्तुति की तब परब्रह्म रूपसे कहाते, अपने आपको किंवा अपने आत्माको सुननेकी इच्छासे, उनके कहे अर्थको समझनेकी इच्छासे गोलकरूप कान निकले. यहां दिशा ही देवता है. श्रोत्र इन्द्रिय है और शब्दका सुनना ही गुणग्रहण है. शब्द तो नित्य है. इसलिये पहले ही वर्तमान था, वह केवल पीछेसे सुना गया।।२१-२२।।

आभासार्थ: इस प्रकारसे द्विगोलक तीन इन्द्रियों(नासिका, नेत्र और कर्ण)का निरूपण किया. अब व्यापक इन्द्रिय कहते हैं:

वस्तुनो मृदुकाठिन्यं लघुगुर्वुष्णशीतताम्।
जिघृक्षतस्त्वङ् निर्भिन्ना तस्यां लोम महीरुहाः।।२३।।

श्लोकार्थ: पदार्थकी नरमाई, कठिनता, लघुता, भारीपन, गरमी, ठंडक प्रभृतिको समझनेकी जब पुरुषको इच्छा हुई, तब इसके शरीर पर 'त्वचा' नामक गोलक प्रकट हुई. इस त्वचामें औषधि वृक्षादि देवता हैं और उसीमें रोम इन्द्रिय भी प्रकट हुये।।२३।।

व्याख्यार्थ: घट-पटादि वस्तुके हलका-भारीपनके जाननेकी जब विराट्की इच्छा हुई, तब इसके शरीर पर खाल निकल आई. उसमें लोम(रोम)ही

इन्द्रिय और औषधियां ही देव हैं.

'लघु' शब्द यहां सूक्ष्मवाची है. 'लघु' शब्द वस्तुके धर्मको कहता है, तथापि धर्मी(उस वस्तुको)को भी कहता है, क्योंकि ऐसा लोकमें बहुत प्रयोग आता है. इसी अभिप्रायको लेकर ही लाघव आदि शब्द कहे जाते हैं. इसीलिए चातुर्यकेलिए भी लाघव शब्द आता है, किन्तु यहां तो 'लघु' शब्द स्पर्श विशेषको कह रहा है. जैसे सूक्ष्मवायुका स्पर्श. जोरके स्पर्शमें नरमाई अनुभवमें नहीं आती. कर्ण आदिको वायुके स्पर्श करनेमें सब जगह लघु स्पर्श ही किया जाता है. कठिनता भी कठिन स्पर्श ही है. पाषाण आदिका स्पर्श करनेमें इसका अनुभव होता है. कोमल स्पर्शको मृदु कहते हैं. फिसलना स्पर्श भी कोमलका भेद है. रेशमी वस्त्रमें फिसलने स्पर्शका अनुभव होता है. भारीपन भी स्पर्श ही है. यद्यपि तौलको लेकर दूसरे शास्त्रोंमें इस भारीपनको दूसरा धर्म माना है तथा भागवत शास्त्रमें इसको स्पर्श ही माना है. स्पर्श सहित तौलनेसे ही इसका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है. स्पर्श रहित तौलना तो अनुमान है. जो ऐसा न हो तो कारणमें गुरुत्व न होनेसे कार्यमें यह गुरुत्व कहांसे आवे. बहुत्व तो महत्वका बोधक है, गुरुत्वका बोधक नहीं है.

कितने ही तो कहते हैं कि शिथिल अवयवोंका संयोग होनेसे पदार्थ लघु हो जाता है और मिले अवयवोंका योग होनेसे गुरु भारी कहा जाता है, किन्तु यह ठीक नहीं है. स्पर्शको छोडकर संयोग कोई पदार्थ नहीं है. स्पर्श ही संयोग कहा जाता है. दो वस्तुओंका आपसमें स्पर्श होनेसे लोकमें संयोग कहा जाता है. जो ऐसा न हो तो चाण्डाल आदिका स्पर्श हो जाने पर स्पर्शसे जुदा संयोग और मानना पडेगा और इसका प्रायश्चित्त दूसरा और करना पड़ेगा. इसलिए प्रशिथिल अवयव वाले पदार्थोंके संयोगका निरूपण करनेमें भी लघुत्व या गुरुत्व भी स्पर्श ही है. श्लेष तो विभाग न होना ही है. श्लेषके नामसे भी संयोग पदार्थ स्पर्शसे जुदा नहीं हो सकता. चारों अंगुलियोंको यदि संयुक्त भी कर ली जावे, तो वे चार ही कही जाती है और अब किसीके जुड़ी हुई ही अंगुली होती है, तो मिली हुईकी तरह चार नहीं होती, एक ही रहती है, इसलिए स्पर्शसे जुदा, संयोग नहीं है और न गुरुत्व, लघुत्व आदि भी स्पर्शसे पृथक् है. उष्ण अर्थात् थोडा गरम. एकदम गरमका तो स्पर्श हो नहीं सकता. क्योंकि इसमें त्वचाके जल जानेकी सम्भावना है. शीतस्पर्शका ही नाम शीतलता है.

अथवा लघु और कठिनका जो भाव, वही लाघव और काठिन्य कहा जाता है. ''**द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणः**'' इस व्याकरणके अनुसार 'मृदुकाठिन्यलघु' आदिके द्वन्द्व समासमें जो 'तल्' प्रत्यय प्रत्येक शब्दके साथ लग जाता है. तब मृदुता, गुरुता, लघुता शीतत्व होते हैं. जो शब्द जिस धर्मको लेकर धर्मीका वाचक होता वह उस धर्मीका भाव होता है और वही धर्म है. अतः शब्दकी प्रवृत्तिका निमित्त ही भाव कहा जाता है. कितनोंके मतमें यही सत्ता कहा जाता है. जो सब पदार्थोंके साथ लगा रहता है. इस भाव या सत्ताके अंश ही सब शब्दोंसे कहे जाते हैं. यह मीमांसकोंका मत है. घट पट मनुष्य आदि शब्दोंका वास्तविक अर्थ सत्ता या भाव ही है. अभाव शब्दमें भी निषेधको आगे रखकर भाव या सत्ता ही समझी जाती है. यदि उसमें भी भाव न रहे तो अभाव कोई पदार्थ ही न रहे. वह निःस्वभाव हो जावे.

यहां त्वचा इन्द्रियमें दो भाग हैं. उनमेंसे एक भागका एक कण्डू विषय है और दूसरे भागका विषय स्पर्श है. बाहरसे स्पर्श ही खुजली है और भीतरसे स्पर्श है वह भाग कण्डूको ग्रहण कराने वाला लोम है. उसमें देवता महीरुह है. स्थान तो दोनोंका एक है. और भी कहते हैं, कि इस त्वचामें भीतर और बाहर वायु है, और 'च'कारसे यह भी सूचित किया है कि त्वचामें रोमके सिवाय अन्य भी स्थान है. उसमें वायु देवता रहता है. औषधिरूप देवतासे वायुमें यह विशेष है कि यह भीतर और बाहर दोनों तरफ है. त्वक् इन्द्रियसे स्पर्शका ज्ञान होता है. इसमें देवताकी प्रधानता है. यदि यह न हो तो वायुके ग्रहणमें स्पर्शका ग्रहण न हो. भीतर बाहर फिरता हुआ वायु रहता है. इसलिए बाह्य वायु इसका देवता नहीं हो सकता।।२३।।

आभासार्थः इस तरह त्वचाका निरूपण कर ज्ञानेन्द्रियोंके निरूपणकी समाप्ति कर दी. अब कर्मेन्द्रियोंका निरूपण करते हैं:

तत्र चान्तर्बहिर्वायुः त्वचालब्धगुणो वृतः।
हस्तौ रुरुहतुस्तस्य नानाकर्मचिकीर्षया।
तयोस्तु बलवान् इन्द्र आदानम् उभयाश्रयम्।।२४।।
गतिं जिगीषतः पादौ रुरुहातेऽभिकामिकाम्।
पद्भ्यां यज्ञः स्वयं हव्यं कर्मभिः क्रियते नृभिः।।२५।।

श्लोकार्थः जब पुरुषको नाना प्रकारके कार्य करनेकी इच्छा हुई तब

उसके दो हाथ पैदा हो गये. उनमें बलवान् देव इन्द्र स्थित हुआ. और इन दोनोंमें वस्तुका ग्रहण करना यह विषय हुआ. यथेच्छ गमन करनेकी इच्छासे पुरुषके दो चरण ऊगे. इन दोनोंके देवता विष्णु भगवान् हैं. पैरोंसे मनुष्य यज्ञीय द्रव्य तैयार करनेकी क्रिया करते हैं।।२४-२५।।

व्याख्यार्थ: नाना प्रकारके कार्य करने हैं, इस इच्छासे हाथ ऊगे. ऊगने वाले होनेसे हाथ शाखा रूप हैं, यह सूचना की. इन दोनोंमें दो गोलक हैं. इन दोनों गोलकोंमें बलवान् इन्द्र देवता स्थित होते हैं. इन हाथोंका इन्द्रिय बल है. इन्द्र देवता और ग्रहण करना ही कर्म है. उभयाश्रय कहनेसे स्पष्ट होता है, यह आदन कर्म इन्द्रिय और देवताके आश्रयसे होता है. पहलेकी तरह यहां देवताकी प्रधानता नहीं है.

यथेच्छ गमन करनेकी इच्छासे पैर पैदा हुये. दो पद ही इन्द्रिय हैं. यज्ञ ही देवता, 'स्वयं' शब्द कहनेसे विष्णु लेना अपनी स्वतन्त्रेच्छासे नाना देश गमन करनेकी क्रिया ही विषय है. ऐसे पुरुषके हस्तकी तरह पैर भी शाखारूपसे निकल आये. यद्यपि ऐसे पद रहित पशुओंमें भी गति तो होती है, तथापि उनका द्विपद मनुष्योंका सा सर्वत्र गमन नहीं होता, इसलिए पुरुषको दो पैरकी कामना हुई.

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि विराट् तो स्थिर है, फिर उसे पैरोंकी कामनासे क्या प्रयोजन? और जो विराट् चलित हो जाय तो लोकमें हलचल मच जाये, सब कुपित हो जाय. रूपान्तरकी कल्पना करो तो क्रमका विरोध आवे. इसका उत्तर देते हैं कि 'स्वयं हव्यं' इत्यादि. अर्थात् मनुष्य सृष्टि स्वयं कर्म करके हव्य(होम करनेका द्रव्य) तैयार करती हैं. हव्य अर्थात् पुरोडाश आदि हवनीय पदार्थ. यह भगवद्रूप है सो कहते हैं कि 'स्वयं हव्यं' भगवान् विष्णु ही हव्य हैं और भगवान् ही यज्ञ हैं. हवि भगवान् हैं, इसलिए उससे फलसिद्धि अवश्य होती है, यह कहना उचित है. कारण कि उस हव्यको मनुष्य अपने कर्मोसे तैयार करते हैं. उसी पूरोडाश द्रव्यको जब देवताको पहुंचानेकेलिए अग्निमें डालते हैं, तब वही याग रूपको प्राप्त हो जाता है और हवनकर्त्ता जीवको लेकर लोकान्तर (देहान्तर)में जाता है. ऐसी अवस्थामें गमनकेलिए पैरोंकी अपेक्षा है, सो ये हव्य और यज्ञ ही विराट्(समष्टि) पुरुषके दो पाद हैं. यदि ऐसा न हो तो अर्थात् जीव ही गमन करे या कर्मरूप गमनका साधन होने पर भी कहींका कहीं गमन हो जावे, यथास्थान गमन न हो सके. यज्ञसे दूसरा रूप भी यहां नहीं है क्योंकि यज्ञका ही

आवेश पैरमें हुआ है. पैरोंका कोई अधिष्ठाता देव भी अन्य नहीं है, क्योंकि यज्ञके सिवाय अन्य देवता नहीं कहा गया. हो भी तो वह भी इस यज्ञ भगवान्‌से ही अधिष्ठित है और यह यज्ञ ही स्वर्गका साक्षात्कार कराने वाला है. ''**सृती विचक्रमे विश्वङ् साशना**''(२।६।२०) इस श्लोकमें भगवान् देवयान और धूमयान दो मार्गसे गमन करता है.

और भी बात है कि पृथ्वी पर ही याग और हविष्यान्न तैयार होता है. यदि भगवत्पद न हो तो भूमि भी न हो, स्वर्गादि गति भी न हो, इसलिये स्वयं यज्ञ भी भगवान् है और हविष भी भगवान् है. इच्छित गतिकी सिद्धिकेलिए पशु पुत्र स्वर्ग आदि रूप धारणाकेलिये पैरोंकी अपेक्षा है. और यज्ञ ही पदकी अधिष्टाता देवता है. यज्ञ न हो तो देव भी न हों. तो यज्ञ तो लोकमें प्रसिद्ध है. यद्यपि यज्ञ पदार्थ वास्तवमें अलौकिक है, तथापि यज्ञकेलिये किये जाते पुरोडाश आदि साधन तो प्रत्यक्ष सिद्ध हैं. छिपाये नहीं जा सकते. इसलिए लोकमें द्रव्यात्मक यज्ञ किये जाते हैं. उनकी ओर तरहसे संगति नहीं बैठती. अतएव मानना पड़ता है कि गत्यर्थ भगवान्‌के चरण हैं ही।।२४-२५।।

आभासार्थ: पहले वाणीरूप एक कर्मेन्द्रियका निरूपण हो चुका. फिर अभी हस्त और चरण कह दिये. अब बाकी रहे दो कर्मेन्द्रियोंका निरूपण करते हैं, 'निरभिद्यत' दो श्लोकोंसे:

निरभिद्यत शिश्नो वै प्रजानन्दामृतार्थिनः।
उपस्थ आसीत् कामानां प्रियं तदुभयाश्रयम्।।२६।।

श्लोकार्थ: विराट् पुरुषको जब सन्तान, आनन्द और मोक्ष की इच्छा हुई तब उसके शिश्न इन्द्रिय निकल आई. उस इन्द्रियका नाम उपस्थ हुआ. इसका देवता काम है. ये स्त्री-पुरुष दोनोंको प्रिय है. इस सुखका आश्रय इन्द्रिय और देवता दोनों हैं।।२६।।

व्याख्यार्थ: 'शिश्न' गोलकका नाम है. यदि कोई कहे कि विराट्के स्त्री नहीं है इसलिए शिश्नकी अपेक्षा नहीं है, तो 'वै' कहते हैं. अर्थात् विराट्के लिङ्ग इन्द्रिय है, यह निश्चय है. विराट् पुरुष सब ही मनुष्य आदिका कारण है. यदि उसमें ही लिङ्गेन्द्रिय न हो तो फिर इसके कार्य पुरुषोंमें कहांसे आवे. इसलिए इसमें सन्देह करना उचित नहीं है. प्रजारूप जो आनन्द सम्भोगसुख अथवा पुत्रादि पैदा करनेवाला सुख. अथवा प्रजा आनन्द और मोक्षकी इच्छा जब हुई. प्रजाके प्रजा

होना ही मनुष्योंने सुख माना है. यह वेदमें भी अनुवाद किया है. अथवा 'अमृत' शब्दसे मोक्ष ही लेना, यह मोक्ष देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण के दूर होने पर मिलता है, क्योंकि शास्त्रमें कहा है कि अपुत्रको उत्तम लोक नहीं मिलते. 'अष्टाशीति सहस्राणि' आदि जो वाक्य ब्रह्मचर्यकी प्रशंसा करते हैं, वह तो स्तुति ही है. इनका तात्पर्य इतना ही है कि ब्रह्मचर्य अवश्य रखना उचित है. वेदविद्यामें परिनिष्ठितोंको तो वेद ही प्रमाण है, इसलिये यहां 'अमृत' शब्दसे मोक्ष ही लिया गया है. जब विराट् पुरुषको प्रजा, आनन्द और अमृतकी इच्छा हुई तब उपस्थ इन्द्रिय निकली. यह यहां तात्पर्य है: उपस्थ इन्द्रियका नाम है. स्त्रीसम्भोग सम्बन्धी जो सुख है वह इन्द्रिय और देवताके आश्रयमें है. दोनोंमेंसे एकके न होनेसे सुख भी न रहेगा. अथवा सुखोंके ये दोनों स्थान थे, यह अर्थ करना. काम ही देवताका नाम है. कितने ही कहते कि कामका अभिमानी ही देवता है. काम ही देवता है, यह ही मुख्य पक्ष है. कामके न रहनेसे केवल इन्द्रियसे सुख नहीं होता, यह प्रत्यक्ष सिद्ध बात है।।२६।।

आभासार्थ: बाकी रहे कर्मेन्द्रियका निरूपण करते हैं:

उत्सिसृक्षोर्धातुमलं निरभिद्यत वै गुदम्।
ततः पायुस्ततो मित्र उत्सर्ग उभयाश्रयः।।२७।।

श्लोकार्थ: जिस समय विराट् पुरुषको धातुओंके मलको बाहर निकालेने की इच्छा हुई तब इसके गुदा पैदा हुई. तदनन्तर उसमें पायु इन्द्रिय और मित्र देवता हुआ. मलका निकालना कर्म देवता और इन्द्रिय दोनोंके आश्रयमें है।।२७।।

व्याख्यार्थ: रस, रक्त, मांस, मेद और मज्जा इत्यादि धातु हैं. ये काल आदि साधनोंसे पकाये जाते हैं. अन्न, जल आदि तो इन धातुओंको पोषण पहुंचाने वाले हैं. अन्नादिके द्वारा जब वे मूल धातु पोषणको प्राप्त होते है तब देहमें इसका प्रवेश होता है. किन्तु उसमें जो सार रहित पदार्थ बाकी रहता है, वह मल कहा जाता है. यह मल उन धातुओंका है, अन्नका नही. अन्नादि तो अपना कार्य करके अलग होते हैं. अन्नादि तो हव्य-कव्य हैं, इसलिए इसमें असार होता ही नहीं. इसलिये यहां धातुओंका ही मल समझना. गुदाके स्थान में जो मांस होता है(कांच) नाम यहां 'गुद' कहा है . कभी-कभी यह मांस रोगादिसे बाहर भी निकल आता है. इस गुदस्थानमें 'पायु' नामका इन्द्रिय और 'मित्र' नामका देवता स्थित होता है. सबका हित करनेवालेके सिवाय अन्य कोई ऐसे स्थानमें देवता

रूपसे स्थित नहीं हो सकता. उत्सर्ग(छोड़ना) यही कर्म है. यह पहलेकी तरह देवेन्द्रिय दोनोंके आश्रित है।।२७।।

आभासार्थः इस तरह विराट् देहके नव द्वार कहे. दश इन्द्रियोंमेंसे त्वचा, हाथ और पादमें दरवाजे नहीं है. आंख, नाक, कानोंके दो-दो दरवाजे हैं और गुदा और लिङ्गके एक-एक दरवाजा है. इस तरह इन्द्रिय और दरवाजोंकी संख्या समान नहीं है. इसीलिए अब और भी द्वार कहते है. प्राणादिको नियममें रखनेकेलिए:

आसिसृक्षोः पुरः पुर्या नाभिद्वारम् अपानतः।
तत्रापानस्ततो मृत्युः पृथक्त्वम् उभयाश्रयम्।।२८।।
आदित्सोरन्नपानानाम् आसन् कुक्ष्यन्त्रनाडयः।
नद्यः समुद्राश्च तयोः तुष्टिः पुष्टिस्तदाश्रये।।२९।।
निदिध्यासोरात्ममायां हृदयं निरभिद्यत।
ततो मनश्चन्द्र इति सङ्कल्पः काम एव च।।३०।।

श्लोकार्थः इस देहको छोड देनेकी इच्छासे नाभिका द्वार हुआ. उसमें भी जब प्राण और अपान दोनों जुदे होते हैं, तब अपान और मृत्यु देवता दोनों स्थित होते हैं. यह जुदा होना कार्य इन्द्रिय देवता दोनोंके अधीन है. अन्न और पान का ग्रहण करनेकी इच्छासे विराट्के पेट और आंतें पैदा हो गई. नदी और समुद्र इनके देवता हुए. इन दोनोंके आश्रयसे तुष्टि और पुष्टि होती है और जब आत्म-मायाका विचार करनेकी इच्छा हुई, तब इसके हृदय हुआ. इसका मन इन्द्रिय और चन्द्रमा देव हुआ और संकल्प और अनेक तरहकी कामना इसका कर्म हुआ।।२८-३०।।

व्याख्यार्थ: मल दो प्रकारका है: एक प्रतिदिन पैदा होने वाला और दूसरा प्रत्येक जन्ममें इकट्ठा होने वाला. इसमें प्रतिदिन पैदा होने वाले मलका त्याग करनेकेलिए गुदा ही द्वार है, और सम्पूर्ण जन्ममें इकट्ठे होने वाले देहरूप मलका परित्याग करनेकेलिए नाभि(ठूंडि) ही द्वार है. इस शरीरको पुर कहते हैं. पुरीसे सम्पूर्ण मलको छोड़नेके लिये नाभि द्वार पैदा हुआ. मरण पर्यन्त ही इस देहके साथ जैसे धातुओंका अनुवर्तन चला जाता है. इन धातुओंका पोषण अन्नादिके द्वारा होता रहता है और मल भी निकलता ही रहता है, यह प्रसिद्ध ही है. इसी तरह ''मैं एक ही बहुत हो जाऊं'' इस भगवदिच्छासे आरम्भ कर भगवान्में प्रवेश

करने पर्यन्त भगवान्‌के चिदंश जीवको एक शरीर ही बदलता हुआ प्रति जन्ममें मिलता रहता है. इस अनेक जन्म सह वर्तमान शरीरके पोषक अन्य अनेक शरीर हो जाते हैं, वे सब अन्नमय हैं. उत्पत्तिके समय उनका सूक्ष्मस्वरूप ग्रहण किया जाता है और मरणकी तरह त्यागके समय इनका भी त्याग हो जाता है. शरीरको जन्म देनेवाला प्राण है और शरीरको मारनेवाला अपान है, इसलिए मृत्युका द्‌वार अपानसे उत्पन्न हुआ है. यहां अपान इन्द्रिय है और मृत्यु ही देवता हैं. प्राण और अपान का सहयोग ही जीवन है. किन्तु प्राण और अपानकी जुदाई हो जाना मरण है. यह मरण किंवा जीवन भी इन्द्रिय और देवताके अधीन है. पूर्ववत्, नाभिद्‌वारसे वह शरीर निकल जाता है. मलत्याग करते समय जैसे कुछ प्रयत्न करना पड़ता है, इसी तरह थोडे प्रयत्नसे वह शरीर नाभिद्‌वारसे छोड़ा जाता है. जिस तरहसे यह स्थूल शरीर बहुकाल पर्यन्त रहकर उस सूक्ष्म शरीरका पोषण आदि करता रहता है. इसी तरह अन्नपान आदि भी कुछ काल पर्यन्त शरीरमें रहकर ही धातुओंका पोषण करता है, इसलिए अन्नपान आदिको कुछ समय पर्यन्त शरीरमें ही रखनेकी इच्छा जब भगवान्‌को हुई, तब उस विराट् भगवान्‌के कुक्षि, आंत और नाड़ियें पैदा हुई. इनमें कुक्षि गोलक है. इन्द्रियोंके स्थान भीतरका खाली आकाश ही उदर है. अन्नके जमा होनेका स्थान आंत है. और नाडियां पिये हुये जलके स्थापन करनेका स्थान है. नदी और समुद्र इनके देवता हैं. नाडियोंका देवता नदी है और आंत तथा उदरका देवता समुद्र है. दोनोंका संग्रह करनेकेलिए मूलमें 'च'कार दिया है. "**नाडीर्नद्यो लोहितेन**" और "**क्षुत्तृड्‌भ्याम् उदरं सिन्धुः**" इन वाक्योंमें यह बात कही गई है.

तृप्तिको तुष्टि कहते हैं और देह वृद्धिको पुष्टि कहते हैं. तुष्टि और पुष्टि दोनों इन्द्रिय और देहके अधीन हैं. जगत्‌का निर्माण करनेवाली भगवान्‌की शक्तिको आत्ममाया कहा है. आत्ममायाका जब भगवान् विचार करने लगे अर्थात् यह कैसी है, मैं भी किस तरह इसकी छवि हो सकूंगा, यह जब विराट् भगवान्‌ने विचारना चाहा तब हृदय तैयार हुआ. विचार करनेकेलिए हृदय बना, तब उसमें मन, इन्द्रिय और चन्द्रमा देवता स्थित हुआ. इसका कार्य, ज्ञानरूप संकल्प और क्रियारूप काम हैं. ये दोनों कार्य मनके हैं. इसलिये मन उभयात्मक द्‌विविध है. यदि कामको संकल्पका ही कार्य मान लें तो मनके ज्ञानको क्रियामें कारण मानना उचित है. इस निश्चयको ही 'एव' कह रहा है. ये दोनों कार्य

इन्द्रियके अनुरोधसे होते हैं. यह दिखानेको मूलमें 'च'कार कहा है।।२८-३०।।

आभासार्थ: इस तरहसे सब ही पदार्थोंको तीन तरहका कहा. गोलक आधिभौतिक है. इन्द्रिय आध्यात्मिक है और देवता आधिदैविक है और सब मिलकर जगत् तीन प्रकारका है. इनमें त्वचा आदि पदार्थ केवल अन्नमय हैं इसलिये ये तीन प्रकारके न होंगे, यह आशंका करके ये भी तीन प्रकारके ही हैं यह उत्तर देते हैं:

त्वक्-चर्म-मांस-रुधिर-मेदो-मज्जास्थि-धातवः।
भूम्यप्-तेजोमयाः सप्त प्राणो व्योमाम्बु-वायुभिः।।३१।।

श्लोकार्थ: त्वचा, चमड़ी, मांस, रुधिर, मेद, मज्जा और अस्थि ये सात धातुयें हैं. ये सातों भूमि जल और तेजसे बनते हैं. और प्राण भी आकाश, जल, वायुसे तैयार होते हैं।।३१।।

व्याख्यार्थ: ऊपरकी पतली चमडी त्वचा. मोटी त्वचा ही चमडी. यद्यपि मांससे पूर्व रुधिर होता है तथापि रुधिर ही मांस हो जाता है इसलिए यहां रुधिरसे पहले मांस कहा है. मांसकी ही अतिशय वृद्धि होने पर मेद हो जाती है. अस्थिके भीतर पोचा भाग मज्जा. यद्यपि एक अप्रसिद्ध स्नायु भी होता है किन्तु वह मेदमें ही गिन लिया जाता है. यह हड्डीका आवरण है. ये सातों धातु तेज-अप्-अन्नमय हैं सो मूलमें कहा है: 'भूम्यप्तेजोमयाः'. यद्यपि ये सब पंचमहाभूतसे बने हुयें हैं तथापि वैदिक प्रक्रियामें त्रिवृत् ही है. भूमि, तेज, जल कहो चाहे तेज, अप, अन्न कहो, एक ही पदार्थ हैं. प्राण भी त्रिविधि हैं 'व्योमाम्बुवायुभिः'. प्राण सब देहमें भरे हुए हैं और सब देहको तृप्त करते रहते हैं और इनका बाह्यरूप वायु है इसलिए इनको व्योम, जल और वायु रूप कहा है।।३१।।

आभासार्थ: इन्द्रिय भी तीन प्रकारके हैं, सो कहते हैं:

गुणात्मकानीन्द्रियाणि भूतादिप्रभवा गुणाः।
मनः सर्वविकारात्मा बुद्धिर्विज्ञानरूपिणी।।३२।।

श्लोकार्थ: इन्द्रिय सत्त्वादि गुणोंसे बने हैं. गुण अहंकारादिको उत्पन्न करनेवाले हैं. मन सर्व विकारोंका मूल है, और बुद्धि भी विविध ज्ञानको प्रकाशित करती है।।३२।।

व्याख्यार्थ: सब ही इन्द्रिय सत्त्व, रजस्, तमस् गुणोंसे भरे हुये हैं. इसीलिए इन्द्रियोंसे लौकिक व्यवहार, सनातन धर्म, भक्ति और ब्रह्मज्ञान पैदा

होते हैं. अहंकार भी तीन प्रकारका है सो कहते हैं: 'भूतादिप्रभवा गुणाः'. गुण भूतादिको पैदा करते हैं. अहंकारको भूतादि कहते हैं, क्योंकि अहंकारसे ही पंचमहाभूतादि पैदा होते हैं. जिस अहंकारमें भूतादि पदार्थोंकी उत्पत्ति है अथवा जिन पर अहंकारका प्रभाव है. भूतादिका भेद होनेसे अहंकार त्रिविध है यह स्पष्ट ही है. 'भूतादि' शब्दसे अहंकार ही लेना और अहंकारसे तीन गुणोंकी उत्पत्ति पुराणादिमें स्पष्ट है. अतः गुणत्रयको पैदा करनेवाला होनेसे अहंकार भी त्रिविध है ही. मन भी त्रिविध है: 'मनः सर्वविकारात्मा'. मनकी लहर तीन प्रकारकी है और मन भी सर्व विकारमय है, इसलिए यह भी तीन प्रकारका है. बुद्धि भी तीन प्रकारकी है, सो कहते हैं 'बुद्धिर्विज्ञानरूपिणी' विविध प्रकारका ज्ञान ही विज्ञान है. यह विज्ञान सात्त्विक, राजस, तामस तीन प्रकारका है, इसलिये तद्रूपा बुद्धि भी तीन प्रकारकी है।।३२।।

आभासार्थः इस तरह सब पदार्थोंको तीन प्रकारके कहकर अब सबका सार कहते हैं:

एतद् भगवतो रूपं स्थूलं ते व्याहृतं मया।
मह्यादिभिश्चावरणैः अष्टभिर्बहिरावृतम्।।३३।।

श्लोकार्थः हे राजन्! मैने तेरे आगे यह भगवान्का स्थूल रूप कह दिया. यह भगवान्का स्थूल रूप बाहरसे पृथ्वी आदि आठ आवरणोंसे ढ़ंका हुआ है।।३३।।

व्याख्यार्थः यह पहले बताया गया तीन प्रकारका भगवान्का स्वरूप, भगवान्की स्थूल देह है, सो मैंने तेरे आगे कह दिया. यह भगवान्का रूप जो तीन प्रकारसे कहा गया, यह तो तुम्हारे अधिकारसे कहा है. भगवान्का स्वरूप तो एक ही है, किन्तु सबके अधिकारके अनुसार सब रूपवाला सब तरहका दीखता है, क्योंकि "**तं यथा यथोपासते**". जो अधिकारी भगवान्के जिस रूपका ध्यान करता है, विचारता है, भगवान् भी वैसा ही रूप धारण करते हैं. इस श्रुतिमें ऐसा ही कहा है।।३३।।

आभासार्थः इस तरह राजाके आगे स्थूल रूप त्रिविध है यह कहकर इससे भी उत्तम अधिकारीकेलिए सूक्ष्म रूप है, वह अव्यक्त है. सो कहते हैं:

अतः परं सूक्ष्मतमम् अव्यक्तं निर्विशेषणम्।
अनादि-मध्य-निधनं नित्यं वाङ्मनसः परम्।।३४।।

श्लोकार्थः इससे भगवान्का अतिसूक्ष्म रूप है. जो अव्यक्त है वह किसीकी समझमें स्पष्ट नहीं आता. उसमें कोई फरक या भेद भाव नहीं है. उसका आदि, मध्य और अन्त नहीं है. वह नित्य है और वाणी तथा मनसे परे है. छिपा हुआ है।।३४।।

व्याख्यार्थः पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, प्रकृति और पुरुष इन सात आवरणोंसे युक्त स्थूल रूपसे अन्य जुदा और श्रेष्ठ रूप और भी है, जो इस स्थूल रूपको नियममें रखता है. आकाशादिसे भी सूक्ष्म है. उसका रूप विशेष कहा नहीं जा सकता. इसीलिए वह अव्यक्त है. किसी धर्मके द्वारा भी वह प्रकाशित नहीं किया जा सकता. सो कदाचित् उसके विशेष प्रकट किये जा सकते होंगे यह भी आशंका न करनी चाहिये, क्योंकि वह सब ही विशेषणोंसे रहित है. सबसे जुदा दिखाने वाले (व्यावर्तक) धर्मोंसे रहित है, उसकी उत्पत्ति आदि भी नहीं होती सो कहते हैं 'अनादि'. वह आदि, मध्य, अन्त रहित है. सदा एकरूप ही रहता है और उसमें किसी तरहका व्यवहार नहीं होता।।३४।।

आभासार्थः इस प्रकार स्थूलकी तरह सर्व प्रकारसे सूक्ष्मरूप भी भगवान्का है यह कहा. अब दोनों रूपका सिद्धान्त कहते हैं कि:

अमुनी भगवद्रूपे मया ते ह्यनुवर्णिते।
उभे अपि न गृह्णन्ति मायासृष्टे विपश्चितः।।३५।।

श्लोकार्थः हे राजन! मैंने तेरे आगे भगवान्के ये स्थूल और सूक्ष्म रूप कह दिये हैं. स्वरूप ज्ञानी तो इन दोनोंको खास भगवत्स्वरूप नहीं मानते, क्योंकि मायासे बनाये गये हैं।।३५।।

व्याख्यार्थः ये भगवान्के स्थूल सूक्ष्म देह दोनों तुम्हारे लिये ही मैंने कहे हैं. हमें तो इन दोनों रूपोंसे किसी तरहका भी प्रयोजन नहीं है. यही बात कहते हैं कि 'मायासृष्टे'. कार्य-कारणरूपा मायाके साथ सम्बन्ध* करके भगवान् इन त्रिविध रूपवाला हुआ है. इसलिए जो साक्षात्स्वरूपका अनुभव करनेवाले हैं, वे इन रूपोंको ग्रहण नहीं करते।।३५।।

* यहां किसीको जगत् मायिक है या शांकर मतकी तरह जगत्का स्वरूप है यह भ्रम हो सकता है, किन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है. जगत् तीन प्रकारका है. केवल ब्रह्मरूप आधिदैविक जो द्वितीय स्कंध अध्यायमें कहा गया है और दूसरा मायाके साथ प्रतिकृतिवत् सम्बन्ध करके भगवान्से पैदा हुआ, आध्यात्मिक जगत् जिसका वर्णन

तृतीय स्कंधमें है. यह पदार्थ सृष्टिका प्रकार है और तीसरा आधिभौतिक मायिक जगत् जिसका वर्णन (२।९।३३)में है. 'अमुनी भगवद्रूपे' श्लोकमें जो भगवान्के रूपोंका वर्णन है, वह आध्यात्मिक जगत्का है. क्योंकि इसके प्रारम्भमें 'एको नानात्वम् अन्विच्छन्' 'मायया व्यसृजत् त्रिधा' माया सम्बन्ध सृष्टि कही है और इस (२।१०।३५)में भी 'मायासृष्टे' कहा है और सुबोधिनीमें भी 'मायया' 'सम्बन्धेनैव एवं रूपो जातः' यह कहा है, इसलिए किन्तु विषामित् ग्राह्य(?) जगत् तो केवल ब्रह्मरूप है और वह स्वार्थ सृष्टि प्रकार है. -भावान्तरकर्त्ता देवर्षि रमानाथ)

आभासार्थ: यहां यह प्रश्न होता है कि तो फिर भगवान् इस प्रकारके रूपोंको किस प्रकारसे धारण करते हैं? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं कि:

स वाच्यवाचकतया भगवान् ब्रह्मरूपधृक्।
नामरूपक्रिया धत्ते सकर्माकर्मकः परः।।३६।।

श्लोकार्थ: वाच्य(अर्थ) और वाचक(शब्द) रूप होकर ब्रह्म(व्यापक) रूप धारण करनेवाला वह पुरुषोत्तम जगद्वर्ती नाम रूप और कर्म को धारण करता है. वही सकर्मक है. और यही अकर्मक परब्रह्म है।।३६।।

व्याख्यार्थ: वह पुरुषोत्तम भगवान् अनामरूप अपने स्वरूपमें ही नामरूपको प्रकाशित न करके अर्थात् वाच्य पदार्थरूप और उनके वाचक नाम भी आप ही हो जाता है और जगत्का पालन आदि भी आप ही करता है. वाच्य और वाचक भी आप ही है, इसलिये स्वरूपसे अलग न रहकर ही ब्रह्म, सत्-चित्-आनन्दरूपोंको धारण करते हुए, जीवोंके नाम, रूप और क्रियाओं को धारण करते हैं. नाम-रूप रहित अपने अक्षरब्रह्मात्मक स्वरूपमें ही सर्वभवन सामर्थ्य मायाके सम्बन्धसे गुणावतार ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदिके रूप और नामों को ग्रहण कर फिर जीवोंके भी नाम रूप और क्रिया आदिको भी आपही धारण करता है. स्वयं ही सब कार्योंको करता है, किन्तु वास्तवमें सकर्मा ही नहीं है. वास्तवमें अकर्मा, सब कर्मोंसे रहित ही है. सब जगत् नियामक भी आप ही है. इस तरह अकर्मा सर्व नियामक रहते भी सर्व प्राणियोंको पैदा करनेकेलिए अपने वैसे रूपको ही त्रिगुणात्मक और अव्यक्त रूप बनाता है।।३६।।

आभासार्थ: यहां यह प्रश्न होता है कि वे कौनसे प्राणी हैं, जिनकेलिए भगवान् इस तरह सात्त्विक-राजस्-तामस् रूपोंको धारण करते हैं. इसका उत्तर देते हैं:

प्रजापतीन् मनून् देवान् ऋषीन् पितृगणान् पृथक् ।
सिद्ध–चारण–गन्धर्व–विद्याध्रसुर–गुहाकान्।।३७।।
किन्नराप्सरसो नागान् सर्पान् किम्पुरुषानपि।
मातृरक्षःपिशाचांश्च प्रेत–भूत–विनायकान्।।३८।।
कूष्माण्डोन्माद–वेतालान् यातुधानान् ग्रहानपि।
खगान् मृगान् पशून् वृक्षान् गिरीन्नृप सरीसृपान् ।
द्विविधाश्चतुर्विधा येऽन्ये जल–स्थल–नभौकसः।।३९।।

श्लोकार्थः प्रजापति, मनु, देवगण, ऋषि, पितृगण, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, विद्याधर, असुर, गुह्यक, किन्नर, अप्सरा, नाग, सर्प, किंपुरुष, मातर, राक्षस, पिशाच, प्रेत, भूत, विनायक, कूष्माण्ड, उन्माद, वेताल, यातुधान, गुह, खग, मृग, पशु, वृक्ष, गिरि, सरीसृप –इन सबको पृथक्–पृथक् पैदा किये. और भी जो जल आकाश और पृथ्वी पर रहने वाले प्राणी हैं, उन्हें भी पैदा किये. इनमें कितने ही दो तरहके हैं और कितने ही चार प्रकारके भी हैं।।३७–३९।।

व्याख्यार्थः इन प्राणियोंमें कितने ही तो एक–एक गुण प्रधान हैं. अर्थात् सत्त्वगुण प्रधान, रजोगुण प्रधान, तमोगुण प्रधान. और कितने ही एक–एक दो–दो तीन–तीन गुणोंसे मिले हुए भी हैं. इनको तीन श्लोकोंमें प्रत्येकको गिनाते हैं. इनमें भी उत्तरोत्तर हीन सर्ग है. यह भी दिखाया है. सबसे पहले प्रजापति मरीचि आदि गुह्यक पर्यन्त सत्त्वप्रधानसे लेकर सत्त्वापकर्षरूप हैं. किन्नरोंको आदि लेकर विनायक पर्यन्त राजस हैं. कूष्माण्डोंको आदिसे सरीसृप पर्यन्त तामस प्राणी हैं. इनसे उन–उन प्रकारके प्राणियोंमें जो गुण मिश्र हैं, उन्हें एक श्लोकमें गिन लिये हैं. कितने ही स्थावर–जङ्गम प्रकारके हैं और कितने ही जरायुज, अंडज, स्वेदज और उद्भिज हैं. स्थावर पर्वत–वृक्षादि. जरायुज मनुष्य–पशु आदि. अण्डज पक्षी आदि. स्वेदज जू–खटमल आदि. उद्भिज्ज वृक्ष आदि. पूर्वोक्त प्रजापति आदिसे अन्य खग मृगादि हैं. ये सब सांकर्य(मेल)से पैदा हुए हैं. इन सबको स्थानसे भी त्रिविधता है. कितने ही जलमें रहते हैं. कितने ही पृथ्वी पर और कितने ही आकाशमें भी रहते हैं. जलादि जिनके स्थान हैं वे जलस्थ राजस हैं. स्थल पर रहनेवाले सात्त्विक हैं और नभस् तामस हैं।।३७–३९।।

आभासार्थः इस तरह सब प्राणियोंका स्थान और स्वरूपसे त्रिविध निरूपण करके अब फलसे भी उनका त्रैविध्य निरूपण करते हैं:

कुशलाकुशला मिश्राः कर्मणां गतयस्त्विमाः।
सत्त्वं रजस्तम इति तिस्रः सुर-नृ-नारकाः।।४०।।

श्लोकार्थः सत्व रजस् और तमस् ये तीन प्रकृतिके गुण हैं. इनके अनुरोधसे देवता मनुष्य और नीचे प्राणी होते हैं. और उन गुणोंके अनुरोधसे ही प्राणियोंके कर्मोंकी गति(परिणाम) भी अच्छी बुरी और मध्यम तीन प्रकारकी होती है।।४०।।

व्याख्यार्थः प्राणियोंके किये कर्मोंका परिणाम(फल) सात्त्विक, राजस, तामस भेदोंसे तीन तरहका होता है. सात्त्विक कर्मका फल शुभ होता है उसे 'कुशल' शब्दसे कहा जाता है. तामस कर्मका फल अशुभ बुरा होता है उसे 'अकुशल' कहते हैं. और राजस कर्मका फल शुभ-अशुभ दोनों तरहका होता है और वह मिश्र कहलाता है. इस तरह कर्मकी तरह ही कर्मरूप साधनके फलोंके प्रकार भी तीन तरहके होते हैं. कुशल, अकुशल और कुशलाकुशल. मिश्र शब्दसे मिला हुआ फल, अलग-अलग नहीं. कर्मोंकी ये तीन ही गति होती हैं. अन्य नहीं. सत्त्व कुशल, तम अकुशल और रज मिश्र है. सत्त्वादि गुणसे बने देह भी त्रिविध हैं, सुर, नर और नारकी. सत्त्व, रज, तमस और मिश्र ये शब्द गति और देह दोनोंमें लगते हैं. सुर सत्त्वगुणी है. नर रजो है और तमोगुणी नारक जीव हैं. पशु आदि अज्ञानी जीव नारकी है।।४०।।

आभासार्थः यद्यपि यहां त्रिविध ही गतियां कही हैं, पर इनके प्रकार तो करोड़ों होंगे, सो कहते हैं:

तत्राप्येकैकशो राजन्! भिद्यन्ते गतयस्त्रिधा।
यदैवैकतरोऽन्याभ्यां स्वभाव उपहन्यते।।४१।।

श्लोकार्थः हे राजन! इन त्रिविध गतियोंमें भी एक-एक गतिकी अनेक ही गतियां हो जाती हैं. क्योंकि एक तरहका स्वभाव दो अन्य तरहके स्वभावसे मिलता है, तब सहस्रशः गतियां हो जाती हैं।।४१।।

व्याख्यार्थः प्रजापति प्रभृति देहोंमें मैंने बहुतसे त्रिविध बनाये हैं. उनमें भी एक-एकमें त्रिविध-त्रिविध प्रजापति प्रभृति फिर और हो जाते हैं. और जो सरीसृपादि त्रिविध गिनाये उनमें भी एक-एकमें फिर सरीसृपादि भी त्रिविध-त्रिविध होते चले जाते हैं. 'राजन्' सम्बोधनसे पुरुषोंमें भी नाना प्रकारके भेद हो जाते हैं, यह दिखाया है. यह एकका अनेक भेद कैसे हो जाता है इसका उत्तर

कहते हैं कि 'यदैवैकतर:'. जब एक तरहका सात्त्विक आदि स्वभाव ही अपनेसे पृथक् राजसादि बलवान् स्वभावोंसे दबाया जाता है तब बलवानके मिश्रणसे एकके अनेक भेद हो जाते हैं।।४१।।

आभासार्थ: इस तरह जगद्रूप भगवान्का कार्य तीन तरहका है, यह कहकर उपसंहार करते हुए भगवान्की पालन नामकी लीलाका उपपादन करते हैं:

स एवेदं जगद्धाता भगवान् धर्मरूपधृक्।
पुष्णाति स्थापयन् नित्यं तिर्यङ्नर-सुरात्मभि:।।४२।।

श्लोकार्थ: यह जगत्को धारण करनेवाला भगवान् ही विभिन्न धर्म रूपोंको लेकर पशु, मनुष्य और देव देहोंके द्वारा जगत्का नित्य स्थापन करता हुआ पालन करता है।।४२।।

व्याख्यार्थ: त्रिविध जगत्का निर्माणकर्त्ता वह त्रिविध रूप धारण करने वाला भगवान् ही 'भग' शब्दसे कहे जाते- पालन करनेमें समर्थ अपने ऐश्वर्य आदि -गुणोंसे अपने पैदा किये जगत्का पालन करता है. इसको बढ़ाता रहता है. नित्यका तात्पर्य यह है कि उत्पत्तिके क्षणसे लेकर प्रलय पर्यन्त प्रतिक्षण इसकी वृद्धि और पालन करता ही रहता है. इस जगत्को हानि पहुंचानेवाले असुर जब इस विश्वका नाश करनेका प्रयत्न करते हैं तब भगवान् भी सात्त्विक-राजस-तामस, वामन-राम-मत्स्य आदि तिर्यक्-नर-सुर अवतारोंको धारण करके असुरोंका हनन करके विश्वका पालन करते हैं।।४२।।

आभासार्थ: अब तीसरा लीला प्रलय कहते हैं:

तत: कालाग्निरुद्रात्मा यत् सृष्टम् इदम् आत्मन:।
सन्नियच्छति कालेन घनानीकम् इवानिल:।।४३।।

श्लोकार्थ: इसके अनन्तर यही भगवान् कालाग्निरूप रुद्ररूप धारण करके जोरकी आंधी जैसे बरसने वाले बादलोंकी पंक्तिको उड़ा ले जाती है इसी तरह समय पर इस अपने बनाये जगत्को भी अपने आपमें छिपा लेता है।।४३।।

व्याख्यार्थ: प्रलयकालका साधक संकर्षणके मुखसे निकला अग्नि. इस अग्निमें वर्तमान रुद्र त्रिनेत्र अपने त्रिशूलको उठाकर अर्थात् भगवान ही रुद्ररूपको धारण करके जैसे मकड़ी अपने मुखसे निकले तन्तुओंको ग्रस जाती है इसी तरह जगत्को खा जाता है. प्रलयकाल ही इसका साधन है. जैसे जगत्को पैदा करनेमें माया-सर्वभवनसामर्थ्य साधन है. इसके पालनमें विविध अवतार साधन हैं. इसी

तरह संहार करनेमें काल ही कारण है. उत्पत्ति, पालन और संहार आदि कार्य करनेसे भी मूल आधाररूप भगवान्के स्वरूपमें किसी तरहका भी विकार नहीं होने पाता. यह बात दृष्टान्तसे दिखाते हैं 'घनानीकमिवानिलः'. मेघोंके समूहको जैसे वायु खींच ले जाती है. वायुके उड़ा ले जाने पर जैसे मेघ मालुम नहीं होते कि कहां गये, इसी तरह सब जगत्को संस्कार सहित नष्ट कर देता है।।४३।।

आभासार्थः इस तरह भगवत्कृत जगत्की उत्पत्ति-स्थिति-संहृतिको कहकर अब यह दिखाते हैं कि यह भगवत्कृत उत्पत्ति आदि ब्रह्मवेता ज्ञानियोंको भी संमत है.

इत्थम्भावेन कथितो भगवान् भगवत्तमाः।
नेत्थम्भावेन हि परं द्रष्टुम् अर्हन्ति सूरयः।।४४।।

श्लोकार्थः हे भागवत सज्जनो! ब्रह्मवेताओंने भगवान्को इस प्रकारसे कहा है, किन्तु जो भगवान्को साक्षात् देखनेवाले विद्वान् हैं, वे केवल इसी भावसे नहीं देखना चाहते. क्योंकि यह भगवान् तो दोनों तरहका है, विरुद्ध धर्मोंका आश्रय है।।४४।।

व्याख्यार्थः अन्त्यश्रोताओंके प्रति उन्मुख होते हुए श्रीशुक कहते हैं कि हे भगवद्भक्तों! राजाके अधिकारके अनुसार भगवत्स्वरूप समझानेकेलिए हमने यह जगदुत्पत्ति-स्थिति-संहारकर्ता भगवान्का वर्णन किया है. सो ही कहते है 'इत्थंभावेन'. पहले कह आये वही प्रकार इत्थंभाव है. 'भगवान्' कहनेका तात्पर्य यह है कि इस प्रकारसे कहनेमें भी इसमें कोई दोष नहीं आता. सब ही अपने-अपने अधिकारके अनुसार समझते हैं और समझाते हैं. 'भगवत्तमाः' कहनेसे सर्वश्रेष्ठ अधिकारी कहे हैं. भगवान्के स्वरूपकेलिए तो आगे कहेंगे. सो कहते हैं 'नेत्थम्भावेन'. भगवान् पर है अर्थात् सबके ज्ञानसे परे है और सर्वश्रेष्ठ भी है. भगवान् मायासे परे हैं. अतएव स्वरूपसे ही वह पूर्वोक्त प्रकारका ही केवल नहीं हो सकता. यह पूर्ण ज्ञानी लोग मानते हैं।।४४।।

आभासार्थः इस कथनमें हेतु बताते हैं.

नास्य कर्माणि जन्मादौ परस्यानुविधीयते।
कर्तृत्वप्रतिषेधार्थं माययारोपितं हि तत्।।४५।।

श्लोकार्थः पर भगवान्के द्वारा जगत्के जन्म आदिमें परके ही कर्म नहीं है और न उनका अनुविधान ही है. ये कर्म तो कर्तृत्वके निषेधकेलिए कहे गये हैं,

क्योंकि भगवान्का कर्तृत्व मायासे आरोपित है।।४५।।

व्याख्यार्थ: इस जगत्के जन्म, स्थिति और संहार होनेमें पर भगवान्के कर्म नहीं कहे गये हैं. क्योंकि भगवान् मायाके भी परे हैं और मायाके भी शासक हैं. यह क्यों, इसका उत्तर देते हैं कि 'मायया आरोपितं हि तत्'. भगवान् जगत्को करते हैं, इत्यादि भगवान्के कर्म तो मोहिनी मायासे आरोपित* हैं. भगवान्में स्वतः नहीं हैं. जगत्का होना-स्थिति-संहारादि पदार्थ सब भगवान्की ही व्यामोहिका मायाके विषयतारूप हैं. ये सब भगवान्के कार्य नहीं हैं. इस विषयमें भगवान्का कर्त्तापन साथ लगानेयोग्य नहीं है तो फिर भगवान् जगतको पैदा करता है ऐसा शास्त्रोंमें क्यों कहा गया है? तो कहते हैं कि 'कर्तृत्व प्रतिषेधार्थ'. भगवान् जगत्का कर्ता है यह जो प्रतीत हो रहा है इसका निषेध करना है. क्योंकि 'पश्चाद् अहम्' इस पदसे भगवान् स्वयं कह चुके हैं कि सबके पीछे मैं रहता हूं. बस यह भगवान्का स्वरूप है. यही भगवान्ने कहा है. मैंने किया है. किंवा मैं ही जगत हो गया हूं, यह बात वहां नहीं कही गई है. भगवान्के स्वरूपको समझनेमें बुद्धिको सुगमता हो जाय इसीलिए मायासे जगत् बनाता है किंवा पाप ही जगत् हो जाता है यह कहा गया है. 'तज्जलान्' श्रुतिमें जो जगत्को 'तज्ज' कहा है वह भी ऐसा ही है. अर्थात् जगत् पैदा होता है, दीखता है किन्तु भगवान्से पैदा होता है यह अर्थ नहीं है. इसलिए उत्पत्ति, स्थिति, संहार आदिकी कल्पनाओंसे रहित ही सम्पूर्ण ब्रह्म, ब्रह्मवेताओंको जानने योग्य है. पूर्वोक्त कल्पना युक्त नहीं है क्योंकि यह सब तरहकी कल्पनाएं तो ब्रह्ममें आरोपित की गई हैं।।४५।।

(*. 'इत्थंभावेन' और 'नास्य कर्माणि' इन दो श्लोकोंमें व्यासजीने एकदेशीका मत कहा है. अखंड पूर्ण ब्रह्मज्ञान ही वेदशास्त्रोक्त है. खण्ड ज्ञान नहीं. साधारण जन समाज किंवा साधारण अल्पज्ञ विद्वान् अखड सम्पूर्ण ब्रह्मको नहीं जानते इसलिए वेद और पुराणादि शास्त्र वैसे ब्रह्मका निरूपण करते हैं. वैसे ब्रह्मको समझानेको सरल युक्ति ज्ञान विज्ञान है.)

आभसार्थ: इस प्रकार ब्रह्मवाद और कर्तृवाद दोनोंका निरूपण करके इस प्रकारका भगवान् किस कल्पमें था? तो ब्रह्म कल्पमें ऐसा रूप था यह उत्तर देते हैं:

अयं तु ब्रह्मणः कल्पः सविकल्प उदाहृतः।
विधिः साधारणो यत्र सर्गाः प्राकृत-वैकृताः।।४६।।

श्लोकार्थ: यह मैंने विकल्प सहित ब्रह्मकल्पका निरूपण किया. जहां जगत्की उत्पत्तिका प्रकार साधारण रीतिसे कहा गया है और सर्ग भी प्राकृत और वैकृत दोनों हैं।।४६।।

व्याख्यार्थ: किसी समय स्वरूपसे ही सब कुछ भगवान् जगद्रूप हो जाता है. यह बात ब्रह्मकल्पमें ही होती है. अर्थात ब्रह्मकल्पमें भगवान् ही सर्व जगत् हो जाता है और ब्रह्मकल्पके अवान्तर(मध्य) कल्पमें भगवान् मायाके द्वारा जगद्रूप होता है. ये दोनों सिद्धान्त इस प्रकरणमें कह दिये हैं. यही मूलमें कहा है कि विकल्प सहित ब्रह्मकल्पका निरूपण किया है. 'तु' शब्दसे दूसरे प्राकृत कल्पोंका यहां निषेध किया है, इसलिए इस ब्रह्मकल्पमें भगवान्की दश लीलाओंका स्वरूप समान ही है और दूसरे कल्पोंमें तो विषम है. इसीलिए इस ब्रह्म कल्पमें प्राकृत और वैकृत कल्पोंकी जो विश्वोत्पत्तिका प्रकार है, वह समान है. अर्थात् प्राकृत कल्पमें किंवा वैकृत कल्पमें जो भी पदार्थ पैदा होते हैं, वे सब तुल्य ही हैं. किन्तु दूसरे कल्पोंमें उत्पत्ति प्रकार दूसरा ही है. वह इस तरह है. कल्पान्तरमें प्राकृत कल्प तीन ही हैं और वैकृत कल्प इनसे भिन्न है. और कौमार सर्ग तो प्राकृत-वैकृत मिलित है. ये सब विशेष अन्य कल्पोंमें हैं. ये विशेष इस ब्रह्मकल्पमें नहीं है. मूल श्लोकमें दो वाक्य हैं, 'विधिः सारण: यत्र' यह एक, और दूसरा 'यत्र सर्गा: प्राकृतवैकृताः'. अर्थात् इस ब्रह्मकल्पमें विश्वोत्पत्तिका प्रकार समान ही है विषम नहीं और इसमें सर्ग भी प्राकृत ही वैकृत है. पृथक्-पृथक् नहीं।।४६।।

आभासार्थ: इतने पर्यन्त सब प्रश्नोंका उत्तर दे दिया. केवल काल और कल्पोंका उत्तर नहीं दिया. सो आगे तृतीयादि सर्गोंमें देंगे यह कहते हैं:

परिमाणं च कालस्य कल्पलक्षणविग्रहम्।
यथा पुरुस्ताद् व्याख्यास्ये पाद्मं कल्पम् अथो शृणु।।४७।।

श्लोकार्थ: कालका परिमाण और कल्पका लक्षण तथा उसका शरीर जिस तरह है वह आगे कहूंगा, सो तुम अब पाद्म कल्पका श्रवण करो।।४७।।

व्याख्यार्थ: परमाणुसे लेकर द्विपरार्ध पर्यन्त कालका नाप और नापका हेतु सूर्यकी गति आदि है. इनका निरूपण मैं आगे करूंगा. 'च'कारसे उनका स्वरूप और कार्य भी कहूंगा. कल्पोंका लक्षण अर्थात धर्म व्यवस्था. अर्थात् सतयुग आदिमें धर्म आदिकी व्यवस्था इस प्रकार थी और लोगोंकी प्रवृत्ति इस प्रकार थी, यह लक्षण कहलाता है. विग्रह युगका शरीर. अर्थात् इतने नापका युग

होता है, यह शरीर है. जैसे चार हजार वर्षका सत्ययुग होता है इत्यादि. ये लक्षण और विग्रह दोनों कहूंगा. 'यथा पुरस्ताद् व्याख्यास्ये'. वास्तविक विस्तारके प्रकारसे पूर्व कल्पमें भी जिस प्रकार इन दोनोंका रूप था वह भी व्याख्यानरूपसे कहूंगा. इस प्रकार विस्तारसे सब कुछ कहनेकेलिए पाद्मकल्पकी सूचना देते हैं, कि 'पाद्म कल्पम् अथो श्रुणु'. 'अथो' कहनेसे क्रमका भेद बताया है, अर्थात् ब्राह्मकल्पमें सृष्टि प्रभृति स्वरूप क्रम दूसरा था और पद्माकल्पमें दूसरा क्रम होगा. सर्गादि पदार्थोंके विशेष पाद्मकल्पमें होते हैं. इसलिए भगवान्की दशलीलाओंको विशेष विस्तार प्रकार सहित कहनेकेलिए 'अथ' कहकर भिन्न ही प्रक्रम करते हैं. अर्थात् अब तुम पद्मकल्पकी बात सुनो. सावधान होकर सुननेकेलिए 'श्रुणु' यह उपदेश दिया है. ऐसा मालूम होता है कि एक दिनका कथा विराम यहां हुआ है. कारण कि यहां श्रवणका भिन्न ही क्रम बताया है।।४७।।

आभासार्थः इस प्रकारसे जब श्रीशुक और परीक्षितका संवाद कुछ देरकेलिए ठहर गया तब भगवत्कथा श्रवण करनेकेलिए व्याकुल श्रीशौनकने पूर्व निरूपित कथाका प्रश्न सूतजीसे किया. जिस कथाके थोड़े प्रश्नोंके उत्तरोंका ज्ञान हो जाने पर ही विदुरकी भगवान्में परमा प्रीति हो गई, वह कथा ही मुझे सुननी है. यह शौनकको व्याकुलता थी. यह बात सूतजी भी कहते हैं 'विदुरः तीर्थयात्रायां' यहां 'यावतः कृतवान्' इत्यादि. अर्थात् विदुरजीने तीर्थयात्रा करते समय मैत्रेयजीसे जितने प्रश्न किये और उनका जो उत्तर श्रीमैत्रेय जीने दिया, बस उतनेसे ही विदुरजीकी भगवान्में अनन्य भक्ति हो गई. अतएव फिर प्रश्न करना बन्द कर दिया और तीर्थयात्रा करने चले गये. यद्यपि सूतजीने शौनकके आगे यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं आपको सम्पूर्ण श्रीभागवत् सुनाऊंगा. तथापि विदुर–मैत्रयका संवाद शीघ्र ही भगवद्भक्तिरूप फलका देनेवाला है, यह जानकर शौनक ऋषि सूतजीको उसके कहनेका उत्साह दिलाते हैं कि आप तो विदुर–मैत्रयका संवाद ही पहले हमें सुनाइये. इस तरह तीन श्लोकोंसे पूछते हैं:

शौनक उवाच

यद् आह भगवान् सूत क्षत्ता भागवतोत्तमः।
चचार तीर्थानि भुवः त्यक्त्वा बन्धून् सुदुस्त्यजान्।।४८।।
कुत्र कौषारवेस्तस्य संवादोऽध्यात्मसंज्ञितः।
यद्वा स भगवांस्तस्मै पृष्टस्तत्त्वम् उवाच ह।।४९।।

ब्रूहि नस्तद् इदं सौम्य! विदुरस्य विचेष्टितम्।
बन्धुत्यागनिमित्तं च तथैवागतवान् पुनः।।५०।।

श्लोकार्थ: शौनकने कहा कि हे सूत! भगवान् मैत्रेयने जो कथा विदुरसे कही सो कहो. विदुर दुस्त्यज अपने बान्धवोंको छोड़कर पृथ्वीके तीर्थोंको करते-करते किस जगह मैत्रेयसे मिले? मैत्रेय और विदुरका आध्यात्मिक यह संवाद कहां हुआ? विदुरने जब प्रश्न किया तब उसके उत्तरमें भगवान् मैत्रेयने जो कुछ तत्त्व कहा सो सब हे सौम्य! हमसे आप कहो, और इससे सम्बन्ध रखनेवाला विदुरका चरित्र, बांधवोंके त्यागका प्रयोजन तथा जिस तीर्थ पर मैत्रयजीसे आकर मिले सो सब कहिये।।४८-५०।।

व्याख्यार्थ: 'भगवान्' कहकर मैत्रेय ऋषिकी सर्वज्ञता सूचित की है. 'यदाह भगवान्' इतना वाक्य जूदा ही है. भगवान् अर्थात् मैत्रेय ऋषि. क्षत्ता=विदुर और मैत्रेयके संवादमें जो कुछ भगवान्ने कहा. अर्थात् उन दोनोंने जो भगवान्के वाक्य कहे सो हमसे कहो. 'यदाह नो भवान्' ये पाठ स्पष्ट है. 'सूत' यह सम्बोधन है.

कहां, क्या कहा? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं कि 'चचार' इत्यादि. भागवतोंमें श्रेष्ठ विदुर अपने बान्धवोंको छोड़कर पृथ्वीके तीर्थोंमें जब फिरते थे. विदुरका और मैत्रेय ऋषिका संवाद किस विषय पर हुआ? जिस भगवद्वाक्य पर किंवा जिस सिद्धान्त पर विचारात्मक यह संवाद हुआ हो सो मुझसे आप कहो. यद्यपि यहां वाक्य ही मुख्य हो सकता है तो उस वाक्य पर ही या वाक्य विशेष पर ही संवाद हुआ होगा, यह जान लिया है, तथापि कुछ विशेष जाननेकेलिए 'कुत्र'-कहां यह प्रश्न करते हैं. देशका प्रश्न यदि माना जाय तो कौनसे स्थानमें यह संवाद हुआ यह अर्थ करना. इसका तात्पर्य यह है कि आप कह देंगे तो भी हमारे मनमें यह लालसा रहेगी कि उस स्थान पर जाकर श्रवण करना चाहिये. यदि 'यदाह नो भवान्' ऐसा पाठ है तब 'इति' शब्दका अध्याहार करना चाहिये. सुदुस्त्यजान्-बान्धव छोडे नहीं जा सकते. ऐसी अवस्थामें विदुरको किसीने आज्ञा दी अथवा किसीने उपदेश दिया या कैसे? और उनका तत्सम्बन्धी चरित्र भी कहो. विदुरजी भगवद्भक्तोंमें उत्तम हैं. जो आपत्तिकालमें भी भूल नहीं करते. जहां जा सके और जिन्हें जानते हों ऐसे पृथ्वीके तीर्थ उनका भी वर्णन आप करिये जिनमें जाकर विदुरजी शुद्ध हुये और भक्तिको प्राप्त कर सके. इससे पूर्व भी

उनकी चित्त शुद्धि उत्कृष्ट थी ही, सो कहते हैं: 'त्यक्त्वा बन्धून'. बान्धवोंका त्याग चित्तकी निर्मलता बिना नहीं हो सकता. 'सुदुस्त्यजान्' कहनेसे मालूम होता है कि अन्तःकरणसे उनका त्याग किया था. इतना कहनेसे स्पष्ट होता है कि परीक्षितकी अपेक्षा भी विदुरजी भगवच्चरित्रका श्रवण करनेमें श्रेष्ठ थे. वे किषारुके पुत्र किंवा कौषारवके पुत्र कोषारवि थे. शब्द सिद्धिके पहले पक्षमें वाह्वादि होनेसे 'इञ्' प्रत्यय हुआ. इन ऋषिका और वैसे विदुरका संवाद कहो. वही माहात्म्यमें दोनों तुल्य हैं. इसलिए दोनों षष्ठी विभक्ति दी है. इससे ज्ञात होता है कि संवादका भी प्रश्न किया है. अन्यथा केवल स्थानका ही प्रश्नोत्तर सुनना भी निरर्थक हो जाता.

'आध्यात्मसंज्ञितः'. यह संवाद श्रोताके कार्यकी सिद्धि करनेवाला है, इसलिये 'आध्यात्म' शब्द कहा. यदि आध्यात्मका ज्ञान इससे न हो तो विशेषण देना अयुक्त है. आध्यात्म संज्ञाको प्राप्त किया गया. इससे अन्योन्य कथारूप संवादसे ही विदुरकी भगवान्में भक्ति हुई यह संवादका ही महत्त्व कहा है.

'यद्वा' यह दूसरा पक्ष है. 'वा' शब्द पहले पक्षको दूर करता है. किसी स्थानविशेषमें संवाद होनेसे विदुरकी भक्ति हुई यह नहीं है, किन्तु मैत्रेयका उपदेश ही ऐसा था. यदि यह पक्ष माना जाय तो भी उस उपदेशको आप हमसे कहो, यह कहते हैं 'यद्वा'. 'सभगवान्' मैत्रेयजी भगवान् सहित थे. अन्यथा केवल मैत्रेयके उपदेशसे विदुरके हृदयमें भगवान् कैसे प्रवेश कर जाते! 'तस्मै' केवल विदुरकेलिए, 'पृष्टः' अर्थात् विदुर जैसे श्रेष्ठ अधिकारी जैसे-तैसेसे पूछ नहीं सकते और वक्ता भी ऐसे वैसेको तत्त्व नहीं कह सकता. इसलिये सो सब हमें कहिये. 'ह' अव्यय आश्चर्यमें है. विदुरका विचेष्टित कहना है. किन्तु उपदेश देना अनुचित है और दिया तो है, इसलिए आश्चर्य है. तथापि जो उपदेश दिया गया है, इससे स्पष्ट होता है कि विदुरका कोई विशिष्ट आचरण है जिससे शूद्र रहने पर भी उन्होंने आध्यात्मका उपदेश प्राप्त किया.

विदुरने जो बन्धुओंका त्याग किया, इसमें भी कारण बताना चाहिये. अन्यथा शूद्र जन्ममें सन्यास लेना अनुचित था. 'च'कारसे यह भी ज्ञातव्य है कि यह उपदेश विदुरको ज्ञान देनेवाला हो गया, उसका कोई निमित्त अवश्य होगा और यह ज्ञान सर्वथा उत्तम था. जिस ज्ञानकी प्राप्ति होने पर पहले राग-द्वेष-वैमनस्य आदिको छोड़कर दैहिक लज्जाको भी त्यागकर तीर्थयात्रा करते-करते

ही वैसेके वैसे दैहिक संस्कार किये बिना ही फिर हस्तिनापुरमें चले आये. इसलिए मालूम होता है कि सर्व प्रकारके मोहोंको दूर करनेवाला उत्तमाधिकारका सूचन करनेवाला अध्यात्मज्ञान विदुरको प्राप्त हो गया था. यह ज्ञान जिस संवादमें सम्पन्न हुआ तो यह ज्ञान अवश्य ही भगवान्ने कहा होगा, इसलिये यह संवाद हमें सुनाइये।।४८-५०।।

आभासार्थ: इस प्रकार जब ऋषियोंने प्रश्न किया तब सूतजीने देखा कि इनकी सरस्वतीके ही संवादसे यह स्पष्ट होता है कि जो श्रीशुकदेवजीने उत्तर दिया सो ही इसका भी उत्तर है और जिस तरह विदुरादिकी भगवान्में भक्ति हुई, इसी प्रकार आप लोगोंको भी होगी. यह समझाते हुये, हे शौनक! आप लोगोंका वचन शुक-परीक्षितके संवादसे मिलता हुआ है यह कहते हैं:

राज्ञा परीक्षिता पृष्टो यद् अवोचद् महामुनिः।
तद् वोऽभिधास्ये शृणुत राज्ञः प्रश्नानुसारतः।।५१।।

श्लोकार्थ: राजा परीक्षितने जो पूछा उसका उत्तर जो श्रीशुकने दिया वह मैं आप लोगोंसे कहूंगा. राजाके प्रश्नोंके अनुसार।।५१।।

व्याख्यार्थ: यही सब प्रश्न राजा परीक्षितने भी पूछे. क्योंकि शुकदेवजीने तृतीय(स्कंध)के प्रारम्भमें जब कथाका उपक्षेप किया, तब यही कहा कि 'एवम् एतत् पुरा पृष्टः' अर्थात् इसी प्रकार पहले विदुरजीने मैत्रेयजीसे भी पूछा था तब महामुनि मैत्रेयने भगवच्चरित्रको और स्वरूपको स्वरूपसे और फलसे पूरा समझकर निरूपण किया. मैं भी आपको वही कहूंगा. ऐसी अवस्थामें पहले जो आपने पूछा कि 'जो भगवान् शुकने कहा सो कहो और अभी जो मैंने भी कहा कि वही मैं भी आपको सुनाऊंगा, सो सब अविरुद्ध ही है. मैं शुकोक्त भागवत ही कहूंगा, पर आप सावधान होकर श्रवण करें'.

यहां यह विचार होता है कि शुकदेवजी सभामें बैठकर कथा कह रहे थे वहां बहुतसे पूछनेवालोंने बहुत कुछ पूछा होगा. अतएव उनका उत्तर मुख्य श्रोताकी बुद्धिके अनुसार नहीं हो सकता, इसलिए हम जो पूछ रहे हैं, वह नहीं हो सकता. इसका उत्तर देते हैं, कि 'राज्ञः प्रश्नानुसारतः'. अर्थात् बहुतोंके नहीं किन्तु राजाके प्रश्नोंके उत्तरमें जो कहा वही मैं आपसे कहूंगा।।५१।।

द्वितीयस्कन्धविवृतिः श्रीकृष्णचरणाम्बुजे।
निवेदितातियत्नेन युक्तिपुष्पाञ्जलिः स्फुटा।।१।।

भक्तेषु शास्त्र हृदयेषु निवेदयामि शास्त्रार्थतो यदि हरिर्भवताम् अभीष्टः।
तत्पश्यतात्र विवृतिं भगवद्गुणानां सन्देहवारणविचारणतः प्रसन्नाम्।।२।।

इस प्रकारसे यह द्वितीय स्कंधकी विवृति ही युक्ति पुष्पाञ्जलि है. यह मैंने(श्रीवल्लभाचार्यने) श्रीकृष्णचरणमें बड़ी सुधरताके साथ निवेदन की है. अब मैं शास्त्र जिन्होंके हृदयमें है ऐसे भगवद्भक्तोंसे निवेदन करता हूं कि यदि आपको शास्त्रतत्त्वके द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण प्रिय लगते हैं तो फिर भगवद्गुणोंके सब सन्देहोंको दूर करनेवाली अतएव स्पष्ट अर्थसे आनन्द देनेवाली इस सुबोधिनी विवृतिको देखिये.

श्रीभागवत महापुराणके द्वितीय स्कन्धकी महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित
सुबोधिनी विवृतिका दसवां अध्याय सम्पूर्ण.

।। सम्पूर्णोऽयं द्वितीयस्कन्धः ।।